THE ISIBHĀSIYĀIṀ

इसि-भासियाइं सुत्ताइं

अर्थात

अर्हतर्षि प्रोक्त

ऋषिभाषितानि सूत्राणि

भारतीय भाषाओं में सर्व प्रथमतः अनुवादित

संस्कृतटीकया समुल्लसितानि

हिन्दी गुजराती अनुवाद

और

विषम स्थलों पर विशद

टिप्पणों से अलंकृत

— अनुवादक एवं सम्पादक —

प्रसिद्धवक्ता मंत्री श्री सौभाग्यमलजी म. के शिष्यरत्न, तत्त्व विचारक

मुनि श्री मनोहरमुनिजी महाराज "शास्त्री," "साहित्यरत्न"

— संशोधक —

पं. नारायण राम आचार्य 'काव्य-न्यायतीर्थ'

— प्रकाशक —

सुधर्मा ज्ञानमन्दिर,

१७० कांदावाडी, बम्बई नं. ४

मुद्रक :—

लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी

निर्णयसागर प्रेस, २६।२८ डॉ. वेलकर स्ट्रीट, बम्बई २

●

प्रकाशक :—

श्री. रविचन्द्रभाई सुखलाल शाह } जाइंट सेक्रेटरी,
श्री. रमणिकलाल कोठारी }

सुधर्मा ज्ञानमन्दिर,

१७० कांदावाडी, बम्बई नं. ४

●

प्राप्तिस्थान :—

श्री छोटालालभाई कामदार, सेक्रेटरी

वर्द्धमानस्थानकवासी जैन श्रावक संघ,

१७० कांदावाडी, बम्बई नं. ४

●

मूल्य १० रू.

●

दीपमालिका वि. संवत २०२०

१७ अक्टूबर १९६३

●

प्रथमावृत्ति

प्रति ७५०

अर्पण-पत्रिका

श्रद्धेय गुरुदेव, !	श्रद्धेय गुरु-तुल्य
मालव-केशरी मंत्री. श्रीसौभाग्यमलजी म०	प्रियवक्ता पं. रत्न
	श्रीविनयचंद्रजी महाराज
आपसे मैंने भगवती दीक्षा पाई है	और आपसे जीवन की
	शिक्षा पायी है।
आपने जीवन दिया है।	और आपने जीवन निर्माण की
	प्रेरणा दी है

आपने जो प्रेरणा के बीज डाले थे। इसिभासियाइं सूत्र उसी का विराट् रूप है। प्रेरणा के मूल स्रोत युगल गुरुभ्राताओं को यह सूत्र समर्पित है।

विनयावनतः—

मुनि मनोहर

શ્રી ઇસિભાસિયાઇં સૂત્રના પુસ્તકના અગાઉથી થયેલા ગ્રાહકોના નામોની યાદી

રૂા ૧૦૦૧) રૂબી મીલ્સ લી. હા. શ્રી ચુનીલાલ નરભેરામ વકેરીવાળા
૫૦૧) શ્રી જમનાદાસ પ્રભાશંકર શેઠ
૫૦૦) એક સદ્‌ગ્રહસ્થ
૩૦) શ્રી કુબેરદાસ પાનાચંદ તેજાણી
૨૦) „ શાંતીલાલ ત્રંબકલાલ
૨૦) શ્રીમતી રળીયાત બેન
૧૦) શ્રી વલભજી નરભેરામ ઘેલાણી
૧૦) „ ચુનીલાલ નેમચંદ
૧૦) „ મનસુખલાલ વીકમશી
૧૦) „ અમીલાલ સુંદરજી
૧૦) „ ભાણજી પદમસી
૧૦) „ દલીચંદ મલુકચંદ શાહ
૧૦) „ મુલચંદ ગલાલચંદ
૧૦) „ હિમતલાલ અમૃતલાલ
૧૦) „ વસનજી માણેકચંદ ગાઠાણી
૧૦) „ લાલજી આસુભાઈ
૧૦) „ કરસનદાસ ગંગાદાસ
૧૦) „ ચાંપશી સુખલાલ શાહ
૧૦) „ ભૂપતલાલ મોહનલાલ
૧૦) „ નાગરદાસ નાનજી
૧૦) „ વ્રજલાલ વાડીલાલ
૧૦) શ્રીમતી સમજુબેન નાગરદાસ
૧૦) શ્રી રમણીકલાલ મગનલાલ
૧૦) „ કરસનદાસ હીરાચંદ
૧૦) „ સુરેન્દ્ર કું। હા. પુરીબેન
૧૦) શ્રીમતી પ્રવીણાબેન નગીનદાસ
૧૦) શ્રી મનસુખલાલ શીવલાલ
૧૦) શ્રીમતી લીલાવંતીબેન ગુલાબચંદ

૨૨૯૨)

परमश्रद्धेय गुरुदेव शान्तमूर्ति पं. रत्न-मंत्री
श्री किसनलालजी म० के जीवन की रंगीन रेखाएं

ले. श्री मनोहरमुनिजी शास्त्री, "साहित्यरत्न"

जीवन एक सरिता है, जो समाज की समभूमि में बहती है। कभी विशाल चट्टानें उसकी गति को रोकती हैं तो कहीं गहरे गड्ढे उसकी जल राशि को पी जाने के लिये आकुल रहते हैं। गड्ढों को भरती और चट्टानों को चीरती हुई जीवनधारा बहती है। जिस ओर वह बह निकलती है वहां की भूमि में नया प्राण आजाता है। आस-पास खड़े वृक्षों में तारुण्य की खुमारी आ जाती है, सभी मुस्करा उठते हैं। दूसरे के जीवन में माधुर्य घोलकर पुरुष ऊपर उठकर महापुरुष बन जाता है।

मझला कद, गौर वर्ण, भरा बदन, उन्नत ललाट और चेहरे पर सदा खिलती रहनेवाली मुस्कान सबने मिलकर एक ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण किया था कि जो आगंतुक को पहले ही क्षण में अपनी ओर खींच लेता था। जिसे हम श्रद्धेय गुरुदेव मंत्री श्री किशनलालजी म० के नाम से पहचानते हैं। व्यक्तित्व में आकर्षण था तो मालव की मिट्टी ने कोमल हाथों से जो जीवन घड़ा था, उसमें कोमलता थी। ग्राम्य जीवन के सहज भोलापन की सहज सरलता ने जीवन को तरल बना दिया था। उस मिट्टी की आर्द्रता ने जीवन को ऐसा स्निग्ध बना दिया था कि कठोरता वहां पहुंचने कासाहस नहीं कर पाई।

मध्यम वर्ग हमेशा ही आर्थिक चक्की में पिसता आया है। दो हाथ कमाने वाले और दस मुंह खाने वाले यही तो सब से बड़ी समस्या है। मध्यम वर्ग की उसी समस्या से संघर्ष करते श्री किशनलालजी खाचरौद आ गये थे। पिता का हाथ तो कभी से सिर से उठ गया था। हां, माता की ममतामयी गोद ने पिता के अभाव को खटकने न दिया, पर विधि के मन यह भी नहीं भाया तो माता भी छोड़कर चल बसी!। इधर आर्थिक मुसीबत की टक्करों ने उन्हें अपनी जन्मभूमि छोड़ देने को विवश कर दिया। खाचरौद में सेठ के घर रहे। वहाँ परिवार के सदस्य-सा ही प्रेम मिला। उसमें द्वैत धुल गया, अब वे उसी घर के हो गये। आम की बहार थी। मांने एक रुपया देते हुए कहा, 'जाओ आम ले आओ।' थैली लेकर बाजार पहुँचे। एक बुढ़िया मालिन आम का टोकरा लिये बैठी थी। आते हुए नये ग्राहक से बोली—'आम खरीदना है?।' 'हां' उसने कहा। ओर बोला, 'खरीदने के लिये तो आया हूं। पर भाव क्या होगा?' वह बोली—'एक रुपये के पचास'। 'नहीं, यह तो बहुत महंगे हैं।' नया ग्राहक बोला। "अच्छा तो पचहत्तर ले ले" ग्राहक को रोकते हुए मालिन बोली। "नहीं, ये भी महंगे हैं। 'अच्छा, तो सो ले ले।" अब तो पैर ठिठक गये। उन दिनों सो के एक सो छत्तीस होते थे। आम से पूरा झोला भर गया। रुपया दिया और घर की ओर लौट चले। मन में उमंग थी और जाते ही भरा थैला मां को देते बोले 'पूरे एक सौ छत्तीस हैं।' मां के उमंग भरे हाथ आगे बढ़े। थैला लिया, उसमें से आम निकाला पर वह दागी निकला, दूसरा निकाला वह भी पहले का भाई था। पूरा थैला उलट दिया एक भी आम ऐसा न निकला जो बेदाग हो!। अब तो सभी ठहाका मारकर हंस पड़े। मां भी अपने मेहमान की अबोधता पर मुस्कराई।

आचार्य श्री नन्दलालजी म. एक शान्तमूर्ति आगमज्ञ आचार्य थे। उनकी सौम्य और शान्त मुद्रा बड़े बड़े प्रतिवादियों को एक क्षण में स्तब्ध कर देती थी। उन दिनों उनकी आध्यात्मिक प्रतिभा से बड़े बड़े श्रुतधर अंजित थे। अपने आचार के लिये जितने कठोर थे उतने ही दुसरों के लिये भी मृदु थे। सीमित वस्त्र, सीमित पात्र अल्प उपधि के द्वारा वे अपने संयम पथ पर गतिशील थे। समाज में उनका बड़ा प्रभाव था। जिस ओर चल पड़ते लोग उनके स्वागत में पलक पांवड़े बिछा देते थे। सांप्रदायिक संघर्षों से अलग रहकर स्वात्म-परिणति और स्वाध्याय में

लीन रहनेवाले ये प्रतिभा संपन्न आचार्य जब खाचरौद पधारे तो सारे नगर में एक तहलका मच गया। दर्शनों के लिये नर-नारी उमड़ पड़े।

ऐसे तो आप खाचरौद के ही थे और संयम पथ में आने के लिये आपको बहुत कुछ सहना पड़ा था। पिता का प्रेम और मां की ममता उन्हें संसार के बंधनों में जखड़े रखना चाहती थी, पर जब मन में वैराग्य की धारा उमड़ी तो वह कब बंधन मानकर चलनेवाली थी!। जब उन्होंने अपना संकल्प पिता के सामने रखा तो गद्‌गद हो पिता बोल पड़े–'बेटा, यहां कौनसी कमी है जो तुम साधु बनने की सोच रहे हो ? हम तो तुम्हारे लिये नववधू लाने के स्वप्न देख रहे हैं।'

पुत्र ने धीमे स्वर में कहा–'आपकी स्नेह की शीतल छाया में दुःख की दोपहरी का अनुभव नहीं हो सकता, फिर भी दोपहरी को भुलाया नहीं जा सकता और उसके लिये मुझे यह घर का मोह तो छोड़ना होगा!।' पिता ने देखा सीधे रूप में यह माननेवाला नहीं है तो मोह ने कठोर कदम उठाये। लाख समझाने पर भी जब वह मानने को तैयार न हुए तो पिता ने अपने परिचित थानेदार के सामने अपनी समस्या रखी। उसने नन्दलालजी को बुलाया, उसको धमकाया; जब भी वे न माने तो उसने उन्हें जेठ की दोपहरी में नंगे पांव और नंगे सिर खड़ा किया। फिर पूछा–'अब क्या इच्छा है ?।' बोले 'जो इच्छा है मैं पहले ही बता चुका हूं।' थानेदार ने एक बड़ा सा पत्थर मंगवाया और उसके सिर पर रख दिया। प्राणों को सेंक देनेवाली उस धूप में पत्थर उठाकर आधे घंटे तक वे निश्चल खड़े रहे, फिर पूछा तो भी उत्तर वही मिला। तब थानेदार हैरान हो गया, उसने श्रीनंदलालजी के पिता को बुलाकर कहा–'सभी परीक्षाओं में यह उत्तीर्ण है, अब यह तुम्हारे घर रहनेवाला नहीं है।'

आखिर मोह झुका, त्याग ने विजय पाई और श्री नन्दलालजी आचार्य श्री गिरधारीलालजी म० के पास दीक्षित हुए। आगम के अध्ययन और प्रतिभा के बल पर वे चमके। समाज ने उन्हें अपना आचार्य चुना। खाच-रौद में उनके आगमन के समाचार श्री किशनलालजी के कानों ने सुने तो वे भी चल पड़े। आचार्य श्री की शान्ति और सौम्यता ने उन्हें खींचा। प्रवचन की धारा में संसार की आसक्ति धुल गई। उनके निकट दीक्षित होने की भावना जाग उठी। सेठ केसरीमलजी के सामने उन्होंने अपनी भावना प्रदर्शित की। वर्षों के परिचय और प्रेम ने उनके भीतर जो आत्मीयता जगा दी थी, उसने रोकने की चेष्टा की, पर वैराग्य का रंग इतना कच्चा न था कि सेठ या मां के आंसुओं से धुल जाय। आखिर उन्हें अनुमति देनी पड़ी और श्री किशनलालजी सं० १९५८ श्रावण शुक्ला १२ को रतलाम में आचार्य श्री नंदलालजी म० के पास दीक्षित हो गये।

अध्ययन संयम का प्राण है। ज्ञान के अभाव में संयम साधना नहीं हो सकती। इसीलिये आचार्य की प्रेरणा पाकर मुनि श्री किशनलालजी म० आगम के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। ग्रहण शक्ति और बुद्धि की पटुता के कारण आपने शीघ्र ही आगमों का गहरा अध्ययन कर लिया। आगमिक रहस्य आप से अछूते न रह सके। आपके प्रवचनों में भी आगम का ज्ञान बोलता था। आपके आगमिक शैली के प्रवचन इतने सरल एवं सुरुचिपूर्ण होते थे कि श्रोता अघाता ही नहीं था। आपका शास्त्र-पाठ का वाचन इतना मधुर होता था कि श्रोता झूम उठता था। लोग बोल उठते 'आगमों का ऐसा वांचन अपने कानों से पहली बार ही सुना है!।'

अध्ययन के साथ बौद्धिक प्रतिभा और विचक्षणता भी आपमें काफी थी। यद्यपि वाद-विवाद आपके स्वभाव के अनुकूल नहीं था और विवाद से आप सदैव बचते रहते, किन्तु जब कभी सत्य का प्रश्न आता आप कभी पीछे भी नहीं रहते। किशनगढ़ में ऐसा ही एक प्रसंग उपस्थित हो गया जिसमें न चाहते हुए भी आपको चर्चा में उतरना पड़ा। प्रतिवादी के प्रश्नों का इस ढंग से आपने हल किया कि सब एक क्षण के लिये चकित रह गये, किन्तु जब आपने एक प्रश्न रखा तो प्रतिपक्षी बगलें फांकने लगे। एक के बाद एक नया तर्क रखते गये कि उसके मुंह पर हवाइयां उड़ने लगीं। वास्तव में उस दिन पता लगा कि आपमें तर्क करने की शक्ति कितनी प्रबल है और उस तर्क में

कितना प्राण रहता है ! । वे तिनके का स्तंभ नहीं थे कि फूंक देते उड़ जाते । प्रतिपक्षी के पास उस सबका कोई उत्तर नहीं था । अन्त में विजय आपके पक्ष में रही । विशाल सभा ने जय नाद के साथ आपकी विजय को बधा लिया ।

अपने शिष्य समुदाय के साथ पं० मुनि श्री किशनलालजी म० एक बार मेवाड़ की ओर चल पड़े । संध्या के चार बज रहे होंगे । काफी लम्बा विहार करके आ रहे थे, पैरों ने भी जवाब दे दिया । एक छोटा गांव दिखाई दिया, सभी वहां पहुंचे । ठहरने को स्थान नहीं मिल रहा था । छोटा सा गांव, न मंदिर का पता था न धर्मशाला ही थी । आखिर एक व्यक्ति बोला—'पास में किसान का घर है वह बाहर गया है । आप इसके बरामदे में ठहर जाइये ।' उसकी अनुमति लेकर ठहर गये । आधे घंटे के बाद वही किसान आगया जिसका कि मकान था । आते ही बोला, 'क्यों ठहरे यहां ? किसने कहा है ?'

महाराज बोले—'भाई साधु हैं, दूर से चलकर आये हैं; थक गये थे, यहां न धर्मशाला है न मन्दिर ही । पड़ौसी ने कहा और हम ठहर गये, इसमें कोई जुल्म तो नहीं हो गया । हम कोई मकान की गठरी बांधकर ले तो नहीं जायेंगे ? । रात भर रहकर सुबह चल देंगे ।'

'नहीं महाराज, यह नहीं चलने का । मैं अपने घर पर तुम्हें सोने नहीं दूंगा, क्योंकि तुम बनिये के गुरु रात को रोटी नहीं खाते तो मैं अपने आंगन में किसी को भूखे नहीं सोने देता । रात के दस बजे मेरे यहां मक्की के गरम रोटे बनेंगे वे तुम खाते हो तो तुम ठहर सकते हो ।'

महाराज ने सोचा यह अच्छी आफत आई । बोले—'भाई, भूख तो कड़ाके की लगी हुई है । दस मील से चलकर आ रहे हैं, पर रात को तो हर्गिज नहीं खायेंगे, भले कुछ अभी हो जाय । हां, यदि भी तेरे घर में कुछ हो तो देदे ।'

'महाराज ! अभी हम किसानों के घर क्या मिलेगा ?' 'कुछ घाट बाट तो होगी न ?' महाराज ने पूछा । 'हां महाराज, यह तुमने अच्छी याद दिलाई । घाट का तो हंडा भरा है चलो ।' पात्र लेकर महाराज पहुँचे । उसने पूरा पात्र भर दिया और एक पात्रे में छाछ उंडेल दी । भूख तो थी । भूख ने मकाई की घाट को बदाम का हलुआ बना दिया । कभी कभी गुरुदेव अपने प्रवचन में इस घटना का उल्लेख करते थे और कहते थे 'बड़े बड़े सेठों ने मिठाइयां और बादाम का हलुआ भी बहराया होगा वे तो याद नहीं रहे, पर वह घाट तो आज भी याद है ! ।'

कानोड़ में एक बार महाराज श्री प्रातः बाहर जा रहे थे । एक भाई ज्वर में तप रहा था, बोला—'महाराज, मांगलिक सुना दीजिये ।' महाराज श्री ने प्रभु पार्श्वनाथ का छन्द और मांगलिक सुनाई । तीन घंटे में ज्वर उतर गया । उन दिनों कानोड़ में यह हवा फेली हुई थी, घर घर में लोग बीमार पड़े थे । मांगलिक से जहां एक स्वस्थ हुआ उसने दूसरे के कानों बात पहुंचाई । दूसरे ने तीसरे के कानों पर । धीरे धीरे बात फेल गई । अब तो प्रातः और सायं जिस ओर महाराज के बाहर जाने का रास्ता था, भीड़ लगी रहती । जाते ही लोग घेर लेते । 'गुरुजी, तीन दिन से बीमार हूं, बुखार ने हड्डी ढीली करदी; एक छन्द सुनादो ।' महाराज छन्द और मांगलिक सुनाये बिना आगे नहीं बढ़ पाते । कभी जल्दी में मांगलिक ही सुना देते तो लोग कहते, 'नहीं गुरुजी, छन्द सुनाइये, आपको कष्ट तो होगा पर मेरा रोग दूर हो जायगा ।'

मांगलिक सुनकर जो स्वस्थ हो जाता वह आता गुरुदेव के चरणों में वन्दना कर कहता—'गुरुजी, आपने मुझे अच्छा कर दिया ।' गुरुदेव कहते—'भाई, यह तो तुम्हारे सातावेदनीय कर्म का उदय हुआ और तुम अच्छे हो गये, उसमें मेरा क्या है ? ।'

भावुक भक्त तो यही कहते 'हमको दुःख से छुड़ाने वाले आप हो और हम कुछ नहीं जानते ।'

---

१. मकाई के दलिये की बनाई हुई चीज जो मेवाड में छाछ के साथ खाई जाती है ।

छोटा सा गांव था। खेडूतों के सौ घर होंगे। घूमते हुए महाराज भी उस गांव में पहुंचे। सभी साधुओं को भूख तो लग रही थी, किन्तु अजैनों के यहां गोचरी करने में जरा साहस चाहिये। वहां जैन घर तो था नहीं कि श्रद्धा और भक्ति के साथ आहार मिल सके। पं० श्री किशनलालजी म० बोले—'मैं जाता हूं, देखूंगा जहां प्रासुक मिलेगा और उसकी भावना होगी तो ले आऊंगा।'

पात्र लेकर चल पड़े। पूरे गांव में घूम लिये, पर किसी ने आधा रोटा भी नहीं दिया। वापिस लौट रहे थे बीच में देखा पति पत्नी बुरी तरह लड़ रहे हैं। महाराज ने कहा—'भाई, रोटी वोटी है? पर उस लड़ाई में महाराज की बात कौन सुनता!। उधर लड़ाई पूरे जोश में थी, दोनों ओर से गालियां की बोछार हो रही थी। पति का दिमाग जरा ठंडा हो रहा था कि पत्नी की लम्बी जीभ ने एक ही शब्द ऐसा बोल दिया कि बुझती आग में घी पड़ गया!। अब तो पति के हाथ उठे कि तभी महाराज बीच में खड़े हो गये। आदमी चोंक गया। महाराज बोले 'मर्द होकर औरत पर हाथ उठाते हो!' वह बोला 'महाराज, यह ऐसी है इससे मैं परेशान हो गया। इसकी जीभ कैंची सी चला करती है।'

उस समय उस व्यक्ति की बगल में सुन्दर सलोना बालक था, महाराज ने उसके ओर इशारा करते कहा 'यह देवी न होती तो यह हीरा जैसा बच्चा कहां से आता? यह इस देवी का ही प्रताप है।'

'हां महाराज, बात तो तुम्हारी सच्ची है।' और बालक के हंसते चेहरे को देखकर पति-पत्नी दोनों खिलखिला पड़े।

क्रोध को हंसी में बदल देने की भी एक कला होती है। दो लड़ते हुओं को आप एकदम रोक नहीं सकते। ऐसा करना चाहिए कि दोनों की लड़ाई कुश्ती में बदल जाए और कुश्ती खेल में, फिर आप हल्के हाथों उन्हें हास्य नदी के किनारे ले आवें, फिर देखेंगे क्रोध कहीं गायब हो गया है और दोनों खिलखिला रहे हैं।

गुरुदेव इस कला के सच्चे कलाकार थे। दोनों किसान दंपति जो दो क्षण पहले क्रोध में भूत बन रहे थे दोनों खिल उठे। क्रोध का शैतान कभी का विदा ले चुका था। महाराज जाने लगे तो उसने पूछा—'कुछ चाहिये?।' महाराज बोले 'इसीलिये तो आया हूं।' किसान ने पत्नी से कहा 'जा जा महाराज को दो रोटे दे।' और महाराज दो रोटे लेकर लौट आये।

सोना आग में चमकता है। ज्वाला में उसके तेज में निखार आता है जबकि घांस आग से डरती है, क्योंकि आग में पडकर वह राख होती है। मानव जहां कष्टों की आग से डरता है, भागने की कोशिश करता है; वहां महा मानव उससे खेलता है। कष्टों की ज्वाला में उसके व्यक्तित्व को निखार मिलता है। एक शायर बोलता है:—

रंग लाती है हिना पत्थर पे घिस जाने के बाद,
सुर्खरू होता है इन्सां आफतें आने के बाद!

आपत्ति आई है। उससे डरेंगे तो वह आपके सिर पर सवार हो जाएगी। डरिये नहीं, डटके मुकाबला कीजिये। उससे आंखों से आंखें मिलाइये। उससे हाथ मिलाइये, अब वह आपके आपका परिचित मित्र बन जाएगा और आसानी से आप उस पर विजय पा सकेंगे। एक इंग्लिश विचारक ने कहा है:—

Difficulties are like waves. They can't hurt you if you face them
and as they come nearer you will find yourself lifted upto meet them.

कठिनाईयां लहरें हैं; यदि तुम उनके सामने हो गये तो वे तुम्हें कोई हानि नहीं पहुंचा सकती। जैसे ही वे निकट आवें तुम ऊपर उठकर उनसे मिलो।

विपत्तियों से मुकाबला करने में गुरुदेव दक्ष थे। वास्तव में वे उनसे मुकाबला नहीं करते वरन् खेलते थे। एक बार विचरण करते हुए वे गिरिराज आबू जा रहे थे। तलहटी में छोटेगांव में रात को विश्राम किया। सूर्य की

प्रथम किरण के साथ विहार यात्रा शुरू हो गई। किसी से पूछ लिया 'कितना दूर होगा यहां से?' उसने कह दिया 'यही छः मील के करीब है।' सभी चल पड़े। सोचा अभी दो घंटे में पहुंच जाते हैं। साथ में प्रवर्तक श्री ताराचन्दजी म० भी थे जोकि वयोवृद्ध थे। इधर कुछ देर हो गई फिर चढ़ाई थी। छः मील पहुंचते ग्यारह बज गये। धूप चढ़ आई। सूर्य सिर पर था, प्यास के मारे कंठ सूखने लगे। पहाड़ी रास्ता सिर ढ़कने को एक वृक्ष भी नहीं। सभी पसीने में नहा रहे थे। फिर भी हिम्मत थी अभी पहुंचते हैं। जब छः मील पार हो चुके तब तो आकुलता बढ़ने लगी। उस ओर एक भील आ रहा था उससे पूछा–'भाई, मंदिर कहां है? चढ़ाई कितनी बाकी है?' उसने कहा 'महाराज, अभी तो छः मील बाकी है।' 'छः मील और? ऐसी आग बरस रही है, पास में पानी का एक बून्द नहीं, कंठ सूख रहे हैं, मंजिल कैसे तय होगी?।'

बड़े महाराज बोल उठे–'अब तो मेरी हिम्मत काम नहीं देती।' छोटे वृक्ष के नीचे वे बैठ गये। बोले 'मैं तो संथारा करता हूं। जिससे चला जाय वह आगे जाय और प्राण बचाए।' गर्मी के मारे उनकी आवाज नहीं निकल रही थी। गुरुदेव श्री किशनलालजी म. बोले 'इतने घबराइये नहीं, जरा हिम्मत से काम लें तो ये छः मील अभी पूरे हो सकते हैं।' 'पर मेरे से तो एक कदम नहीं चला जाता।' यह कहकर वयोवृद्ध ताराचन्द्रजी म. वृक्ष की छाया में बैठ गये। सभी के मुख पर चिन्ता की रेखाएँ दोड़ने लगीं। किन्तु पं. श्री किसनलालजी म. के मन में उत्साह का प्रवाह था। वे बोले 'घबराहट मंजिल को दूनी बना देती है। थोड़ी विश्रान्ति ले लें फिर आगे बढ़ते हैं। मन में उत्साह है तो मंजिल हमारे कदमों में है!।'

जरा आगे बढ़े तो वृक्ष के नीचे कुछ बहिनें बैठी हुई दिखाई दीं। गुरुदेव को आते देखा तो वे सभी खड़ी हो गई और वन्दन करती हुई बोलीं–'महाराज, आप अभी यहां कहां? ऐसी धूप में कैसे पहुचेंगे?।'. महाराज श्री ने कहा 'यही समस्या तो हमारे सामने है। प्यास के मारे प्राण कंठों में आ बसे हैं, बड़े महाराज श्री से तो चला भी नहीं जाता।'

'हमारे पास पानी है आप चिन्ता न करें!' बहिनें बोलीं।

'वह कच्चा पानी हमारे उपयोग में कैसे आ सकता है?।' महाराज ने कहा।'

'नहीं महाराज, हमारे पास गरम पानी है। ओली चल रही है हम सबको आयंबिल व्रत है, इसी लिये गरम पानी की गगरियां भरकर हम चली हैं।'

फिर महाराज ने पानी लिया, प्यासे कंठ में पानी पहुंचा तो उसने नई ताजगी ला दी!। बहिनें फिर बोलीं 'महाराज, आप भूखे भी तो होंगे। हमारे पास कुछ खाद्य पदार्थ भी हैं। नन्हें मुन्नों के लिये लाये हैं और काफी ज्यादा हैं, थोड़ा उसमें से भी लेना होगा।' महाराज श्री उनके आग्रह को टाल न सके और थोड़ा आहार भी लिया।

जिन सूनी पहाड़ियों में जल की एक बून्द का पाना कठिन हो वहां प्रासुक आहार और पानी का मिल जाना चमत्कार नहीं तो क्या था?

ऐसी ही एक घटना निमाड़ में घटी थी। प्रवर्तणी श्री गुलाबकुंवरजी म. के पास करीकरबा में एक बहिन सोहनबाई ने दीक्षा की भावना व्यक्त की। सतीजी की इच्छा थी दीक्षाविधि गुरुदेव के हाथों से सम्पन्न हो। महाराज श्री उस समय इन्दौर थे। सतीजी का आग्रह विशेष था और महाराज श्री चल पड़े। मालव से निमाड़ पहुंचने के लिये विंध्याचल पार करना होता है। उसे पार करती हुई सड़क भी जा रही थी, पर भावुक भक्तों की सलाह थी सड़कर चक्कर बहुत काटती है। कच्चा रास्ता लेलें तो दस मील का रास्ता छः मील में कट जाएगा। मानव का मन भी कुछ ऐसा होता है; कि जल्दी पहुंचने के लोभ में आराम प्रद मार्ग छोड़ नन्ही पगडंडी अपना लेता है। गुरुदेव ने स्वीकार कर लिया। साथ में एक मार्गदर्शक भी था, अतः सभी निश्चिन्त होकर चल रहे थे। चलाचली में ग्यारह बज गये। सूर्य सिर पर चढ़ आया। महाराज ने मार्गदर्शक से कहा 'कितने लम्बे हैं तेरे छः मील! छः बजे से चले हैं और अब सूर्य सिर पर चढ़ आया क्या अभी तक छः मील पूरे नहीं हुए?।'

'मैं तो रास्ता भूल गया महाराज।' मार्गदर्शक ने कहा। मार्गदर्शक ही मार्ग भूल जाए तब कैसी विडम्बना होती है यह उस दिन पता चला!। गलत मार्गदर्शक रास्ते को दूना कर देता है। क्योंकि चलनेवाला तो उसी पर विश्वास रखकर चल पड़ता है!।

सभी के पैरों ने जवाब दे दिया। उधर सूर्य की तीखी किरणें गले को सुखा रही थीं। वयोवृद्ध प्रवर्तक श्री ताराचन्द्र जी म० की प्राणशक्ति सीमा को छू रही थी। वही आबू का दृश्य सामने आ गया। वे ही पहाड़ियाँ और वही भीषण ग्रीष्म। वे वृक्ष के नीचे बैठ गये। बोले 'जिसको रास्ता मिले चल पड़ो, मेरी आशा न रखना।' अब किसके पैर उठते। फिर गुरुदेव बोले 'आपके इन शब्दों से तो सबका धैर्य समाप्त होता है!। जरा साहस रखकर इस घाटी को पार करदें। घाटी के नीचे ही एक झोंपड़ा दिखाई दे रहा है।'

साहस भरे शब्दों ने सब मुनियों के दिल में नई चेतना का संचार कर दिया। आधे घंटे में घाटी पार हो गयी, तभी पीछे से आवाज आयी 'ठहरिये! ठहरिये!' महाराज ने मुड़कर देखा, कुछ श्रावक दौड़े आरहे थे। महाराज रुक गये। श्रावक निकट आई तो बोले 'महाराज, उधर किधर जा रहे हैं?। हम प्रातः सात बजे से निकले हैं, अब तक आपका पता नहीं। मालूम होता है आप रास्ता भूल गये!।' गुरुदेव ने कहा 'बात सही है, हमारा मार्गदर्शक ही मार्ग भूल गया है। इस कठिनाई से हम पार हो रहे हैं कि एक कदम आगे रखना दूभर हो गया है।' श्रावक बोले 'यहां से एक फर्लांग पर छोटा सा गांव है, वहां पधारिये। संभव है वहां प्रासुक पानी का भी जोग लग जाएगा।' महाराज उधर मुड़ गये। गांव में पहुंचे। एक घर से पानी का जोग लगा। उस दिन अनुभव हुआ पानी को जीवन क्यों कहा गया है!। श्रावक लोगों ने कहा 'महाराज, थोड़ा आहार भी मिल जाएगा।' महाराज ने कहा 'नहीं भाई, अभी तो पानी ही अमृत है।'

बहती जीवन की चदरिया उजले और काले धागों से बुनी हुई है। कभी उजले धागों की चमक है, तो दूसरे क्षण काला धागा आकर उसकी सफेदी को ढ़क देता है। जीवन बंधी बंधाई लीक पर कभी नहीं चला है। वह सदा समरूप में बहने वाली नदी नहीं है, वह तो पहाड़ी नदी है। पत्थर और गड्ढ़े उसके मार्ग में हैं। उन सबको पार करना है और आगे बढ़ना है। हर मनुष्य के जीवन में जीवनधारा के पत्थर आते हैं, पर वे कहकर तो नहीं आते। यह क्षण मधुर है, आनंद की मधुर लहरियों में हम उसके दूसरे पक्ष को भूल जाते हैं, किन्तु वह दूसरा क्षण कितना भयानक भी हो सकता है यह हमारी कल्पना के बाहर होता है।

एक बार गुरुदेव और उनके विद्वान् शिष्यरत्न प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमलजी म० आदि मुनिवर रतलाम से विहार कर डूंगर प्रान्त की ओर पधार रहे थे। साथ में एक भाई मोतीलालजी भी थे। पहाड़ी रास्ता था; चलते चलते संध्या होने आई। महाराज ने भाई से कहा 'अब तो ठहर जाना चाहिये।' मोतीलालजी बोले 'थोड़ी सी दूर एक गांव है, वहां भील मेरे आसामी हैं। वहां स्थान भी अच्छा मिल जाएगा। पर भीलों के गांव ऐसे कि सारे गांव में घूम जाएं तब भी पता नहीं लगेगा कि गांव कहां है!। दो चार झोंपड़े इस ओर तो दो उस ओर। दो मील तक झोंपड़े बिखरे रहते हैं वह दो मील का एरिया गांव कहलाता है। गांव में चलते चलते पैर भी थक गये। व्योम मंडल की यात्रा पर थके हारे भगवान भास्कर भी अस्ताचल पर विश्राम के लिये आ गये थे। महाराज बोले 'अब तो बताओ मुकाम कहां करना है।'

भाई ने कहा 'यह टेकरी है उसी पर जो झोंपडे हैं उसमें मेरे आसामी हैं, वहीं चलना है। वहां पहुंचे, किन्तु झोंपड़े में एक चिड़िया भी नहीं थी। भीतर चूल्हा जल रहा था। एक रोटी चूल्हे पर थी। दूसरी नीचे थोड़ा आटा भी था, किन्तु न रोटी बनाने वाले का पता था, न खाने वाले का। साथ के भाई ने आवाज भी लगाई, पर पहाड़ियों से टकराकर आवाज खाली लौट आई, किन्तु कोई आया नहीं। थोड़ी प्रतीक्षा के बाद वह भाई बोला 'महाराज, आप चिन्ता न करें। मेरे ग्राहक हैं हमेश आते हैं, माल ले जाते हैं, अतः मेरी आज्ञा है आप विश्राम करें।

महाराज ने सामान रखा। एक वृक्ष के नीचे आसन जमाया। प्रतिक्रमण का टाइम था। प्रतिक्रमण किया और थकी आंखें झपकियां लेने लगीं, सभी सो गये। भाई मोतीलालजी को नींद नहीं आ रही थी। अभी एक घंटा भी न बीता होगा कि पत्तों की खड़खड़ाहट हुई। मोतीलालजी ने चौंककर पूछा 'कौन है?' अंधेरे में एक छाया सी हिलती हुई प्रतीत हुई। उन्होंने फिर पूछा 'कौन हैं?' अबकी बार उधर से आवाज आई 'तू कौन है?' वह बोला "मुझे नहीं पहचाना? मैं हूं मोतीलाल".

"कौन मोतीलाल बाण्यो? यहां क्यों आया?।" "हां हां मैं हूं, मेरे गुरु आये हैं, उनके साथ आया हूं।" "ये तेरे गुरु हैं।" 'फिर ये वे नहीं हैं। हां हां, मुझे भी शंका हो रही है। जरा जाकर देखो पहले एक व्यक्ति जाओ। यदि कुछ गड़बड़ी हो तो वहां से आवाज लगाना। फिर हम एक साथ धावा बोल देंगे।' आपस में वे लोग सलाह कर रहे थे। फिर उनमें से एक धीरे धीरे निकट आया।

इस गड़बड़ में महाराज की आंखें खुल चुकी थीं। उन्होंने पूछा 'क्या बात है?'। मोतीलाल जी बोले 'तड़वी (भील) आया है।' इतने में वह भी निकट आगया था। उसने पूछा 'मोती वाण्या, ये कौन हैं?' उसने कहा 'ये मेरे गुरुमहाराज हैं, जैन साधु हैं, ये किसी को सताते नहीं।' 'अच्छा, तो इनके पास यह लम्बी लम्बी क्या चीज है?' (ओघे की ओर इशारा करते हुए भील ने पूछा।) 'यह ओघा है। छोटी चींटी भी मर न जाए इसलिये रखा है। रास्ते में चींटी चल रही है तो इससे अलग हटाकर फिर चलते हैं।'

"और ये गोल गोल क्या है?" पात्रे की ओर इशारा करते हुए भील ने पूछा। महाराज ने बताया 'ये लक्कड़ के पात्र हैं। हम धातु की कोई चीज पास में नहीं रखते। हमारा खाना पीना इसी में होता है।'

'अच्छा, खोल कर बताओ।' अब भी उसे पूरा विश्वास नहीं आया था। महाराज ने पात्रे खोले। सब देखे, कुछ संतोष हुआ। 'और ये क्या है?' डब्बे की ओर इशारा करते हुए भील ने पूछा।

महाराज बोले 'ये डब्बे हैं, इनमें धर्मशास्त्र रहते हैं। "अच्छा खोलो तो।" महाराज श्री ने वे भी खोलकर बता दिये। अब उसे पूरा संतोष था। उसने अपने साथियों को आवाज लगाई—"आजाओ, कोई डर नहीं है।" सब आ गये।

महाराज ने पूछा 'भाई, बात क्या है? रात को हमको परेशान क्यों किया?'

भील बोला "महाराज, आज तो तुम भी मरते और हम भी मरते। गजब हो जाता!। यह देखो य तीर कामठी (धनुष्य बाण) लेकर ही हम आये थे। हम तीर छोड़नेवाले ही थे कि वह मोती वाण्या बोल दिया।"

गुरुदेव ने पूछा "भाई, बात क्या हुई?। हमने ऐसा क्या बिगाड़ा कि तुम हमें मारने आगये?"

वह बोला 'बात ऐसी हुई, जब तुम घाटी चढ़ रहे थे दूर से हमने तुम्हें देखा; जिन्दगी में पहलीबार तुम लोगों को देखा था। हमें तो भ्रम हो गया यह खुफिया पुलिस आई है और हमें पकड़ेगी!। इसीलिये हम तो प्राण लेकर दौड़े। आदमी औरतें बाल बच्चे सभी भागे। रोटी चूल्हेपर जलती छोड़ दी, क्योंकि प्राण बचाना था!। फिर हम इधर उधर लुक छिपकर देखते रहे, कब जावें किन्तु तुमने तो डेरा लगा दिया। फिर हमने सोचा ये छोड़नेवाले नहीं हैं, अभी नहीं तो सुबह पकड़ेंगे। इसलिये हमने सोचा ये हमको पकड़ें इसके पहले हमीं इनको साफ न करदें? और इसीलिये हम सब मिलकर आये। यह तो पत्ते बजे और मोतीलालजी की नींद खुली। इन्होंने आवाज दी, तब हमने सोचा आवाज तो मोती बाण्या की है और वह तो हमारा सेठ है। वह हमें पकड़ाने के लिये खुपिया पुलिस लाये ऐसा लगता नहीं है। इसलिये हमने छानबीन की; पर महाराज तुम किस्मत वाले थे!। यदि यह नहीं बोलता तो एक मिनिट में तुम सबको एक साथ बींध देते। तुम तो मरते साथ में हम भी मरते, क्योंकि फिर पुलिस हमको छोड़ती काहे को!।'

महाराज ने कहानी सुनी। देखा मौत चार गज ही दूर थी, फिर भी जीवन की डोर मजबूत थी, बच गये; नहीं तो सभी की जीवन लीला समाप्त थी!।

फिर वे भील बोले 'महाराज ! अब आप तो सो जाइये। हम रात भर पहरा देंगे, क्योंकि खुपिया पुलिस की बात दूर दूर तक फैल गई है जैसे हम गिरोह बनाकर आये ऐसे दूसरा गिरोह आगया तब भी कठिनाई है !।" उन्होंने सारी रात पहरा दिया। फिर दूसरा गिरोह आया या नहीं कह नहीं सकते। क्योंकि सभी महाराज भीलों के विश्वास में गहरी नींद ले रहे थे।

भील जाति कितनी ही शंकाशील हो पर एक बार विश्वास जम जाने के बाद वह अपना प्राण भी आपके लिये दे देगी। प्रस्तुत घटना मुनि विहार पथ की लोमहर्षक घटना है। जबकि विहार पथ में मरणान्तिक परिषद (कष्ट) उपस्थित हो जाते हैं, किन्तु मृत्युंजयी मुनि उन सबका स्वागत करता है।

गुरुदेव ने हजारों मील विहार किया। मद्रास में सर्व प्रथम चातुर्मास आपका ही हुआ। मद्रास संघ विनंती के लिये आया। मद्रास प्रान्त का भयंकर ताप, आहार विहार की प्रतिकूलताएं सभी सामने थीं, किन्तु फिर भी महाराज ने उसे ओर आने की स्वीकृति दे दी। उस समय प्रवर्तक श्री ताराचन्द्रजी म. पूज्य गुरुदेव पं. किशनलालजी म. प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमलजी महाराज वयोवृद्ध वच्छराजजी म. कवि श्री सूर्यमलजी म. आदि १४ मुनिवर साथ थे। अपरिचित प्रदेश, आहार पानी की प्रतिकूलता और दुर्लभता सभी कठिनाइयां सामने थीं। फिर भी महाराज श्री मुनिवृन्द के साथ चल पड़े। मद्रास की दो मोटरें साथ रहतीं, करीब दो मास तक ये क्रम चलता रहा। सेंठ मोहनमलजी चोरड़िया आदि साथ में थे। आहार पानी के लिये उनका काफी आग्रह था फिर भी महाराज श्री ने कहा "साथ रहे व्यक्तियों से हम आहार नहीं ले सकते।" पश्चात् मोटरों द्वारा वे आगे पहुंच जाते और वखाल जाति जोकि उधर की एक मात्र निरामिष जाति है उन्हीं लोगों को मुनि मर्यादा के नियम समझाकर आहार. पानी की योगवाई लगवाते थे।

इधर उन्होंने तेलगू भाषा में मुनि जीवन के नियमोपनियम छपवा लिये थे और गावों और शहरों में पर्चे बांटे जाते थे। उन्हें पढ़कर वहां के निवासियों को इतना आश्चर्य होता था कि वे समझते थे कि ऐसे नियम पालने वाले मानव नहीं, भगवान ही हैं! और जिस मार्ग से महाराज गुजरते उधर सैंकड़ों की तादाद में वे लोग कतारबद्ध खड़े हो जाते थे। मुनि समुदाय को देख कर वे हर्षित हो नमस्कार करते। कोई बहिन भी चरण छूने आती तो उसे समझा दिया जाता कि जैन मुनि स्त्री को नहीं छूते। उधर के निवासियों में बहुत भावुकता है, इसी लिये कोई खरबूजा तरबूजा लिये इसलिये चले आते कि गुरुजी को भेंट करेंगे, तो कोई आम लेकर आते। जब वे भेंट करने लगते तो महाराज श्री बोलते 'यह हमारा नियम नहीं है।' साथ रहे गृहस्थ उन्हें तेलगू में समझाते तो वे बोलते 'गुरुजी को नहीं चलता तुम्हें तो चलता है ? तुम ले लो।' लाख इन्कार करने पर भी वे देकर ही जाते।

महाराज श्री के सर्वप्रथम पदार्पण से मद्रास प्रान्त में जैनधर्म का प्रचार कार्य काफी सुन्दर ढंग से हुआ। साथ में मद्रासी भाषा का विद्वान् भी रखा गया था। महाराज श्री प्रवचन देते विद्वान उनका मद्रासी भाषा में अनुवाद करता था, इसलिए वहां की जनता भी जैनधर्म और जैन साधु के सम्बन्ध में कुछ जानने लगी थी।

जिस दिन महाराज श्री ने मद्रास शहर में प्रवेश किया। सारे शहर में एक तहलका मच गया था। मद्रासवासी मारवाड़ी भाइयों के हृदय में हर्ष समा नहीं रहा था, क्योंकि मद्रास के इतिहास में पहली बार उन्होंने अपने गुरुदेव को मद्रास शहर में देखे थे। इतनी कष्ट साधना की सफलता का वह दिन था। हजारों की संख्या में नर नारी उपस्थित थे। जिस ओर जुलूस जाता उधर की ट्राम, मोटरें, गाड़ियां बन्द हो जातीं। बाजार के दोनों ओर मद्रासवासी हजारों की संख्या में कतारबद्ध खड़े थे। भवनों की खिड़कियाँ और छतें भी लद रही थीं। प्रेस प्रतिनिधि भी फोटो लेने के लिये खड़े थे। मारवाड़ी बहिनों स्वागत गीतों की झंकार से बाजार गुंज रहे थे। उनके आभूषणों की प्रदर्शनी को देख अगले दिन एक पत्रकार ने टिप्पणी भी की थी 'मद्रास शहर में पहली बार मारवाड़ी समाज के गुरु आये हैं उनके स्वागत में मारवाड़ी बहनों ने इतने गहने पहने हैं कि गहनों की ऐसी प्रदर्शनी कभी नहीं देखी गई !'

इसके बाद मद्रास वासियों में धार्मिक भावना की जो लहर आई उसने सारे मद्रास प्रान्त में जिन शासन का जयनाद गुंजा दिया। मद्रास के तत्कालीन पब्लिक वर्कस् मिनिस्टर मौलाना याकुब हुसेन महाराज श्री के प्रवचन में

आये थे। गुरुदेव के प्रमुख शिष्य प्रसिद्ध वक्ता **श्री सौभाग्यमलजी** म. के समन्वयात्मक प्रवचनों से काफी प्रभावित हुए। प्रवचन समाप्ति के पश्चात् महाराज श्री की प्रशंसा करते हुए आपने कहा "ये प्रवचन जीवन में उतरें तब आत्म–कल्याण हो सकता है।" आपने आगे बोलते हुए कहा "अहिंसा का सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है। उसी का यह प्रभाव है कि आजतक जैन और मुसलमान भाई भाई की तरह रहते हैं, आज तक मैंने नहीं सुना कि जैनों और मुसलमानों में कभी झगड़ा हुआ हो!।"

अन्त में उन्होंने कहा कि "आप मुनिगण हजारों मील पैदल चलकर आये हैं और अहिंसा का इतना विचार रखते हैं कि उसके लिये (रजोहरण की ओर इशारा करते हुए) यह सदैव साथ रखते हैं, मैं मद्रास शहर की जनता की ओर से आपका अभिनंदन करता हूं।"

वयोवृद्ध प्रवर्तक श्री ताराचन्दजी म., पं. शास्त्रज्ञ श्री किशनलालजी म. प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमलजी म., कवि सूर्यमलजी म. आदि चौदह मुनिवरों की उपस्थिति में ता. १०–६–३७ को आलन्दूर (मद्रास) में सेठ विजयराजजी मेहता के सज्जन विलास उद्यान में विराट् सभा का आयोजन किया गया, जिसमें तत्कालीन मद्रास कांग्रेस के सर्वोच्च नेता श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी तथा अन्य प्रसिद्ध कांग्रेस वर्कर (कार्यकर्ता) भी उपस्थित थे। उस समय प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमलजी म. ने ओजस्वी शैली में राष्ट्रधर्म पर प्रवचन दिया। अहिंसा प्रधान जैनधर्म की मौलिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए एकता, राष्ट्रभाषा के प्रतिप्रेम, नशैली वस्तुओं का परित्याग, अछूतोद्धार आदि विषयों को स्पर्श करते हुए राष्ट्रधर्म की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की। पश्चात् जनता के आग्रह से महान् तार्किक चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने तामिल भाषा में प्रवचन देते हुए जैनधर्म की अहिंसा और जैन मुनियों की कठिन साधना की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। इसके साथ शतावधानी केवलमुनिजी म. के मनोनिग्रह के प्रतीक अवधान प्रयोगों ने जनता के मानस को हिला दिया। उस पर जैन संस्कृति और जैन मुनियों की गहरी छाया अंकित कर दी। इस प्रकार महाराज का प्रथम चातुर्मास मद्रास के इतिहास में नया पृष्ठ जोड़नेवाला सिद्ध हुआ। दक्षिण भारत जो कि जैनधर्म और भगवान महावीर के संदेशों को भूल चुका था मुनिवरों के आगमन ने उसमें नव जागृति प्रदान की।

इसी प्रकार हैद्राबाद (दक्षिण) में भी महाराज श्री के यशस्वी चातुर्मास हुए। वहां भी महाराज श्री ने अपने ओजस्वी प्रवचनों के द्वारा हजारों अजैन वैष्णव भाइयों को जैनधर्म के प्रेमी बनाया। आज भी वे लोग महाराज श्री को याद करते हैं।

बेंगलोर का चातुर्मास भी शानदार रहा। सेठ छगनमलजी मूथा ने अति आग्रहपूर्वक चातुर्मास करवाया और आगंतुकों के स्वागत में हजारों का खर्च किया।

दक्षिण में विचरते हुए महाराज श्री चौदह मुनियों के साथ मैसूर पधारे। वहां भी प्रवचनों और अवधान प्रयोगों के द्वारा बडे बडे अजैन विद्वान जैनधर्म की ओर आकर्षित हुए। जो विद्वान बोलते थे आज के युग में एकपाठी विद्वान हो नहीं सकता। राजा भोज के युग में एकपाठी व द्विपाठी विद्वान थे जो कि एक बार या दो बार सुनकर याद रख लेते थे, किन्तु जब शतावधानी केवलमुनिजी म० ने उनके कठिनतम श्लोक को एक बार व्युत्क्रम से सुनकर याद रख लिया और पुनः सुना दिया तो विद्वत्समाज चकित रह गया। जब महाराज ने कहा 'उल्टा सुनाई, या आप कहे तो वैसा का वैसा सुना सकता हूं' और जब महाराज ने व्युत्क्रम से सुना दिया तो वह आश्चर्य चकित होकर गुरुदेव के चरणों में झुक गया।

एक बार राजप्रासाद में व्याख्यान रखा गया। विशाल सभाभवन पूर्ण भरा हुआ था। मैसूर नरेश भी एकाग्र होकर प्रवचन सुन रहे थे। प्रवचन समाप्ति के पश्चात् गुरुदेव ने कहा 'महाराज, पूर्व संचित पुण्यों का यह मधुर प्रतिफल आपको प्राप्त हुआ है।' मुस्कुराते हुए महाराजा बोले 'सच्चा पुण्य तो आपका है कि आप स्वतंत्रता

से प्रभु के पथ में घूम रहे हैं । मैं तो बंधनों में जकडा हुआ हूं । चाहता तो मैं भी हूं, कि आपकी तरह बंधनमुक्त बनूं, पर अभी इतनी तैयारी नहीं है ।' महाराज श्री ने गृहस्थ रूप में रहकर भी बंधन-मुक्ति का स्वरूप समझाया। परिग्रह के बीच में रहकर भी जलकमलवत् रहने की प्रेरणा दी । गुरुदेव के प्रेरणा संदेश से महाराजा अति प्रसन्न हुए और बोले 'आपके बताये मार्गपर चलने की कोशिश करूंगा ।'

इस तरह दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रचारकार्य सुन्दररूप से संपन्न हुआ । ऐसे ही बम्बई क्षेत्र भी आपके उपकारों का ऋणी है । बम्बई और उसके उपनगरों में आपके नव चातुर्मास हुए । जब कभी बम्बई संघ को चातुर्मास के लिये दूसरे मुनि निकट में दिखाई नहीं देते तब वह आशा लिए गुरुदेव की सेवा में पहुंच जाता । उसकी आग्रहभरी प्रार्थना को गुरुदेव टाल नहीं सकते थे और पांच सौ, सात सौ माईल दूर से भी वहां पहुँचते । एक बार तो आप नागपुर से बम्बई पधारे थे । एक बार सन सेंतालीस में बम्बई संघ चातुर्मास की विनंति के लिये आया । चातुर्मास के लिये केवल ढाई महिना शेष था । भयंकर गर्मी, दुर्भिक्ष का वातावरण और हिन्दु मुस्लिम दंगों की आशंका, इन सबके बावजूद आप ६५ वर्ष की अवस्था में लघुशिष्यों के साथ चल पडे । उस समय इन पंक्तियों का लेखक भी तेरह वर्षीय लघुशिष्य के रूप में गुरुदेव के साथ था ।

इस कष्ट साधना का यह प्रभाव था कि बम्बई की चालीस हजार जैन जनता के दिल में आप बस चुके थे । बहुत से भावुक गृहस्थ तो आज भी आपके नाम की माला रटते हैं । वे बोलते हैं जब कभी कोई उलझन भरी समस्या हमारे सामने आ जाती है तो गुरुदेव का स्मरण करते ही विकटतम समस्या एक मिनिट में हल हो जाती है। जब कभी उन्हें सफलता मिलती है तो वे बोल पड़ते हैं 'यह अपने गुरुदेव का प्रभाव है ।' कोट संघ के उपप्रमुख सेठ मगनभाई दोशी, सेठ वीरचन्द भाई, उनके सुपुत्र मणीलाल भाई, कान्दावाड़ी संघ के प्रमुख श्री गिरधरलाल भाई, सेठ रविचन्द भाई, प्रमुख दादर संघ, सेठ गंभीर भाई, प्रमुख माटुंगा संघ, सेठ हुक्मीचन्द भाई, सेठ नाथालाल भाई पारख आदि आपके कार्यकर्ताओं की आप पर अनन्य श्रद्धा है । माटुंगा संघ के भूतपूर्व प्रमुख सेठ रामजी भाई जब मृत्यु शय्या पर थे तब माटुंगा संघ के सदस्य उनके पास पहुंचे और बोले 'कोई आज्ञा या इच्छा हो तो कहिये ।' वे बोले 'एक ही इच्छा है कि गुरुदेव मंत्री श्री किशनलालजी म. का एक चातुर्मास माटुंगा में अवश्य करावें ।' ये उनके अन्तिम शब्द थे पर कितनी श्रद्धा भरी थी इन शब्दों में !

बम्बई ही नहीं, गुजरात सौराष्ट्र में भी आपका प्रभावपूर्ण विचरण रहा । सोनगढी सिद्धान्त को प्रतिरोध के लिये राजकोट संघ आप को इन्दोर से ले गया था । वही भीष्म ग्रीष्म और तीन महीनों में पांच सौ मील काटे थे। वह चातुर्मास भी यशस्वी रहा । उसके बाद बढवाण संघ का अति आग्रह हुआ तो वहां भी आपको चातुर्मास करना पडा । यहां भी जनता में अति उत्साह था । मालव और सौराष्ट्रवासी भावुक भक्तों का यहां भी काफी प्रवाह उमडा । राजकोट की भांति बढवाण वासियों ने भी आगंतुकों का मुक्त हृदय से स्वागत किया ।

एक बार प्रवचन के दोरान में गुरुदेव ने दशम पौषधव्रत (दया) का निरूपण करते हुए फरमाया यह एक दिन की मानों मुनि दीक्षा है । सौराष्ट्र में दया की परंपरा नहीं है । अतः वढवाण के भाइयों में दया के प्रति काफी उत्सुकता दिखाई दी । पर दया का तरीका उन्हें ज्ञात नहीं था, अतः जब गुरुदेव ने उन्हें बताया कि दया में चोबीस घंटे संवर में बिताने चाहिये, उपाश्रय में रहना चाहिये । पन्द्रह या ग्यारह सामायिक करना चाहिये । एक भाई ने पूछा 'फिर उसमें भोजन करना या नहीं?' गुरुदेव ने फरमाया 'हां हां, उसमें उपवास नहीं करना पडेगा, यह तो माल खाते हुए मुक्ति में जाने का तरीका है ।' यह सुनते ही सब खिलखिला पडे । फिर गुरुदेव ने बताया 'दया में भोजन के तीन प्रकार हैं । पहला तरीका है बाजार से पुरी मिठाई आदि लेकर खा सकते हैं । दूसरा तरीका है अपने अपने घरों से टिफिन लाकर खा सकते हैं और तीसरा तरीका है मुनि की भांति गौचरी लाकर खाना ।'

एक भाई ने फिर पूछा 'इनमें सबसे अच्छा तरीका कौनसा है?'। गुरुदेव ने फरमाया 'सबसे अच्छा तो है घर घर से गोचरी लाना। पर यह आपसे शायद बनेगा नहीं।' सभी बोल पड़े 'बनेगा क्यों नहीं? हमें तो सबसे अच्छी दया करना है।' और दो सो भाई तैयार हो गये। नियत दिन सभी भाई उपाश्रय में आ गये। सबने दशमव्रत लिया और प्रवचन सुना। प्रवचन समाप्ति के पश्चात् गुरुदेव के नेतृत्व में दो सो भाई हाथ में झोली लिये हुए गोचरी के लिये निकल पड़े। जिधर भी ये दयाव्रती निकल पड़ते जनसमूह देखने के लिये उमड़ पड़ता। सभी कहते महाराज ने जादू कर दिया। दो सो भाइयों को साधु बना लिया। दयाव्रतियों में डाक्टर, वकील, ग्रेज्युएट, लक्षाधिपति आदि भी श्रावक थे। इन पंक्तियों का लेखक भी दीक्षार्थी के रूप में वहां उपस्थित था। वह दृश्य सचमुच देखते ही बनता था। जब एक लक्षाधिपति के घर पहुंचे और भिक्षा के लिये सेठ के पुत्र ने पीतल का पात्र आगे बढ़ाया और उसकी माता भिक्षा देने लगी तो उसके नेत्रों में आंसू उमड़ पड़े। बड़े उल्लास के साथ भिक्षाचरी का काम पूरा हुआ। उस दृश्य को देखकर उस युग की याद आ जाती थी, जबकि पांच सो मुनिवरों के साथ आचार्य विचरते थे। उसी का छोटासा दृश्य यहां बन गया था। बड़े आनंद के साथ दशमव्रत संपन्न हुआ।

दूसरे दिन माताएं बोलीं 'हमने क्या पाप किया है? हम दयाव्रत क्यों नहीं कर सकतीं?' गुरुदेव ने कहा 'दयाव्रत में किसी के लिये इन्कार नहीं है।' बस फिर क्या था। चार सो बहिनें तैयार होगईं। उन्होंने भी उस ढंग से गोचरी लाकर दशमव्रत किया। वह दृश्य आज भी बढवाणवासियों के स्मृति पट पर सजीव है।

बढवाण चातुर्मास की परिसमाप्ति के पश्चात् दीक्षा प्रसंग को लेकर गुरुदेव मालव में पधारे। उस समय प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमलजी म. कुछ अस्वस्थ थे और चिकित्सा के लिये देवास रुकना पड़ा। चातुर्मास भी वहीं करना पड़ा। प्रारंभ में कुछ सुस्ती भरा वातावरण रहा। फिर तो प्रवचनों की धारा ने अजैनजनता को आकर्षित कर लिया। प्रवचनों में मुसलमान बोहरे माली तक आते थे। उन्होंने प्रभावना तक बांटी। वहां भी गुरुदेव ने जब दया का प्रवचन दिया तो लोग तैयार हो गये। एक मुसलमान भाई जो प्रतिदिन तीन मील से प्रवचन में आता था उसने कहा 'मेरे से कुछ लिया जाय तभी मैं कुछ खा सकता हूं।' उसकी बात मान ली गई और अजैन लोगों ने भी दया की।

श्रद्धेय गुरुदेव पं. श्री किशनलालजी म. ने सर्वत्र आध्यात्मिक और धार्मिक जागृति का शंख फूंक दिया। जहां गये वहां भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता की प्रतिष्ठा की। आपके दो शिष्य रत्न हैं। प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमलजी म. आपके प्रतिभासंपन्न शिष्य हैं और लघु शिष्य प्रिय वक्ता श्री विनयचन्द्रजी म. सा. हैं। जिन्हें आपकी प्रतिभा और मधुर प्रवचन शैली का वरदान प्राप्त है। आपकी दीक्षा भी बड़े मनोरंजक ढंग से हुई। गुरुदेव जब लीमड़ी (पंचमहाल) में थे तब उन्होंने एकबार स्वप्न में नवपल्लवित और पुष्पित हराभरा आम्रवृक्ष देखा और अगले ही दिन समाचार मिले कि बाबूलालजी मुनिवेश पहनकर आ रहे हैं। पर्युषण के दिनों में हजारों की उमड़ती भीड़ में जब नये मुनि के रूप में बाबूलालजी उपस्थित हुए तो जनता चकित रह गई! । यद्यपि दीक्षा में पारिवारिक मोह काफी बाधक बना पर उस संघर्ष में आप डटे रहे। अन्त में विजय आपके पक्ष में रही और बाबूलाल (विनय मुनिजी म.) गुरुदेव के शिष्य बने। गुरुदेव के दोनों शिष्य उनके नाम को नक्षत्र की भांति चमका रहे हैं।

समाज के विकास में और संघ ऐक्य के कार्य में गुरुदेव का महत्त्वपूर्ण योग रहा। आज से सत्ताईस वर्ष पूर्व संघ-ऐक्य के लिये उग्र विहार कर बम्बई से अजमेर पधारे। उस सम्मेलन की सफलता में आपका काफी योगदान रहा। उसके बाद २००४ में जब कान्फ्रेंस ने पुनः संघ ऐक्य की योजना हाथ में ली और समाज में एक-सूत्रता लाने के लिये एक प्रतिक्रमण और बीस लोगस्स योजना रखी। तब भी आपने संघ संगठन के लिये अपनी परम्परागत दो प्रतिक्रमण और चालीस लोगस्स की परम्परा त्याग कर आपने कान्फ्रेंस की योजना स्वीकार करली। उसके बाद भी आपके संघ निर्माण के प्रयत्न चलते रहे।

वीर वर्धमान श्रमण संघ के निर्माण की बात चली तो आपने अपने प्रमुख शिष्य प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमलजी म. को ब्यावर भेजा। संप्रदाय और पद के विलीनकरण का प्रश्न आया तो आपने सर्वप्रथम अपना प्रवर्तक पद त्याग दिया। और शेष चार संप्रदायों के विलीनकरण के सुफल रूप में वीर वर्द्धमान श्रमण संघ मूर्तरूप ले सका।

जब सादड़ी सम्मेलन का आयोजन हुआ तब आप शिष्य समुदाय के साथ बम्बई थे। उस समय भी आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं था, फिर भी आपने संघ हित के लिये अपने प्रमुख शिष्य प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमलजी म. को बम्बई से सादड़ी भेजे। वहां वर्द्धमान श्रमण संघ की योजना को मूर्तरूप देने में उनका भी प्रमुख हाथ रहा। श्रमण संघ ने गुरुदेव को सेवा मंत्री का पद दिया। इधर सोजत सम्मेलन ने आपको महाराष्ट्र मंत्री का पद दिया। वयोवृद्ध होते हुए भी आपने कुशलता के साथ उस पद को निभाया और संघ की सेवा कर समाज के सामने एक आदर्श उपस्थित किया।

आपमें शास्त्रीयज्ञान की जितनी गहराई थी स्वभाव में उतना ही माधुर्य था। आपके वार्तालाप में हास्य का हल्का पुट रहता था आगंतुक खिल उठता था। आगमिक शैली के प्रवचनों में भी श्रोता रस में डुबकी लगाता था तो कभी चुटिले व्यंग भरे उदाहरणों से खिलखिला उठता था। बातचीत में भी कभी कभी ऐसा व्यंग छोड़ देते थे कि वह खिल उठता था। इन्दोर की घटना है। एक बार एक सज्जन आये जो थे तो जैनेतर, किन्तु जरा पड़ोसी संप्रदाय के चक्कर में थे। एक दिन भर्राये हुए थे। बातचीत में जरा उनका पारा चढ़ गया और वे बोल पड़े 'देखिये महाराज! मैं सो गुण्डे का एक गुण्डा हूं। इन्दौर का मैं पहले नम्बर का मव्वाली हूं।'

गुरुदेव जरा व्यंग कसते हुए बोले—'सेठ! मैं तो समझता था आप बड़े सज्जन हैं। इन्दौर में प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति हैं, किन्तु आज पता लगा कि आप गुण्डे हैं!।' यह सुनते ही सेठ सकपका गये और पैरों में गिर गये। 'गुरुदेव, मुझे माफ करो। मैं गल्ती पर था।'

गुरुदेव की वाणी में जादू बरसता था। पुण्यवान और गुणवान शब्द तो उनकी जीभ पर थे। कोई भी वन्दना करने आता उसे पुण्यवान के मधुर संबोधन से बुलाते थे। आगन्तुक के मन में प्रसन्नता के फौव्वारें छुट पड़ते थे। आगन्तुक ही नहीं लघुमुनियों के साथ भी उनका उतना ही माधुर्यपूर्ण बर्ताव था। कोई भी काम होता बड़े प्रेम से कहते 'तूं बड़ा पुण्यवान है, बड़ा कुलीन है।' पानी भी पीना होता तो बड़े प्रेम से कहते 'ला एक पात्री पानी ला दे तुझे धर्म होगा।' हम बोल पड़ते 'गुरुदेव, आप यह न भी कहें तब भी पानी ले आवेंगे।' वे फरमाते 'हाँ, ले तो आओगे किन्तु ऐसा कहने से काम करनेवाले के दिल में उत्साह रहता है।'

सन्त जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है अन्तर और बाह्य की एकता। जिसके मन में कुछ और है, वाणी में कुछ और है और आचरण में तीसरी ही बात है वह सन्त नहीं हो सकता। जीभ और जीवन के बीच की खाई जितनी चौडी होती जाएगी सन्तवृत्ति उतनी ही दूर होती जाएगी। जीभ और जीवन की समता में संतवृत्ति जीती है। गुरुदेव एक महान सन्त थे और उनमें संत जीवन की सरलता साकार हो रही थी। छल छद्म को तो वे जानते ही नहीं थे। कभी उन्होंने अन्तर और बाह्य में द्वैत नहीं रखा। "कभी किसी को कुछ कहा तो दूसरे को कुछ और कहा" पूरे जीवन में कभी एक भी घटना ऐसी न हुई। ज्यों ज्यों अवस्था ढलती गई सरलता त्यों त्यों बढती ही गई। नहीं तो ऐसा होता है—बुढापा आता है। तो जीवन रस समाप्त हो जाता है और जीवन रस के अभाव में मनुष्य चिडचिडा हो जाता है। पर गुरुदेव उसके अपवाद थे। पहुंची हुई अवस्था, रोग की पीड़ा, सब कुछ होते हुए भी स्वभाव की सरलता और माधुर्य में जरा भी कमी नहीं आई।

---

१ मनस्येकं वचस्येकं कायेचैकं महात्मनाम्। मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् काये चान्यद्दुरात्मनाम्।

वह अनोखा दृश्य

ऐसे तो आप दस वर्षों से मधुमेह की व्याधि से पीडित थे, किन्तु अन्तिम दस माह में तो व्याधि ने जो उग्र रूप लिया कि शरीर के बल को धो डाला; फिर भी चेहरे पर अलौकिक शान्ति विराज रही थी। दिव्य तेज चेहरे पर खेल रहा था। पैर में गहरा घाव था। डाक्टर इंजेक्शन लगाते, चीरा देते तब भी ऊफ् तक नहीं करते थे!। जब भी आपसे पूछते 'तबियत कैसी है?' आप उसी शान्ति के साथ उत्तर देते 'अच्छी है। कोई तकलीफ नहीं है।' तब मैं विनोद में कह बैठता 'फिर हम विहार करें।' मुस्कुराते हुए बोलते 'विहार तो नहीं हो सकता।'

तन घुल रहा था, पर मन तो समता और संयम के रस में डूब रहा था। पीडा कहां हो रही है। क्यों हो रही है उसकी ओर लक्ष्य ही नहीं था। चातुर्मास में जब पीडा ने उग्र रूप लिया तब उनके प्रिय शिष्य प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमलजी म. ने कहाँ चतुर्विध संघ के साथ क्षमायाचना करलें और उनके समक्ष आलोचना करलें। गुरुदेव ने सहर्ष स्वीकृति दे दी। खबर मिलते ही अगले दिन साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओं का समूह उमड़ आया। रतलाम, उज्जैन, खाचरौद आदि शहरों के प्रतिष्ठित व्यक्ति भी उपस्थित थे। इन्दोर के संघ के प्रमुख सेठ सुगनचन्दजी भंडारी, मंत्री राजमलजी माणकलालजी, सेठ भंवरलालजी धाकड़ आदि भी उपस्थित थे। गुरुदेव की ओर से प्रसिद्ध वक्ता श्री सौभाग्यमलजी म. ने फरमाया कि 'मैंने श्रद्धेय गुरुदेव आचार्य श्री नन्दलालजी म. के पास चारित्र ग्रहण किया और यथाशक्य निरतिचार पालने का प्रयत्न किया, जहां तक मुझे स्मरण होता है मुझे एक भी बडे दोष को सेवन करने का प्रसंग उपस्थित नहीं हुआ। फिर भी मानव भूल का पात्र है। अतः चारित्रपथ में स्खलना हुई हो और मधुमेह की बीमारी से विगत दस वर्षों से मैं पीडित हूं, अतः उसके उपचार में साधारण दोषादि लगे हों उन सबके प्रायश्चित्त स्वरूप चतुर्विध संघ के समक्ष छह मास का दीक्षाछेद स्वीकार करता हूं।' पं. श्री सौभाग्यमलजी म. ने पूछा 'आपको दीक्षा छेद स्वीकार है?' गुरुदेव ने स्वीकृति सूचक मुद्रा में कहा 'हां, खुशी से स्वीकार है।' फिर उन्होंने कहा 'चतुर्विध संघ आपसे क्षमा याचना के लिये एकत्रित हुआ है। ये आपके शिष्य और पं. कवि श्री सूर्यमुनिजी प. प्रवर्तणी श्री राजकुंवरजी म. आदि साध्वियांजी म. विराजे हैं और सैंकडों श्रावक और श्राविकाएँ आपसे क्षमा मांगते हैं।' अत्यन्त अशक्त अवस्था में भी हाथ जोडकर गुरुदेव ने अत्यन्त धीमे स्वर में कहा 'सबको खमता हूं।' प्रत्युत्तर में सबने सिर झूकाते हुए कहा 'हम आपसे क्षमा मांगते हैं। आप संघ के नायक हैं, आपने हमको अध्यात्म का पथ दिखाया है।' और यह कहते हुए सबकी आंखें भर आईं। वह दृश्य सचमुच कोमल करुण दृश्य था!।

तब भी आपका स्वास्थ्य इतना बिगड चुका था कि विश्वास नहीं होता था कि आज की रात्रि भी निकल सकेगी, किन्तु हम सबके सद्भाग्य से तबियत कुछ संभली और चातुर्मास समाप्त हो गया।

वह चातुर्मास हमारा बम्बई में था। गुरुदेव के बिगडते स्वास्थ्य के समाचार जब मिलते तो मन अज्ञात शंका से कांप उठता। विहार के लिये मन तड़प उठता, पर चातुर्मासिक बन्धन दीवार की भांति सामने आजाता था। सद्भाग्य से चातुर्मास समाप्त हुआ और श्रद्धेय पं. श्री नगीनचन्द्रजी म. प्रिय वक्ता श्री विनयचन्द्रजी म. और इन पंक्तियों का लेखक इन्दौर आने के लिये चल पडे। पं. श्री नगीनचन्द्रजी म. का स्वास्थ्य कमजोर था। हार्ट की बीमारी थी। फिर भी प्रतिदिन दस और पंद्रह मील का विहार कर डेढ मास में इन्दोर पहुंचे। गुरुदेव के दर्शन पाकर श्रम सफल हो गया!। सफल क्या हो गया श्रम दूर हो गया। रास्ते में भी जब कभी लोग बोलते 'आप चार दिन ठहरकर श्रम दूर कर लीजिये।' तब हमारा एक ही उत्तर होता 'श्रम तो गुरुदेव चरणों में ही दूर होगा।' और हुआ वही। इधर रत्नश्री सूर्यमलजी म. गुरुदेव की आज्ञा से चातुर्मास में ही पधार चुके थे। श्री सङ्गीतप्रिय श्री सुरेन्द्रमुनिजी म. सेवाभावी श्री हुक्ममुनिजी म. उदारचेता श्री रूपेन्द्रमुनिजी, तरुण तपस्वी श्री उमेशमुनिजी म. व्याख्याता सेवाशील

श्री जीवनमुनिजी आदि सभी मुनिवर सेवा में जुटे हुए थे। रात्रि के जागरण की भी ड्युटियां बंधीं हुईं थीं। सेवा का दृश्य भी अनोखा था। मुनियों की सेवा चरम सीमा पर थी तो गुरुदेव की समता भी चरम सीमा को छू रही थी!

इधर डा. मुखर्जी, डा. केलकर, डा. सिंपैया, डा. कोठारी, डा. पोरवाल आदि इन्दौर के प्रमुख डाक्टर और वैद्य हरिश्चन्द्रजी निःस्वार्थ सेवा दे रहे थे। इंदौर संघ और उसके प्रमुख कार्यकर्ता सेठ भंवरलालजी धाकड़, सेठ माणकलालजी, सराफ श्री चाँदमलजी भटेवरा एवं श्री केशरीमलजी मल्हारगंज आदि की सेवा बराबर बनी हुई थी।

आखिर वह दिन भी आ पहुंचा। ता. ३।१।६१ जबकि शीत के प्रबल दौरे ने प्रातः गुरुदेव को बेचैन कर दिया। तत्काल डाक्टर आये, बोले 'केस गंभीर है' तभी गुरुदेव को सागारी संथारा करा दिया। दोपहर को थोड़ी राहत मिली कि संध्या के ५–४५ पर सूर्यास्त के साथ जैन जगत का प्रभावपूर्ण सूर्य भी अस्त हो गया।

तार और फोन से समाचार मिलते ही दूर दूर के लोग गुरुदेव के अन्तिम दर्शन पाने के लिये उमड़ पड़े। रात से ही लोगों का आवागमन शुरू हो गया। प्रातः ग्यारह बजने के साथ साथ बाहर के आगंतुकों की संख्या दो हजार तक पहुंच गई और साढ़े ग्यारह बजे गुरुदेव के भौतिक देह को जरी निर्मित पालखी में बैठाया गया।

तीन तीन बँडों के साथ झुकी गर्दन से अश्वचल रहे थे और गजराज पर आधा झुका केशरिया और भजन मंडली के साथ १५ हजार नरनारी भारी मन और भीनी आंखें लिये चले जा रहे थे। सड़क के दोनों ओर कतार-बद्ध जनता गुरुदेव के भौतिक देह के दर्शनों के लिये खड़ी थी। हजारों की संख्या में जैन, अजैन, वैष्णव, मुसलमान, बोहरे आदि अपने भवनों की खिड़कियों से दर्शन कर रहे थे। देखनेवाले बड़े बूढ़ों के मुंह से निकल पड़ा 'ऐसी शवयात्रा इन बूढ़ी आंखों ने आजतक नहीं देखी!।'

चन्दन चिता ने गुरुदेव के भौतिक देह को समाप्त कर दिया किन्तु उनका यशःशरीर मानव के स्मृतिपट पर अजर अमर है। उनका जीवन इतना पवित्र और सरल था कि शत्रु भी उनके चरित्र पर अंगुली उठाने का साहस नहीं कर सकते थे!। वास्तव में उनका शत्रु कोई था ही नहीं। उन्होंने सर्वत्र मित्र बनाए। मित्र बनाने की कला कोई उनसे सीख सकता था। गुरुदेव के मधुर संयमी जीवन ने श्रमण संस्कृति को दीप शिखा की प्रज्वलित किया है और इसीलिये श्रमण संस्कृति के इतिहास में उन्होंने उज्ज्वल पृष्ठ जोड़ा है।

जिन्दगी ऐसी बना जिन्दा रहे दिलशाद तूं,
जब न हो दुनियाँ में तो दुनियां को आये याद तूं।
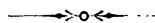
"इसिभासियाइं" सूत्रपरिचय

श्रमणसंस्कृति की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

भारतीय संस्कृति अपने–आपमें एक विराट् समन्वय है । भारत जैस विराट् देश में जहां कि करोड़ों मानव बसते हैं, सभी का एक विचार, एक आचार असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है, किन्तु जहां आचार और विचार की रेखाओं में विविधता लक्षित होती है, वहां विविधता में भी एकरूपता है । वह विविधता एक फुलवारी की विविधता है, जहां नानाविध पेड़ पौधे अपनी सौन्दर्य–सुषमा में निर्बाध अभिवृद्धि कर रहे हैं । यदि एक ही किस्म के पेड़ पौधे होंगे तो विपिन की वह मनोहरता लक्षित न होगी जो विविधता में होती है । इसी अर्थ में हम भारतीय दर्शनों को एक सजा हुआ गुलदस्ता कहेंगे, जहां हर एक दर्शन–पुष्प अपनी विचार-परम्परा का प्रतीक है । विविधता बुरी नहीं, बुरी चीज तो विविधता के आग्रह को लेकर एक–दूसरे के स्थान को हथियाने की चेष्टा करना, एक दूसरे को झूठलाना । अपने विचारों को ही सच्चा समझने के आग्रह के कारण, जब व्यक्ति दूसरे के विचार–वैभव को सह नहीं सकता और उसकी वैचारिक स्वतंत्रता का गला घोंटना चाहता है, तब उसमें जहरीली गैस घूस आती है, जो अपने व पराये सबको नष्ट कर डालती है ।।

साम्प्रदायिकता की प्राचीर में जिनके मानस कैद रहते हैं, और बाहर की हवा लगते ही जिन की श्रद्धा लज्जावन्ती बन जाती है, उनके लिये वह विविध पुष्पों से सजा हुआ गुलदस्ता महज एक जलते हुए अंगारे जैसा है । जिनकी विचारधारा ने सम्प्रदाय मोह के कारागृह से छुट्टी पा ली है सोचने और समझने के लिये दिमाग की खिड़कियां बंद नहीं हैं । वे जहां भी पहुंचते हैं जीवनमधु पा ही लेते हैं । विचार मधुमक्षिका जहां भी पहुंचती है शहद की बूंदें ग्रहण करती है । इसीलिये अमृत के आगार करुणा के स्रोत भ. महावीर कहते हैं– "जो मेधावी विचारशील ज्ञान की रोशनी लिये आगे बढ़ता है, उसके लिए विश्व का अणु-अणु श्रेय की ओर बढ़ने की प्रेरणा देने वाला है, उसके लिये मिथ्याशास्त्र भी सम्यक् शास्त्र है । वह जहां भी जाएगा अमृत की दृष्टि लेकर जाएगा और अमृत ही लेकर आएगा । और जो जहर की शोध करने चला उसे अमृत में भी हालाहल की बूंदें दिखलाई देंगीं । इतना ही नहीं, जीवनदायी अमृत भी जहर की लहर देने लगेगा । हमें अमृत का शोधक बनना है, उसी अमृत की खोज भारतीय सन्तों ने की है ।

भारत को ऋषियों की भूमि होने का गौरव प्राप्त है । जीवन और जगत् के विषय में जिसने जो भी खोज की है दर्शन के क्षेत्र में उसका अपना नया स्थान बन गया है । विभिन्न दर्शनकारों ने जीवन और जगत् के विषय में पृथक्–पृथक् विचार व्यक्त किये हैं । उन्होंने कहा गति और प्रगति का नाम जीवन है पर अनन्त–अनन्त विविधताओं–विचित्रताओं से भरा यह विश्व क्या है ?

मैं कौन हूं, इस विराट ब्रह्मांड में मेरा स्थान क्या है ? इस गति और प्रगति का लक्ष्य क्या है ? ये छोटी आँखें जो कुछ देख रही हैं वही सब कुछ है ? या इससे भी परे कोई तत्त्व है ? इस विराट विश्व का नियंत्रण सूत्र किन सशक्त हाथों में हैं ?

मानव-मानस में घूमड़ते इन प्रश्नों का एक ने उत्तर दिया तू और कोई नहीं, इस विराट विश्व का एक झिल-मिलाता सुन्दर बुलबुला है । तेरी यह मोहकता, तेरी यह कमनीयता इस महान प्रकृति की देन है । उसी के हाथों से तेरा निर्माण हुआ है । इसी असीम जलधि ने दो बूंद जल दे दिया और विशाल भूपिंड ने तेरा पुतला खड़ा कर दिया । वायु तुझे अहर्निश जीवन दे रही है, वनस्पति तेरा भोजन है, अनन्त आकाश तेरा आवास है, यही तेरे इस मिट्टी के जीवन की नपी-तुली परिभाषा है । कुछ क्षण तक हंस ले, खेल ले, तमाम भोग्यपदार्थों का निर्माण तेरे लिये हुआ है, भोग, केवल भोग तेरे जीवन का साध्य है, अर्थ तो साधन है और आखिर में तुझे इसी मिट्टी में समा जाना है, इससे परे तेरा कोई अस्तित्व नहीं है ।

इस दर्शनकार को हम चार्वाक के नाम से पहचानते आये हैं। दृष्टिगत, दृश्य संसार ही इन्हें मान्य था, इसी को सजाना-संवारना उनका लक्ष्य है। इनके विचार से मानव वित्तैषणा और लोकैषणा का जीवित प्रतीक मात्र था। दूसरे शब्दों में आदमी रोटी दाल का केवल यंत्र मात्र है, कामना और उसकी पूर्ति जीवन लक्ष्य है।

दूसरे दर्शनकार सामने आये। उन्होंने बतलाया जीवन एक शाश्वत तत्व है, मानव न केवल क्षणस्थायी पानी का बुदबुदा ही है, किन्तु उसमें ही अमरत्व के तार झंकृत हैं। साथ ही उन्होंने यह भी बतलाया कि जन्म के बाद जन्मान्तर और मृत्यु के बाद नया जन्म भी है और इस विश्व की व्यवस्था करने वाला कोई महान् व्यवस्थापक है जिसके सुदृढ़ हाथों में विराट विश्व का नेतृत्व है। जीव तो उसका एक अणु है। उसी के इच्छाधीन होकर कार्य करता है, उसी के संकेतों पर कुछ समय के लिये भूतल पर आया है। वह सर्वशक्तिमान उसी की पूजा और अर्चना का प्यासा है। अपने जीवाणु के द्वारा की गई सेवा से वह प्रसन्न भी होता है। इसके अच्छे और बुरे कर्मों के आधार पर असुन्दर या वह सुन्दर लोक प्रदान करता है। उसकी प्रभुसत्ता सभी जीवों को स्वीकार करनी होगी। उसकी सत्ता के सामने जीव की सत्ता नगण्य है। जीव अपने नये स्थानचय के लिए स्वतन्त्र नहीं है। इस प्रकार उसने जीवन की अखंडता स्वीकार की।

परन्तु जीवन के शाश्वत तत्व को स्वीकार करने के दूसरे ही क्षण उसे परलोक भी स्वीकार करना पड़ा। उसने कहा 'हां, इस चक्षु की सीमा से परे भी कोई लोक अवश्य है, वह दो भागों में विभक्त है – एक इष्ट, दूसरा अनिष्ट। उसका कारण है जीवन की शुभाशुभ कार्य-परिणति। दूसरे शब्दों में शुभाशुभ कार्य-प्रणालि ही कर्म है।'

पुनर्जन्म के लिये उसके कारणभूत कर्म का स्वीकार करना भी अपरिहार्य था। बिना इसके परलोक की कल्पना कैसे हो सकती थी! इसलिये इस लोक से परलोक तक पहुंचने के लिये कर्म का पुल बनाना ही पड़ा। इनका विधान रहा है कि श्रेष्ठ कर्मकर्ता को श्रेष्ठ लोक मिलेगा। उसी श्रेष्ठ लोक को स्वर्ग कहते हैं। उसकी प्राप्ति के लिए धर्म भी आवश्यक है। इसका धर्म शुभकर्म का अपर पर्याय ही है। अतः इस रूप में पुरुषार्थ की भी प्रगति होती है। पहले दर्शनकार ने केवल दो ही पुरुषार्थ स्वीकार किये थे, किन्तु यह काम और अर्थ के साथ धर्म-पुरुषार्थ भी स्वीकार करता है। प्रथम दो ऐहिक सुख के लिये, धर्म आगे आने वाले लोक के लिये। यह त्रिपुरुषार्थवादी दल मोक्ष को स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं मानता था। उनकी विचारधारा यह रही है कि स्वर्ग शुभ कर्म का फल स्वर्ग है। और नरक अशुभ कर्म का प्रतिफल है। स्वर्ग और नरक से उसकी दृष्टि कभी आगे-बढना ही नहीं जानती थी। जन्म और मृत्यु के चक्र का सर्वथा उच्छेद इनके विचार से असम्भव है। इनकी धर्म-अधर्म की परिभाषाएं भी समाजस्वीकृत मर्यादाओं तक सीमित थीं। अतः समाजमान्य प्रत्येक कार्य धर्म की कोटि में है। सभ्यता व समाज की रक्षा तमाम धामिक आचरणों में सर्वश्रेष्ठ है। समाज की रक्षा के लिए की गई हिंसाएँ भी धर्म की सीमारेखा की उल्लंघन नहीं करतीं। ईश्वर का ईश्वरत्व भी सामाजिक सुव्यवस्था में ही सुरक्षित रहता था। उसे भी समाज का शान्ति के लिये निज धाम छोडकर नीचे आना पडता था। दुष्टों का दलन, भक्तों का परित्राण उनकी यात्रा का लक्ष्य था।

इसे हम याज्ञिक या वैदिक मार्ग के नाम से पहचानते आये हैं। प्रवृत्ति उनका जीवनसाध्य रहा है।

मनीषी विचारकों की चिन्तन-धारा जब आगे बढती है। मनन के मन्थन से प्राप्त आत्मानुभूति के बल से उन्होंने बताया-माना कि पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है। शुभ कर्म के द्वारा आत्मा स्वर्ग भी पा सकता है और अशुभ के द्वारा नरक भी। किन्तु हमें शुभ और अशुभ से ऊपर उठना होगा। शुभ के द्वारा आत्मा क्षणिक शान्ति पा लेता है किन्तु यह चक्र तो समाप्त तो नहीं हो गया। उस चक्र की समाप्ति के लिये जैसे अशुभ कार्य त्याज्य है वैसे शुभ को भी छोडना होगा और इसके लिये चौथा पुरुषार्थ सामने रखा गया, वह था मोक्ष। जिसके द्वारा तमाम कर्मों का उच्छेद कर आत्मा का शान्त सहज रूप पाना है और वही हमारे जीवन का एकमात्र साध्य सम्भव है और

उस के लिये तमाम कर्मों का त्याग करना होगा, चाहे वे पुण्य रूप हों या पाप रूप। धर्म की सुहावनी मोहक छाया से आये हों या अधर्म की काली छाया से। पथिक का आदर्श लक्ष्य पर पहुंचना है। राह में विराम कहां! मार्ग फूलों का का हो तो भी चलना है, कांटों का है तब भी चलना है; पर हां, फूलों पर फिसलन है और कांटों में चुभन। विश्रान्ति के लिये लक्ष्य पर पहुंचना होगा। अनन्त युगों के यात्री-आत्मा का शान्तिभवन मोक्ष है, इसीलिए मोक्ष पुरुषार्थ हमारा साध्य है और धर्म उसका साधन। यह निर्वाणवादी दर्शन की भूमिका है, जोकि मानव-मन को स्वर्ग और नरक के फूलों और शूलों से बचाकर पवित्रता के पथ पर अग्रसर करती है।

निवृत्तिवादी दर्शनकार ने साधक को प्रेरित किया है तू अपने लक्ष्य की सही दिशा में दृढ़ता से पग धरत जा मार्ग के फूलों और कांटों में तुझे उलझना नहीं है। कांटों में उलझनेवाला यदि राह भूला रही है तो फूलों की मुस्कान में बिंध जानेवाला भी लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाने वाला नहीं है। कांटों से बिंधने वाला कम से कम राह को समझता है पर फूलों से बिंधनेवाला राह क्या राही को भी भूल जाता है। इसीलिये कभी कभी फूलों की मधुरिमा को भूला देना कांटों पर चलने से भी कठिन हो जाता है। सूत्रकार ने राग और द्वेष की तुलना में राग को प्रगति की सबसे बड़ी बाधक चट्टान बताया है। राग और द्वेष दोनों पर विजय पाने वाले को इसीलिये तो "वीतराग" कहा जाता है।

किन्तु ध्येय-सिद्धि के लिये हमें फूल और कांटे दोनों को भूला देना होगा। बेड़ी लोहे की तब भी बन्धन है और सोने की है तब भी बन्धन है, बन्धन तो कहीं नहीं गया है। पर हां, पहली हाथों को बांधती है तो दूसरी हाथों के साथ हृदय को भी बांध लेती। स्वतन्त्रता की हवा में सांस लेने के लिये दोनों को तोड़ फेंकना होगा। किन्तु साथ ही यह भी समझ लेना होगा कि लोहे की बेड़ी चोरी का दंड है तो सोने की कंगन सज्जनता का उपहार है। लोहे की बेड़ी में पराधीनता की कसक है। किन्तु हां, कभी कभी लोहे के तारों को तोड़ फेंकने वाला रेशमी तारों में बंध जाता है। अनंत गगन में स्वच्छन्द विचरनेवाले विहग के लिये पिंजरा उसकी उड़ान में बाधक ही है। आत्म स्वातंत्र्य के इच्छुक को पुण्य और पाप दोनों से बचना होगा साधक की साधना केवल आत्मशोधन के लिये ही है। उसके मन को न दिव्य लोक की गुलाबी प्रभा मुग्ध कर रही हो नरक से उसके प्राण कांप रहे हों। इसीलिये शान्ति के अवतार भ० महावीर साधक को भय और प्रलोभन से मुक्त रहकर साधना करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं:—

"नो इह लोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा, नो पर लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा। नो वण्ण-कित्ति सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा नन्नत्थ एगन्त निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा। -दशवैकालिक सूत्र अ० ९, उ० ४, तपसमाधिः।

एक शब्द में कहूं तो स्वर्ग और नरक की भय प्रलोभन जन्य छाया से साधक का मानस मुक्त रहे। उसकी तपःसाधना का केन्द्र न यह लोक रहे न परलोक। न यहां के भौतिक पदार्थों को पाने के लिये वह तपःसाधना करे, न अगले लोक में मिलनेवाली स्वर्ग की परियों के लिये ही वह संयम साधना करे। लोक और परलोक की भावना से ऊपर उठकर लोकोत्तर-साधना में प्रवृत्त हो।

निवृत्तिवादी दर्शन के पास धर्म की स्वतन्त्र परिभाषा है। उस पर उसका अपना निजी चिन्तन है, मनन है। समाज की स्वीकृति ही किसी भी कार्य को धर्म का चोगा नहीं पहना सकती। समाज की हां और ना उसकी अपनी स्वार्थिक एषणाओं की प्रतिध्वनियां हैं। उसका धर्म उसकी परंपराओं के पाश में बद्ध है। जहां तक उसकी सामाजिक लोह शृंखलाओं के बन्धन को मान्य रखकर व्यक्ति चलता है तबतक उसे वह धर्म की संज्ञा देता है, जहां किसी ने उसकी मार्मिक दुर्बलताओं की ओर इंगित किया, तो वह उसे शीघ्रही अधर्म का करार दे देगा। जहां व्यक्तियों का दम घोटनेवाली गली सड़ी रस्सियों को तोड़ने के लिये किसी ने करवट ली, समाज उसे विद्रोही कहेगा उस पर पापी और अधर्मी की मुहर लगा देगा। किसी स्वस्थचेता मानस द्वारा—जिसकी कि दिल दिमाग की खिड़कियां खुली हैं—और

जिसकी आत्मा छिपे पाप के प्रति विद्रोह कर उठती है और उसकी वाणी या लेखनी द्वारा समाज की पाप कहानी के नग्न चित्र उतरने लगते हैं तो समाज चीख पड़ती है– "यह गद्दार है।" इसने समाज की सुदृढ़ भित्तियों पर क्रूर प्रहार किये हैं। यह समाज की फुलवारी में आग का कार्य कर रहा है और समाज के अधिनायक उसे समाज में से उसी भांति निकल फेंकते हैं, जैसे दूध में पड़ी मक्खी को फेंक दिया जाता है। यह पुरस्कार है उसकी विद्रोही आत्मा का जो समाज की पाप कहानी के प्रति अंधा, गूंगा और बहरा नहीं बन सका है। यह दंड है उस चिकित्सक का जिसने फोड़े को नुकीली सुई से बींध दिया और भीतर ही भीतर सड़ने वाला मवाद बाहर आगया।

सच तो यह है अधर्म की जड़ें सामाजिक इन्कार और स्वीकार में नहीं, मिथ्याभिनिवेश, राग और द्वेष में है। हमारा कार्य कितना भी मोहक क्यों न हो, समाज स्वीकृति की मुहर भी क्यों न लग चुकी हो, किन्तु यदि उस कार्य के पीछे वैयक्तिक स्वार्थ झांक रहा हो राग और द्वेष से छानकर उसकी अनुभूति आ रही हो तो वह अधर्म ही कहा जायगा। फिर भले उस पर कितने ही शास्त्र–वाक्यों के पर्दे ही क्यों न पड़े हों चांदी और सोने के आवरण से उसे क्यों न ढक दिया गया हो। पारदर्शी की आंखें उन सोने और सूत्रों के पर्दे को चीरकर छुपे पाप को खोज ही लेगी और उसके कान पाप की करुण कसक को चांदी खनखनाहट और शास्त्र रटन के महा घोष में भी सुन ही लेंगे। वस्तुतः पुण्य और पाप की तमाम क्रियाओं के पीछे यदि अज्ञान बोल रहा हो तो वे क्रियाएं जीवन पथ विधायिनी नहीं बन सकतीं।

ऋषिभाषित का अन्तस्तल

ऋषिभाषित दार्शनिक ग्रन्थ नहीं एक आध्यात्मिक सूत्र है। इसमें दर्शन की नहीं जीवन की उलझी गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

प्रत्येक धर्म में ऐसे विचारक सन्त भी आते हैं जिन्हें संप्रदायवाद की लोहशृंखलाएं बांध नहीं पाती हैं। जो रहते तो संप्रदाय में ही हैं, पर उनका चिन्तन संप्रदायातीत होता है। आंखें शरीर के विशेष भाग में रहकर भी शरीर और शरीर से अतिरिक्त वस्तुओं को देखतीं हैं। स्थूल चक्षु के लिये यह संभव है कि शरीर से भिन्न वस्तु को भी देखे। उसके लिये किसी का विरोध भी नहीं है पर अन्तश्चक्षु की कहानी कुछ दूसरी होती है। यदि अन्तश्चक्षु खुले हैं तो वह दूसरे धर्म का भी वैसा ही सत्य निरीक्षण करेगा जैसा कि अपने धर्म का करता है। पर निरीक्षण की सत्यता की पहली शर्त है आंखें खुली हों। जो आंखें खुली रखकर चलता है वह टकराता नहीं है। मार्ग के अवरोधक पदार्थों को वह देखेगा जरूर, पर उनसे लड़ने भिड़ने को तैयार न होगा, उनसे बचकर ही निकलने की उसकी चेष्टा रहेगी। धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में भी यही बात है जो आंखें मूंदकर चलते हैं उन्हीं में टक्कर और संघर्ष होते हैं। जिन संप्रदायों और जिन पार्टियों के बीच जितने ज्यादा संघर्ष होंगे वह उतना आंख मूंद कर चलनेवालों का समुदाय होगा।

तत्त्व-चिन्तक विरोध में अविरोध पाता है। इसी विशाल दृष्टि के द्वारा वह संतवृत्ति पाता है। हजारों वर्षों से साथ बहनेवाली भारत की तीन संस्कृतियों के तत्व चिन्तकों की अविरोध दृष्टि का परिचय ऋषिभाषित में मिलता है। प्रस्तुत सूत्र में जहां कुर्मापुत्र, तैतिलपुत्र जैसे जैनदर्शन के तत्व चिन्तक हैं तो अंगिरस और देवनारद वैदिक दर्शन के लब्धप्रतिष्ठ ऋषि भी आये हैं। पिंग और इसिगिरि जैसे ब्राह्मण परिव्राजक आये हैं तो साति-पुत्र जैसे बौद्ध भिक्षु भी आये हैं। पिंग और इसिगिरि के साथ" माहण परिव्वायेण का विशेषण है जो उनके ब्राह्मण वंश का परिचायक है। सातिपुत्र के साथ बुद्धेण अरहता विशेषण उनके बुद्धानुयायित्व का संसूचक है।

इस संकलन से यह परिलक्षित होता है कि संप्रदायवाद के संघर्ष के युग में एक धारा वह भी आई थी, जिसने संप्रदाय से ऊपर उठकर सोचा था। संप्रदाय भेद होने पर भी तत्व चिन्तन में जहां एकरूपता पाई गई उन सभी

ऋषियों के उपदेशों को तत् तत् विशेषणों के साथ संगृहीत किया गया। यह सांप्रदायिक उपनाम भेद दर्शन के लिये था। साथ ही यह इस बात का प्रतीक है कि संप्रदायिक भेद होने पर भी तत्वज्ञों के तत्वज्ञान में एकरूपता कैसे संभवित हो सकती है। विचार की नीची भूमिका तक उसमें विरोध और विभेद पाये जाते हैं पर जब चिन्तक विचार की अमुक सीमा पार कर जाता है तो उसके चिन्तन में एकरूपता संभावित हो सकती है। फिर वेश और संप्रदाय उसे अपने में बांध कर रख नहीं सकते वह ज्यों ज्यों ऊपर उठता है त्यों त्यों पंथ, जाति, लिंग और वेश की दीवारें एक एक करके ढहती जाती हैं और एक दिन वह सबका हो जाता है सब उसके हो जाते हैं। यही कारण है भ० ऋषभदेव को हम प्रथम अर्हत् के रूप में पूजते हैं तो वैदिकदर्शन उन्हें ऋषभावतार के रूप में देखता है।

जैन संस्कृति यद्यपि आज पंथ और वेश की शृंखलाओं में जकड़ दी गई है फिर भी एक दिन उसका स्वर पंथ और वेश पूजा के विरोध में जाग्रत था। उसने वेश-पूजा नहीं गुण-पूजा का महत्व स्वीकार किया था। इसीलिये आत्म विकास की सर्वोत्तम श्रेणी (स्टेज) पर पहुंचने के लिये उसने पंथ और जाति का कोई आग्रह ही न रखा। उसने यह नहीं कहा क्षत्रिय ही मोक्ष पा सकता है, वैश्य नहीं या ब्राह्मण ही मोक्ष पा सकता है, शूद्र नहीं। सभी वर्ण और सभी वर्ग के व्यक्ति मोक्ष के अधिकारी हैं। उसने यह भी नहीं कहा कि तुम अमुक वेश धारण करो तभी मुक्ति पा सकोगे या अमुक पंथ में दीक्षित हुए बिना या अमुक प्रकार के विशेष अर्चन पूजन या क्रियाकाण्ड किये बिना तुम्हें मोक्ष नहीं मिल सकेगी। वह यह नहीं पूछता तुम किस संप्रदाय में दीक्षित हुए हो या किस के शिष्य हो? तुमने कितने वर्ष संयम पाला है? वह तो पूछता है अन्तःशुद्धि तुमने कितनी पाई है? यदि अन्तःशुद्धि आ गई है तो गृहस्थ दशा में भी मोक्ष के अधिकारी हो और अन्तःशुद्धि नहीं है तो मुनि वेश में भी मुक्ति नहीं है। यही कारण है कि मरुदेवी-माता गृहस्थ रूप में मुक्त हुई है। सम्राट् भरत चक्रवर्ती के रूप में ही कैवल्य पागये। भगवान् महावीर के शिष्यों में एक ओर गौतम जैसे श्रमण थे तो दूसरी ओर आनंद जैसे उपासक हैं तो अंबड़ जैसे परिव्राजक, परिव्राजक के रूप में उनके शिष्य थे। तो चक्रवर्ती भरत के पुत्र मरीचि-कुमार त्रिदंडी के रूप में भ० ऋषभदेव के शिष्य थे।

वेश और पंथ की सीमा तोड़कर आत्म–दृष्टि प्राप्त करनेवालों का समन्वय हम ऋषिभाषित में पाते हैं।

ऋषिभाषित का परीक्षण

ऋषिभाषित का अन्तस्तल देखने के बाद हमें इसकी प्रामाणिकता पर विचार करना होगा। स्थानकवासी परंपरा केवल बत्तीस सूत्रों को लेकर ही चली है और बत्तीस में ऋषिभाषित का समावेश नहीं है। फिर तेतीसवां सूत्र कैसे मान्य होगा? अनुवाद के समय यह प्रश्न मेरे पास आया भी था। बम्बई में एक भाई ने मुझसे प्रश्न भी किया था महाराज आप तेतीसवें सूत्र का अनुवाद कर रहे हैं? मैंने कहाः जी हां; हर्ज क्या है?। उन्हें मेरे उत्तर पर आश्चर्य अवश्य हुआ। हमें सोचना होगा हम बत्तीस ही में क्यों बन्ध गये?

बत्तीस ही क्यों?

ऐसा कहा जाता है कि स्थानकवासी परम्परा ने बत्तीस आगमों को स्वीकार किया है और शेष आगमों को आधारभूत प्रमाण न मानकर उनकी उपेक्षा करदी। अब जरा देखना होगा वह कौनसा प्रमाण है जिसके द्वारा उसने ३२ आगमोंको सम्यक माना है और शेष को मिथ्याश्रुत का करार दे दिया। कहा जाता है कि बाह्याडंबर और प्रवृत्ति धर्म के प्रति ऐकांतिक विरोध रखकर चलने के कारण उसने मूर्ति-पूजा को आगम विरुद्ध घोषित किया है और जिन आगमों में मूर्तिपूजा का उल्लेख नहीं था केवल उन्हीं को मान्य रखा है। जिन आगमों में मूर्तिपूजा का विधान मिलता है उन्हें ठुकरा दिया गया।

केवल जिन-मूर्ति-पूजा या 'हरिहंत चेइयं' के पाठ लिये आगमों को अप्रामाणिक माना जाय तो उपांग सूत्र ही नहीं अंगसूत्र भी छोड़ने होंगा क्योंकि 'अरिहंत चेइयाइं' पाठ तो 'उपासक दशांग' और ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में भी मिलता है। उपासक आनंद अन्य तीर्थोंमें विहित 'अरिहंतचेइयं' के वन्दन पूजन का परित्याग करता है। द्रौपदी जिनमूर्ति का पूजन करती है[१]। अतः यह तो नहीं कहा जा सकता कि 'अरिहंतचेइय' शब्द के लिये आगमों का परित्याग किया गया है।

यदि सर्वज्ञ प्रणीतत्व का आधार बनाया जाय और कहा जाय कि सर्वज्ञ भ० महावीरद्वारा प्रणीत सूत्रों को ही प्रमाण माना जायगा। इस आधारपर आगमों की छटनी करना चाहेंगे तो इस छटनी में बहुत कुछ खोना पडेगा। क्योंकि सर्वज्ञ प्रणित आगमों में केवल द्वादशांगी का ही समावेश होसकता है यदि ऐसा कहा जाए की नंदीसूत्र में जो आगमों का परिचय दिया गया है उस रूप में वे उपलब्ध नहीं हैं। पर नंदी सूत्र के आगम परिचय के अनुकूल तो आज एक भी आगम नहीं है। नंदी सूत्र में जहाँ द्वादशांगी का परिचय मिलता है जहाँ हर अंगसूत्र की पदसंख्या अपने पूर्ववर्ती से दुगुनी है। आज न तो पदसंख्या हीं उतने रूप में उपलब्ध है न द्विगुणित वृद्धि ही है। क्रम का इतना विपर्यास है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति के उत्तरवर्ती सभी सूत्र उससे छोटे हीं है। ज्ञाता-धर्म कथांग सूत्र की उन हजारों कथाओं में से केवल गिनी चुकी कथाएं ही उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत प्रश्न का दूसरा उत्तर होगा क्या परिवर्धित और परिवर्तित आगम को मान्यता प्रदान नहीं की गई? आगमों का हम जरा गहराई से अध्ययन करें तो अनुभव होगा भ० महावीर के परिनिर्वाण के बाद आगमों में परिवर्तन ही नहीं परिवर्द्धन भी हुआ है। स्थानांग सूत्र के सातवें स्थानक में सप्त निह्नवों के प्रकरण में गोष्ठामाहिल का भी उल्लेख आता है। जबकि गोष्ठामाहिल भ० महावीर के निर्वाण के करीब तीन सौ वर्ष बाद हुआ है और स्थानांग सूत्र की रचना भ० महावीर के समय में संपन्न हो चुकी थी, क्योंकि वह अंगसूत्र है। तीन सौ वर्ष बाद की घटना का उसमें समावेश होना यह सिद्ध करता है कि अंग साहित्य की रचना के बाद भी उसमें परिवर्तन हुआ है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी समसामयिक घटनाओं का यथास्थान उसमें प्रक्षेप किया है।

आगमों में स्वल्प परिवर्तन ही नहीं कहीं पूरा आमूलचूल परिवर्तन भी हुआ है। उदाहरण के लिये प्रश्न व्याकरण सूत्र को ही लें। श्री नंदी सूत्र में उसका परिचय कुछ अन्य रूप में मिलता है और आज वह बिलकुल भिन्नरूप में उपलब्ध है। देखिये नंदी सूत्र में प्रश्नव्याकरण सूत्र का परिचय इस रूप में मिलता है

से किंतं पण्हवागरणाइं? पण्हवागरणे सुयं अट्ठुत्तरं पसिण सयं, अट्ठुत्तरं अपसिण सयं, अट्ठुत्तरं पसणा पसिणसयं, तंजहा अंगुट्ठ-पसिणाइं, बाहु पासिणाइं, अद्दाग पसिणाइं अन्ने वि विचित्ता विज्जाइसया, नागसुवन्नेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघवेज्जंति।

-नंदी सूत्र ५४

प्रश्न व्याकरण में अंगुष्ठ प्रश्न आदि ३२४ प्रश्न, अप्रश्न और सैकड़ों विद्याएं हैं। पर आज प्रश्नव्याकरण पंचाश्रव और पंचसंवर वर्णनात्मक है। स्थानांग सूत्र के दशम स्थानक में दस दशाओं के वर्णन में प्रश्नव्याकरण दशा का वर्णन कुछ भिन्न रूप में ही मिलता है। वहां प्रश्न व्याकरण के उपमा संख्या इसिभासियाइं आदि दस अध्ययन बताये हैं।

अतः इस तर्क में भी कोई प्राण नहीं है कि श्री नंदीसूत्र में उल्लिखित अन्य आगम परिवर्तित है अतः हमें मान्य नहीं है।

---

१. उपासक दशा. २ ज्ञातासूत्र.

ऋषिभाषित की प्रामाणिकता

इतनी लम्बी चर्चा के बाद अब हम सोचेंगे कि वर्तमान में मान्य आगम बत्तीसी के किन आगमों में ऋषिभाषित का उल्लेख व परिचय मिलता है। पहले नंदीसूत्र को लेते हैं जहां वर्तमान में उपलब्ध और अनुपलब्ध सूत्रों की विशाल संख्या मिलती है। अंगबाह्य सूत्रों में कालिक सूत्रों की सूची में सातवें स्थान पर ऋषिभाषित का नाम उपलब्ध होता है।

से किं तं कालियं? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं। तंजहाः- उत्तरज्झायणं, दसाओ, **कप्पो ववहारो निसीहं महानिसीहं इसिभासियाइं।**

स्थानांग सूत्र के दशम स्थानक में दस दशाओं का वर्णन है उसमें षष्ठ दशा के रूप में प्रश्नव्याकरण दशा का उल्लेख है। प्रश्नव्याकरण के दश अध्ययन हैं जैसे कि उपमा, संख्या ऋषिभाषित[1] आदि परन्तु जैसे कि पहले लिखा जा चुका है कि प्रश्नव्याकरण सूत्र का वर्तमानरूप स्थानांग और नंदी सूत्र दोनों उल्लेखों से भिन्न है। अतः वहां ऋषिभाषित को खोजना व्यर्थ होगा।

समवायांग सूत्र में चवाँलीस समवाय में ऋषिभाषितसूत्र का उल्लेख मिलता है। देवलोक से च्यवित चवालीस ऋषियों के प्रवचन[2] रूप यह सूत्र है किन्तु एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यहाँ पर वर्तमान ऋषिभाषित सूत्र के पैंतालीस अध्ययन हैं और समवायांग सूत्र में चवाँलीस अध्ययनों का उल्लेख मिलता है। इस विभेद को मिटाने के लिये टीकाकार लिखते हैं। समवायांग सूत्र में देवलोकच्यवित ऋषियों का ही उल्लेख है। संभव है एक ऋषि अन्य गति से आये हों, अतः उनका उल्लेख नहीं किया[3] गया है।

मूल भाष्य में आचार्य चतुर अनुयोग की व्याख्या करते हुए धर्मकथानुयोग में इसिभासियाइं की गणना करते हैं। कालिक श्रुत में चरणकरणानुयोग, ऋषिभाषित में धर्मकथा, गणितानुयोग सूर्य प्रज्ञप्ति में और द्रव्यानुयोग दृष्टि वाद में निर्दिष्ट है।

इसप्रकार स्थानांग समवयांग और नंदी सूत्रमें उल्लिखित ऋषिभाषित आज उलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त पूरे सूत्रमें एकादशांग सूत्रों की विषय परिधि से किसी भी प्रत्येक बुद्ध का प्रवचन बाहर नहीं गया है। फिर उसे अपनाने में हानि क्या है?

ऋषिभाषित के रचयिता

ऋषिभाषित के एक रचयिता का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह किसी एक व्यक्ति कृति नहीं है। उसमें पृथक् पृथक् वक्ताओं के विचार सूत्र संकलित हैं। ये विचारक ज्ञान की भीतरी तह तक पहुंचे हुए ऋषि हैं। आर्हती भाषा में इन्हें प्रत्येकबुद्ध कहा गया है। प्रसिद्धि और घटना विशेष के कारण चार ही प्रत्येकबुद्ध लोकमानस में जीवित हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि प्रत्येक बुद्ध चार ही हैं। श्री नंदी सूत्र में विभिन्न तीर्थंकरों के शासन के प्रत्येक बुद्धों की संख्या दी गई है। उसमें यह बताया गया है कि भ० आदिनाथ के ८४ हजार शिष्य थे और भ० महावीर के १४ हजार शिष्य थे। दूसरे रूप में यह भी बताया गया है कि जिन तीर्थंकरों के शासन में

---

१. **स्थाने**:—दस दसाओ पण्णत्ताओ तंजहा—१, २, ३, ४, ५ पण्ह वागरणदसाओ, पण्हवागरणदसाणं पंच अज्झणा पं० तंजहा उवमा संखा इसिभासियाइं ॥

२. चोयालीसं अज्झयणा दिय लोग चुयभासिय–पण्णत्ता। दियलोयचुयाणं इसीणं चोयालीसं इसिभासिज्झयणा पण्णत्तासमवायांग सूत्र ४४ वां समवाय.

३. एतद्वृत्तौ चतुश्चत्वारिंशत्स्थानेऽपि किंचिल्लिख्यते, चतुश्चत्वारिंशत् इसिभासियत्ति ऋषिभाषिताध्ययनानि. कालिकश्रुतविशेषभूतानि, दियलोयचुयभासियेत्ति–देवलोकच्युतैः ऋषिभूतैर्भाषितानि देवलोकच्युतभाषितानि। कस्यापि प्रत्येकबुद्धस्य अन्यस्याः कस्याश्चिद् गतेरायातत्वमपेक्ष्य पंचचत्वारिंशतोऽप्यध्ययनानां विवक्षया एकोनतयात्र ॥
नन्दीसूत्र ४४

४, कालियसुयं च इसिभासियाइं तइयामसूरपन्नत्ति सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थो होइ अणुओगो मूलभाष्य २२९४।

जितने औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी, पारिणामिकी बुद्धि से युक्त मुनि होते हैं उतने ही प्रत्येकबुद्ध होते हैं । अतः यह मानना आवश्यक नहीं कि प्रत्येक बुद्ध केवल चार ही हैं ।[1]

ऋषिभाषित के प्रवक्ता अर्हतर्षि हैं । अतः उनका वचन प्रमाण माना गया है । आगम बोलते हैं अभिन्नदशपूर्वधर निश्चयतः सम्यकृदृष्टि माने गये हैं और उनका श्रुत सम्यक्श्रुत है । इस रूप में प्रत्येकबुद्धों का यह प्रवचन सूत्र सम्यक् श्रुत के अन्तर्गत ही माना जाना चाहिए । पर वे सभी दश पूर्वधर हैं उसका क्या प्रमाण? हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर कहा जा सके कि वे सभी सर्वज्ञ थे या दश पूर्वधर थे फिर भी प्रायः सभी ऋषियों के नाम के साथ अर्हतर्षि पद आया है । अर्हत्+ ऋषि के रूप में पदविच्छेद करने पर फलितार्थहोगा सभी ऋषि अर्हत् पद पर पतिष्ठित हैं । यदि अर्हतर्षि का अर्थ केवल इतना ही लिया जाय कि वे सभी आर्हत परंपरा में दीक्षित हैं । इतने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि वे अभिन्न दशपूर्वी हैं । ऐसा स्पष्ट आधार भी नहीं है और मिलता भी नहीं है । फिर भी इतना कहा जा सकता है कि विशिष्टज्ञानी आवश्यक थे, क्यों कि ये प्रत्येक बुद्ध थे और प्रत्येक के साथ अर्हतर्षि पद आया है ।

ऋषिभाषित का अन्तर्दर्शन

ऋषिभाषित अन्तर के उद्बोधन का सूत्र है । जीवन और जगत के रहस्य ज्ञाताओं ने मानव की वृत्तियों को एक एक कर उठाया और उनका विश्लेषण किया है । कभी कभी वे हमारे अन्तर को झकझोर देते हैं तो कभी बहिर्मुखता को अन्तर्मुखी वृत्ति के रूप में प्रदर्शित करने की वृत्ति को प्रताड़ित करते हैं । आज के साधक जीवन की बहुत बड़ी विडम्बना यह है कि उसमें एक रूपता नहीं है उसका बहिर्रूप कुछ और है तो उसके अन्तर में दूसरी वृत्तियाँ काम कर रही हैं । ऊपर की सफ़ेद चद्दर से उन्हें ढ़कने का प्रयास किया जाता है और आश्चर्य तब और होता है जबकि वे वेशपूजकश्रमण केवल वेश की प्रतिष्ठा स्थिर रखना चाहते हैं और जब कभी उनके सामने वेश की प्रतिष्ठा को धक्का लगाने की घटना होती है तो वेही अन्तस्संगी साधक उनसे बोल उठते हैं तुमने मानव जन्म लिया है मुनिवेश का परिधान लिया है और श्रमण परंपरा को कलंकित करने का कार्य तुम कर रहे हो । वेश पूजा का सुन्दर चित्र प्रस्तुत गाथा में मिलता है ।

> **अन्नहा समणे होई अन्नं कुणंति कम्मुणा**
> **अण्ण मण्णाणि भासंते माणुस्सगगा हणे हुसे ॥ ७ ॥**
>
> **– ऋषिभाषित अ. ४, गा. ७**

साधक जीवन में बहुरूपता को स्थान नहीं है । जनता के सामने जिसका रूप कुछ दूसरा है और जनता की आंखों से ओझल होते ही उसके जीवन की गति दूसरे प्रवाह में बहने लगती है । नगर में कुछ दूसरा रूप है तो ग्राम की भोली जनता के समक्ष उसके क्रिया कलापों में भिन्न रूपता आती है तो समझना होगा वह साधक अपनी

---

१. एव माइयाइं चउरासीइं पइन्नग सहस्साइं भगवओ अरहा. उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स; तहा संखिज्जाइं पइन्नगसहस्साइं मज्झिमगगाणं जिणवराणं चोद्दस पइन्नगसहस्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स, अहवा जस्स जत्तिआ सीसा उप्पत्तिआए वेणइआए कम्मिया परिणामियाए चउव्विहाए बुद्धिए उववेया तस्स तत्तियाइं पइन्नगसहस्साइं, पत्तेय बुद्धा वि तत्तिया चेव । नन्दीसूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मलयगिरि लिखते हैं–यस्य ऋषभादेस्तीर्थकृतो यावत् शिष्यास्तीर्थ औत्पतिक्या वैनयिक्या कर्मज्या पारिणामिका चतुर्विधया बुद्धया उपेताः समन्विता आसीत् तस्य ऋषभादेस्तावन्ति प्रकीर्णक-सहस्राभवन् प्रत्येक बुद्धा अपि तावन्त एव । अत्रैके वाचक्षत–इह एकैकतीर्थकृतस्तीर्थेऽपरिमाणानि प्रकीर्णकानि भवान्ति पकीर्णक अरिणामपरिमाणवत्वात्, केवलमिह प्रत्येकबुद्धरचितान्येव प्रकीर्णकानि द्रष्टव्यानि । प्रकीर्णकपरिमाणेन प्रत्येकबुद्ध-परिमाणप्रतिपादनात्तस्मादेतत् प्रत्येकबुद्धानां शिष्यभावो विरुध्यते तदसमीचीनम्, यतः प्रव्राजकाचार्यमेवाधिकृत्य शिष्यभावो निषिध्यते नतु तीर्थंकरोपदिष्टशासनात्प्रतिपन्नत्वेनापि, ततो न कश्चिद्दोषः ।

२. चौदसपुव्विस्स सम्मसुयं अभिण्ण दसपुव्विस्स सम्मसुयं तेण परं भिण्णेसु भयणा । नंदी सू० ४०

आत्मा के प्रति वफादार नहीं है। वह आत्मदर्शी नहीं है, अर्षतर्षि अंगिरिसी ऐसे ही जीवन के बहुरूपियापन का दूसरा चित्र दे रहे हैं:—

अदुवा परिसा मज्झे अदुवाविरहे कडे।
ततो णिरिक्ख अप्पाणं पाव कम्माणिरूम्भति ॥

—ऋषि. अ ४। गा० १०.

शास्त्रों का प्रचार अकेली जीभ से या संपत्ति से नहीं हुआ करता है। उसके पीछे हृदय की साधना चाहिये। जीभ आगम को जनता के कानों तक पहुंचा सकती है। संपत्ति शास्त्रों को संगमरमर की दीवारों में अंकित करवा सकती है पर हृदय की दीवारों में अंकित करना उसेक वश से परे है। यही सत्य आपको निम्न गाथा में मिलता है।

सुयाणि भित्तिए•चित्तं कट्टेवा सुणिवेसितं।
मणुस्स हिय यं पुणिणं गहणं दुव्वियाणकं ॥

ऋषिभाषित अ. ४, गा० ६

जिसके पास साहित्य की विशाल संपत्ति है वह अकिंचन होते हुए भी हृदय का सम्राट् है। फिर उसके पास एक नया पैसा भी न हो तब भी भिखारी पन या दीनता उसके मन को छुएगी तक नहीं। दुनिया दुःख से भागती है किन्तु कार्यों द्वारा वह दुःख को निमंत्रण भी देती है। पर सन्तके मन पर दुःख सवारी नहीं कर सकता। न दुःख में दीनताही उसपर छा सकती है। वज्जिय पुत्र अर्हतर्षि इसी तथ्य को निम्न गाथा में प्रस्तुत कर रहे हैं।

जस्स भीता पलायन्ति जीवा कम्माणुगामिणो।
तमेवादाय गच्छंति किच्चा दिन्नंव वाहिणी ॥

अ. २, गा० १.

साधक के पास मन की वह साधना होती है कि बाहिरी सुख और दुःख उसके पास पहुंच ही नहीं सकते। बाहिरी आलोचना उसकी मनःशान्ति को भंग नहीं कर सकती। आलोचना के तीक्ष्ण प्रहारों के समय वह सोचता है किसी के कहने मात्र से कोई बुरा नहीं हो जाता। उसका चिन्तनशील मन बोलता है यदि सचमुच मुझ में दुष्टता भरी है और यह उस दुष्टता का उद्घाटन कर रहा है तब भी मुझे उसके लिये रोष नहीं करना चाहिये। जीवन में दुःख की सही घड़ियां वे हैं जब कि हम बुरे हों और दुनिया हमें अच्छा समझकर प्रशंसा के फूल चढ़ाती हो। भारद्वाजगोत्री अंगिरस ऋषि कहते हैं:—

जइ मे परो पसंसाति असाधुं साधु माणिया।
ण मे सा तायए भासा अप्पाणं असमाहिते।

ऋषिभाषित अ. ४१।

इस प्रकार ऋषिभाषित सूत्रकार साधक को आलोचना और प्रत्यालोचना के द्वन्द्व में भी स्थितप्रज्ञ रहने का परामर्श देते हैं। ऋषिभाषित सूत्र में सर्वत्र आपको जीवन के अन्तर्तम को आलोकित करनेवाले सीप और मोती बिखरे मिलेंगे।

ऋषिभाषित एक शुद्ध आध्यात्मिक सूत्र है, वह आत्मदर्शन का प्रतिपादन करता है। आत्मा की विकृतियों को दूर कर शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति की प्रेरणा देता है। कहीं यह कषाय विजय की प्रेरणा देता है तो कहीं समभाव की साधना का पाठ पढ़ाता है। कहीं आत्मिक खेती का निरूपण करता है। बत्तीसवें अध्याय में सुन्दर शैलिमें आध्यात्मिक खेती का रूपक दिया गया है। आत्मा को क्षेत्र तप को बीज और संयम को युग नांगल बताया गया

---

१. आता खेत्तं तवो वीजं संजमो जुअणंगलं।

ऋषि. अ. ६२.

है। बौद्ध साहित्य में बताया गया है कि भगवान बुद्ध ने एक बार भारद्वाज ब्राह्मण से आध्यात्मिक खेती का निरूपण किया था। उसमें श्रद्धा को बीज, तप को वृष्टि और प्रज्ञा को हल बताया गया है। काय-संयम वाक्संयम और आहार संयम कृषि क्षेत्र की मर्यादाएँ हैं और पुरुषार्थ बैल हैं और मन जोत है। इस प्रकार की कृषि से अमृतत्व का फल मिलता है।

एव मेसा कसी कट्ठा सा होति अमतप्फला। एवं कसी कसित्वान सब्ब दुक्खा पमुच्चति॥

यहां आत्मा को क्षेत्र बताया है। वैदिक मंत्रों में भी क्षेत्र शब्द अध्यात्म अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

स्वे क्षेत्रे अनमीषा विराज.

–अथर्ववेद.

अपने क्षेत्र में अनामय होकर रहो। यह क्षेत्र किसी भी दैहिक या अध्यात्म-व्याधि से क्लिष्ट न हो। अन्यत्र कहा गया है:–

शन्नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः। अथर्व. १६+१०।१०

हमारे क्षेत्र का स्वामी या क्षेत्रपति शम्भु कल्याण कर हो।

ऋग्वेद के एक मंत्र में क्षेत्र शब्द अध्यात्म अर्थ में बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रयुक्त हुआ है।

अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् सप्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः।
एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्तुतिं विंदत्यंजसीनाम्॥ ऋ. १०।३२।७

अर्थात्–अक्षेत्रविद् क्षेत्रविद् से आत्मज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न करता है। वह ज्ञानी क्षेत्रज्ञ आत्मविद्या में उसका अनुशासन करता है। उसका उपदेश दोनों के लिये कल्याणकारी होता है। जिससे सर्वत्र उनकी प्रशंसा होती है। यहां आत्मा के लिये क्षेत्रज्ञ शब्द प्रयुक्त हुआ है। गीता में भी क्षेत्रज्ञ शब्द आत्मा के अर्थ में ही आया है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।

–गीता अ. १३।१

अर्थः–हे अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है। जो इसे जानते हैं उन्हें तत्वज्ञानी क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

पाणिनि पर- क्षेत्र का अर्थ जन्मान्तर लेते हैं। क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्सः (५) २।९२)

काव्यों मे भी क्षेत्र शब्द अध्यात्म अर्थ में आया है–

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम्।
अनावृत्तिमयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः॥
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्॥ कुमारसंभव ३।५०

महाकवि कालिदास अपने कुमारसंभव में आत्मा के लिये क्षेत्रविद् शब्द का प्रयोग करते हैं।

जैन सूत्रों में भी क्षेत्रज्ञ शब्द आत्म ज्ञाताके अर्थ में भगवान महावीर का विशेषण बनकर आया है।

खेयन्नये से कुसले महेसी, अणंत नाणीय अणंतदंसी।
जसंसिणो चक्खु पहेठियस्स, जाणाहि धम्मं च धीइं च पेहि॥

वीरस्तुति। ३॥

---

१. मिलाइये निम्न गाथा से—
एवं किसिं किसित्ताणं सव्व सत्त दयावहं.
माहणं खत्तिए वेइसे सुद्दे वाविय मुचति॥

—इसि-भा. अ. ३२।

अर्थात् आर्य जम्बू आचार्य सुधर्म से बोले–वे क्षेत्रज्ञ कुशल महर्षि अनंतज्ञानी और अनंतदर्शी यशस्वियों के पथ में स्थित हैं उन (भगवान् महावीर) के धर्म को आप जानते हैं और उनके ध्येय को देखते है।

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ शब्द जैन बौद्ध वैष्णव आर्य संस्कृति की तीनों धाराओं में समानरूप से व्यवहृत हुआ है और उसके प्रयोग में आश्चर्य जनक समता है।

अडतीसवें अध्ययन में इन्द्रियों के सम्बन्ध में चर्चा आई है। यदि पांचों इन्द्रियां सुप्त हैं, तो अल्प दुःख की हेतु बनती[1] हैं। इन्द्रियां क्या है? आत्मा इन्द्र है और उसकी कार्य में प्रवृत्त शक्तियां इन्द्रियां है। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है इन्द्र आत्मा की प्राचीन संज्ञा है। उसी के संपर्क से हमारी इन्द्रियां अपने कार्य में प्रवृत्त रहतीं हैं। इन्द्र की शक्ति ही इन्द्रियरूपी देवों के रूप में प्रकट हो रही है। इन्द्र ही सबके भीतर बैठा हुआ मध्य प्राण है जो इतर इन्द्रिय प्राणों को समृद्ध करता[2] है।

कठोपनिषद आदि अन्य भारतीय ग्रंथों में इन्द्रियों की उपमा अश्व से दी गई है। जो शरीर रूपी देवरथ में इन्द्रियों के सद्अश्वों को जोड़कर बुद्धिरूप सारथि की शक्ति से सफल जीवन यात्रा कर सकता है वही विजयशील महारथि है। जैन आगमों में इन्द्रियों को नहीं मन को अश्व बताया गया है। महामुनि केशीकुमार महान् साधक गौतम को पूछते हैं, हे गौतम, तुम एक साहसिक दुष्ट अश्व पर आरूढ़ हो। वह पवन वेग से दौड़ता है किन्तु आश्चर्य है कि तुम उसके द्वारा गलत मार्ग पर ले जाये नहीं जाते! महान् सन्त गौतम ने उत्तर देते हुए कहा–उन्मार्ग की ओर दौड़ते हुए उस अश्व को मैं सूत्ररूप रस्सी के द्वारा रोकता हूं, अतः मेरा अश्व उन्मार्ग की ओर न जाकर सन्मार्ग की ओर ही जाता[3] है।

महा श्रमणे केशीकुमार फिर पूछते हैं:–वह अश्व कौनसा है? संतगौतम बोले–मन ही यह साहसिक भयंकर दुष्ट अश्व है, उसे मैं रोकता हूं और धर्म-शिक्षा के द्वारा उसे जाति संपन्न अश्व की भांति चलाता हूं[4]।

शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है मन ही देवों का वाहन अश्व है, इसी पर आरूढ़ होकर देव विचरण करते हैं।

मनो वै देववाहनं। मनः हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते।

शतपथ (१।४।३।६.)

ऋग्वेद में देव वाहन अश्व का वर्णन है:–

वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईळते (ऋ. ३।२७।१४।)

---

१. पंच जागरओ सुत्ता अप्प दुक्खस्स कारणा।
तस्सेव तु विणासाय पण्णे वट्टिज्ज संतयं॥

२. स योऽयं मध्ये प्राणः। एष एव इन्द्रः। तानेष प्राणान्
मध्यत इन्द्रियणेन्द्ध। यदैन्द्ध तस्मादिन्धः।
इन्धी ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्॥ ६। १। ६२

३. अयं साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ।
जंसि गोयम आरूढो कहं तेण न हीरसि?
पहावंतं णिगिण्हामि सुयरस्सी समाहियं।
नमे गच्छइ उम्मग्गं मग्गं च पडिवज्जइ॥ ५५–५६ उत्तरा० अ. २३.

४. मणो साहसीओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ।
तं सम्मं णिगिण्हामि धम्मसिक्खाइ कंथग॥ उत्तरा. अ. २३. गा. ५९

यजुर्वेदीय कठोपनिषद में एक रूपक आता है:—शरीर रूप रथ में आत्मा रथी है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियां घोड़े और विषय उनके विचरने के मार्ग हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता से आत्मा पदार्थों का उपभोग करता है। जो प्रज्ञासंपन्न होकर संकल्पवान मन से स्थिर इन्द्रियों को सुमार्ग में प्रेरित करता है वही मार्ग के अन्त तक पहुंचता है। जहां से वापिस लौटता नहीं है[1]।

दर्शन की त्रिपथा से

भारतीय दर्शन की त्रिपथगा (गंगा) भारत में तीन धाराओं में बही है। जैन बौद्ध और वैदिक संस्कृति दर्शन की त्रिपथगा है। तीनों के बीच बहुत कुछ वैचारिक साम्य है। कहीं थोडा वैषम्य भी है। आचार और व्यवहार में यद्यपि वे बहुत कुछ दूर जा पड़ी हैं फिरभी विचार के क्षेत्र में कुछ साम्य भी है और वह साम्य कहीं कहीं तो इतना स्पष्ट है कि चकित रह जाना पड़ता है। गहराई से अध्ययन करने पर अर्थ साम्य तो अधिकतर परिलक्षित हो जाता है पर कहीं तो शब्दसाम्य और पदसाम्य तक आश्चर्य प्रद रूप में परिलक्षित हो जाता है। ऋषिभाषित सूत्र में भी ऐसे अनेकों श्लोक है जिनका इतर भारतीय दर्शनों में साम्य मिल जाता है।

पैंतीसवें अध्ययन में अर्हतर्षि उद्दालक कहते हैं :—

जागरह णरा णिच्चं मा मे धम्मचरणे पमत्ताणं। काहिंति बहू चोरा दोग्गतिगमणे हिडाकम्मं ॥
जागरह णरा णिच्चं जागरमाणस्स जागरति सुत्तं। जे सुवति न से सुहिते जागरमाणे सुही होंति ॥

—इसिभा. अ. ३५. गा. २०—२२

मिलाइये—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

—कठोपनिषद् १।३।१४.

(हे अज्ञान से ग्रस्त लोगो) उठो, जागो, श्रेष्ठजनों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरे की धार तीक्ष्ण होती है और छुई नहीं जा सकती, बुद्धिमान् पुरुष आत्म-ज्ञान के मार्ग को उसी प्रकार दुर्गम बतलाते हैं।

बौद्ध दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ धम्मपद से मिलाइये.

अप्पमत्तो पमत्तेसु सुत्तेसु बहु जागरो। अबलस्सं व सीघस्सो हिच्वा याति सुमेधसो ॥ धम्मपद २९

प्रमादी लोगों में अप्रमादी और (अज्ञान की निद्रा में) सोते हुए लोगों में जागरणशील बुद्धिमान मनुष्य दुर्बल घोड़े से तेज घोड़े के समान आगे बढ़ जाता है।

नत्थि जागरतो भयं. ३६

जागते हुए को भय नहीं होता।

समभाव का साधक सर्वत्र अपने रूप का दर्शन करता है। विश्व के अनंत अनंत प्राणियों में अपनी छाया का दर्शन कर विषम भाव से रहित हो विचरण करता है।

सव्वतो विरते दंते सव्वतो परिणिव्वुडे। सव्वतो विप्पमुक्कप्पा सव्वत्थेसु समं चरे ॥

—इसिभा. अ. १८

---

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ यजुर्वेदीय कठोपनिषद

मिलाइये—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

—ईशोपनिषद् ६

जो समस्त प्राणियों को अपने में और अपने को समस्त प्राणियों में देखता है, वह उपर्युक्त एकात्मदर्शन के द्वारा किसी को घृणा या उपेक्षा का पात्र नहीं समझता है। अर्थात् वह सबके हित में अपना हित समझता है।

बौद्ध दर्शन में—

अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये. —धम्मपद (१२६)

सभी प्राणियों को अपने जैसा समझकर किसी भी प्राणी की घात नहीं करना चाहिये।

गीता भी कहती है—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ! सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।

—गीता २।४९

हे अर्जुन! कर्म फल की आसक्ति छोड़कर सिद्धि और असिद्धि में समबुद्धि रखकर और योग में स्थित होकर कर्म करो! क्योंकि उपर्युक्त समत्व भाव ही योग कहा जाता है।

सत्य ही विश्व का परित्राता है। साधक अविश्वास की भूमि असत्य से दूर रहे। देव नारद अर्हतर्षि कहते हैं आत्म-शान्ति का गवेषक साधक त्रियोग और त्रिकरण द्वारा असत्य का परिहार करे—

मुसावादं तिविहं तिविहेणं णेव बूया णभासए बितियं सोयव्वलक्खणं ॥ —इसिभा० अ. १।४

मिलाइये—ऋग्वेद में ऋत सत्य को शान्ति का स्रोत बताया है—

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द. कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ।
ऋतस्य व्हा धरुणानि सन्ति. पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि ।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष. ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः ।

—ऋग्वेद ४।२३।९-६

ऋत अनेक प्रकार की सुख शान्ति का स्रोत है। ऋत की भावना पापों को नष्ट करती है। मनुष्य को उद्बोधित और प्रकाश देनेवाली ऋत की कीर्ति बहरे कानों में भी पहुंच चुकी है। ऋत की जड़ें सुदृढ़ है। विश्व के नाना रमणीय पदार्थों में ऋतमूर्तिमान हो रहा है।

ऋत के आधार पर ही अन्नादि खाद्य पदार्थों की कामना की जाती है। ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियां जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती है।

सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः । —ऋग्वेद १०।३७।२

सत्य भाषण द्वारा ही मैं अपने आपको सब बुराइयों से बचा सकता हूं।

सत्य का द्रष्टा ब्रह्मतेज को प्राप्त करता है। वह आत्मा की शुद्ध ज्योति है। समस्त तपः साधनाओं में ब्रह्मचर्य उत्तम तप है[1]। ऋषिभाषित सूत्र में बताया गया है ब्रह्मचर्य स्वयं एक उपधान तप[2] है। वैदिक धारा के अमृत स्रोत

---

१. तवेसु वा उत्तम बम्भचेरं —सूत्रकृतांग, वीरस्तुति
इसिभासियाइं अ. १ गा. १०

२. ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति,
तस्मिन् देवा अधिविश्वे समेताः । — अथर्व० ११।५।२४

अथर्ववेद में कहा गया है–ब्रह्मचारी ब्रह्म (समष्टि रूप ब्रह्म अथवा ज्ञान) धारण करता है । उसमें समस्त देवता ओतप्रोत होते हैं ।

आचार्य भी ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ब्रह्मचारियों को अपने शिक्षण और निरीक्षण में रखने की योग्यता और क्षमता का सम्पादन करता है[१] । सत्य और संयत जीवन से रहनेवाला मनुष्य ब्रह्मचर्य द्वारा ही अपनी इन्द्रियों को पुष्ट और कल्याणोन्मुख बनाने और उन्हें साधना की ओर प्रवृत्त करने में समर्थ होता[२] है ।

दुःख के विनाश के लिये हमें अपने स्वरूप का ज्ञान करना होगा । मैं कौन हूं ? मेरा स्वरूप क्या है ? यह शरीर और ये इन्द्रियां क्या मेरा स्वरूप है ? कूकर और शूकर के रूप में भटकना, रोना और चीखना क्या मेरा स्वरूप है ? वज्जिय पुत्र अर्हतर्षि साधक को प्रेरणा देते हैं, अज्ञान ही दुःख का मूल हेतु है । सिंह की भांति अपने स्वरूप का ज्ञान करो और कूकर और शूकर के रूप में आत्मस्वरूप को भुलानेवाली कर्मों की शृंखला को तोड़[३] फेंको । ऋग्वेद का अन्तर्द्रष्टा ऋषि कहता है मैं कौन हूं । मैं स्वयं इन्द्र हूं । मेरी पराजय नहीं हो सकती[४] । मुझ में अनंत शक्ति है । रोना और चीखना मेरा स्वभाव नहीं है ।

जो अपने स्वरूप को भूलकर पर रूप में आसक्त होता है वह अपने स्वरूप का विनाश करता है और अपने स्वरूप को भूलानेवाला अन्धकार में प्रवेश करता[५] है । जिसने अपने स्वरूप का विस्मरण किया है वही वैषयिक पदार्थों में आनंद की अनुभूति करता है । आध्यात्मिक आनंद की अनुभूति में वैषयिक आनंद बाधक है इसीलिये विचारकों ने साधक को वासना और उसके प्रलोभनों को दूर रहने का परामर्श दिया है । वल्कक चीरी अर्हतर्षि कहते हैं:–हे पुरुष ! तू स्त्रीवृन्द की संसक्ति से दूर रह और अपना अबन्धु न बन । नारी में आसक्त अपने आपका शत्रु होता है । अतः जितना भी संभव है इस मन की वासना से युद्ध करो, विजयी बनो[६] ।

कठोपनिषद के अर्हतर्षि कहते हैं–मूढ़ लोग ही बाह्य विषयों के पीछे लगे रहते हैं । वे मृत्यु–अर्थात् अनात्मा के विस्तृत जाल में फंस जाते हैं, किन्तु विवेकी लोग अमृतत्व को जानकर अध्रुव अनित्य पदार्थों में नित्यत्व की कामना नहीं करते[७] हैं ।

महाकवि भारवि अपने प्रसिद्ध काव्य किरातार्जुनीय में लिखते हैं–यौवन की शोभाएं शरद ऋतु के मेघ की छाया के समान चंचल होती हैं । इन्द्रियों के विषय भी केवल तत्काल रमणीय होते हैं और अन्त में दुःख देनेवाले होते हैं[८] ।

---

१. आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते । – अथर्व० ११।५।१७
२. इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरात् । – २२।५।१६
३. दुक्खमूलं च संसारे अण्णाणेण समज्जितं ।
मिगारिव्व सरूप्पत्ति हण कम्माणि मूलतो । – इसिभासियाइं अ. २।८
४. अहमिन्द्रो न पराजिग्ये । – ऋग्वेद १०।४९।५
५. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ – यजु० ४०।३
६. इसिभासियाइं अध्ययन अ. ६ गा. ३
७. पराचः कामाननुयन्ति बाला–
स्ते मृत्योर्यान्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा.
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ – कठोपनिषद् २।१।२
८. शरदम्बुधरच्छाया गत्वर्यो यौवनश्रियः ।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥ – किरात ११।१२

परम शान्ति ही निर्वाण है। उस परम शान्ति को जाने के लिये हर मुमुक्षु आत्मा प्रयत्नशील है। तप और संयम की साधना के द्वारा आत्मा कर्म क्षय करता है तब वह भव परम्परा को समाप्त कर निर्वाण को प्राप्त करता है।

महाकाश्यप अर्हतर्षि कहते हैं—

> णेह वत्तिक्खए दीवो जहा चयति संतर्ति।
> आयाण बन्धरोहम्मि तहप्पा भव संतर्ति॥
>
> —इसिभा. अ. ९।१६

जैसे तैल और बाती के क्षय से दीपक दीपकलिका रूप संतति को समाप्त कर देता है। उसी प्रकार आत्मा आदान—कर्मों का ग्रहण और बन्ध का अवरोध करके भव परम्परा को क्षय करता है।

यहां निर्वाण को दीप निर्वाण से उपमित किया गया है। बौद्ध दर्शन भी दीप निर्वाण से आत्म निर्वाण को उपमित करता है, पर दोनों उपमाओं में उतना ही विभेद है जितना कि जैन और बौद्ध दर्शन में। जैनदर्शन दीप कलिका की सन्तति रूप भव—परम्परा को मानता है। उसके क्षय से आत्मा की शुद्ध स्थिति की प्राप्ति स्वीकार करता है जबकि बौद्ध दर्शन वासना की संतति (परम्परा) के क्षय के साथ आत्मा का भी क्षय मान लेता है। जोकि अत्यन्त कारुणिक अन्त है। जब आत्मा ही समाप्त हो गया तब इतनी साधना किसलिये? यह तो वैसा हुआ कि रोग को मिटाने चले, पर रोग मिटा और उसी क्षण रोगी भी चल बसा। ऐसी चिकित्सा क्या मूल्य रखती है?

महाकवि अश्वघोष काव्यात्मक शैली में दीपनिर्वाण से आत्मनिर्वाण को उपमित करते हैं—

दीपक जब निर्वाण प्राप्त करता है तो न वह ऊपर जाता है, न नीचे जाता है। न दिशा में जाता है, न विदिशा में। स्नेह के क्षय से केवल शान्ति को प्राप्त करता है, ऐसे ही निर्वाण प्राप्त आत्मा न पृथ्वी पर आता है न आकाश में, न वह दिशा में जाता है न विदिशा में। क्लेश क्षय होने पर केवल शान्ति प्राप्त करता[1] है।

जैन दर्शन ने कहा है निर्वाण के बाद आत्मा शुद्ध स्थिति में लोकाग्र पर स्थित रहता है[2]। उस निर्वाण प्राप्त करने के लिये एक प्रमुख साधन है सम्यग्दर्शन। तत्व—प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम उसके स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक है। वस्तु के स्वरूप पर निश्चित श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन[3] है। जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन की तीन प्रकार से व्याख्या की गई है। प्रथम व्याख्या के अनुसार सुदेव सुगुरु और सुधर्म पर श्रद्धा रखना ही सम्यग्दर्शन[4] है।

ज्ञान की प्रथम सीढ़ी तक यह व्याख्या ठीक है किन्तु जब विचार चर्चा आगे बढ़ती है, तब यह व्याख्या कुछ अपूर्ण सी रह जाती है। यदि देव गुरु धर्म पर श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है तो जो समस्त विकारों पर विजय पाकर जो अरिहन्त बन चुके हैं उनके लिये देव कौन हैं, उनके गुरु कौन हैं, और उनका धर्म क्या है। क्योंकि वे स्वयं ही देव स्वरूप हैं। उनका ज्ञान स्वयं के लिये गुरु तुल्य है और उनकी वाणी ही धर्म है। अतः दूसरी व्याख्या आती

---

१. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥
तथाकृति निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित्, क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
— अश्वघोष. बुद्धचरित

२. तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्। — तत्वार्थ अ. १०।५

३. तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्॥ — तत्वार्थ सूत्र अ. १–२

४. या देवे देवता बुद्धि गुरौ च गुरुता मतिः।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धाः सा सम्यक्त्वमिदमुच्यते — आ. हेमचन्द्र योगशास्त्र द्वितीय प्रकाश.

है। तत्वों का स्वरूप दर्शन कर उसके प्रति अचल आस्था रखना ही सम्यग्दर्शन है। चैतन्य का स्वरूप क्या है यह भेद विज्ञान पाकर पदार्थों का स्वरूप दर्शन करना सम्यग्दर्शन है। पदार्थ विज्ञान रूप सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद ही मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान के रूप रूप में परिणत होता[१] है।

भगवतीसूत्र में आचार्य सुधर्मास्वामी सम्यक्त्व की परिभाषा करते हुए फरमाते हैं कि वही सत्य है जो जिनेश्वर देव ने प्रतिपादित किया है और ऐसा श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है[२]।

तत्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वाति सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में लिखते हैं—सम्यग्दृष्टि का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान होता है। अतः आद्य तीनों ज्ञान (मतिश्रुतावधि) अज्ञान भी होते हैं, क्योंकि वे मिथ्यात्व दशा में भी पाये जाते हैं[३]।

यह तत्व रुचि रूप सम्यग्दर्शन भी एक स्थान पर जाकर सीमित हो जाता है। सिद्ध स्वरूप में स्थित आत्मा के लिये तत्व रुचि का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यद्यपि उनके अनंत ज्ञान में विश्व के समस्त पदार्थ—सार्थ समस्त पर्यायों के साथ प्रतिभासित होते हैं फिर भी सिद्ध प्रभु जड़ चैतन्यादि तत्वों का लक्ष्यपूर्वक पार्थक्य नहीं करते। अतः तत्वार्थ श्रद्धात्मक सम्यक्त्व भी सिद्ध स्थिति में उतनी स्पष्टता के साथ प्रतिभासित नहीं होती है। अतः आचार्यों ने एक अन्तिम व्याख्या और दी है:—स्वात्मोपलब्धि रूप सम्यक्त्व। आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही सम्यक्त्व है और वह सम्यक्त्व सिद्धात्माओं में भी स्पष्ट रूप से प्रतिभासित[४] है।

इसिभासियाइं सूत्र में महाकाश्यप अर्हतर्षि सम्यक्त्व और ज्ञान की उपादेयता बताते हुए कहते हैं—जैसे अग्नि और पवन के प्रयोग से स्वर्ण विशुद्ध हो जाता है वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के द्वारा युक्त आत्मा पाप से विशुद्ध होता है[५]।

सम्यग्दर्शन की उपादेयता जैनदर्शन में ही नहीं अजैन दर्शनों में भी स्वीकार की गई है। हिन्दु धर्म के सामाजिक विधि नियमों के प्रणेता महर्षिमनु मनुस्मृति में सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में लिखते हैं :-

सम्यग्दर्शन से सम्पन्न आत्मा कर्म से बद्ध नहीं होता है और दर्शन से विरहित आत्मा संसार को प्राप्त करता[६] है।

सम्यग्दर्शन आत्मदर्शन का वह प्रकाश है जिसके प्राप्त होने पर आत्मा स्व और पर का विवेक करता है। विचार—जगत् में वह खुले दिमाग के साथ प्रवेश करता है। उसके लिये अन्य दर्शन भी स्वदर्शन है। जो हंस बुद्धि को लेकर चलता है उसके लिये सर्वत्र दूध है, क्योंकि पानी को उसकी चंचु दूर कर देती है।

---

१. जीवादि सद्दहणं सम्मत्तंरूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेस मुक्कं णाणं खु होदि सदि जम्हि॥ - द्रव्यसंग्रह गा. ४१

२. *तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं।* - भगवती सूत्र.

३. *सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं सम्यग्ज्ञान मिति नियमतः सिद्धम्।*
आद्यत्रयज्ञानमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम्॥
वाचकमुख्य उमास्वाति प्रशमरति प्रकरण।
मति श्रुतावधयो विपर्ययश्च॥ - तत्वार्थ अ. १

४. सम्मं च मोक्खबीयं तंपुण भुयत्थसद्दहणारूवं।
पसमाइ-लिंग-गम्मं सुहायपरिणाम रूवं तु। - आ. देवगुप्त - नवतत्व प्रकरण.

५. इसिभासियाइं अ. ६।२६

६. सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥ - मनुस्मृति अ. ६

भाष्यकार जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण विशेषावश्यक भाष्य में लिखते हैं—पर समय (सिद्धान्त) और स्वसमय दोनों ही सम्यग्दृष्टि आत्मा के लिये स्व समय ही है। जो मिथ्यामतों का समूह सम्यक्त्व में उपकारी है वहां पर-सिद्धान्त भी सम्यक्त्वी के लिये स्व समय[1] है।

इस प्रकार हम देखते हैं। भारतीय दर्शन की तीनों धाराओं के विचार सूत्रों में बहुत कुछ साम्य है। उनके दार्शनिक तथ्य कहीं साम्य रखते हैं तो एक स्थान पर जाकर अलग भी हो जाते हैं। यहां उनके साम्य वैषम्य का आंशिक दिग्दर्शन कराया गया है।

ऋषिभाषितसूत्र की भाषा

इसिभासियाइं सूत्र की रचना पद्धति "त" श्रुति प्रधान है। संस्कृत 'तथा' शब्द का प्राकृत में तहारूप होता है। किन्तु जिस प्राकृत पर शौरसेनी और पैशाची की छाया है उसमें हकार श्रुति के स्थान पर तवर्ग की श्रुति आती है। संस्कृत 'तथा' को वे 'तधा' बोलेंगे।

प्राकृत शब्द उन तमाम प्राचीन भाषाओं के लिये प्रयुक्त होता है जो जन साधारण में संस्कृत के स्थान पर बोली जाती थी। हर प्रान्त की अपनी भाषा थी और उनमें थोड़ा कुछ अन्तर अवश्य था। आज के प्राकृत साहित्य में जो विभेद दृष्टिगोचर होता है, उसमें प्रान्तीय भाषाओं की छाया है। शैलिभेद प्रान्तीय भेद पर आधारित है। महाराष्ट्र में बोली जानेवाली आर्ष भाषा महाराष्ट्रीय प्राकृत थी, तो आगरा के आसपास में बोली जानेवाली प्राकृत शौरसेनी कहलाती थी। स्थल की दूरी ने भाषा में बहुत बड़ा विभेद खड़ा कर दिया है और यह स्वाभाविक भी है। प्राकृत में यद्यपि सबका समावेश हो जाता है। फिर भी उनकी प्रकृति में अन्तर अवश्य है।

मूल आगम में जिस प्राकृत का व्यवहार हुआ है उसमें मागधीभाषा का प्राधान्य है। इसीलिये उसे अर्धमागधी कहा जाता है और अर्धमागधी की व्याख्या ही यह है कि जिसमें मगध प्रान्त और उसके निकटवर्ती प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का समावेश हो। स्वयं मागधी और अर्ध मागधी में भी कुछ अन्तर है।

जिस सूत्र की रचना जिस प्रान्तीय भाषा विशेष में हुई है उसकी रचना पद्धति में तत् तत् प्रान्तीय भाषा का बहुत कुछ हाथ रहा है। इसीलिये आचारांग सूत्र की भाषा में गठन जो सुदृढ़ता है और अर्थगांभीर्य है हव उत्तरवर्ती सूत्र कृतांग आदि आगमों में नहीं पाया जाता है।

श्रुत परम्परा के अनुसार समस्त आगमों के अर्थ—प्रणेता भगवान महावीर हैं और उनकी शब्द-रचना गणधर देव करते हैं[2]। विशेषावश्यक भाष्य में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण इसके लिये सुन्दर रूपक देते हैं—

तप नियम और ज्ञान रूप वृक्ष पर आरुढ़ अनंत ज्ञानी केवली प्रभु भव्यात्माओं के बोध के लिये ज्ञानरूप फूलों की वृष्टि करते हैं। गणधरदेव उन ज्ञान पुष्पों को बुद्धिरूप पट में ग्रहण करके तीर्थंकर भाषित वाणी को प्रवचन रूप में ग्रथित करते हैं[3]। वर्त्तमान द्वादशांगी की शब्द रचना आचार्य सुधर्म द्वारा हुई है। किन्तु

---

१. परसमओ उभयं व सम्मदिट्ठिस्स ससमओ जे णं।
तो सव्वज्झयणाइं ससमयवतव्वं निययाइं॥
मिच्छतमयसमूहं समत्तं जं च तदुवगारम्मि।
वट्टइ पर सिद्धंतो तो तस्स तओ ससिद्धंतो॥ — विशेषावश्यक भाष्य ६५३-५४

२. अत्थं भासइ अरहा गन्थं गुन्थन्ति गणहरा णिउणा॥

३. तव नियम नाण रुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भविय जण विबोहणट्ठाए।
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउण निरवसेसं।
तित्थयर भासियाइं गंथन्ति तओ पवयणट्ठा॥
— विशेषावश्यक भाष्य (निर्युक्ति) १०९४-९५

कुछकाल तक श्रुत परम्परा के द्वारा यह द्वादशांकी मौखिक रूप में रही। लिपिबद्ध न होने से विभिन्न प्रान्तों में विचरनेवाले आचार्यों की प्रान्तीय भाषा के उच्चारण अप्रत्यक्ष रूप से प्रवेश कर गये। जब आचार्य देवार्द्धिगणि क्षमा श्रमण के नेतृत्व में आगम पुस्तकारूढ़ हुए तब यह उच्चारण भेद स्पष्ट हुआ। कहीं उच्चारणभेद के साथ शब्द-भेद और अर्थभेद कभी सामने आया। किंतु उस समय उच्चारणभेद को उपेक्षित कर दिया और शब्दभेद और अर्थभेद को पाठान्तर के रूप में स्थान दिया गया। 'बितियं' 'बिइयं' में उच्चारण भेद है, 'दुइज्जं' में शब्द भेद है। किन्तु पाठान्तर में कहीं शब्दभेद रहता है तो कहीं थोड़ा अर्थभेद भी आ जाता है।

वल्लभी वाचना के समय जब बहुश्रुत मुनि एकत्रित हुए और समवेत आगम वाचना हुई तब विभिन्न आचार्यों के मुंह से विविध पाठ सामने आये। आचार्य देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ने आगम के हार्द को परखते हुए बहुमत के आधार पर मूल पाठ तैयार किया और शेष को पाठान्तर के रूप में पृथक् स्थान दे दिया गया। आगम सम्पादन के गुरुतर कार्य को काफी विचार पूर्वक करने पर भी कहीं कहीं स्खलना रह गई। जैसे कि अन्तकृतांग सूत्र के तृतीय वर्ग के प्रथम छः अध्यायों में नाग गाथापति के अनियसेन आदि छः कुमारों का विवाह चारित्र और निर्वाण प्राप्ति का निरूपण है। उनकी निर्वाण की कहानी समाप्त हो जाने के बाद तप और त्याग के उज्वल नक्षत्र गजसुकुमार की कहानी प्रारंभ होती है और महारानी देवकी के प्रासाद में दो दो के रूप में छः मुनि प्रवेश करते हैं।

ये छः मुनि कौन से हैं? प्रभु नेमिनाथ समाधान देते हुए महारानी देवकी से कहते हैं "ये तेरे ही पुत्र हैं" किन्तु हरणगमेषी के द्वारा सुलेसा को प्राप्त हुए[1] हैं।

निर्वाण प्राप्त मुनियों का फिर से जीवित होकर भिक्षा के लिये जाना अटपटा—सा लगता है। इतना ही नहीं, कहानी की स्वाभाविकता समाप्त हो जाती है। अच्छा तो यह रहता कि उनका निर्वाण भी गजसुकुमार के साथ दिखाया जाता।

हां, तो आचार्य देवर्द्धिगणि ने पाठान्तरों को भी आदर का स्थान दिया। पाठान्तरकारों में आचार्य नागार्जुन का स्थान महत्व पूर्ण है। नंदीसूत्र के वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र सूरि स्थविरावलि की व्याख्या करते हुए कहते हैं अब[2] मैं श्री हिमवन्त आचार्य की स्तुति करता हूं। जिनके शिष्य श्री नागार्जुन नामक आचार्य हैं। आचारांग, सूयगडांग, उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में पाठान्तर रूप पाठ उनके हैं। वे कालिक श्रुत की व्याख्या के पूर्णतः ज्ञाता थे और बहुत से पूर्वों के पाठी थे। अतः उनके पाठ प्रामाणिक माने गये हैं।

आगमों का गहराई से अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि पाठान्तरों का महत्वपूर्ण स्थान है और पाठान्तर को सामने रखकर आगम की व्याख्या की जाय तो मैं समझता हूं काफी नये रहस्य ज्ञात हो सकेंगे। आज का व्याख्याकार मूल पाठ को महत्व देकर उसी की व्याख्या करता है और पाठान्तरों को फुट नोट में देकर आगे चल पड़ता है। किन्तु पाठान्तरों की व्याख्या की भी आवश्यकता है। क्योंकि पाठान्तर नया अर्थ रखता है और उसके द्वारा सम्पूर्ण गाथा से नया अर्थ प्रस्फुटित होता है।

पाठ भेद के साथ उच्चारण भेद को भी महत्व देना चाहिए। कई प्रतियों में 'त' श्रुति की प्रधानता है तो कई प्रतियों में 'य' श्रुति की। सूत्र के लिये कहीं 'सुत्त' शब्द का प्रयोग हुआ है तो कहीं 'सुय'। कहीं च

---

१. अन्तकृतांग सूत्र तृतीयवर्ग अ० सू० ७

२. कालिय सुय अणुओगस्स धारए धारए य पुव्वाणं।
हिमवन्त खमासमणे वन्दे णागज्जुणायरिये॥
मिउ-मद्दव-सम्पन्ने अणुपुव्विं वायगत्तणं पत्ते।
ओह-सुय-समायारे णागज्जुण वायएवन्दे॥ —श्री नंदीसूत्र स्थविरावलि गा. ३९

आता है कहीं च के लिये य आता है। इसिभासियाइं सूत्र के पाठ संशोधन के लिये प्रसिद्ध आगम सेवी विद्वान मुनि श्री पुण्यविजयजी म० के द्वारा पाटन भण्डार की चार प्रतियां प्राप्त की गई थीं। उनमें तीन प्रतियों में परिग्रह शब्द के लिये सर्वत्र परिग्रह ही आया है। यद्यपि प्राकृत व्याकरण के अनुसार परिग्रह के लिये परिग्गह शब्द आता है। पर हम कैसे मानलें कि परिग्रह शब्द लिखने में वृद्ध लेखकों की स्खलना हुई है? यदि प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में ऐसे शब्द मिलते हैं तो फिर क्यों न उन्हें स्वीकार किया जाए? व्याकरण भाषा के पीछे चलता है। वह शासन नहीं, अनुशासन करता है। महान वैयाकरण पाणिनीजी ने भी समस्त आर्ष रूपों को मान्यता दी है· उसके लिये पृथक् सूत्र बनाये हैं और जो आर्ष रूप से अष्टाध्यायी से सिद्ध नहीं होते उन्हें वार्तिककार वार्तिकों के द्वारा सिद्ध करते हैं।

आगम में आत्मा के 'अप्पा' 'अत्ता' 'आया' आदि विभिन्न पर्याय मिलते हैं। ये तमाम उच्चारण भेद प्रान्तीय भाषा भेद को लेकर आये हैं।

इसिभासियाइं सूत्र में आत्मा के लिये आता शब्द का ही अधिकतर प्रयोग हुआ है[1]। इसमें तश्रुति की प्रधानता है। किस शब्द का उच्चारण किस भाषा से अधिक साम्य रखता है, इस सबके लिये हमें सूत्रों का गहराई से अध्ययन करना होगा। इसके लिये सर्व प्रथम आगमों की तश्रुति प्रधान पाठों वाली एक प्रति तैयार करनी होगी। उसके लिये भाषाविज्ञान का गहरा अध्ययन अपेक्षित है। भाषा विज्ञान के आधार पर जो प्रतियां तैयार होंगी वे भाषा-विदों के लिये भी काफी खोजपूर्ण सामग्री प्रदान करेगी।

इसिभासियाइं सूत्र की रचना पद्धति

इसिभासियाइं सूत्र के मूल वक्ता अर्हतर्षि हैं जो भगवान नेमिनाथ भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर के शासन में हुए हैं। अर्हतर्षियों की संख्या पैंतालिस हैं और उन्हींके प्रवचन पैंतालीस अध्ययनों के रूप में संकलित हैं। इन अध्ययनों का संकलन कर्ता कौन है, यह निश्चित कहा नहीं जा सकता, क्योंकि कहीं पर भी संकलन कर्ता ने मुंह खोला ही नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र की रचना पद्धति बताती है कि इसका संकलन कर्त्ता एक अवश्य है। हर अध्ययन के प्रारंभ में अध्ययन में वर्णित विषय का मूल बताती हुई एक पंक्ति आती है। बाद में "अरहता इसिणा बुइतं" आता है। अर्हतर्षि का प्रवचन तो इस के बाद शुरू होता है। किन्तु प्रश्न यह है कि इसके पहले की पंक्ति और "इसिणा बुइतं" बोलने वाला कौन है?

जब हम मूल आगमों का अध्ययन करते हैं तो वहां ज्ञात होता है कि आगमों के तीन प्रवक्ता हैं। भगवान महावीर गणधर देव गौतम स्वामी से कहते हैं। उसके पहले आर्य जम्बु से आचार्य सुधर्मस्वामी कहते हैं। प्रस्तुत द्वादशांगी के मुख्यवक्ता सुधर्मस्वामी हैं। उन्हीं की वाचना आज चालू है। आर्य जम्बु सुधर्मस्वामी से प्रश्न करते हैं–"आर्य, आपकी कृपा से मैंने इतने अंग सूत्रों का वर्णन सुन लिया है। प्रस्तुत अंग सूत्र में श्रमण भगवान महावीर ने क्या अर्थ फरमाया है?" आर्य जम्बु के प्रश्न के समाधान में आचार्य सूत्र की व्याख्या करते हैं।[2]

आर्य जम्बु और आचार्य सुधर्म के पहले भी एक वक्ता आते हैं जो आचार्य सुधर्म के नगरी में आगमन का संदेश देते हैं। वर्तमान श्रुतपरम्परा के अनुसार सर्वप्रथम उत्क्षेपक (भूमिका निर्देशक) आर्य देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण हैं। वर्तमान आगमों को स्थिर रूप देकर उन्हें संकलित और सम्पादित करनेवाले आर्य देवर्द्धि ही हैं। अन्य

---

१. आता खेत्तं। इसि. अ. ५
आता जाणाइ पज्जवे। इसि. अ. ६

२. अन्तगड सूत्र प्रथम वर्ग भूमिका.

आगमों के मुख्य सम्पादक के रूप में आर्य देवर्द्धि गणि को हम मानते हैं तो इसिभासियाइं सूत्र के संकलन कर्ता भी उन्हीं को मान सकते हैं। जब तक नई खोज एवं नया तथ्य सामने न आए तब तक हमें इसी तथ्य को स्वीकार करके चलना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र की भाषा प्रांजल है। कुछएक स्थलों को छोड़कर प्रायः सर्वत्र सुबोधता है। एक अध्ययन में प्रायः एक विषय का निरूपण है। सभी गाथाएं अन्तर से अनुस्यूत हैं। विषय का प्रतिपादन हृदयस्पर्शी है। कुछ स्थल तो ऐसे हैं जो सीधे हृदय को स्पर्श कर जाते हैं और मन मस्तिष्क को झकझोर कर साधक की सुप्त चेतना को जाग्रत कर देते हैं।

इसिभासियाइं सूत्र का वर्त्तमान रूप

काफी कांट छांट और तराश निखार के बाद इसिभासियाइं सूत्र ने वर्त्तमान रूप प्राप्त किया है। प्रत्येक अध्ययन के प्रारंभ में संक्षिप्त विषय प्रवेश दिया गया है जो अध्ययन में वर्णित विषय की ओर संकेत करता है। फिर संशोधित मूल पाठ दिया गया है। फिर मूलस्पर्शी अर्थ आता है। उसके नीचे गुजराती अनुवाद भी दे दिया गया है, क्योंकि गुजरातीभाषी भाइयों की मांग थी कि गुजराती अनुवाद के अभाव में गुजराती समाज के लिये उपयोगी न हो सकेगा। अतः सार्वजनीन उपयोगिता को लक्ष्य में रखकर गुजराती अनुवाद देने की बात भी स्वीकार कर ली गई।

गुजराती अनुवाद के बाद हिन्दी विवेचन दिया गया है, जिसमें मूल के हार्द को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। उसके अभाव में केवल मूलस्पर्शी अर्थ पाठकों की जिज्ञासा को पूरी तरह संतुष्ट नहीं कर सकता था। विवेचन के पश्चात् संस्कृत टीका को स्थान दिया गया है। टीका का अर्थ प्रायः मूलस्पर्शी अर्थ से साम्य रखता है, अतः उसका अनुवाद नहीं दिया गया है। गतार्थ कहकर आगे बढ़ गया हूं। जहां मूलस्पर्शी अनुवाद और संस्कृत टीकाकार के अभिप्राय भिन्न पड़े हैं वहां टीका के साथ अर्थ भी दे दिया गया है। इसके साथ ही डाक्टर शुब्रिंग् की टिप्पणियों को भी स्थान दिया गया है। डा० शुब्रिंग् की टिप्पणियां कहीं कहीं बहुत महत्वपूर्ण बन गई हैं, कहीं कहीं उन्होंने सूत्रकार की भूल की ओर भी इंगित किया है। जहां कुछ पाठ ही छूट गया है[1] प्रबन्ध रचना की त्रुटि एवं छन्दो-भंग आदि के लिये अनेक स्थानों पर उन्होंने संकेत दिया है। प्रायः टीकाकार टिप्पणीकार और हम एकमत हैं, कहीं टीकाकार से मैं अलग हो गया हूं और कहीं कहीं तो हम तीनों तीन रास्ते पर हो गये हैं। टीकाकार वाल्ड स्रीडट हैं और टिप्पणीकार डाक्टर शुब्रिंग् हैं। जैसे कि मैं पहले लिख आया हूँ टीका संक्षिप्त है अतः सभी स्थलों पर नहीं दी गई है। टिप्पणी भी आवश्यक स्थलों पर दी गई है।

प्रस्तुत सूत्र के अनुवाद एवं विवेचन में काफी सावधानी रखी गई है। सत्य भूत होकर अर्हतर्षि के विचारों को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। उसमें कहां तक सफलता मिली है यह निर्णय आपके (पाठकों) ऊपर छोड़ता हूं।

स्वातंत्र्य दिन १५ आगस्त १९६१ **मनोहर मुनि**

राजगढ जि. धार

---

१. देखिये तृतीय अध्ययन.

ऋषिभाषितानि–प्रतियों का परिचय

प्राप्ति की कहानी

इन्दौर से बम्बई आते हुए भांडुप में सुश्रावक श्री मणीभाई गांधी जी ने मुझे ऋषिभाषित की एक प्रति दी। यह मेरा ऋषिभाषित से पहला परिचय था। प्रथम दृष्टि में ही मैं कुछ पन्ने उलट गया। कुछ गाथाएं देखीं। मन को गहरा आकर्षण हुआ और अनुवाद की प्रेरणा भी जगी। तीन दिन के बाद ही अनुवाद चल पड़ा। नया नया विषय था। पाठ भी कुछ दुरूह लगे, पर मन का उत्साह उन सबसे ऊपर था। इस दुरूहता की कहानी विद्वानों के समक्ष रखी तो पं० बेचरदासजी और पं० दलसुखभाई के सुझाव आये कि अन्य प्रतियों से पाठ संशोधन करें। पर प्रश्न तो प्रतियों की प्राप्ति का था। अहमदाबाद में प्रसिद्ध आगम सेवी विद्वान् मुनि श्री पं० पुण्य विजयजी म० से पत्रपरिचय स्थापित किया। उत्तर संतोषप्रद था व उन्होंने हस्तलिखित प्रतियों की उपलब्धि में सहयोगी होने की कामना प्रकट की। मेरा अनुवाद कार्य चलता रहा। प्रतियों की उपलब्धि के लिये अहमदाबाद से फिर संपर्क स्थापित किया पर अहमदाबाद मौन था। करीब ढाई महीनों की लम्बी प्रतीक्षा के बाद पत्र आया कि पाटण से ऋषिभाषित की चार प्रतियां आगई हैं और कुछ दिनों में वे प्रतियां मेरे हाथ में थीं।

पाठ संशोधन हाथ में लिया। पर इस दिशा में पहला ही प्रयास था। प्राचीन लिपि के पुराने मोड़, पडिमात्राएं सब कुछ मेरे लिये नये ही थे, फिर भी प्रारंभिक कुछ कठिनाइयों के बाद प्राचीन लिपि से दोस्ती होगई और संशोधन का काम चल पड़ा। इस कार्य में प्रियवक्ता पं० विनयचन्द्रजी म० और सौभाग्यमलजी जैन कोट का सहयोग भूलाया नहीं जा सकता।

प्रतियों की कहानी

चारों प्रतियों पाटण भंडार की हैं। उन पर मुद्रालेख भी अंकित है। पांचवी छपी हुई प्रति है।

लम्बी प्रति

डा० २१६। नं १००८३ इस प्रति को हम लम्बी प्रति के नाम से पहचानेंगे, क्योंकि यह प्रति अन्य प्रतियों में सर्वाधिक लम्बी है। इसकी लम्बाई १३॥ इंच है। पत्र संख्या १३ है। हर पन्ने में एक रंगीन चित्र है। अक्षर भरावदार और घुमावदार हैं और कुछ बड़े भी हैं। पड़ी मात्राओं में यह लिखी गई है पर यह प्रति काफी अशुद्ध है। कहीं पाठ के पाठ गायब हैं तो कहीं द्विरुक्तियां हैं। साथ ही इसका लेखक ग के द्वित्व को सदैव 'ग्र' के रूप में लिखता है। 'परिग्गह' को हमेश परिग्रह के रूप में ही लिखता है। इसमें लेखक का नाम नहीं है साथ ही सन संवत् भी नहीं दिया गया है। लिखावट में प्राचीनता बोलती है। सन् संवत के अभाव में यह ठीक ठीक तो नहीं कहा जा सकता कि यह कितनी पुरानी है; फिर भी पत्रों की जीर्णता और लिपि के प्राचीन मोड़ इसकी पुरातनता सिद्ध करने में काफी हद तक सहायक होते हैं।

छोटी प्रति

छोटी प्रति इसका हमनें यों नाम दिया कि यह प्रति पहली प्रति की अपेक्षा काफी छोटी है। प्रति आवरक पर परिचय यों मिलता है। ऋषिभाषित प्रकीर्णक, पत्र संख्या १३। डा ४१ नं० ७५२। इस पर पाटण भंडार का मुद्रालेख है—श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमन्दिर, पाटण श्रीसंघनो जैन ज्ञान भंडार।

यह प्रति प्रथम की अपेक्षा अधिक शुद्ध है। इसमें द्विरुक्तियों का अभाव है। शेष में प्रायः दोनों का स्वर मिल जाता है। लिपिकार ग के द्वित्व को ग्र के रूप में ही लिखता है।

प्रति की प्राचीनता के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण मिलता है। प्रति के अन्त में लेखक ने संवत् दिया है—'संवत् १४९५ वर्षे माघ वदि १२ भूमे लिखितं। छ ७४ ग्रंथ ८१५। यह प्रति स्पष्ट रूप से ५०० वर्ष की प्राचीन सिद्ध होती है। "भूमे लिखितं" स्पष्ट जरा स्पष्ट नहीं होता, पर संभवतः इसका अर्थ होगा भौमवार को लिखी गई है। मंगलवार को देशी भाषा में भौमवार भी कहा जाता है। ग्रंथाग्र ८१५.

तीसरी प्रति

इसके पत्रों की लम्बाई चौड़ाई, आकार प्रकार, दूसरी प्रति के अनुरूप है। आवरक कवर पृष्ठ पर परिचय इस प्रकार है:— ऋषिभाषित पत्र संख्या १५ डा० १७६ नं० ६८७२ श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिर पाटण, श्री वाडी पार्श्वनाथनो जैन ज्ञान भंडार।

द्वितीय प्रति पर श्री संघ नो जैन ज्ञान भंडार का मुद्रालेख है। प्रस्तुत प्रति वाड़ी पार्श्वनाथ के जैनज्ञान भंडार की है। प्रस्तुत प्रति प्रथम दो प्रतियों से अधिक शुद्ध है। द्विरुक्तियाँ नहीं जैसी हैं। अशुद्धियां भी अल्पतर हैं। प्रस्तुत प्रति अपेक्षाकृत मुद्रित प्रति के अधिक निकट है। लेखक "ग" के द्वित्व को कहीं द्वित्व रूप में और कभी ग्ग के रूप में लिखता है।

प्रति की प्राचीनता

प्राचीनता की दृष्टि से प्रस्तुत प्रति सर्वाधिक प्राचीन लगती है। यद्यपि इसके अन्त में सन् संवत् का अभाव है। अतः निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता कि यह कितनी पुरानी है फिर भी इसके पत्र सर्वाधिक जीर्ण जर्जर हैं। पत्रों के बीच में छेद भी हो गये हैं। यह सब मिलाकर कह सकते हैं प्रति का निर्माण काल ५०० वर्षों से अर्वाचीन तो नहीं है। साथ ही प्रस्तुत प्रति में प्रशस्ति के रूप में ऋषिभाषित की संग्रह गाथाएं भी दे रखी हैं। प्रथम दो प्रतियों में इसका अभाव है।

ऋषिभाषित उद्धार प्रति

आवरक पृष्ठ पर इसका परिचय यों दिया है। ऋषिभाषित उद्धार, पत्र संख्या ३ डा० ३६ नं० ६१८ मुद्रालेख श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिर, पाटण—श्री संघनो जैन ज्ञान भंडार।

यह पूरी प्रति नहीं है। जैसा कि उद्धार नाम से ही कुछ आभास मिल जाता है। उद्धार से यहां पुनरुद्धार का आशय नहीं है, अपितु ऋषिभाषित की सूक्ति स्वरूप मर्मस्पर्शी गाथाओं का सुन्दर लघु संकलन है। संकलन में गाथाओं के अतिरिक्त पाठ भी लिया गया है। गाथाएं प्रारंभ में तो पूर्ण हैं, पर बीच बीच में कहीं कहीं गाथाओं के दो ही चरण लिये हैं। कहीं पदों को विरुद्ध क्रम में भी रख दिया गया है, पर सर्वत्र नहीं, एक दो स्थानों पर ही ऐसीं भूलें हुई हैं।

प्रस्तुत प्रति की लेखन शैली से अनुमान होता है यह अति प्राचीन नहीं है। क्योंकि अक्षरों के मोड़ भी अर्वाचीन है। अक्षर भी वर्तमान देवनागरी के हैं, साथ ही इसमें पड़ी मात्राओं के प्रयोग नहीं है। जोकि प्राचीन प्रति की अपनी निजी विशेषता होती है। पड़िमात्रा का मतलब है ए ऐ और ओ औ की मात्राएं अक्षर के ऊपर न लगाकर उसके पूर्व भाग में लगाई जाती हैं। जैसे कि "सोयव्वमेव" वदति को वे "सायव्वामव" वदति लिखते हैं। विशेष परिचय हस्त प्रतियों के फोटू स्वयं दे रहे हैं।

मुद्रित प्रति

प्रस्तुत प्रति रतलाम से प्रकाशित हुई है। सन् १९२७ में छपी है। श्री ऋषभदेव केशरीमलजी नामक संस्था की ओर से प्रकाशित की गई है। परन्तु संपादक का नाम नहीं है। सफाई आदि ठीक होने पर भी प्रति में

पाटण भंडार से प्राप्त । इसिभासियाइं सूत्र की प्राचीन हस्त लिखित प्रति

समय १४९५ माघकृष्णा १२ मंगलवार; प्रति–लिपिकारने अन्तमें समय भी सूचित कर दिया है जो कि पृष्ठ की अन्तिम पंक्ति में परिलक्षित हो रहा है ।

तीनों प्रतियाँ सुप्रसिद्ध आगमज्ञ पं. पुण्यविजयजी म. के सौजन्य से प्राप्त हैं ।

पाटण भंडार से प्राप्त: इसिभासियाइं सूत्र की प्राचीन हस्तलिखित प्रति की एक छाया।
प्रतिलिपि समय विक्रम संवत् १४१३ (अनुमानतः)

पाटण भंडार से प्राप्त। इसिभासियाइं की हस्त प्रतिकी एक छवि। समय १३४५ विक्रम संवत्।
(अनुमानतः)

अशुद्धियों की बाढ़ है। इसीलिये अनुवाद की दुरूहता भी बढ़ गई है। जैसे कि अध्ययन ४ गा० १७ के अन्तिम चरण में "जेवा उटीम णाणिणो" पद आता है। उटीम का कोई अर्थ नहीं है। अन्य प्रतियों में उटीम के स्थान पर 'उत्तम' शब्द है जोकि ठीक अर्थ देता है।

फिर भी अध्ययन, गाथा संख्या आदि सभी व्यवस्थित हैं। प्रस्तुत प्रति का स्तर प्राकृत व्याकरण के अधिक निकट है। 'अग्नि' 'पुष्प' 'परिग्रह' आदि को 'अग्गि' 'पुप्फ' 'परिग्गह' के रूप में रखा गया है जोकि प्राकृत व्याकरण से सहमत है। अन्य प्रतियों में विचित्र रूप मिलता है। अग्नि को 'अग्नि' लिखते हैं पुष्प का 'पुष्फ' रूप मिलता है। प्रस्तुत प्रति में पाठान्तर भी शब्द के साथ ही दे रखा है। किन्तु पाठान्तर प्रायः अन्य चार प्रतियों में देखा नहीं जाता है।

अन्त में संग्रहणी गाथाएं मिलती हैं जिनमें ४५ ऋषियों के नाम और विषय क्रम भी है। उपसंहार में ऋषिभाषित का प्रामाण्य और देव नारद अर्हतर्षि का परिचय भी दिया गया है।

जर्मन प्रति

प्रस्तुत प्रति जर्मन के गोटिंजिनो से प्रकाशित हुई है। इसके दो खंड हैं। प्रथम भाग का सम्पादन डा. वाल्टर शुब्रिंग् के हाथों से हुआ है। उसमें सर्व प्रथम जर्मनभाषा में इसिभासियाइं सूत्र की भूमिका दी गई है। जिसमें बताया गया है कि यह सूत्र कहां किस रूप में प्राप्त होता है किन किन आगमों में इसका उल्लेख आता है। उसमें डा. शुब्रिंग् ऋषिभाषित सूत्र को बाइबल के उप विभाग गॉस्पेल से उपमित करते हैं। उसके बाद वे प्रस्तुत सूत्र के महत्त्व पूर्ण प्रश्नों पर विचार करते हैं। दस पृष्ठों की विस्तृत भूमिका में विभिन्न प्रश्नों की चर्चा की गई है।

पश्चात् इसिभासियाइं सूत्र का शुद्ध मूलपाठ दिया गया है। फुटनोट में पाठान्तर भी दिये गये हैं। शुद्ध पाठ के बाद प्रत्येक अध्ययन पर टिप्पणी दी गई है।

द्वितीय खंड में संक्षिप्त भूमिका है, बाद में ऋषिभाषित की संक्षिप्त टीका भी दी गई है। द्वितीय खंड डॉ. वाल्ड स्मीडट के द्वारा सम्पादित है, संस्कृत टीका रोमन लिपि में है।

अनुवाद की कहानी

ताज की नगरी आगरा में दर्शन शास्त्र के प्रौढ़ विद्वान श्रद्धेय कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी म० के पास जैन दर्शन के प्रौढ़ ग्रन्थ विशेषावश्यक भाष्य एवं सन्मति तर्क का अध्ययन समाप्त कर जब विदा होने लगे तब आशीर्वाद के स्वर में श्रद्धेय कवि रत्न श्री ने फरमाया 'मुनि जी ! अध्ययन की एक सीमा तक तुम पहुंच गये हो, अब इसे पल्लवित और पुष्पित करना तुम्हारा अपना काम है। इसके लिये तुम किसी आगम को चुनना, क्योंकि यह क्षेत्र अभी सूना पड़ा है।'

तभी से दिल एक विचार अंकुरित हुआ था। एक आगम का अनुवाद तथा सम्पादन अभिनव ढंग से किया जाए। उस समय नन्दी सूत्र के सम्पादन का विचार दिमाग में लिये चल रहा था। उसके लिये कवि श्री के विद्वान् शिष्य श्री विजय मुनिजी शास्त्री की प्रेरणा भी थी। जब आगरा से इन्दौर आ रहे थे मार्ग में श्रद्धेय स्वर्गीय पं० श्री नगिनचन्द्रजी म० ने कहा—"नन्दी सूत्र सुन्दर है, किन्तु उस पर अनेकों व्याख्याएं प्रकाशित हो चुकी हैं; किसी नई कृति का सम्पादन हो तो सुन्दर रहेगा।" किन्तु उस समय मेरे पास कोई नई कृति थी ही नहीं, अतः उसके सम्पादन का प्रश्न ही नहीं था। जब हम गुरुदेव की सेवा में इन्दौर पहुँचे। उन्होंने भी आगम अनुवाद की योजना को पसंद किया।

इसी बीच कोट संघ (बम्बई) के उपप्रमुख सेठ मगनभाई कोट संघ की आग्रह भरी विनंती लेकर आये। उनके स्नेह भरे अनुरोध को स्वीकार कर प्रिय वक्ता पं० श्री विनयचन्द्र जी म० के साथ कोट चातुर्मास के लिये हम चल पड़े। जब बम्बई के उपनगर भांडुप में पहुंचे और वहां स्वाध्याय प्रेमी सेठ मणिलालभाई के द्वारा इसिभासियाइं सूत्र (ऋषिभाषित सूत्र) प्राप्त हुआ। उसका कुछ अंश देखा; मन बोल उठा काफी सुन्दर सूत्र है। उसका अनुवाद कर डाला जाए तो बहुत सुन्दर रहेगा। साहित्य भी नया है। मुमुक्षुओं के लिये उपयोगी रहेगा। इधर श्रद्धेय कवि श्री जी म० एवं पं० श्री नगीनचन्द्रजी म० दोनों की आज्ञा का पालन भी हो जाएगा।

इस कार्य के लिये प्रियवक्ता श्री विनयचन्द्र जी म० की भी खास प्रेरणा रही। प्रेरणा के साथ सुन्दर सहयोग भी रहा। कोट चातुर्मास में यद्यपि काम का बोझ काफी था। प्रवचन देने के अतिरिक्त प्रिय वक्ता श्री के सार्वजनिक प्रवचनों का सम्पादन भी करना था।[1] इधर दोहपर को अध्ययन भी कराना था। फिर भी अवकाश के क्षणों में सूत्र का अनुवाद तथा सम्पादन कार्य करता रहा। पाठ संशोधन के लिये पाटण भंडार की प्रतियां भी आईं, फिर भी कठिनाइयां पूरी हल न हो सकीं। इस बीच जैनदर्शन के प्रौढ़ विद्वान् पं० दलसुखभाई भी आये, उन्हें भी अनुवाद कार्य बताया। उसे देख उन्होंने भी सन्तोष व्यक्त किया। जैनागमों के विशेषज्ञ पं० श्री बेचरदास जी के द्वारा ज्ञात हुआ कि जर्मनी में डॉक्टर शुब्रिंग् ने इसिभासियाइं सूत्र को काफी अन्वेषण पूर्वक भूमिका और टिप्पणियों के साथ प्रकाशित किया है।

इसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया गया, किन्तु उसमें सफलता न मिली और चातुर्मास समाप्त हो गया। माटुंगा चातुर्मास में इसके लिये फिर से प्रयत्न किया और वाराणसी से पं० दलसुखभाई के द्वारा जर्मन प्रति आई। फिर तो माटुंगा संघ के मंत्री श्री नवनीत भाई ने चाय की एजेन्सी के द्वारा एक्सपोर्ट के साथ सीधे जर्मन से ही वह प्रति मंगवा दी।

प्रोफेसर शुब्रिंग् द्वारा सम्पादित यह प्रति काफी सुन्दर थी। इसके दो भाग हैं। प्रथम का परिचय इस प्रकार है। प्रारम्भ में तेरह पृष्ठों में खोजपूर्ण भूमिका दे रखी है। उसके बाद चालीस पृष्ठों में पाठ भेद के साथ इसिभासियाइं सूत्र का मूल पाठ है। फिर चौवीस पृष्ठों में प्रत्येक अध्ययन पर संक्षिप्त टिप्पणियां दी गई हैं।

---

१ वे प्रवचन जीवन साधना के रूप में सन्मति प्रचारक संघ, बम्बई १ द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।

दूसरे भाग में इसिभासियाइं सूत्र पर संस्कृत टीका है। आगमों पर लिखी टीकाओं की भांति यह टीका भी संक्षिप्त है। हर गाथा पर टीका नहीं दी गई है। केवल क्लिष्ट गाथाओं की संस्कृत व्याख्या दी गई है। शेष को छोड़कर दिया गया है। इसे टीका की अपेक्षा संस्कृत अनुवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा।

द्वितीय भाग की भूमिका में बताया गया है ७।१२।१९५१ में आयोजित एक सभा में वोल्ड स्रीडट ने भाषण देते हुए कहा था–

'इसिभासियाइं' का मूल पाठ उपोद्घात और संक्षिप्त टीका के साथ १९४२ में 'वॉल्युम के' ४८९ से ५७६ में प्रकाशित हुआ है उसका अनुवाद भविष्य के लिये सुरक्षित रखा गया था। किन्तु बाद में उसका अनुवाद जर्मन भाषा में नहीं अपितु संस्कृत भाषा में किया गया है। ऐसा इसलिये किया गया कि भारतीय पाठक सूत्र के मूल पाठ से परिचित है। वे संस्कृत टीका के माध्यम से प्रस्तुत सूत्र का निकट परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये प्रस्तुत सूत्र का अनुवाद जर्मन भाषा में न करके संस्कृत भाषा में दिया गया है और भारतीय शैली के अनुरूप उसका संक्षिप्त अनुवाद दिया गया है।

जब यह पेरेग्राफ मैंने पढ़ा तो मेरा हृदय खिल उठा, कितना उदात्त दृष्टिकोण है! यह सूत्र भारतीय है, इसलिये वे उसका अनुवाद भारतीय भाषा में दे रहे हैं, ताकि भारतीय जनता उसका उपयोग कर सके। समुद्र के उस तट पर बैठे वे पश्चिमी विचारक भारतीय जनता का जितना ख्याल रखते हैं, क्या भारतीय जनता भारतियों का उतना ख्याल रखती है? आज तो हम भाषावाद और प्रान्तवाद के लिये झगड़ रहे हैं। कभी गुजराती और महाराष्ट्रीय लड़ते हैं। कभी बंगाली और असमी जनता टकराती है। तो पंजाबियों को पंजाबी सुबा चाहिये उसके लिये आमरण अनशन किया जाता है।

हमारे मानस कितने संकुचित हैं। हम धर्म पंथ और सम्प्रदाय के लिये झगड़ते हैं। आज का धर्म दो विरोधियों के बीच कड़ी नहीं बन सकता। हां, उसके नाम पर झगड़ सकते हैं। एक इंग्लिश विचारक हमारी इस धार्मिक अंधता पर व्यंग कसता हुआ बोलता है– We have just enough religion to make us hate but not enough to make us love another. एक दूसरे से घृणा करने के लिये हमारे पास धर्म पर्याप्त है, किन्तु एक दूसरे से प्रेम करने के लिये धर्म नहीं है। हमारा पीतल भी सोना है और दूसरे का सोना भी पीतल है। यह हमारी संकुचित वृत्ति हमें कहां ले जाएगी?

आज हमारी यह हालत है कि यदि गुजराती में एक पुस्तक प्रकाशित होती है तो हिन्दी पाठक बोल उठते हैं यह तो गुजराती है हमारे किस काम की है! यही कहानी हिन्दी में प्रकाशित पुस्तक की गुजराती भाइयों के लिये है। जब दूसरे देश अन्तरिक्ष में पहुंच रहे हैं तब इस उपग्रह के युग में संकुचित घेरे में कब तक जीवित रहेंगे?

मैं बहुत दूर आ गया। हां, तो वह जर्मन प्रति मेरे हाथों में आई। अब एक समस्या और मेरे सामने आई, इसका अनुवाद कैसे करवाया जाय। इंग्लीश तो थोड़ी बहुत परिचित भी है, किन्तु जर्मन के लिये तो मैं एकदम अपरिचित था। अनुवाद आवश्यक था। अजन्ता इंटर नॅशनल के भाई जीतमलजी संलेचा, सेठ नवनीत भाई सेक्रेटरी माटुंगा संघ (बम्बई) तथा मूक सेवक प्रवीणचन्द्र भाई कोठारी के सुप्रयत्नों से अनुवाद कार्य में सफलता मिली। बम्बई स्थित इन्डो–जर्मन सोसायटी के द्वारा इंग्लिश अनुवाद होकर मेरे पास आया। जर्मन निवासियों द्वारा संचलित उस कम्पनी ने कहा यह पुस्तक जर्मन की है, अतः इसका अनुवाद चार्ज हम चालीस प्रतिशत कम लेंगे। इनका देश प्रेम भी आदर की वस्तु है।

इंग्लिश का गुजराती अनुवाद एवं जर्मन प्रति से पाठ संशोधन एवं अन्य अनुवाद कार्य में माटुंगा के मूक सेवाशील श्री प्रवीणभाई कोठारी का अमूल्य सहयोग जो प्राप्त हुआ है उसे भी मैं भूल नहीं सकता।

अनुवाद होकर मेरे सामने आया तब तक १९५६ का माटुंगा चातुर्मास भी समाप्त हो गया और हम इदौरकी ओर लौट पड़े। क्योंकि वहां श्रद्धेय गुरुदेव स्थविर-पद-विभूषित मंत्री श्री किशनलालजी महाराज अस्वस्थ थे। गुरुदेव के पवित्र दर्शनों के लिये हम चल पड़े। पर इसिभासियाइं का कार्य अधूरा था।

हमने बम्बई छोड़ी, बम्बई का कान्दावाड़ी संघ हमें नहीं छोड़ रहा था। बम्बई संघ के उपप्रमुख सेठ प्राणलाल भाई, सेक्रेटरी सेठ गिरधर भाई आदि सभी का अनुरोध था कि अलग चातुर्मास कांदावाड़ी हो। कोट और माटुंगा में आपके चातुर्मास हो चुके अब कांदावाड़ी कैसे सूनी रह सकती है? उनके आग्रह को ठेलते हुए आगे बढ़ते ही रहे और उनके प्रयत्न भी बढ़ते रहे। जब हम गुरुदेव के समीप इन्दौर पहुंचे वहां सेठ गिरधर भाई, सेठ रविचन्द्र भाई, सेठ मगनभाई आदि चातुर्मास की प्रार्थना हेतु आ पहुंचे। उनके भक्ति भरे आग्रह को गुरुदेव टाल न सके और अपनी अस्वस्थता को भी उपेक्षित करके प्रखर सेवाशील पं० श्री नगिनचन्द्रजी म०, प्रिय वक्ता श्री विनयचन्द्रजी म० और इन पंक्तियों के लेखक को बम्बई चातुर्मास के लिये आज्ञा प्रदान की।

जेठ की तपती दुपहरी और अन्य कठिनाइयों को सहते हुए बम्बई पहुंचे। बम्बई-वासियों ने स्नेहभरा स्वागत किया। जब सेक्रेटरी श्री गिरधर लाल भाई दफ्तरी ने प्रियवक्ता श्री विनय चन्द्र जी म० से बम्बई चातुर्मास के प्रवचन सम्पादन एवं प्रकाशन के लिये कहा तो महाराज श्री ने कहा "प्रवचन पुस्तकें तो कोट और माटुंगा से प्रकाशित हो चुकी हैं, किन्तु श्री मनोहर मुनिजी ने तीन वर्ष के परिश्रम से जो इसिभासियाइं सूत्र का अनुवाद एवं सम्पादन किया है उसको प्रकाशित करना चाहिये। समाज के लिये वह एक नई देन होगी।" और कांदावाड़ी संघ ने महाराज की प्रेरणा को सहर्ष शिरोधार्य कर लिया। प्रिय वक्ता म० की प्रेरणा एवं कांदावाड़ी बम्बई संघ के सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप इसिभासियाइं जनता के हाथों में पहुंच रहा है।

यद्यपि इसके प्रकाशन के लिये दर्शनज्ञ पं० श्री दलसुख भाई ने भी गवर्नमेण्ट द्वारा संचालित प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित करने की प्रेरणा की थी और सेठ मगनलाल भाई पी. दोशी ने सन्मति प्रचारक संघ के अन्तर्गत प्रकाशन करने का सुझाव भी दिया था। किन्तु बम्बई संघ को यह श्रेय मिलना था। प्रस्तुत सूत्र के प्रकाशन में सेठ प्राणलाल भाई, इन्दरजी उपप्रमुख बम्बई (कांदावाड़ी) संघ, सेठ गिरधरलाल भाई प्रमुख बम्बई संघ, एवं सेवाशील कार्यकर्ता सेठ छोटालाल भाई कामदार का भी सक्रिय सहयोग रहा है। साथ ही सन्मति प्रचारक संघ, हैद्राबाद के संस्थापक प्रसिद्ध वक्ता यति श्री निर्मलकुमारजी 'विश्वबंधु' का भी सुन्दर सहयोग रहा है। प्रुफ संशोधन में सहयोगी श्री शान्तिमुनिजी म. ने और उसे लाने ले जाने में भाई गजानन शंकर चौहान ने जो सहयोग दिया उसे भी भुलाया नहीं जा सकता।

विजयादशमी
संवत २०२०, दि० २८ सितम्बर १९६३
विला पारला, बम्बई

मुनि मनोहर "शास्त्री" "साहित्यरत्न"

---

१ माटुंगा के प्रवचन "जीवन सौरभ" के रूप में हिन्दी और गुजराती में प्रकाशित है।

પ્રાક્કથન

આપણા સ્થાનકવાસી સમાજ માટે પૂ. મુનિરાજો અને મહાસતીજીઓ જ આપણું એક માત્ર અવલંબન છે, પરન્તુ તેઓશ્રીનો લાભ બારે માસ મળી શકતો નથી તેમજ બધા ગામોને મળી શકતો નથી. આ સંજોગોમાં તેઓશ્રીની ગેરહાજરીમાં ધર્મ સ્થાનકોમાં સત્–સાહિત્યનું વાંચન અને મનન થાય તે ખાસ જરૂરી છે. ટુંકામાં આપણા સમાજનાં મુખ્ય બે અવલંબન છે. એક પૂ. સાધુ–સાધ્વીજીઓ, બીજું છે શાસ્ત્રો, આમ છતાં ખેદનો વિષય એ છે કે આજે આપણા આ બન્ને અવલંબનો પ્રતિ આપણે ઉપેક્ષા સેવી રહ્યા છીએ.

સ્થાનકવાસી સમાજમાં ઉચ્ચ કોટીના મુનિરાજોની સંખ્યા ઓછી થતી રહી છે, તેમનું સ્થાન પૂરી શકે તેવાં મુનિરાજો દૃષ્ટિગોચર થતા નથી. સંખ્યાની દૃષ્ટિએ જોઇએ તો પણ મુનિરાજોની સંખ્યા ઓછી થતી જાય છે; પ્રમાણમાં નવા દીક્ષિત મુનિરાજો ઓછા થાય છે. બીજી બાજુ આપણે ધાર્મિક પ્રવૃત્તિઓને નામે લાખો રૂપિઆ ખર્ચીએ છીએ, પરન્તુ અભ્યાસશીલ અને ઉચ્ચ કોટીના સાહિત્ય અને સર્જન પાછળ ઉપેક્ષા સેવાતી હોય તેવું જણાય છે. અલબત્ત આજે સાહિત્ય પ્રકાશનના નામે હજારો રૂપીઆ ખર્ચાય છે, પરન્તુ તેમાં અભ્યાસશીલ સાહિત્ય કહી શકાય તેવું સાહિત્ય ઘણા ઓછા પ્રમાણમાં માલૂમ પડશે. આ બન્ને બાબતો આપણા સમાજ માટે ચિંતાનો વિષય ગણાવી જોઇએ.

આજના યુગે સાહિત્યનું મૂલ્ય ઘણું વધી જવા પામેલ છે. સાહિત્ય સમાજનું ઘડતર કરે છે. જે સમાજ પાસે સમૃદ્ધ સાહિત્ય હશે તે જ સમાજ ખરેખર શ્રીમંત છે. સમૃદ્ધિનો અર્થ માત્ર સંપત્તિ નથી. સંપત્તિ તો ચંચળ છે. તે તો આવે છે અને જાય છે. શાશ્વત સંપત્તિ તો સમૃદ્ધ સાહિત્ય છે. જે સમાજ પાસે વિશાળ અને સમૃદ્ધ સાહિત્ય હશે તે સમાજ પોતાનું ગૌરવભર્યું સ્થાન ટકાવી શકશે. આપણો સમાજ મુખ્યત્વે વ્યાપારી સમાજ હોઇ, તે જેટલું સંપત્તિનું મૂલ્યાંકન કરે છે તેટલું સાહિત્યનું મૂલ્યાંકન કરી શકેલ નથી; પરિણામે આપણો સમાજ અનુરૂપ લોકભોગ્ય સાહિત્ય તૈયાર કરી શકેલ નથી, એટલું જ નહિ પરન્તુ કેટલુંયે કિંમતી સાહિત્ય આપણા ભંડારોમાં વણસ્પર્શ્યું પડેલું છે.

આમ છતાં કોઇ કોઇ મુનિરાજો અને વિદ્વાનો સાહિત્યના સંશોધનના કાર્યમાં લાગેલા જોવામાં આવે છે તે આનંદનો વિષય છે. આવા મુનિરાજો અને વિદ્વાનોની પ્રવૃત્તિઓને આપણે પ્રોત્સાહન આપી વેગ આપવો જોઇએ અને સાહિત્યના સંશોધનમાં રસ વધે તેમ કરવું જોઇએ. "ઇસિભાસિઆઇં" સૂત્રનું પ્રકાશન થવા પામેલ છે તે પણ ચિંતન, મનન અને સંપાદનનું જ પરિણામ છે. "ઇસિભાસિઆઇં" જેવા આજે કેટલાંય કિંમતી ગ્રંથો હજુ વણસ્પર્શા પડયા છે. આ બધા અમૂલ્ય ગ્રંથોને આપણે બહાર લાવવાની જરૂર છે.

"ઇસિભાસિઆઇં" સૂત્રનું અનુવાદ અને સંપાદન પં. મુનિ શ્રી મનોહરલાલજી મ., શાસ્ત્રી–સાહિત્યરત્ને કરેલું છે. અત્યાર સુધીમાં આ ગ્રંથનો હિન્દી કે ગુજરાતી કોઈ પણ ભાષામાં અનુવાદ થયો નથી. વિદ્વાન મુનિશ્રીએ સતત ત્રણ વર્ષ આ સૂત્રના પરિશીલન અને સંપાદનમાં ગાળ્યા અને પુષ્કળ પરિશ્રમને અંતે આ ગ્રંથનો અનુવાદ તૈયાર કર્યો.

પં. શ્રી નગીનચંદજી મ. પં. મુનિ શ્રી વિનયચંદ્ર મ., શ્રી મનોહર મુનિજી મ. ના સને ૧૯૬૦ ના કાંદાવાડી ઉપાશ્રયના ચાતુર્માસ દરમ્યાન આ સાહિત્ય અમારા જોવામાં આવ્યું. આ ગ્રંથમાં અનેક બાબતો અંગે જે સરળ અને હૃદયસ્પર્શી ભાષામાં રજુઆત થઈ છે તે ખરેખર પ્રશંસા માગી લે તેવી છે. સમસ્ત સુખદુઃખની જડ, સાધકની કર્તવ્ય દિશા, દુનિયાદારી માણસોના સ્વભાવનું વર્ણન અને વાસ્તવિક્તાનું દર્શન, ગૃહસ્થોના સંસર્ગનું પરિણામ કર્મોની પરંપરાનું હૃદયદ્રાવક ચિત્ર, આત્મભાવમાં રમણ કરનારની મનોદશા, વગેરે અનેક બાબતો આ ગ્રંથમાં આવરી લેવામાં આવે છે. આ બાબતો એટલી સચોટ રીતે રજુ કરવામાં આવી છે અને એટલી મધુર ભાષામાં કહેવામાં આવી છે કે તે આમ જનતા પણ સમજી શકે અને

આબાલ-વૃદ્ધ સૌના હૃદયને સ્પર્શી શકે. આ ગ્રંથમાં રજુ થયેલ બાબતો નાના મોટા સૌ કોઈના આત્માને ઉત્કર્ષ સાધવામાં સહાયક બની શકે તેવી છે. ગ્રંથની વિવેચનની ખુબીઓ અમારા હૃદયને પણ સ્પર્શી ગઈ અને તેથી અમો તે ગ્રંથ પ્રતિ ખૂબ ખૂબ આકર્ષાયા. આવો અમૂલ્ય ગ્રંથ આમ જનતા સમક્ષ વ્હેલી તકે મુકાવો જોઈએ એમ અમોને લાગ્યું. વિદ્વાન મુનિશ્રીએ આટલી નાની ઉમરમાં આ ગ્રંથના સંપાદનમાં કેટલો શ્રમ લીધો હશે, તેનો ખ્યાલ અમોને આ પુસ્તક જોતાં આવ્યો. આવા કિંમતી ગ્રંથનું સંપાદન કરીને, મહારાજશ્રીએ સમાજ પર મહાન ઉપકાર કરેલ છે.

અમોએ તુરત જ આ ગ્રંથનું પ્રકાશન કાર્ય શરૂ કર્યું. કાર્યની વિશાળતા અને પ્રેસની શિથિલતાને કારણે, તેના પ્રકાશનમાં ધાર્યા કરતાં વધારે વિલંબ થવા પામ્યો છે, પરન્તુ તેનું પ્રકાશન કાર્ય સંતોષકારક રીતે પાર પડ્યું અને આજે અમો એક કિંમતી ગ્રંથ સમાજ પાસે મૂકવા શક્તિમાન બન્યા છીએ તે માટે અમો ગૌરવ અનુભવીએ છીએ.

પુસ્તક-પ્રકાશનની વ્યવસ્થામાં મુંબઈ કાંદાવાડી સંઘના ઉપપ્રમુખ સ્વ. પ્રાણલાલભાઈ ઈન્દરજી શેઠ, સંઘના પ્રમુખ શ્રી ગિરધરલાલભાઈ દામોદર દફ્તરી અને મંત્રી શ્રી છોટાલાલભાઈ કામદારે ખૂબ જ શ્રમ લીધેલ છે તેની નોંધ આ તકે લઈએ છીએ. શ્રીમતી ગુલાબબેન નાનાદાસ શ્રી પ્રભાશંકર પોપટલાલભાઈએ આ સૂત્રના પ્રકાશનમાં રૂા. ૫૦૦) ની અને રૂા. ૫૦૦) એક ગૃહસ્થે સહાયતા આપેલ છે. શ્રીમતી શ્રાવિકા પ્રભાબેન ચુનિલાલ નરભેરામ વેકરીવાળાએ અગાઉથી ૧૦૦ પુસ્તકોના ગ્રાહક થઈ રૂા. ૧૦૦૦) આપી પુસ્તક પ્રકાશનને વેગ આપેલ છે. આ ઉપરાંત અગાઉથી સંખ્યાબંધ ભાઈ-બહેનોએ આ પુસ્તકના ગ્રાહક તરીકે નામ નોંધાવી અમોને પ્રોત્સાહન આપેલ છે તે માટે સૌનો આભાર માનીએ છીએ. પ્રકાશન કાર્યમાં ધાર્યા કરતાં વધારે વિલંબ થવા પામેલ છે અને અગાઉથી નોંધાયેલ ગ્રાહકોને ખૂબ રાહ જોવી પડેલ છે; આમ છતાં એક મહત્વનું પુસ્તક ગ્રાહક બંધુઓને આપી શક્યા છીએ તે માટે સંતોષ અનુભવીએ છીએ.

છેલ્લે એટલું જ કહેવાનું રહે છે કે પુસ્તક કે ગ્રંથની લોકપ્રિયતા તેના સુંદર ગેટઅપ કે સુંદર છપાઈ પર નિર્ભર નથી, પરન્તુ તેનું વાંચન કેટલા પ્રમાણમાં જીવનને સ્પર્શી જાય છે અને કાયમી અસર મૂકતું જાય છે તે પર નિર્ભર છે. આ પુસ્તકનું મૂલ્યાંકન પણ તે જ રીતે કરવાનું અમો ગ્રાહકો પર છોડીને, વિરમીએ છીએ.

તા. ૧-૮-૬૩
૧૭૦, કાંદાવાડી, મુંબઈ ૪.

લી. નમ્ર સેવકો
રવીચંદ સુખલાલ શાહ
રમણીકલાલ કસ્તુરચંદ કોઠારી

क्रान्तिकारी सन्त श्रद्धेय श्रीमनोहर मुनिजी म०

एक परिचय-

लेखक : **प्रसिद्ध वक्ता, ध्यानयोगी, स्वामी श्री. निर्मलकुमारजी 'विश्वबन्धु'**

संस्थापकः—**सन्मतिप्रचारक संघ** फीलखाना, हैद्राबाद

बात बम्बई की है। "इसिभासियाइं सूत्र" का प्रथम फार्म लेकर जब मैं एक प्रसिद्ध मूर्तिपूजक मुनिश्री क पास गया। फार्म उन्होंने देखा ओर बोल उठे—कितनी विद्वत्ता पूर्ण शैली में अनुवादित और सम्पादित है यह। कौन है इसके सम्पादक? मुनिश्री ने जिज्ञासा से पूछा; तो मैंने कहा इसके अनुवादक हैं श्रीमनोहरमुनिजी जो कि अभी कांदावाडी उपाश्रय में हैं। "अच्छा उनसे तो मैं अच्छी तरह परिचित हूं। उनकी उम्र तो छोटी है पर उनमें विद्वत्ता और प्रतिभा की प्रतिच्छाया दिखाई देती है। दूसरे मुनि जो काम वर्षों तक अध्ययन करके नहीं कर सकते वह इन्होंने छोटीसी उम्र में कर डाला। सूत्र सुन्दर है और उससे भी सुन्दर है उसकी अनुवाद पद्धति।" मुनिश्री ने सहज रूप से अपने उद्गार व्यक्त किये।

मैंने कहा "बुद्धि ने कब वय के बन्धन को स्वीकार किया है? उम्र छोटी होते हुए भी आप अनुवादक ही नहीं अच्छे लेखक भी हैं।"

इसके बाद हमारी बातचीत दूसरी ओर मुड़ गयी। बादमें जब मैं लौटा तो मेरे कानों में वे ही शब्द गूंज रहे थे वास्तव में श्रीमनोहर मुनिजी इस नाम में ही कुछ मनोहरता समाई हुई है। नाम की 'मनोहरता', व्यक्तित्व में और कर्तृत्व में भी उतर आई है।

अब थोडा जीवन परिचय देदूं—आप मालव की कोमल कमनीय मिट्टी में जन्मे। ऐसे तो जन्म भूमि खाचरोद है किन्तु अब सारा परिवार इन्दौर आगया है। पिता का नाम गुलाबचन्दजी था तो माता गट्टुबाई की गोद में आप पले। आपके चार भाई और एक बहन भी है बचपन खेल कूद में बीता। स्कूल में थोडी शिक्षा पाई। शिक्षा का क्रम आगे बढता, किन्तु जीवन को नया मोड़ लेना था। श्रद्धेय पं. श्रीकिसनलालजी म. प्र. व. श्रीसौभाग्यमलजी म. शिष्य-वृंद के साथ एकबार खाचरोद पधारे। शतावधानी श्री केवलमुनि म. ने हजारों नागरिकों के समक्ष अवधान प्रयोग किये। अवधान का जादू मोहनलाल (बचपन का नाम) पर छा गया। मन बोल पडा यह कला सीखना है। शताव-धानीजी म. से मन की बात बताई तो वे सहज में ही बोल पडे यह तो साधु को ही बताई जाती है संभव है कि गृहस्थ इस चीज का दुरुपयोग भी कर बैठे। सहज विनोद में कही हुई बात मोहन लालजी के मन में घर कर गयी और बस उसी दिन से मन में दीक्षा का दृढ संकल्प हो गया। कुछ दिन बाद माताजी तथा नानीजी के सामने यह संकल्प प्रगट किया तो उन्होंने कहा अभी तो तेरे खेलने कूदने के दिन हैं। पर बात यहीं समाप्त नहीं हुई। रोजाना इस बात के लिये घर में मीठे झगडे चलते रहे। आखिर विजय मोहनलाल के पक्ष में रही!।

धन तेरस के मंगल प्रभात में माताजी खोल भरकर इन्हें गुरुदेव के पास लेगई और बोली गुरुदेव पढ़ने के लिये इसे मैं आपके पास रखती हूं। बडे होने पर दीक्षा के सम्बन्ध में विचार किया जायगा। आपको पता नहीं हमारे घर में रोज झगडे होते हैं। यह बोलता है कि "दीक्षा की आज्ञा दो तो ही रोटी बनाने दूंगा।"

तीन वर्ष तक आप गुरुदेव के पास रहे। अध्ययन चालू था। साथही दीक्षा का आग्रह भी चालू था। देवास चातुर्मास में जब एक दिन इन्होंने बहुत आग्रह किया तो प्रियवक्ता विनयचन्द्र जी म० ने कहा यह अभी छोटा है फिर लोच का भी प्रश्न आयगा। अतः जल्दी नहीं करना चाहिये। बस लोच का सुनते ही आपने अपने हाथों ही सिर का आधा लोच कर डाला। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होते ही दीक्षा का निश्चय होगया। तभी छायण निवासी सेठ रखबचन्दजी सा. आये और उन्होंने गुरुदेव तथा माताजी से निवेदन किया कि दीक्षा समारोह छायण में ही होना

चाहिये। स्वीकृति मिलते ही भव्य समारोह के साथ फाल्गुन शुक्ला १२ सं. २००२ को छायण में दीक्षाविधि सम्पन्न हुई। आप प्रसिद्ध वक्ता पं. श्रीसौभाग्यमलजी म. के शिष्य बने। आपका नाम मनोहर मुनिजी रखा गया।

इसके पश्चात् आपने संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी का अध्ययन किया। अध्ययन क्षेत्र की प्रगति का श्रेय प्रियवक्ता पं. विनयचन्द्रजी म. को है। हिन्दी में आप साहित्यरत्न हैं। जैन दर्शन की सिद्धान्तशास्त्री परीक्षा में आप उत्तीर्ण हैं। आपमें अध्ययन की जिज्ञासा प्रबल थी। इसलिये आगरा में श्रद्धेय कविरत्न श्रीअमरचन्द्रजी म. के निकट चातुर्मास करके आपने जैन दर्शन के प्रौढ ग्रन्थ श्रीविशेषावश्यक और सन्मतितर्क का गहरा अध्ययन किया। फिरभी अभी भी आपकी पढ़ने की भूख शान्त नहीं है। इसलिये इंग्लिश का अध्ययन अभी भी चालू है।

आप अध्ययन शील तो हैं ही। साथ ही साहित्य जगत के उदीयमान लेखक भी हैं। आपके लेखों में सरसता और सजीवता के साथ मौलिकता भी रहती है। इसीलिये आपकी लेखनी में यह बल है कि आप पाठक के दिल को छूलेते हैं।

आपके विचारों में सहज गंभीरता परिलक्षित होती है जो कि आपकी चिन्तनशीलता की द्योतक है। हर चीज के अन्तःस्तल में प्रवेश कर उसके अन्तर्रहस्यों को खोज लेना और वाणी या लेखनी द्वारा अभिव्यक्त कर देना भी एक कला है जो कि चिन्तनशीलता के बिना आ नहीं सकती। अन्तर्जगत के रहस्यों को उद्घाटित करके स्वच्छ और प्रांजल रूप में रखदेना आपके लेखों की महत्त्व पूर्ण विशेषता है।

आपके विचारों में क्रान्ति के छुपे बीज हैं। जो व्यर्थ की निष्प्राण रूढियों की जडों को झकझोर दिया करते हैं। इसलिये आपके आलोचक भी बुरीतरह शोर मचाने लगते हैं। क्यों कि विचार जड़ आलोचकों को आपके चेतनाशील विचार हिला देते हैं। आपने अपने लेखों एवं प्रवचनों में सम्पत्तिशाली को इसलिये आदर नहीं दिया कि विशाल सम्पत्ति का स्वामी है तो गरीबों को कभी यह कह नहीं ठुकराया की वह गरीब है। आपने हमेशा कहा है गरीबों में भी तुम जैसी आत्मा है उसे भी रोटी और कपडा चाहिये। क्या गरीब इन्सान नहीं है। उसे सबसे ज्यादा स्नेह और सहानुभूति की आवश्यकता रहती है। गरीबों के प्रति आपके मन में विशेष सहानुभूति है।

आप विचारशील लेखक के साथ प्रवचनकार और सुन्दर सम्पादक भी हैं। प्रियवक्ता विनयचन्द्रजी म. के बम्बई के प्रवचनों का सुन्दर सम्पादन आपकी लेखनी द्वारा हुआ है। जीवनसाधना और जीवन सौरभ दोनों पुस्तकों ने जैन जैनेतर समाज में काफी लोकप्रियता पाई है।

इसिभासियाइं सूत्र में आप सफल अनुवादक और विवेचक के रूप में आये हैं। सुन्दर विवेचन और आवश्यक टिप्पणियों ने विषय को सुस्पष्ट कर दिया है। सूत्र की भूमिका भी काफी मननीय और खोज पूर्ण है "कुछ सत्य कुछ तथ्य" में आप सफल लघुकथाकार के रूप में आये हैं। इस प्रकार लेख हो या सम्पादन, कहानी हो या अनुवाद सर्वत्र आपकी लेखनी को सफलता ने चूमा है। मुनिश्री को मैंने बचपन में भी देखा था। मुनिश्री का प्राथमिक अध्ययन भी इन पंक्तियों के लेखक ने कराया था। उस समय भी आप में क्रान्ति के बीज दिखाई देते थे आज आप उदयमान नक्षत्र के रूप में चमक रहे हैं। मैं यही चाहता हूं यह गुलाब खूब महके और समाज को साहित्य और सद्विचारों की महक दे।

साथ ही जगत को आत्मज्ञान की रोशनी दें। मैं उस प्रभु का अत्यंत अनुग्रहीत हूं कि उसने मुझे इन संत की आत्मा को समझने का अवसर दिया है। मैंने आप में संत वेष के ही नहीं; अपितु संत की आत्मा के दर्शन किये हैं। आपमें रही हुई विराट् ज्योति को मैं प्रणाम करता हूँ। साथही कामना करता हूँ कि आपकी साधना सफल हो।

साधनाश्रम
नं. १५-८-५६७
फीलखाना, हैद्राबाद
विजयादशमी दि. २७-१०-६३

प्रेषिका
(श्रीमती) पद्माजीजी वाढ़े
[बुरहानपुरकर]

आशीर्वाद – और अभिमत

"इसिभासियाइं सूत्र का प्रथम फार्म मिला। कार्य सुन्दर है आपका श्रम सफल है।"

श्रद्धेय कविरत्न उपाध्याय अमरचन्द्रजी म.

की ओरसे विजयमुनि शास्त्री, साहित्यरत्न, कानपुर

इसिभासियाइं सूत्र का फार्म देखा, अतिप्रसन्नता हुई। वर्षों के श्रम और हजारों रुपयों खर्च बावजूद अन्यमुनि जो कार्य नहीं कर सके आपने अल्पवय में किया है। यह देख मेरा हृदय पुलकित हो रहा है।"

मुनि श्रीमल्ल, पूना

"आपका कार्य देख मैं बहुत प्रभावित हूं।"

पं. दलसुख मालवणिया

कोट, बम्बई.

भूमिका की विषयसूचि

ग्रंथविषयानुक्रम-सूचि

इति विषयानुक्रमसूचि संपूर्ण

इसि-भासियाइं

प्रथम अध्याय

प्रवेश

बहती हुई सरिता का जल तटवर्ती वृक्षों की जड़ों को तरी देता है ऐसे ही शास्त्र-श्रवण हमारे सद्गुणों को तरी देता है। सत्य श्रवण विकास की प्रथम सीढ़ी है। जीवन का श्रेय क्या है और प्रेय क्या है, यह हम सुनकर ही जान सकते हैं। प्रत्येक बुद्ध जैसे विशिष्ट आत्माओं को छोड़ दें पर सर्व साधारण के लिये यही नियम होगा। सुनना कुछ है पर सब कुछ नहीं। वह पहिली सीढ़ी अवश्य है पर उसके आगे की सीढियों को पार किये बिना मंजिल पा नहीं सकते। श्रवण के बाद उसका आचरण होना आवश्यक है। श्रवण बीज है तो सदाचरण पल्लवित वृक्ष है। बीज को खाद और पानी मिले फिर भी वह विकसित न हो उसपर एक भी फल न आये तो श्रम और समय का अपव्यय ही माना जायगा।

श्रोतव्य नामक प्रथम अध्याय में श्रवण को आवश्यक बताया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अब्रह्म परिग्रह विरति रूप व्रताचरण उसके मधुर फल बताये गये हैं। यहां चतुर्थ और पंचम महाव्रत को इसलिये साथ लिया गया है कि इसके प्रणेता अर्हतर्षि नारद हैं और वे प्रभु नेमिनाथ के युग के हैं। आदि अन्तिम तीर्थंकरों के अतिरिक्त शेष २२ तीर्थंकरों के शासन में चतुर्याम धर्म की देशना है।

देवनारद अर्हतोपदिष्ट श्रोतव्य अध्याय की प्रथम दो गाथाएँ—

सोयव्वमेव वदति सोयव्वमेव पवदति।
जेण समयं जीवे सव्वदुक्खाण मुच्चति॥ १॥
तम्हा सोयव्वातो परं णत्थि सोयं ति।
देवनारदेण अरहता इसिणा बुइयं॥ २॥

मूलार्थः—श्रवण करना चाहिये। श्रवण करना ही चाहिये। ऐसा (जिनेश्वर) देव कहते हैं। जिसके द्वारा आत्मा स्वमत का ज्ञाता बन कर सभी दुःखों से मुक्त होता है। अतः श्रवण करने से बढ़कर दूसरा कोई शौच (पवित्र) नहीं है। इस प्रकार देव नारद अर्हतर्षि कहते हैं।

गुजराती भाषान्तरः—

શ્રવણ કરવું જોઇએ, શ્રવણ કરવુંજ જોઇએ, આવું જીનેશ્વર દેવો કહે છે જેના વડે આત્મા સ્વમતનો જ્ઞાતા થઇને બધા દુઃખોનું અન્ત લાવે છે. માટે શ્રવણ કરવા (સાંભળવા) થી મોટી બીજી કોઈ પવિત્રતા નથી, આવી રીતે દેવ નારદ અર્હતર્ષિ કહે છે.

जीवन के लिये श्रेय क्या है और प्रेय क्या है यह हम सत्य श्रवण के द्वारा ही जान सकते हैं। सुनने के बाद ही स्वपर का भेद विज्ञान पा सकते हैं। भगवान महावीर की निर्वाण भूमिका श्रवण को बताते हैं:—

श्रवण से ज्ञान विज्ञान प्रत्याख्यान संयम तप व्यवदान अक्रियावस्था और पश्चात् निर्वाण। ये हैं निर्वाण की क्रमिक सीढ़ियाँ। आत्मा श्रवण के द्वारा ही श्रेय और प्रेय को पहचानता है। फिर उसमें किसी एक पथ को अपनाने के लिये स्वतंत्र है[२]।

श्रवण के द्वारा आत्मा सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त करता है और पश्चात् दुःख से मुक्ति पाता है, अतः श्रवण से बढकर दूसरी कोई पवित्रता नहीं है।

टीकाकार बोलते हैं:—"सोयव्वंति श्रोतव्यं शिक्षितव्यं एव वदति श्रोतव्यं एव प्रवदति येन समयं यत् आदाय मुच्यते लोकः सर्वदुःखेभ्यः। तस्माच्छ्रोतव्यात् परं न किंचिदस्ति श्रोतव्यं। सोयंति शोचमिति पुस्तकानां पाठः वृद्धलेखकानां भ्रम इति न आद्रियते।"

---

१ भगवतीसूत्र शतक २।३।५. २ दशवैकालिक अ. ४।११.

अर्थात् सुनना चाहिये, क्यों कि श्रवण से स्वमत को ग्रहण करके लोक (आत्मा) समस्त दुःखों से मुक्त होता है। अतः सत्य श्रवण से बढ़कर दूसरा कोई श्रोतव्य नहीं है। अन्य प्रतियों में जो "सोयं" पाठ मिलता है जिसका अर्थ होता है शौचम् (पवित्रता)। यह पाठ वृद्धलेखकों के भ्रम के कारण आगया है, अतः वह हमें मान्य नहीं है।

टीकाकार को सोयं पाठ मान्य नहीं है। क्यों कि श्रोतव्य अध्ययन है। अतः सत्य श्रवण से बढ़कर कोई श्रोतव्य नहीं मानते हैं। जर्मन के प्रोफेसर शुब्रिंग प्रथम अध्याय पर टिप्पणी देते हुए लिखते हैं:—

"थोड़ा बहुत जो सीखने लायक है उस और आग्रहपूर्वक ध्यान खींचने के लिए इस प्रकरण को पहले रखा गया है। 'सोयव्वं' और सोयं में ध्वनि साम्य है पर यह साम्यता विशेष महत्त्व नहीं रखती है। क्योंकि यहां श्रोतव्य को प्रमुखता दी गई है। अतः यह पाठ इस प्रकार होना चाहिये "तम्हा सोयत्तो परं नत्थि सोयव्वं।" वर्तमान पाठ में परंपरागत भूल दिखाई पड़ती है[1]।"

पर देवर्षि नारद की प्राचीन कहानी "सोय" पाठ की पुष्टि करती है, वह इस प्रकार है:-एक बार प्रभु महावीर विचरण करते हुए सोरिय पुर पधारे। उनके दो शिष्य धर्म घोष और धर्म यश अशोक वृक्ष के नीचे ठहरे थे।

पर वहां वे एक आश्चर्य देखते हैं। सूर्य पूर्व से पश्चिम की और ढला, किन्तु छाया न बदली; तब वे एक दूसरे से कहने-लगे यह तुम्हारी लब्धि है। बाद में एक शौच के लिये जाता है। तब भी छाया न बदली। दूसरा गया तब भी न बदली, तो देखा यह तो किसी तीसरे की लब्धि है। दोनों प्रभु निकट आते हैं और इसका रहस्य पूछते हैं। प्रभु बोले-इसी शौर्यपुर में एक बार समुद्रविजय राजा थे। उनके शासन में एक यज्ञदत्त तापस रहता था। सोमयशा उसकी पत्नी थी। उनका पुत्र था नारद। वे उंछवृत्तिसे निर्वाह करते थे। एक दिन खाते और एक दिन उपवास करते थे। एकबार पूर्वाह्न में अशोक वृक्ष के नीचे शिशु नारद को सुलाकर खेत में कन चुन रहे थे। इधर वैश्रमणकायिक तिर्यक् जंभृक देव वैताढ्य से निकल कर उसके पास से गुजरते हैं। तभी वृक्ष के नीचे सोये बालक को देखते हैं। अवधिज्ञान से जाना यह तो हमारे देवनिकाय से च्यवित हुआ है। पूर्व स्नेह के कारण एवं बालक की अनुकंपा के कारण वे देवगण छाया को स्थिर कर देते हैं। जब बालक बड़ा होता है, देवगण उसे विद्या पढ़ाते हैं। पश्चात् नारद कांचन कुंडिका और मणि पादुका के साथ आकाश में घूमने लगे। एक बार वे द्वारिका में गये। वहां वासुदेव श्रीकृष्ण ने पूछा शौच क्या है? पर नारद उत्तर न दे सके। अतः इधर उधर की बातें करके उठ गये और पूर्व विदेह में पहुंचे। वहां सिमंधर तीर्थंकर को युगबाहू वासुदेव पूछतां है प्रभो शौच क्या है? तीर्थंकरदेव बोले सत्य ही शौच है। युग बाहु एकही वचन में सब कुछ समझ गये। नारद भी वह सुनकर अपरविदेह में गये। वहां युगंधर तीर्थंकर को महाबाहु वासुदेव वही प्रश्न कर रहे थे। प्रभु ने भी वहीं उत्तर दिया। महाबाहु भी सब कुछ समझ गये। नारद यह सब कुछ सुनकर द्वारिका में गये और वासुदेव से बोले-तुमने उस दिन कौनसा प्रश्न किया था? वासुदेव बोले शौच क्या है? नारद बोले-सत्य ही शौच है। वासुदेव बोले-सत्य क्या है? नारद इस प्रश्न का उत्तर न दे सके, अतः कुछ चिन्तित हो गये। तब कृष्ण वासुदेव बोले-जहां पहला प्रश्न पूछा था उसके साथ यह भी पूछना था। तब नारद बोले-हां वीर, सचमुच मैंने नहीं पूछा। पश्चात् ऋषि चिन्तन में प्रवृत्त होते हैं और जाति स्मरण पाकर संबुद्ध होते हैं। पश्चात् श्रोतव्य नामक प्रथम अध्याय का प्रवचन देते हैं।

इस प्रकार अध्ययन की भूमिका में शौच को स्थान है और उसके आरंभ में श्रोतव्य की।

श्रवण के बाद आचरण आवश्यक है। अतः अर्हतर्षि आचार के प्रथम अंग अहिंसाव्रत का निरूपण करते हैं।

पाणातिपातं तिविहं तिविहेणं णेव कुज्जा ण कारवे।
पढमं सोयव्व लक्खणं ॥ ३ ॥

अर्थः—त्रिकरण और त्रियोग से हिंसा न स्वतः करना और न अन्य से करवाना यह प्रथम श्रोतव्य लक्षण है।

गुजराती भाषांतरः—

ત્રણ કરણ અને ત્રણ યોગ દ્વારા પોતે હિંસા ન કરવી અને બીજા પાસે પણ ન કરાવવી આ સાંભળવાનું પ્હેલું લક્ષણ છે.

---

१ इसिभासियं पृ. ५५२ (जर्मन) २ खेत में पड़े कनों को चुन चुन कर खाने को उंछवृत्ति कहते हैं।

विशेषः—जिस श्रवण से मनुष्य के अन्तर्मन में दया का झरना न बह उठे अंतर की घनीभूत करुणा का स्रोत फूट न पड़े ऐसा श्रवण करना जीवन में सही उत्क्रांति नहीं ला सकता। श्रवण का पाचन मनन है और मनन का मक्खन अहिंसा है[१]।

प्राणातिपात का निषेध कर यहां अहिंसा का निषेधात्मक रूप लिया है। क्योंकि विभाव को हटना ही स्वभाव की ओर पहला कदम है। मूर्तिकार मूर्ति निर्माण के लिये छीनी और हथौड़ी के द्वारा अनिष्ट अंश को दूर करता है वह अनिष्ट अंश दूर होते ही भव्य मूर्ति आंखों के सामने होगी। अतः विभाव दशा को दूर करना साधक का पहला कदम है। हिंसा समस्त विभावावस्थाओं में निकृष्टतम है। इसी लिये उसका त्रिकरण[२] और त्रियोग[३] से प्रत्याख्यान किया जाता है।

टीकाकार भी बोलते हैंः—प्राणातिपातं त्रिविधं त्रिविधेन कायवाङ्मनोभिरेव चरणकरणत्रिकाभ्यां इति चेन्नैव कुर्यान्न कारयेदिति करणत्रिकस्य प्रथमा द्वितीयांग्योरुक्तत्वात्।"

अर्थात् त्रिविध का अर्थ मन वचन काया से लिया गया है पर करण से मतलब चरण करण नहीं लिया गया है। यहां न करना न करवाना और न करते हुवे को अनुमोदन देना ही ग्राह्य है।

मूसावादं तिविहं तिविहेण णेव बूया ण भासए।
बितियं सोयव्वलक्खणं॥ ४॥

अर्थः—त्रिकरण त्रियोग से (साधक) मिथ्याभाषा न स्वयं बोले, न अन्य से बुलवाये अथवा न मिथ्या उपदेश ही दे। यह दूसरा श्रोतव्य लक्षण है।

गुजराती भाषान्तर:—

ત્રણ કરણ અને ત્રણ યોગો દ્વારા મુનિ મિથ્યા ભાષા પોતે ન બોલે અને બીજા પાસેથી પણ ન બોલવાવે અને ન મિથ્યા ઉપદેશ આપે એ સાંભળવાનું બીજું લક્ષણ છે.

आगम श्रवण के लिये सत्यभाषी होना भी आवश्यक है। मिथ्याभाषी व्यक्ति संतों की आत्मा को परख नहीं सकता न उनके बोल की कीमत ही कर सकता है।

अदत्तादाणं तिविहं तिविहेणं णेव कुज्जा ण कारवे।
ततियं सोयव्वलक्खणं॥ ५॥

अर्थः—साधक त्रिकरण त्रियोग से अदत्तादान का ग्रहण न स्वयं करे, न अन्य से करावे। यह तीसरा श्रोतव्य लक्षण है।

गुजराती भाषान्तरः—

સાધુ પણ ત્રણ કરણ અને ત્રણ યોગો દ્વારા અદત્તાદાન પોતે પણ ગ્રહણ ન કરે વ બીજા પાસે ગ્રહણ ન કરાવે. આ ત્રીજું શ્રોતવ્ય લક્ષણ છે.

सत्य के शोधक को स्तेय वृत्ति से दूर रहना होगा। क्यों कि चोरी की वृत्ति व्यक्ति को विनाश के पथ पर ले जाती है।

अबंभपरिग्गहं तिविहं तिविहेणं णेव कुज्जा ण कारवे।
चउत्थं सोयव्वलक्खणं॥ ६॥

अर्थः—अब्रह्म (काम) और परिग्रह से साधक त्रिकरण त्रियोग से दूर रहे और अन्य व्यक्ति को उसके लिये प्रेरणा भी न दे। यह चौथा श्रोतव्य लक्षण है।

गुजराती भाषान्तरः—

અબ્રહ્મ એટલે વાસના અને પરિગ્રહથી સાધુ ત્રણ કરણ અને ત્રિયોગથી અલગ રહે અને બીજાને પણ એના પ્રેરણા ન દે આ ચોથું શ્રોતવ્ય લક્ષણ છે.

ममत्व और वासना ये दोनोंही भावबन्धन है मुक्ति की ओर कदम बढ़ाने वाले साधक को चाहिये इन सूक्ष्म बंधनों से मुक्त हो।

---

१ एवं खु णाणिणोसारं जं ण हिंसइ किंचणं।" भगवान महावीर २ करना, करवाना और अनुमोदन करना ये त्रिकरण कहलाते हैं।
३ मन, वचन और काया ये त्रियोग है।

चतुर्थ और पंचम व्रत का एक ही पद में निरूपण भ. नेमि की परंपरा को व्यक्त करता है। क्योंकि प्रथम और चरम तीर्थंकर के अतिरिक्त शेष २२ तीर्थंकरों के शासन में चतुर्याम धर्म है। उसमें ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के लिये एक ही शब्द आता है वह है "सव्वाओ बहिद्धाणाओ वेरमणं।"[१]

ये चारों (पांचों) अव्रत माने जाते हैं। साधक को व्रत की मर्यादा में आने के लिये इनका प्रत्याख्यान आवश्यक है। यह प्रत्याख्यान तीन रूप से होता है। मन वाणी और कर्म (काया) से अशुभ प्रवृत्ति न स्वयं करना न अन्य से करवाना न उसका अनुमोदन ही करना। कोई भी कार्य संकल्प के रूप में पहले मन में जन्म लेता है फिर वाणी उसे अभिव्यक्ति देती है और देह उसे आचरण में लाकर मूर्त रूप देता है। त्याग का भी वही क्रम है। त्याग पहले मन में आना चाहिये, क्योंकि अंतर्मनसे, उस पदार्थ के प्रति से आसक्ति हट जाना ही त्याग की भूमि है। फिर वह वाणी और देह में आना चाहिये। पर आज प्रत्याख्यान के संबन्ध में उल्टी गंगा बह रही है। आज त्याग को सब से पहिले तन में प्रश्रय दिया जाता है। तन को पहले बांध दिया जाता है। वचन और मन खुले रहते हैं। यदि मन से उस वस्तु के प्रति आकर्षण समाप्त नहीं होता है तो साधक की स्थिति खुंटे से बंधे उस पशु-सी होती हैं जो हरी घांस देखकर मुंह डालना चाहता है किन्तु खुंटे की रस्सी उसे ऐसा करने से रोकती है।

हां, तो खूंटे से बंधकर किसी वस्तु का त्याग पशु का हो सकता है. मानव का नहीं। ऐसी रस्सी तन की पवित्रता को सुरक्षित रख सकती है, पर मन की पवित्रता को नहीं। केवल तन का बन्धन सही अर्थों में आत्मविकास के लिये पूर्णतः सहायक नहीं हो सकता। तनका बंधन जितना एक कैदी को होता है उतना मुनि भी स्वीकार नहीं करता।

तन को तो नारकभूमि में तेतीस सागर तक बांधकर रखा, सागर[२] के सागर बीत गये तन को जल की एक बूंद न मिली न अन्न का एक दाना ही मिला। वहां तन का त्याग अवश्य था किन्तु मन ने कब त्यागा था? वह तो प्रतिक्षण हजारों गेलन पानी पी रहा था। लाखों टन अनाज एक ही ग्रास में उतार रहा था। पर वह कठोर त्याग भव-परंपरा को कम करने में काम न आसका।

अतः त्याग का आरंभ मन से होना चाहिये फिर वह तन में उतरे। मन से त्यागी हुई वस्तु फिर सहसा शीघ्र अंगीकृत नहीं की जा सकती। ऐसे तो आगम में त्याग के अनेक प्रकार हैं उसमें "एगविहं तिविहेणं, दुविहं तिविहेणं" के रूप में प्रत्याख्यान होते हैं। जिनमें केवल काया अर्थात् देह और वाणीसे कृत कारित और अनुमोदित का प्रत्याख्यान होता है। किन्तु वहां भी साधक के मन में उस वस्तु के प्रति अनासक्ति भाव रहता है। फिर भी असावधानी से मन उसमें प्रवृत्त हो जाए, अतः वह केवल कायिक और वाचिक प्रतिज्ञा लेता है। पर सम्पूर्ण प्रत्याख्यान तो "तिविहं तिविहेणं" से ही होता है।

ये व्रत एकदेशिक नहीं सार्वदेशिक हों। अर्हतर्षि उसी सार्वदेशिक विरति के लिये बोलते हैं—

सव्वं च सव्वहिं चेव सव्वकालं च सव्वहा।
निम्ममत्तं विमुत्तिं च विरतिं चेव सेवते ॥ ७ ॥

अर्थः—साधक समस्त विधियों के साथ सभी प्रकार से सर्वदा सम्पूर्ण निर्ममत्व विमुक्ति और विरति का सेवन करे।

गुजराती भाषान्तरः—

મુનિ સમસ્ત વિધિઓ સાથે બધા પ્રકારે સર્વદા સમ્પૂર્ણ નિર્મમત્વ વિમુક્તિ અને વિરતિનું સેવન કરે.

जिस साधक ने हिंसादि अशुद्ध वृत्तियों का परित्याग कर दिया है। जिसके मन वाणी और कर्म की त्रिवेणी में अहिंसा की पुनीत गंगा बह रही है वह साधक ममत्व के सम्पूर्ण प्रकारों का त्याग कर देता है। चाहे वह ममत्व देहाध्यास को लेकर आया हो या परिवार, संप्रदाय या प्रान्तमोह के रूप में आया हो साधक उसके रूप को पहचाने और उसी क्षण उससे दूर हट जाए। क्योंकि मोह ही प्रगाढ बंधन[३] है। साधक बंधन को पहचाने और उसकी लोहशृंखला को तोड कर दूर हो जाएँ।[४]

सव्वतो विरते दंते सव्वतो परिनिव्वुडे।
सव्वतो विप्पमुक्कप्पा सव्वत्थेसु समं चरे ॥ ८ ॥

---

१ राय पसेणीय सुत्त केशीकुमार श्रमण का श्रावस्ति में प्रवचन। २ जो आयु वर्षों में नहीं गिनी जा सकती ऐसी विशाल आयु का परिमाण दर्शक जैन पारिभाषिक शब्द। ३ नेह पासा भयंकरा। उत्तरा. अ. २३. ४ बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया। कि माह बंधणं वीरो किंवा जाणं तिउट्टइ।' सूय अ. १. गा. १.

अर्थः—साधक सर्वथा विरत दमनशील और परि निर्वृत (शान्त) है। अतः वह सर्वथा बाह्याभ्यन्तर संयोगों से विप्रमुक्त (पृथक्) होकर समस्त अर्थों (पदार्थों) के प्रति सम (विकारात्मक भावों से रहित) होकर चले।

गुजराती भाषान्तरः—

સાધુ સર્વથા વિરક્ત અને દમનશીલ અને પરિનિર્વૃત-શાન્ત છે. માટે તે સર્વથા પ્રકારે બાહ્યાભ્યન્તર સંયોગોનું ત્યાગ કરીને બધા અર્થો (પદાર્થો) ને પ્રતિ સમ (વિકારાત્મક ભાવોથી રહિત થઈને) વિચરે.

मोहबंधनों से ऊपर उठा साधक ही इन्द्रियों का दमन कर सकता है। इन्द्रियोंपर जिसका शासन है वही यथार्थ में शान्त है। उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये साधक बाह्याभ्यंतर उपाधियों से मुक्त हो पदार्थ मात्र के प्रति समभाव का साधक हो सकता है।

दमन का अर्थ मारना नहीं; साधना है। घोड़े को राह पर चलाने के लिये उसे मारने की नहीं, साधने की आवश्यकता है। इन्द्रियों को मारना क्या? मरी तो वे अनंतवार हैं पर उन्हें साधा नहीं गया। अशुभ से मोड़ कर शुभ में ले जाना ही उनको साधना है। ऐसा साधक इच्छित और अनिच्छित सभी स्थितियों में सम रह सकता है। प्रशंसा के फूल उसके मन में गुदगुदी पैदा नहीं करते और निन्दा के शूल चुभन पैदा नहीं कर सकते।

सव्वं सोयव्वमादाय अउयं[1] उवहाणवं।
सव्वदुक्खपहीणे उ सिद्धे भवति णीरए ॥ ९ ॥

अर्थः—समस्त श्रोतव्य को ग्रहण करके साधक प्रशंसनीय उपधानवान बनता है, पश्चात् समस्त दुःखों से मुक्त होकर निःरज हो (कर्म रज से मुक्त हो) सिद्ध होता है।

गुजराती भाषान्तरः—

બધા શ્રોતવ્યોને ગ્રહણ કરીને તે સાધુ પ્રશંસનીય ઉપધાનવાન થાય છે. અને પછી તે બધાં દુઃખોથી મુક્ત થઈને નિઃરજ (કર્મ રજથી રહિત થઈને) સિદ્ધ થાય છે.

जो सुना उसे ग्रहण किया तभी साधक प्रशंसनीय तपस्वी कहलाता है। सुना उसे जीवन में न उतारा तो वह केवल भार होगा। भार में बडप्पन भले हो पर उसमें आनंद नहीं मिल सकता। बोझ चन्दन का हो या बबूल का वह मन को ऊबाता है; आनंद नहीं दे सकता। "गधा चंदन का भारवाहक मात्र है। उसको सौरभ का आनंद उसके भाग्य में कहां? ठीक वैसे चरित्र से हीन ज्ञानी भारवाहक मात्र है[2]।" बात कटु है, पर सत्य अवश्य है। विचारक ने ठीक ही कहा है दो व्यक्ति व्यर्थ ही श्रम करते हैं—एक जो पैसा एकत्रित करता है, पर उसका उपयोग नहीं करता। दूसरा वह जो अध्ययन करता है, पर उसे जीवन में नहीं उतारता। जो सुना उसे ग्रहण करके ही साधक प्रशंसनीय उपधानवान् होता है। दुःख से मुक्त हो सिद्ध स्थिति को प्राप्त करता है।

टि. उपधान एक तप है। "अडयं" को कोई 'अउयं' मानते हैं। अयुत संख्या वाचक है। जो कि यहाँ अभिप्रेत नहीं है। टीकाकार उसको आयं मानकर उसका अर्थ आत्मानं करते हैं।

टीकाः—आयं ति आत्मान इति मन्यामहे. उपधानम् तपस् तत् सेवमान उपधानवान् भवति।

अर्थात् आय का अर्थ आत्मा को इस प्रकार हम मानते हैं। उपधान एक तप है, उसके सेवनकर्ता उपधानवान् होते हैं।

उपधान और उपधानवान् की व्याख्या करते हुए कहते हैं:—

सच्चं चेघोपसेवंति दत्तं चेवोपसेवंति बंभं चेवोपसेवंति।
सच्चं चेवोवधाणवं दत्तं चेवोवधाणवं बंभं चेवोवधाणवं ॥ १० ॥

अर्थः—साधक सत्य की उपासना करता है। दत्त का सेवन करता है, और ब्रह्मचर्य की उपासना करता है। सत्य ही उपधान है। दत्त ही उपधान है और ब्रह्मचर्य ही उपधान है।

गुजराती भाषान्तरः—

સાધક સત્યની ઉપાસના કરે છે. દત્તનું સેવન કરે છે અને બ્રહ્મચર્યની ઉપાસના કરે છે. સત્ય જ ઉપધાન છે. દત્ત જ ઉપધાન છે અને બ્રહ્મચર્ય જ ઉપધાન છે.

---

१ अडयं। २ जहा खरो चंदणभारवा ही भारस्सवाही णहु चंदणस्स। एवं खु णाणी चरणेण हीणो भारस्स वाही ण हु सोग्गईए।

पिछले पद्य में बताया गया है कि साधक उपधानवान् होता है तो प्रश्न होता है उपधान क्या है? क्या अमुक प्रकार के विशेष क्रियाकांड उपधान हैं? या कोई विशिष्ट तप उपधान है? उसका उत्तर यहाँ दिया गया है। साधक सत्य की उपासना करता है। दत्त अर्थात् अन्यद्वारा दी गई वस्तु को ही ग्रहण करता है और ब्रह्मचर्य की साधना करता है। सत्य में अहिंसा का समावेश है और ब्रह्मचर्य में अपरिग्रह अन्तर्भुक्त है। सत्य दत्त और ब्रह्मचर्य ही उपधान है। सत्य तो भगवान है[1]। अस्तेय भी महान व्रत है और ब्रह्मचर्य तो श्रेष्ठतम तप है[2]। सत्य का साधक ही दत्त और ब्रह्मचर्य की उपसेवना कर सकता है। क्योंकि स्तेनवृत्ति और वासना स्वयं असत्य हैं।

महाव्रतों का आराधक ही भवपरंपरा को समाप्त कर सकता है। इसी तथ्य को व्यक्त कर रहे हैं:—

एवं से सिए बुद्धे विरते विपावे दंते दविह्ने अलं।
ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छइ ॥ ११ ॥

अर्थः—इस प्रकार वह साधक बुद्ध विरत निष्पाप दान्त—समर्थ त्यागी अथवा त्रायीरक्षक बनता है और वह पुनः इस लौकिक वृत्ति के लिये संसार में नहीं आता है।

गुजराती भाषान्तरः—

એ પ્રમાણે તે સાધક બુદ્ધ, વિરત, નિષ્પાત, દાન્ત, સમર્થ ત્યાગી અથવા ત્રાયી રક્ષક બને છે. અને તે ફરીથી આ સંસારમાં લૌકિક વૃત્તિમાટે આવતો નથી.

सत्य दत्त (अचौर्य) और ब्रह्मचर्य का व्रती प्रबुद्ध है। भोगों से विरत होता है। निष्पाप और दमनशील होता है। शान्त दान्त साधक ही आत्म रक्षा में समर्थ हो सकता है। वह भव परंपरा के चक्र में पुनः फंसता नहीं है।

टि. दविए का अर्थ द्रव्य अर्थात् साधक है। क्योंकि भावों का वही आश्रय है। हव्वः इस पार (यह संसार) आगम में पाठ "णो हव्वाए णो पारए" आता है जिसका अर्थ है न इस ओर न उस ओर। अलं-समर्थ। आगम में प्रश्न आता है केवली को "अलमत्थु" कह सकते हैं? वहाँ अलं शब्द समर्थ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

टीकाकार भी बोलते हैं:—एवं सबुद्धो विरतो विगतपापो दान्तो द्रव्योऽलं ति समर्थस्त्यागी त्रायी वा न पुनरपि "इच्चत्थं" ति इत्यर्थं लौकिकवृत्त्यर्थं इच्चत्थं ति वा अत्र भावितं समागच्छति समागमिष्यति ब्रवीमीति सर्वेष्वप्य-ध्ययने मुक्तमालापकं प्रथम एव लेखितमलंमिति नारदाध्ययनम्।

अर्थात् इस प्रकार वह बुद्ध विरत विगत पाप दान्त द्रव्य साधक अलं-समर्थ त्यागी अथवा त्रायी रक्षक पुनः इस लौकिक वृत्ति के लिये अथवा इस संसार में नहीं आता है। इस प्रकार मैं (अर्हतर्षि नारद) बोलता हूँ। यह आलापक समस्त अध्ययनों के अन्त में प्रयुक्त होता है। इसी लिये इसको सर्व प्रथम दिया गया है।

[3]प्रोफेसर शुब्रिंग इच्चत्थं के स्थान पर इत्थत्थं पाठ शुद्ध मानते हैं। दशवैकालिक अ. ९ उ. ४ गा. ७ में इत्थत्थं पाठ आता है[4]।

इति प्रथम नारदाध्ययनम् ॥

---

१ तं सच्चं भगवं—प्रश्न व्याकरण। २ तवेसु वा उत्तम बंभचेरं—वीरस्तुत सूत्रकृतांग। ३ जाइ मरणाओ मुच्चइ इत्थत्थं चयइ सव्वसो। ४ इसिभासियं जर्मन संस्करण पृ. ५५२।

द्वितीय अध्याय

आत्मा दुःख से बचना चाहता है पर दुःख के कारणों से नहीं बचता। अतः वह नहीं चाहते हुए भी पुनः उसी ओर जा पहुंचता है। दो वृत्तियाँ हैं – एक है श्वान की, दूसरी शेर की। श्वान पत्थर मारनेवाले को नहीं, पत्थर को काटता है जब कि शेर गोली खाकर गोली पर नहीं, गोली मारनेवाले पर झपटता है। बस ये दोही वृत्तियाँ सर्वत्र काम कर रही हैं। एक अज्ञानी की वृत्ति है, वह दुःख के निमित्तों पर आक्रोश करता है, जब कि ज्ञानी दुःख के मूल पर प्रहार करता है। इसी तथ्य को द्वितीय अध्याय में वज्जिय पुत्र अर्हतर्षि मार्मिक रूप में व्यक्त करते हैं :–

जस्स भीता पलायंति जीवा कम्माणुगामिणो।
तमेवादाय गच्छंति किच्चा दिन्ना व वाहिणी ॥ १ ॥
वज्जियपुत्तेण अरहता इसीण बुइयं।

अर्थः—कर्मानुगामी आत्मा जिस दुःख से भीत होकर पलायन करता है किन्तु अज्ञान वश पुनः उसी (दुःख) को ग्रहण करते हैं। जैसे कि युद्ध से भगती हुई सेना पुनः शत्रु के घेरे में फंस जाती है वज्जिय पुत्र अर्हतार्षि ऐसा बोले —

गुजराती भाषान्तरः—

કર્માનુગામી આત્મા જે દુઃખથી બીને ભાગી જાય છે. પરંતુ અજ્ઞાનને વશ થયેલા તેને (દુઃખ) ગ્રહણ કરે છે. જે પ્રમાણે યુદ્ધથી ભાગતી સેના ફરીથી શત્રના ઘેરામાં ફસાઈ જાય છે. વજ્જીય પુત્ર અર્હતર્ષિ આમ બોલ્યા.

जन साधारण दुःख से बचना चाहता है किन्तु दुःख के कारणों का परित्याग नहीं करता। वह धूप से बचना चाहता है, किन्तु सूर्य का मोह भी उससे छूटता नहीं है। जब तक कारण उपस्थित है तब तक कार्य परंपरा चालू रहेगी। अनादि से भटका हुआ आत्मा कार्य नहीं, चाहता पर कारण छोडता नहीं है। परिणाम यह होता है कि घूम फिर कर वह पुनः दुःख के सामने ही पहुँच जाता है। जैसे कि शत्रुद्वारा विदीर्ण सेना युद्ध से भाग खडी होती है। किन्तु कभी कभी ऐसा होता है कि जिससे भागना चाहती उसी शत्रु सेना के चंगुल में पुनः फंस जाती है। तर्कशास्त्र में इसे कहा जाता है आयातं घटकुट्यां प्रभातः। एक व्यापारी द्रव्य अर्जित कर पुनः स्वदेश लौट रहा था। वह द्रव्य का कर चुकाना नहीं चाहता था। अतः उसने राजमार्ग छोड दिया और सारी रात इधर उधर घूमता रहा। प्रातः हुआ और घर की सीधी राह ली, किन्तु ज्योंही आगे बढा वहीं नाका मिल गया। जिससे बचने के लिये सारी रात जंगल की खाक छानता रहा, प्रातः वहीं आ पहुंचा। ऐसे ही आत्मा जिस दुःख से बचने के लिये भागता है उसीके सम्मुख जा पहुँचता है।

टीकाकार बोलते हैंः—यस्मात् पापकृत्यात् पापकर्मणो भीताः पलायन्ते दीर्णेव वाहिणी–सेना, तमेवादाय जीवाः कर्मानुगामिनो भवन्तीत्यस्य लोकस्य द्वितीयचतुर्थपादयोरपरिहार्यो विनिमयः।"

जिस पाप कृत्य से भीत आत्मा पलायन करती है किन्तु छिन्न भिन्न सेना की भाँति उसी को ग्रहण करके आत्मा कर्मानुगामी होते हैं। इस श्लोक के दूसरे और चतुर्थ पाद का अपरिहार्य विनिमय है।

दुःख और उसके कारणों की विस्तृत व्याख्या अर्हतार्षि दे रहे हैं :—

दुक्खा परिवित्तसंति पाणा मरणा जम्मभया य सव्वसत्ता।
तस्सोवसमं गवेसमाणा अप्पे आरंभभीरुए ण सत्ते ॥ २ ॥

अर्थः—प्राणी दुःख से परित्रसित हैं। मौत और जिन्दगी के भय से समस्त आत्माएँ प्रकंपित हैं। वे दुःख के उपशमन की खोज में हैं (पर उसके कारण भूत) आरंभ से अल्प भी नहीं डरते।

गुजराती भाषान्तरः—

પ્રાણીમાત્ર દુઃખથી ત્રાસી ગયેલા છે. મૌત અને જિન્દગીના ભયથી સમસ્ત આત્માઓ ત્રાસેલા (કમ્પાયમાન થયેલા) છે. તે દુઃખના નિવારણની શોધમાં છે. (પરંતુ તેના કારણભૂત) આરંભથી જરાપણ ડરતા નથી.

प्रस्तुत गाथा में अर्हतार्षि जीवन के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहे हैं वे हैं दुःख और उसके कारणों की खोज। समस्त आत्माएँ दुःख की उपशान्ति खोज रही हैं। अनंत युग बीते उसका लक्ष्य है अशान्ति से हटकर शान्तिकी

ओर जाना किन्तु लगता है, उसने नागरबेल की जगह भूल से नागफनी का पान खा लिया है । इसीलिये दुःख की परम्परा मौजूद है । उसका पुरुषार्थ पानी विलोडन मात्र रहा है । इसका कारण है वह दुःख के बाहरी कारणों से बचता है, किन्तु उसके उपादान से चिपटा रहता हैं । अशान्ति का मूल है आरंभ; सुख के लिये वह आरंभ करता है, किन्तु आरंभ ही अशान्ति की जड है । वह फल से घृणा करता है जब कि फूल से प्यार करता है ।

कर्मवाद का प्रतिपादन करते हुए बोलते हैं :—

गच्छंति कम्मेहिं सेऽणुबद्धे पुणरवि आयाति से सयं कडेणं ।
जम्ममरणाइ अट्टो पुणरवि आयाइ से सकम्म सित्ते ॥ ३ ॥

अर्थः—आत्मा स्वकृत कर्मों से अनुबद्ध होकर (परलोक) गमन करता है । अपने ही कर्मों के द्वारा पुनः इस संसार में आता है । इस प्रकार वह आर्त आत्मा स्वकर्म से सिक्त सिंचित जन्म और मृत्युकी परंपरा में आता है । (फंसता है)

गुजराती भाषान्तरः—

આત્મા પોતે કરેલા કર્મોથી બંધાઈને (પરલોકમાં) જાય છે. પોતાના જ કર્મોદ્વારા ફરી પાછો તે આ સંસારમાં આવે છે. એ પ્રમાણે તે આર્ત આત્મા પોતાના કર્મને લીધે જન્મ અને મૃત્યુની પરંપરામાં આવી જાય છે. (ફસાઈ જાય છે.)

जन्म-मृत्यु की परंपरा का मूल क्या है और इसका उत्तरदायित्व किस पर है इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत गाथा में दिया गया है । जन्म और मृत्यु के लिये तू स्वयं उत्तरदायी है । तेरे शुभ और अशुभ कर्म ही जन्म और मृत्यु के बीज हैं । कर्म का अनुबन्ध भव परंपरा में परिभ्रमण कराता है । नरक और स्वर्ग का निर्माता तू स्वयं है[१] ।

आत्मा की अशुभवृत्तियाँ भावकर्म हैं, वे ही द्रव्य कर्म को एकत्रित करती हैं । सूर्य स्वयं अपनी किरणों द्वारा बादलों का निर्माण करता है और स्वयं ही किरणों द्वारा उन्हें द्रवित कर स्वयं उनसे मुक्त होता है । कर्मवाद का सिद्धान्त हमारी बहिर्दृष्टि को मोडकर अन्तर की ओर लाता है । अपनी स्थिति के लिये तूं स्वयं उत्तरदायी है । इंग्लिश का विचारक बोलता है:—

It is our own past which has made us what we are. We are the children of our deeds.

आज हम जो कुछ हैं-हमारे अतीत ने हमको बनाया है । हम अपने कार्यों के बालक हैं ।

कर्मवाद मानव को अन्तरभिमुख बनाता है । जो कुछ बनता और बिगडता है उसके लिये उत्तरदायी में स्वयं हूँ । फिर दूसरे पर रोष और दोष क्यों ? पेन्सिल छीलते अपने ही हाथों चाकू ने पेन्सिल के साथ अंगुली छिल डाली तो दूसरों से लडने भिडने की कोई मूर्खता न करेगा । कर्मवाद बोलता है, विपत्ति को एक दिन तूने ही निमंत्रण दिया था । आज वह आई है, तो उससे भागने की और आक्रोश की कोई आवश्यकता नहीं है । तेरे अशुभ का उदय है । उसे कोई रोक नहीं सकता । विपत्ति के लिये किसी को दोष न दे । संपत्ति के लिये किसी से भीख न मांग । तेरे शुभ का उदय होगा तो बिना माँगे मिलके रहेगी । कर्मवाद कहता है मानव सब कुछ तेरे हाथ है । दूसरा तो केवल निमित्त मात्र है ॥

---

१ भगवती सूत्र में इस प्रश्न की चर्चा है । प्र. सयं भन्ते ! नेरईया नेरईयेसु उववज्जंति असयं भन्ते नेरईया नेरईऐसु उववज्जति ? उ. गांगेय ! सयं नेरईया नेरईएसु उववज्जंति नो असयं नेरईया नेरईएसु उववज्जन्ति । प्र. से केणट्ठेणं भन्ते एवं वुच्चई जाव उववज्जन्ति । उ. कम्मोदपणं, कम्म गुरुत्तयाए कम्मभारियत्तयाए, कम्म गुरुसंभारियत्तयाए, असुभाणं कम्माणं उदयेणं, असुभाणं कम्माणं विवागेणं, असुभाणं कम्माणं फल विवागेणं सयं नेरईया जाव उववज्जन्ति नो असयं नेरईया नेरईएसु जाव उववज्जन्ति से तेणट्ठेणं गांगेया ! जावउववज्जन्ति । भगवती सूत्र श. ९-३२ सू. ३७७.

गांगेय अणगार प्रश्न करते हैं:-प्रभो नारक जीव नरक में स्वयं उत्पन्न होते हैं या दूसरा उन्हें वहाँ उत्पन्न करता है ? प्रभु ने उत्तर दिया गांगेय नारक स्वयं ही नरक में उत्पन्न होते हैं । दूसरा उन्हें कोई वहाँ उत्पन्न नहीं कर सकता । प्रतिप्रश्न करते हुये गांगेय अणगार बोले-प्रभो ! आप किस अपेक्षा विशेष से ऐसा फरमारहे हैं ? उत्तर-कर्म के उदय से, कर्म से भारी होनेके कारण, अशुभ कर्म के विपाकोदय और फलोदय से आत्मा नरक में उत्पन्न होता है । अतः ऐसा कहा जाता है कि नरक स्वयं ही नरक में उत्पन्न होता है ।

भगवती श. ९. ३२ सू. ३७७.

आत्मा के परिभ्रमण के मूल हेतु कर्म हैं। यह स्वीकार लेनेके बाद कर्मवादियों के सामने दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है- कर्म पहले या आत्मा? यदि आत्मा पहले था तो उस कर्मरहित आत्मा ने कर्म क्यों ग्रहण किये? और यदि कर्म पहले थे तो दूर पडे कर्म आत्मा से क्यों और कैसे चिपक गये? इसी प्रश्न का समाधान निम्न दो गाथाओं में दिया गया है-

बीया अंकुरणिप्फत्ती अंकुरातो पुणो बीयं।
बीए संवुज्झज्जमाणम्मि अंकुरस्सेव संपदा ॥ ४ ॥
बीयभूताणि कम्माणि संसारम्मि अणादिए।
मोहमोहितचित्तस्स ततो कम्माण संतति ॥ ५ ॥

अर्थः—बीज से अंकुर फूटता है, और अंकुरों में से बीज निकलते हैं। बीजों के संयोग से अंकुरों की संपत्ति बढती है। अनादि संसार में कर्म बीजवत् हैं। मोह-मोहित चित्तवाले के लिये उन बीजों से कर्मसंतति आगे बढती है।

गुजराती भाषान्तरः—

બીજમાંથી અંકુર ફૂટે છે અને અંકુરમાંથી બીજ નીકળે છે. બીજોનાં સંયોગથી અંકુરોની સંપત્તિ વધે છે. અનાદિ સંસારમાં કર્મ બીજ સમાન છે. મોહથી મોહિત થાય તેવા ચિત્તવાળા માટે તે બીજોથી કર્મ સંતતિ આગળ વધે છે.

बीज में विराट वृक्ष समाया हुवा है। अनुकूल वातावरण पाकर बीज एक दिन विशाल वृक्ष बनता है जो कि अपने में हजारों नये बीज छिपाये रहता है। वज्जियपुत्त अर्हतर्षिने कर्म को भी नन्हें बीजों से उपमित किया है। अल्प रूप में आये हुए कर्म भी अपने में अनंत संसार लिये आते हैं। भाव-कर्म से द्रव्य कर्म के दलिक एकत्रित होते हैं और द्रव्य कर्म पुनः भाव कर्मों को स्पंदित करते हैं। आत्मा के राग द्वेषात्मक स्पंदन भावकर्म है और कर्माण-वर्गणा के पुद्गल द्रव्य कर्म हैं। भाव कर्म से प्रेरित हो आत्मा द्रव्य कर्म को अपनी ओर आकर्षित करता है। वे ही कर्म जब विपाक रूप में उदय में आते हैं तो किसी निमित्त का आश्रय लेकर ही आते हैं। अज्ञानी आत्मा उस निमित्त को ही सब कुछ मानकर उसी पर अपना रोष ठेलता है। इसलिये वह उदयगत कर्मों को क्षय कर करने के साथ राग द्वेष की परिणति के द्वारा अनंत अनंत कर्मों को उसी क्षण बांध भी लेता है। यही है बीज और वृक्ष की कार्यकारण परंपरा और उसकी उपमा का रहस्य। इसी कार्य-कारण परंपरा से बंधकर आत्मा और कर्म दोनों विरोद्धस्वभावी होनेपर भी अनादि के सह-यात्री हैं।

कर्म-विमुक्ति के लिये साधक क्या करे यही बता रहे हैं—

मूलसेके फलुप्पत्ती मूलघाते हतं फलं।
फलत्थी सिंचते मूलं फलघाती न सिंचति ॥ ६ ॥

अर्थः— जड़ का सिंचन करने पर फल पैदा होगा और मूल के नष्ट हो जाने पर फल स्वतः नष्ट हो जाएगा। फलार्थी जड को सींचता है, फल न चाहने वाला मूल का सींचन नहीं करता।

गुजराती भाषान्तरः—

જડનું સિંચન કરવાથી ફળ ઉત્પન્ન થશે અને મૂળના નાશથી ફળ તરતજ નાશ પામશે. ફલાર્થી જડનું સિંચન કરે છે. ફળ ન ચાહનારા મૂળનું સિંચન કરતા નથી.

वासना की विष-वेल के सुख और दुःख से दो फल हैं। यदि जड को सींचन मिलता गया तो फल फूटते रहेंगे। फल को नष्ट करना है तो उसकी जड को समाप्त करना होगा।

मोहमूलमनिव्वाणं संसारे सव्वदेहिणं।
मोहमूलाणि दुक्खाणि मोहमूलं च जम्मणं ॥ ७ ॥

अर्थः—संसार के समस्त प्राणियों के अनिर्वाण-अशान्ति और परिभ्रमण का मूल मोह है। समस्त दुःखों की जड में मोह काम कर रहा है और जन्म का मूल भी मोह ही है।

गुजराती भाषान्तरः—

સંસારના સમસ્ત પ્રાણીઓના અનિર્વાણ-અશાન્તિ અને પરિભ્રમણનું મૂળ મોહ છે. સમસ્ત દુ:ખોનાં જડમાં (મૂળમાં) મોહ કામ કરી રહ્યો છે અને જન્મનું મૂળ પણ મોહ જ છે.

आत्मा ज्ञान चेतनामय है। कोई भी पदार्थ उसके सामने आते हैं तो वह देखता भी है। देखना कोई बन्ध का कारण भी नहीं है। क्योंकि ज्ञाता और द्रष्टा रूप आत्मा का अपना स्वभाव है। आत्मा न देखेगा तो क्या पत्थर देखेगा? ज्ञान-चेतना पाप की हेतु नहीं हुआ करती। पाप हेतुक तो है राग चेतना। किसी उद्यान में गये महकते फूल देखे यहां तक तो ठीक है, किन्तु देखने के साथ बोल पडे कितने अच्छे हैं। "अच्छे हैं" कहने के साथ ही राग चेतना आगई। मन बोल पडा-"अच्छे हैं तो लेलो।" यहीं राग चेतना वासना में परिणत हो गई। किन्तु सोचा माली आजाए तो पैसे देकर लेलें, यहां तक वासना नीति की सीमा रेखा में है, किन्तु देखा माली न जाने कब आये और क्यों पैसे खर्च किये जाएं, ऐसे ही ले लिये जाएं। यहां वासना नीति की सीमा लांघ गई। मन में वासना घुसी; हाथ आगे बढे और कुछ फूल लेकर चलना चाहते थे कि मन बोल पड़ा थोडे पुत्र के लिये भी ले चलें। यहां वासना लोभ में रंग गई। तभी माली ने हाथ पकडा और चोरी के अपराध में पकडा गया। यही दुःख है। जहां मोह है वहां दुःख अवश्यंभावी है[1]।

दुःख के मूल को खोज कर उसे ही समाप्त करना होगा :—

दुःखमूलं च संसारे अण्णाणेण समज्जितं।
मिगारिव्व सरूप्पत्ती हण कम्माणि मूलतो ॥ ८ ॥
एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलंताती।
णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति-त्ति बेमि ॥ ९ ॥
इह बिइयं वज्जियपुत्तज्झयणं ॥

अर्थ :—इस दुःख मूलक संसार में (आत्मा) अज्ञान के द्वारा डूबा हुआ है। जैसे सिंह बाण के उत्पत्ति स्थल को देखता है ऐसे तूं दुःखोत्पत्ति के कारणभूत कर्मों के समूल नष्ट कर। ऐसा सिद्धबुद्ध आत्मा संसार में पुनः नहीं आता[2]।

गुजराती भाषान्तरः—

આ દુઃખી સંસારમાં (આત્મા) અજ્ઞાનને લીધે ડૂબેલો છે. જેવી રીતે સિંહ બાણનું ઉત્પત્તિ સ્થાન જૂએ છે તેજ પ્રમાણે તું કર્મો, કે જે દુઃખો ઉત્પન્ન કરવામાં કારણભૂત છે તેનો સંપૂર્ણ નાશ કર. સિદ્ધબુદ્ધ આત્મા સંસારમાં ફરીથી આવતો નથી.

संसार दुःखमूलक है तो फिर आत्मा इसमें क्यों पडा हुआ है? और दुःखनाश का उपाय क्या है इन दो विषयों की चर्चा इस गाथा में की गई है।

कडुवे नीम के पत्ते भी विषयग्रस्त मानव को मीठे लगते हैं। आत्मा को दुनिया के दुःखभरे तत्त्वों में सुख का आभास होता है। यदि गाय की आंखों पर हरा चश्मा लगा दिया जाय तो उसे सूखी घांस भी हरी दिखाई देगी। यही तो अज्ञान है और दुःख में सुख की अभिनिवेशात्मक बुद्धि ही संसार-संसृति का मूल हेतु है। इसी पाश में बंधकर आत्मा संसार का मोह छोड नहीं सकता। साधक कुत्ते की नहीं, सिंह की वृत्ति अपनाए। कुत्ता पत्थर को काटने दौडता है किन्तु सिंह पर बाण छोडा गया तो वह बाण के उद्‌गम स्थल को ही अपने वार का लक्ष्य बनाता है। इसी प्रकार साधक दुःख को नष्ट करने के लिये दुःख के मूलहेतु कर्म को ही समूल नष्ट करदे ऐसे तो आत्मा कर्मों को प्रतिक्षण नष्ट कर रहा है, किन्तु वह उसकी जड़ को समाप्त नहीं करता। कर्म-बन्ध के मूल हेतु राग और द्वेष को समाप्त कर के ही आत्मा कर्म और उसके फल दुःख को समाप्त कर सकता है।

॥ इति द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

---

१ दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो। उत्तरा. अ. ३२।७. २ विशेष देखिये। प्रथम अध्याय का अन्तिम गद्यांश।

तृतीय अध्ययन.

आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगति करने का है फिर वह कभी निम्न और कभी तिर्यग् गति क्यों करता है? इस प्रश्न का समाधान ज्ञाता धर्मकथांग सूत्र में किया गया है। तुं बे का स्वभाव है जल में तैरना किन्तु उसे धागों से बांध कर और मिट्टी के आठ लेप लगा कर पानी में डाला जाए तो वह नीचे बैंठेगा। आत्मा भी लेप से आवेष्टित है। इसी लिये तो निम्न और तिर्यग् गति करता है, लेप क्या है और आत्मा लेप से उपरत कैसे हो सकता है प्रस्तुत अध्याय में इसी की चर्चा है।

भविदव्वं खलु भो सव्वलेवोवरत्तेणं लेवोवलित्ता खलु भो जीवा अणेगजम्मजोणीभयावत्तं अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चातुरंतं संसारसागरं वीतीकंता सिवमतुलमयलमव्वाबाहमपुणब्भवमपुणरावत्तं सासतं ठाणमब्भुवगता चिट्ठंति।"

अर्थ:-(मुमुक्षु आत्मा को)समस्त लेपों से उपरत होना चाहिये। लेपोपलिप्त आत्माएं अनेक जन्म-योनियों से भयाव्रत अनादि अनवदग्र सुदीर्घकाल भावी चातुरन्त संसार सागर को पार करके शिव अचल अतुल अव्याबाध पुनर्भव और पुनरागमन से रहित शाश्वत स्थान को प्राप्त कर लेती हैं।

(મુમુક્ષુ આત્માને) બધા આવરણોથી દૂર રહેવું જોઈએ. અનાવરણ આત્માઓ અનેક જન્મોથી ભયાવૃત અનાદિ અનવદગ્ર, સુદીર્ઘ-કાલભાવી ચતુરન્ત સાગરને પાર ઉતરીને શિવ, અચલ, અતુલ, અવ્યાબાધ પુનર્જન્મ અને પુનરાગમનથી રહિત શાશ્વત સ્થાનને (મોક્ષ) પ્રાપ્ત કરી લે છે.

देवल अर्हतर्षि साधक को लेपोपरत होने की प्रेरणा दे रहे हैं। साथ ही लेपोपलिप्त आत्मा की शुद्ध स्थिति भी बताई गई है (जो कि विचारणीय है।) आत्मा की विभाव परिणति उसका भाव लेप है और उसके द्वारा आकर्षित कर्म द्रव्य-लेप है। दोनों लेपों से उपरत आत्मा स्वभाव में उपस्थित हो सकती है। प्रारंभ के छः विशेषण संसार की भयानकता व्यक्त करते हैं। जो कि औपपातिक सूत्र में वर्णित संसार स्वभाव के चित्रण से मिलते जुलते हैं। अन्तिम सात विशेषण स्वभाव में स्थित आत्मा के हैं। ठाणं शब्द ऐसे तो सिद्ध शिला के लिये प्रयुक्त होता है, किन्तु ये समस्त विशेषण सिद्ध शिला के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकते। क्योंकि सिद्धशिलागत जीवों में पुनर्भव भी है और पुनरावृत्ति भी है। किन्तु सिद्धात्मा में इसका अभाव है। अतः स्थूल रूप में ये विशेषण सिद्धस्थान को लागू हों, किन्तु वस्तुतः ये सिद्ध प्रभु के ही विशेषण हैं।

शक्रस्तव में भी यह विशेषणावली मिलती है। किन्तु प्रस्तुत पाठ में अपुणब्भव विशेषण विशेष है। वहाँ 'अरुय' पाठ है, जिसका अर्थ है अरुज रोगाभाव जब कि यहाँ अतुल शब्द है जो कि अतुलित के अर्थ में है। अणंत अक्खय विशेषण शक्रस्तव में विशेष हैं।

कुछ क्लिष्ट विशेषण के अर्थ इस प्रकार है:—

अणवदग्ग–अनवदग्र–अनंत, छोररहित।

अव्याबाध–व्याबाधा रहित.

अपुनर्भव–जहाँ जाने के बाद भवपरंपरा समाप्त हो जाती है।

टीकाकार बोलते हैं:—लेपः कर्म कषायो वा, भवितव्यं खलु सर्वलेपोपरतेन। लेपोपलिप्ताः खलु भो जीवाः अनवदग्रं दीर्घाध्वानं चातुरंतं संसारसागरं अनुपरिवर्तन्त इत्यादि अनेकशब्दा लुप्ताः।

"लेपोपरतास्तु संसारं व्यतिक्रांता जीवा शिवेत्यादि विशिष्टं स्थानं अभ्युपगतास्तिष्ठन्ति।"

अर्थात् संसार के कुछ विशेषण लुप्त हो चुके हैं। शेष का अर्थ ऊपर आ चुका है।

टिप्पणी:-प्रो. शुब्रिंग लिखते हैं:-"किसी भी प्रकार का अपराध (लेप) आत्मापर धब्बा लगाता है। अतः उससे दूर रहना चाहिये। यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु आगे बताया गया है, दागलगा हुआ आत्मा (लेपोपलिप्त) दुनिया को जीतता है। यह विरोधाभास है।" वास्तव में ये समस्त विशेषण लेप से उपरत आत्मा को लागू होते हैं। टीकाकार ने भी इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है। अतः लेवोवलित्ता के स्थान पर लेवोवरता पाठ होना चाहिये। अथवा नवम अध्याय की भाँति बताना चाहिये था कि लेपोपलिप्त आत्मा अनादि अनंत संसार में परिभ्रमण करता है और लेपोपरत आत्मा संसार का अन्त करता है।

लेपोपरत साधक का जीवन चित्र देते हुए आहितर्षि बोलते हैं :—

से भवति सव्वकामविरत्ते, सव्वसंगातीते सव्वसिणेहतिक्कंते सव्ववीरियनिव्वुडे[1] सव्वकोहोवरत्ते सव्वमाणोवरत्ते। सव्वमायोवरत्ते, सव्वलोभोवरत्ते, सव्ववासादाणोवरत्ते, सुसव्वसंवुडे, सुसव्व-सव्वोवरत्ते, सुसव्वसव्वोवरत्ते, सुसव्वसव्वोवसंते, सुसव्वपरिवुडे, णो कत्थइ संज्जति[2] तम्हा सव्वलेवोवरए भविस्सामि त्ति कट्टु असिएणं दविलेणं अरहता इसिणा वुइयं :—

अर्थ :—लेपोपरत आत्मा समस्त वासनाओं से विरक्त होता है। सर्व संग तथा सर्व स्नेह से विरक्त होता है। साथ ही वह समस्त (अशुभ) शक्ति से निवृत्त हो क्रोध मान माया और लोभ के समस्त प्रकारों से दूर रहता है। समस्त वासा दान—वस्त्रग्रहण से उपरत हो श्रेष्ठ रूप में सभी (सावद्य प्रवृत्तियों) से संवृत्त हो श्रेष्ठ रूप में सभी (वासनाओं से, सर्वोपरत हो) सभी स्थानों में (अन्तर और बाह्य के) सभी रूपों में (श्रेष्ठ) उपशान्त होता है। साथ ही वह सभी प्रकार से परिवृत व्याप्त हो (सभी के बीच रहता है)। फिर भी कहीं पर भी वह आसक्त नहीं होता। अतः मैं सभी लेपों से उपरत होऊंगा। इस प्रकार असित दविल अर्हतर्षि बोले :—

કર્મરૂપ લેપથી રહિત આત્મા સમસ્ત વાસનાઓથી વિરક્ત હોય છે. સર્વ સંગ તથા સર્વ સ્નેહથી વિરક્ત હોય છે. સાથે સાથે તે સમસ્ત (અશુભ) શક્તિથી નિવૃત્ત થઈને, ક્રોધ, માન, માયા અને લોભના સમસ્ત પ્રકારોથી દૂર રહે છે. સમસ્ત વાસા દાન—વસ્ત્રગ્રહણથી અલગ રહીને શ્રેષ્ઠ રૂપમાં બધી (સાવદ્ય પ્રવૃત્તિઓ) થી સંવૃત થઈને શ્રેષ્ઠ રૂપમાં બધી (વાસનાઓથી) દૂર રહીને બધે સ્થળે (અન્તર અને બાહ્યના) બધા રૂપોમાં ઉત્તમ હોય છે, સાથે સાથે તે બધી પ્રવૃત્તિઓથી વ્યાપ્ત હોવા છતાં (બધાની વચ્ચે રહે છે), પણ તે ક્યાંય પણ આસક્તિ પામતો નથી. તેથી હું સર્વ આવરણોથી દૂર રહીશ. (ઉપરત થઈશ) આ પ્રમાણે અસિત દવિલ અર્હતર્ષિ બોલ્યા :—

लेपोपरत आत्मा की स्थिति इसमें बताई गई है। वह वासना और उसके निमित्त सभी से पृथक् हो जाता है। इन्द्रियाँ और मन की समस्त प्रवृत्तियों को आश्रव से मोड़ कर उनका संवरण करता है। साथ ही वह जड और चैतन्य के सभी संग का त्याग कर निस्संग होता है। क्योंकि निस्संगता का अपर पर्याय मुक्ति है[3]। निःसंग आत्मा फिर भले प्रासाद में रहे या उपवन में रहे, परिवार से वेष्टित रहे या अकेला विचरण करे। वह कहीं पर भी आसक्त नहीं होता। क्यों कि उसकी आत्मा उपशान्त है।

टि. वासादाणः—वास के निवास अथवा वस्त्र[4] दोनों ही अर्थ हैं। अपेक्षा भेद से दोनों ही स्वीकृत हो सकते हैं।

वास—निवास स्थान के आदान से उपरत हो जाता अर्थात् उसे रहने के लिये प्रासादों की आवश्यकता नहीं है। अथवा वास-वस्त्र के आदान की उसे आवश्यकता नहीं रहती। वह स्थविर कल्प से जिनकल्प को ग्रहण करता है। अतः उसे वस्त्र लेने की भी आवश्यकता नहीं है।

लेप क्या है? उसे बताते हुये बोलते हैं :—

सुहुमेय बायरे वा पाणे जो तु विहिंसइ।
रागदोसाभिभूतप्पा लिप्पते पावकम्मुणा ॥ १ ॥

अर्थः—राग द्वेष से अभिभूत आत्मा सूक्ष्म या स्थूल किसी प्रकार की हिंसा करता है वह पाप कर्म से लिप्त होता है।

રાગ-દ્વેષથી લપટાયેલો આત્મા સૂક્ષ્મ કે સ્થૂળ–કોઈ પણ પ્રકારની હિંસા કરે છે તે પાપ કર્મથી લિપ્ત હોય છે.

प्रस्तुत गाथा में कुछ प्रश्नों का समाधान दिया गया है। लेप क्या है और उसमें आत्मा लिप्त कैसे होता है। जब तक राग और द्वेष की परिणति है तब तक हिंसा रहेगी ही। इस से एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निकल आता है। राग ही हिंसा का अनुबन्धक है। क्योंकि राग के हट जाने के बाद हिंसा का बन्ध नहीं होता। इसी लिये १० वें गुणस्थान से ऊपर

---

१. सव्ववीरिय परिनिव्वुडे. २ रज्जति. ३ निस्संगता मुक्तिपदं यतीनां संगादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः। आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः संगेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥ ४ अर्धमागधीकोष पृ. ३८२ शतावधानी रत्नचन्द्रजीम.

केवल ऐर्यापथिक क्रिया है। तत्वार्थसूत्रकार प्रमत्त योग को ही हिंसा बताते हैं[1]। प्रमत्त योग के हटते ही राग की बन्धक शक्ति समाप्त हो जाती है।

दूसरा लेप बताते हैं :—

परिग्गहं गिण्हते जो उ अप्पं वा जति वा बहुं।
गेही मुच्छायदोसेणं लिप्पते पावकम्मुणा ॥ २ ॥

अर्थः—जो साधक, अल्प या बहुत परिग्रह ग्रहण करता है, वह गृहस्थों में ममत्वशील होता है? वही दोष उसे पापकर्मों में लिप्त करता है।

જે સાધક અલ્પ અથવા વધારે પરિગ્રહ રાખે છે, તે ગૃહસ્થોમાં મમતા પણ રાખે છે. તે જ દોષ (મમતા) તેને પાપકર્મોમાં લપેટે છે.

आत्मा को कर्म से लिप्त करनेवाली दूसरी वृत्ति परिग्रह है। पदार्थ के प्रति ममत्व ही परिग्रह[2] है। पदार्थों के प्रति की आसक्ति उसे गृहस्थों के परिचय के लिये प्रेरित करती है। वह उन्हें ममत्व के पाश में बांध कर उनसे धन संग्रह करता है। मैं और मेरापन ही सब से बड़ा पाप है।

कोहो जो उ उदीरेइ अप्पणो वा परस्स वा।
तं निमित्ताणुबंधेणं लिप्पते पावकम्मणा ॥ ३ ॥
एवं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं।

अन्वयार्थ :—जो अपने या दूसरे के (सुप्त) क्रोध को पुनः जगाता है, उस निमित्त के अनुबन्ध से आत्मा पाप कर्म से लिप्त होता है।

ऐसे ही मिथ्यादर्शनशल्य तक जो पापकर्म हैं वे आत्मा के लिये लेपवत् हैं।

જે પોતાના અથવા બીજાના (સુપ્ત) ક્રોધને ફરીથી જગાવે છે, તે આત્મા તે નિમિત્તથી બંધાઈને પાપ કર્મમાં લિપ્ત થાય છે તે જ પ્રમાણે યાવત્ મિથ્યા દર્શન શલ્ય સુધી જે પાપકર્મો છે તે આત્મા માટે લેપવત્ (આવરણ સમાન) છે.

जबतक कषाय पर संपूर्ण विजय प्राप्त नहीं हुआ है, तब तक कभी कभी क्रोध का उदय हो आना सहज है। आग लगने पर फायर ब्रिगेड याद आता है, ऐसे क्रोध की ज्वाला सुलगने पर क्षमा के साधकों को स्मृति पथ में लायें और उनके शान्त जीवन के शीतल कणों से क्रोध को उपशान्त करें। यह है क्रोधोपशमन की विधि किन्तु कषाय शील आत्मा कभी कभी इससे विपरीत आचरण करता है। वह क्रोध पैदा करनेवाली भूली बातों को फिरसे स्मरण करता है और सुप्त क्रोध को जागृत करता है। दूसरे को वैर याद दिलाकर उसके दिल की सोई आग को जगा देता है। इस प्रक्रिया से आत्मा अहर्निश कषाय में जल ही रहती है।

उदीर्णा जैन पारिभाषिक शब्द है। जो कर्म देर से उदय में आने वाले हों उन्हें विशेष प्रक्रियाद्वारा शीघ्र उदय में ले आना उदीर्णा कहलाता है। ऐसे ही उपशमित क्रोध को फिर से जागृत करना भी उदीर्णा है।

जिन प्रवृत्तियों से आत्मा अशुभ का बन्ध करता है। वे पाप प्रवृत्तियाँ कहलाती हैं। उनकी संख्या अठारह है। जिनमें तीन यहाँ बता चुके हैं। शेष के नाम इस प्रकार हैं :—असत्य, स्तेय, मैथुन, परिग्रह, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति, अरति, माया-मृषा, मिथ्यादर्शन। ये सभी आत्मा के लिये लेप रूप हैं।

पाणातिवातो लेवोलेवो अलियवयणं अदत्तं च।
मेहुणगमणं लेवो लेवो परिग्गहं च ॥ ४ ॥

अर्थः—प्राणातिपात, लेप है असत्य, चोरी, कामवासना और परिग्रह भी लेप है।

પ્રાણાતિપાત લેપ (બંધન છે), અસત્ય, ચોરી, કામવાસના અને પરિગ્રહ પણ (બંધન) લેપ છે.

---

१ प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा, तत्वार्थ अ. ७—सू. ८। २ मूर्च्छापरिग्रहः तत्वार्थ, अ. ७. सू. १२.

कोहो बहुविहो लेवो, माणो य बहुविधविधीओ।
माया य बहुविधा लेवो, लोभो वा बहुविधविधीओ ॥ ५ ॥

अर्थः—क्रोध के अनेक रूप हैं वे सब लेप हैं। मान के भी अनेक रूप है। माया और लोभ के अनेक प्रकार है। वे समस्त लेप रूप हैं।

ક્રોધના અનેક રૂપો છે તે બધા બંધનકર્તા છે માન (અભિમાન) ના પણ અનેક રૂપો છે. માયા અને લોભના પણ અનેક રૂપો છે. તે બધા બંધનકર્તા છે.

क्रोध अनेक रूप में आता है। कभी स्वार्थ के लिये कभी सामाजिक हितों की रक्षा के लिए भी क्रोध आ जाता है। इसी प्रकार अहं भी बहुरूपिया है। वह कभी समाज सेवा के रूप में तो कभी त्याग विराग के रूप में आता है। इस प्रकार माया और लोभ चित्र विचित्र रूपों में आते हैं। उनका असली रूप समझना कठिन है। कषाय किसी भी रूप में किसी भी वेष में आवे आत्मपतन का ही कारण बनता है।

तम्हा ते तं विकिंचित्ता, पावकम्मवड्ढणं।
उत्तमट्ठवरग्गाही, विरियत्ताए परिव्वए ॥ ६ ॥

अर्थः—साधक के आत्मविकास के लिए तीन बातों का निर्देश किया गया है। जीवन की ऊंचाइयों पर पहुंचने के लिए साधक बुरी वृत्तियों को छोडकर अच्छाइयां का ग्राहक बने और पुरुषार्थी बन कर घूमे।

સાધકના આત્મવિકાશ માટે ત્રણ વાતોનો નિર્દેશ કરવામાં આવ્યો છે. જીવનની શ્રેષ્ઠતા પ્રાપ્ત કરવા માટે, સાધક ખરાબ વૃત્તિઓને છોડીને ભલાઇનો ગ્રાહક બને અને પુરુષાર્થી બનીને ફરે.

खीरे दूसिं जधा पप्प, विणासमुवगच्छति।
एवं रागो य दोसो य, बंभचेरविणासणा ॥ ७ ॥

अर्थः—राग द्वेष की समाप्ति के लिए ऋषिने सुन्दर रूपक दिया है। जैसे छाछ में गिरकर दूध नष्ट हो जाता है, वैसे ही राग द्वेष के मेल में ब्रह्मचर्य का तेज भी समाप्त हो जाता है।

રાગદ્વેષની સમાપ્તિ માટે ઋષિએ સુન્દર રૂપક આપ્યું છે. જેવી રીતે છાશમાં પડવાથી દૂધ નાશ પામે છે, તેવી જ રીતે રાગદ્વેષમાં (મેલમાં) ભળવાથી બ્રહ્મચર્યનું તેજ પણ નાશ પામે છે.

टीकाकार भी कहते हैः—

क्षीरे यथा दुष्टिं प्राप्य विनाशं उपगच्छति,
एवं रागश्च द्वेषश्च ब्रह्मचर्यविनाशनौ।

अर्थः—जैसे छाँछ दूध को नष्ट कर देती है, वैसे ही राग द्वेष ब्रह्मचर्य को नष्ट करते हैं।

જેવી રીતે છાશ દૂધનો નાશ કરે છે, તે જ પ્રમાણે રાગદ્વેષ બ્રહ્મચર્યનો નાશ કરે છે.

जहा खीरं पधाणं तु, मुच्छणा जायते दधिं।
एवं गेहिप्पदोषेणं, पावकम्मं पवड्ढति ॥ ८ ॥

अर्थ :—जैसे श्रेष्ठ दूध भी दही के संसर्ग से दुग्धत्व पर्याय को छोडकर दही बन जाता है, वैसे गृहस्थों के संसर्ग दोष से मुनि भी पापकर्म में लिप्त हो जाते हैं।

જેવી રીતે શ્રેષ્ઠ દૂધ પણ દહીંના સાન્નિધ્યમાં દૂધના તત્વો છોડી દઈને દહીં બની જાય છે, તેવી જ રીતે ગ્રહસ્થોના સંસર્ગ-દોષથી મુનિ પણ પાપકર્મમાં લિપ્ત થઈ જાય છે.

टीकाकार भी कहते हैं :—

यथा तु प्रधानं विशिष्टं क्षीरं मूर्च्छनया दधि जायते,
एवं गृद्धिदोषेण पापकर्म प्रवर्धते ॥

अर्थ :—जैसे विशिष्ट दूध मूर्च्छना से दही बन जाता है, वैसे ही गृद्धिभाव से पाप कर्म बढता है।

જેવી રીતે વિશિષ્ટ દૂધ મેળવવાથી દહીં બની જાય છે, તેવી જ રીતે ગૃદ્ધિભાવથી પાપ કર્મો વધે છે.

रण्णे दवग्गिणा दड्ढा, रोहंते वणपादवा ।
कोहग्गिणा तु दड्ढाणं, दुक्खाणं ण णिवत्तई ॥ ९ ॥

अर्थ :—वन में दावाग्नि से दग्ध वन-वृक्ष फिर से ऊग आते हैं । इस प्रकार क्रोध की आग से दग्ध आत्मा के दुःख के अंकुर फिर ऊग आते हैं। क्रोधाग्नि से दग्ध आत्मा के लिए शान्ति का पथ निवेदित किया है। क्रोधित मानव क्रोध की आग के द्वारा अपने दुःख दाता को भस्म कर देना चाहता है, किन्तु वन के वृक्ष के समान उसके दुःख फिर ऊग जाते हैं।

क्रोधित आत्मा दुःख के निमित्त को सुख का कांटा मानता है और उसे समाप्त भी कर देता है। किन्तु वे दुःख नई कोंपल के साथ फिर से फूट पडते हैं और शत्रु की अपेक्षा दुगुनी शक्ति एकत्रित कर अपने वैर का प्रतिशोध लेते हैं।

જંગલમાં દાવાનળ લાગતાં વૃક્ષો બળીને ફરી પાછા ઉગે છે. તે જ પ્રમાણે ક્રોધની આગથી દાઝેલા આત્માના દુઃખના અંકુર ફરીથી ઉગી નીકળે છે. ક્રોધાગ્નિથી બળતા આત્મા માટે શાન્તિનો રસ્તો બતાવવામાં (निवेदित) આવ્યો છે. ક્રોધિત મનુષ્ય ક્રોધની આગથી પોતાને દુઃખ આપનારને નષ્ટ કરી દેવા માગતો હોય છે. પરંતુ જંગલના વૃક્ષોની જેમ તેનાં દુઃખો ફરીથી ઉગી નીકળે છે.

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं वे कहते हैं कि :—

अरण्ये दावाग्निना दग्धा वनपादपाः पुनः रोहन्ति, मुनेस्तु क्रोधाग्निना दग्धानां निवर्तनं प्रत्यागमो न भवति ॥ कस्तु नाम दुःखानां प्रत्यागमं इच्छेत् ॥

अर्थात् वन में दावाग्नि से दग्ध-वन वृक्ष फिर से ऊग सकते हैं परन्तु मुनि की क्रोधाग्नि से दग्ध दुःखों का प्रत्यागम नहीं हो सकता। वे दुःख पुनः लौट कर मुनि के पास नहीं आते। किन्तु कौन ऐसा होगा जो दुःखों का प्रत्यागमन चाहेगा। पर यह व्याख्या अस्पष्ट है।

એટલે કે જંગલમાં દાવાનળથી બળેલા વૃક્ષો ફરીથી ઊગી શકે છે; પરંતુ મુનિના ક્રોધાગ્નિથી બળેલાં દુઃખો ફરીથી આવી શકતા નથી. તે દુઃખો ફરીથી મુનિ પાસે પાછા આવી શકતાં નથી. પરંતુ કોણ એવો હશે કે જે દુઃખોનું પ્રત્યાગમન ઇચ્છશે?" પણ આ વ્યાખ્યા અસ્પષ્ટ છે.

सक्का वण्ही णिवारेतुं, वारिणां जलितो बहिं ।
सव्वोदहिजलेणा वि, मोहग्गी दुण्णिवारिया ॥ १० ॥

अर्थ :—बाहर की जलती हुई आग को पानी से बुझाना सरल है, परन्तु मोह की आग को बुझाने में संसार की अनन्त जल राशि भी असमर्थ है।

બાહરની બળતી આગને પાણીથી બૂઝાવવું સ્હેલલું છે, પરંતુ મોહની આગને બુઝાવવા માટે સંસારના બધા સમુદ્રોની અનંત જળરાશિ પણ અસમર્થ છે.

जस्स एते परिण्णाता जातिमरणबंधणा ।
संछिन्नजातिमरणा सिद्धिं गच्छंति णीरया ॥ ११ ॥

अर्थ :—जिसे जन्म और मृत्यु के बन्धन परिज्ञात हो चुके हैं वही परिज्ञात-आत्मा जन्म और मृत्यु के बन्धनों को तोड़कर कर्म धूल से रहित हो सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

જેણે જનમ અને મૃત્યુના બન્ધનોને ઓળખ્યા છે, તે જ્ઞાની આત્મા જનમ અને મૃત્યુના બન્ધનોને તોડીને કર્મની રજથી રહિત થઈ સિદ્ધિને પ્રાપ્ત કરે છે.

जन्म और मृत्यु में जिसे यथार्थतः बन्धन की अनुभूति होती है, वही बंधन को तोड सकता है। बंधन का परिज्ञान होना ही जीवन की महत्त्वपूर्ण क्रान्ति है। अन्यथा आत्मा मौत से भागता है, पर जन्म से प्यार करता है और श्रेष्ठ स्थल में जन्म पाने के हेतु साधना भी करता है किन्तु स्थितप्रज्ञ आत्मा को न जन्म के प्रति मोह है, न मौत से वह भागता ही है किन्तु हाँ, आत्मविकास की दिशा में इन्हें बन्धन अवश्य मानता है। बन्धन का परिज्ञाता बन्धन तोडने की दिशा में भी आगे बढता है।

एवं से बुद्धे विरते। विपात्रे दंते दविए अलंताती ॥
णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ॥ तईयं दविलज्झयणं

अर्थ :—देखिये प्रथम अध्ययन की अन्तिम गाथा।

तृतीय दविल अध्ययन समाप्त ॥
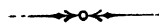
चतुर्थ अध्ययन

साधना के पथ में आगे बढते साधकको प्रशंसा के फूल और निन्दा के शूल दोनों मिला करते हैं किन्तु लक्ष्य की ओर दृढ़ कदमों से आगे बढ़ते साधक को ये फूल न लुभा सकते और न शूल की चूभन उसे पथ से भ्रष्ट कर सकती है, क्योंकि जन साधारण की प्रशंसा और निन्दा केवल स्थूल मापदण्डों को लेकर चलती है। कभी वह चोर की भी प्रशंसा कर जाती है तो कभी मुनि का भी तिरस्कार कर डालती है। ऐसे क्षणों में साधक सावधानी के साथ अपने आपको संभाल रखे इसीका दिशा सूचन प्रस्तुत अध्ययन में मिलता है।

भारद्वाज गोत्री अंगिरस अर्हतर्षि उवाच—

आयाणरक्खीपुरिसे परं किंचि ण जाणती॥
असाहुकम्मकारी खलु अयं पुरिसे॥

अर्थ :—आदान रक्षी कर्मोपादान रूप परिग्रह का रक्षक मानव दूसरी कोई बात जानता ही नहीं है। ऐसा पुरुष वस्तुतः असाधु कर्म का करने वाला है।

આદાનરક્ષી (લોભી માણસ) કર્મના મૂળ હેતુરૂપ પરિગ્રહની રક્ષા કરે છે તે બીજી કોઈ વાત જાણતો જ નથી. એવો માણસ ખરેખર અશુભ કર્મ કરનાર છે.

परिग्रह का पिपासु केवल ग्रहण किये हुए की रक्षा ही जानता है। वह आत्मा जघन्य कर्मों को करते हुए कभी हिचकेगा नहीं।

टीकाकार बोलते हैं :—

आदानं कर्मोपादानं तद्रक्षति निगूहतीति आदानरक्षी,
आदानरक्षी भवति पुरुषो न किंचिज्जानाति अपरं जनं।

आदान अर्थात् कर्म के उपादान की रक्षा करता है। उसे छुपाता है वह आदानरक्षी है। कर्म का उपादान अशुभ वृत्ति भी हो सकती है और उस अशुभवृत्ति के द्वारा एकत्रित परिग्रह भी कर्मोपादान है। आगम में कर्मादान की दूसरी व्याख्या मिलती है। गृहस्थ के वे व्यापार जिनके द्वारा गाढ़ कर्म[1] का बन्ध हो। वे पंद्रह प्रकार के व्यापार कर्मादान है।

इच्छाओं के भारसे अत्यधिक दबा हुआ व्यक्ति परिग्रह के उपार्जन और रक्षण के अतिरिक्त दूसरी बात नहीं जानता। "खलु अयं पुरिसे" की ध्वनि आचारांग सूत्र के "अयं तेणे अयं उवरण" ११, २ से मिलती है। चोर को अंगुलि-निर्देश पूर्वक बताया जाता है यह चोर है। इसी प्रकार असाधु कर्म करनेवाले के लिये यहां अयं पाठ आया है।

पुणरवि पावेहिं कम्मेहिं चोदिज्जति णिच्चं[2] संसारंमि अंगिरिसिणा भारद्दाएण अरहता इसिणा।

अर्थ:—ऐसा मानवसंसार में पुनः पुनः पापकर्मों के लिये प्रेरित होता है भारद्वाज गोत्री अंगिरस अर्हतर्षिने ऐसा कहा है।

એવો માણસ સંસારમાં ફરી ફરી પાપ કર્મોથી પ્રેરાય છે. ભારદ્વાજ ગોત્રી અંગિરસ નામના અર્હતર્ષિ એવું બોલે છે.

टीका:—असाधुकर्मकारी खल्वयं पुरिसे पुनरपि पापकर्मभिः चोदयते नित्यं संसारमिति।

असाधुकर्म करने वाला यह पुरुष पुनः पापकर्मों से संसारभव भ्रमण के लिये होता है, अर्थात् परिग्रह के रक्षण के लिये कर्तव्याकर्तव्य भूलकर फिरसे पाप कर्मों को उपार्जित करता है।

· णा संवसता सक्कं सीलं[3] जाणिचु माणवा॥
परमं खलु पडिच्छन्ना मायाए दुट्ठमाणसा॥ १॥

अर्थ :—(किसीके) साथ रहे बिना उसके शील (स्वभाव) को मनुष्य जान नहीं सकता। क्योंकि दुष्ट प्रवृत्ति के मानव सचमुच माया से छिपे रहते हैं।

१—पन्नरस कम्मादाणाइं समणोवासगस्स जाणियव्वा न समायरियव्वा। उपासक दशा अ. १। २—सोमपीति। ३—नो संवसित्तु सक्कं सीहं।

एक भारतीय कहावत है "सोना जाने घसे, आदमी जाने बसे" बाहर से सब सज्जन दिखाई देते हैं, किन्तु उसके शील (स्वभाव) की पहिचान साथ रहने पर ही हो सकती है। इंग्लिश में भी एक कहावत है All that glitters is not gold सभी चमकने वाला सोना नहीं हुआ करता है, बाहर से सोना दिखाई देता है, किन्तु जब हम कुछ दिन उनके साथ रहें, तादात्म्य बढ़े फिर भी हमारी पूर्व धारणाएँ स्थिर रहे तभी समझना चाहिये वास्तव में यह सोना है। अन्यथा माया के आवरण में अनेक रंगे सियार घूमते हैं। उन से सावधान रहना चाहिये।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं :—

यस्य पापं शीलं जानन्ति तेन संवस्तुं न शक्नुवन्ति मानवाः।
तस्मात् परममत्यर्थं प्रतिच्छन्ना निगूढा भवन्ति मायया दुष्टमानसाः।

जिसके पापभरे शील (आचार) को हम जान लेते हैं उसके साथ रहना शक्य नहीं है, अतः दुष्ट हृदय वाले व्यक्ति माया से एकदम प्रतिच्छन्न रहते हैं।

टीकाकार की प्रस्तुत व्याख्या जरा कुछ ठीक नहीं बैठती। क्योंकि "तस्मात्" से उसका अर्थ जमने के बजाय अधिक बिगडता है।

णियदोसे निगूहंते चिरं पि णोवदंसए॥
किह मं कोपि ण ज्ञाणे जाणेण त्थ हियं सयं॥ २॥

अर्थ :—वह अपने दोषों को छिपाता है। चिर समय तक भी अपने दोषों को किसी के समक्ष प्रगट नहीं करता है। वह सोचता है दूसरा कोई भी इस पाप को नहीं जान सकता, किन्तु ऐसा सोचने वाला अपना हित नहीं जानता।

તે પોતાના દોષોને છુપાવે છે અને ઘણા સમય સુધી પણ પોતાના દોષોની આલોચના કરતો નથી અને તે વિચારે કે મારા પાપોને બીજો કોઈ જાણતો નથી, પણ આવો વિચારનાર પોતાનો જ અહિત કરે છે.

पूर्व गाथा में साधक को प्रेरणा दी गई थी कि माया से छिपे हुए मनुष्यों से सावधान रहना चाहिये यहां उसी माया शील व्यक्ति का परिचय दिया गया है। मायावी (छली) मानव बडी सफाई के साथ अपने दोषों को छिपाये रखता है। उसे विश्वास रहता है कि इस घटना को केवल मैं ही जानता हूं, दूसरा कोई नहीं। बस; यही सोच कर वह निश्चिन्त रहता है।

टीका :—निजदोषान् हि निगूहन्ते आत्मानं चिरमपि नोपदर्शयेत्।
इह न कोऽपि मां जानीयादिति मत्वाऽऽत्महितं स्वयं न जानाति।

अर्थ :—उपरवत्।

जेण जाणामि अप्पाणं आवी वा जति वा रहे॥
अज्जयारिं अणज्जं वा तं णाणं अयलं धुवं॥ ३॥

अर्थ :—जिसके द्वारा मैं अपने आपको जान सकूं, प्रत्यक्ष या परोक्ष में होनेवाले अपने आर्य और अनार्य कर्मों को देख सकूं, वही ज्ञान शाश्वत है।

જેના વડે હું પોતાની જાતને જાણી શકું, પ્રત્યક્ષ અગર પરોક્ષમાં થનારા મારા આર્ય અને અનાર્ય કર્મોને જોઈ શકું તે જ સાચું અને શાશ્વત જ્ઞાન છે.

मनुष्य दूसरे के पुण्य पाप का लेखा जोखा अधिक रखता है और उसी में अपनी ज्ञान गरिमा मान बैठता है किन्तु अंगिऋषि कहते हैं वही ज्ञान सत्य है जिसके द्वारा मैं अपने आपको जान सकूं, मेरे अपने आर्य और अनार्य कर्मों को पहचान सकूं।

सुयाणि भित्तीए चित्तं कट्ठे वा सुणिवेसितं॥
मणुस्स-हिययं पुणिणं गहणं दुव्वियाणकं॥ ४॥

अर्थ :—दीवारों पर अंकित सूत्र और काष्ठ में आलेखित चित्र दोनों सुविज्ञात हैं। किन्तु मानव का हृदय गहन और दुर्विज्ञात है।

गुजराती भाषान्तर :—

દીવાલો પર કોતરેલા સૂત્રો અને લાકડા પર દોરેલા ચિત્રો સ્હેજ સમજાઈ જાય છે ત્યારે માણસના હૈયાને જાણવું ઘણું કઠણ છે કેમકે તે ગહન છે.

मानव बाहर से नहीं भीतर से परखा जाता है। चित्रों को समझ लेना जितना सरल है उतना ही मनुष्य हृदय को जान लेना कठिन है।

टीकाकार का अभिप्राय भी समान है :—

"सुयाणित्ति" सुयानेत्ति स्थाने सुज्ञातं भवति चित्रं भित्त्यां काष्ठे वा निवेशितं,
इदं मनुष्यहृदयं तु गहनं दुर्विज्ञातव्यं।

दीवार और काष्ठ पर अंकित चित्र सुज्ञात होता है, किन्तु हृदय गहन है, जल्दी से उसे कोई समझ नहीं सकता।

अण्णहा स मणे होइ, अन्नं कुणंति कम्मुणा॥
अण्णमण्णाणि भासंते, मणुस्स गहणे हु से॥ ५॥

अर्थ :—जिसके मन में कुछ दूसरा है और कार्य कुछ दूसरे हैं, पर वे एक दूसरे से बोलते हैं तूने मनुष्य-जन्म पाया है।

गुजराती भाषान्तर :—

માણસનું હૈયું ગહન કેમ છે તે બતાવે છે. તે મનમાં બીજું વિચારે છે ત્યારે દેહથી કામ કાંઈ જુદા જ કરે છે. તેમાં નવાઈ તો આ છે કે આવું પોતે કરતાં છતાં એક બીજાને કહે છે તમે મનુષ્ય અવતાર પામ્યા છો, તેને શા માટે બગાડો છો.

जिनका बाहरी रूप कुछ दूसरा होता है और भीतरी कहानी कुछ दूसरी होती है उन्ही साधकों का यहां चित्रण दिया है। बाहरी सिक्का तो पूर्ण आत्म-संयमी साधक का है, किन्तु भीतरी सिक्का खराब है; किन्तु तारीफ तो यह है कि वे एक दूसरे को उपदेश देते हैं तुमने सुन्दर-सा मानव जीवन पाया है, इसे क्यों मिट्टी के मोल खतम कर रहे हो।

टीका :—अन्यथा स भवति मनसि अन्यत् कर्मणा चेष्टितेन कुर्वन्ति, अन्यत्तु भाषन्ते एवमन्येभ्यो मनुष्येभ्यो गहनः स खलु पुरुषः।

जहां मन, वाणी और कर्म की एकता है वहीं साधुत्व है। जिसके मन में कुछ दूसरा है, जिसकी वाणी में कुछ और है और जिसके कार्य में कुछ तीसरी ही बात है, वह दुरात्मा है[१]।

तण-खाणु-कंडकलता-घणाणि वल्लीघणाणि॥
सढणिडियसंकुलाइं मणुस्स-हिदयाइं गहणाणि॥ ६॥

अर्थ :—घांस, ठूंठ, कंटकलता, बादल, लतामण्डप के सदृश मनुष्यों के शठ, छली संकुचित और हृदय होते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

માણસોના હૈયાં વિચિત્ર હોય છે. કેટલાકનાં હૈયાં ઘાંસ જેવા તુચ્છ, કેટલાકનાં કાંટાંની વેલડી જેવા બીજાને ચુભનારા હોય છે તો કેટલાકનાં હૈયાં વાદળાં અને લતામંડપ જેવા પણ હોય છે, જે બીજાને શાન્તિ આપે છે. તો કેટલાકના હૈયાં શઠ છલિયા અને સંકુચિત પણ હોય છે.

१ तृण-पशु की परीक्षा बाहर से होती है, जब कि मानव की परीक्षा उसके हृदय से होती है। यहां मानव के पांच हृदय बताये गये हैं। किसी का हृदय तृण सदृश क्षुद्र होता है, जो शक्तिहीन है और अपने आप की रक्षा भी जो अपने आप नहीं कर सकता, न दूसरे किसी आर्थिक अभाव की तपती दुपहरी में क्लान्त मानव को छाया देने में भी समर्थ है।

२ ठूंठ (खाणुं)—दूसरा वह हृदय जिसने विकास तो किया है, किन्तु जिसकी जीवन की मधुरता के पत्ते झर चूके हैं रसहीन जीवन जीनेवाला।

१—मनस्येकं वचस्येकं काये चैकं महात्मनाम्॥ मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् काये चान्यत् दुरात्मनाम्॥ १॥

३ कण्टकलता–जिसने पत्तों की सम्पत्ति तो पाई किन्तु आश्रय लेने वाले के पैर में शूल बनकर चूभा ।

४ मेघ (घन)—किसी का हृदय मेघ जैसा होता है । खारे पानी को मीठा बनाकर देने की कला मेघ में है। ऐसे हृदय वाला व्यक्ति कटु प्रसंगों को भी मधुरता में बदल देता है ।

५ लतामण्डप जिसने पत्र-पुष्पों का सौन्दर्य पाया है वह कोमलांगी लता जेठ की तपती दुपहरी में स्वयं तप कर भी अपनी गोद में आने वाले को शीतल छाया ही देता है । एक वह भी हृदय है जो स्वयं तप कर भी दूसरे के जीवन में शीतलता प्रदान करता है ।

भुंजित्तु उच्चावए भोए, संकप्पे कडमाणसे ॥
आदाणरक्खी पुरिसे, परं किंचि ण जाणति ॥ ७ ॥

अर्थ :—परिग्रह का पिपासु मानव संकल्प पूर्वक उच्चतर भोगों का उपभोग ही चाहता है। दूसरी बात वह जानता ही नहीं है ।

गुजराती भाषान्तर :—

પરિગ્રહનો ઉપાસક માણસ પોતાના મનમાં સારાં સારાં ભોગોના સંકલ્પો જ કરતો હોય છે. ભોગથી હટીને ત્યાગ તરફ આવવું તેને ગમતું જ નથી.

अदुवा परिसामज्झे, अदुवा विरहे कडं ॥
ततो निरिक्ख अप्पाणं, पावकम्मा णिरुंभति ॥ ८ ॥

अर्थ :—परिषद् में बैठे हैं तब दूसरा रूप है, और एकान्त में हैं तब कुछ दूसरा रूप है । किन्तु सच्चा साधक आत्म निरीक्षण करके पाप कर्मों को रोकता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

જેનો મન ત્યાગની તરફ આકર્ષાયો નથી એવો સાધુ સભામાં બેસે છે ત્યારે એનું રૂપ જુદું હોય છે ત્યારે એની વર્તણૂક બીજી હોય છે. ત્યારે સાચો સંત પોતાની આત્માને જોઈને પાપકર્મથી પોતાને રોકે છે.

जनता के सामने रहें तब दूसरा रूप रखना और उनसे दूर होते ही दूसरा रूप अपना लेना यह बहुरूपियापन जीवन को ले डुबता है । यह धोखा-धड़ी है । कोई देख रहा है तब हमारी चर्या में पूरा संयम उतर आता है और उनके दृष्टि से हटते ही अपना रूप बदल लेते हैं तो हम ईमानदार तो नहीं कहे जा सकते । दुनियाँ की आँखें देखें या न देखें साधक की अपनी आँखें तो उसे देख रहीं हैं । दुनियाँ की आँखें हमें कब तक बुराई से बचाए रखेगीं । असल में तो हमारी आँखें ही हमें बचा सकतीं हैं । वही जीवन का सबसे बडा सत्य है कि साधक हजारों के बीच में बैठा हो या वन के सूने एकान्त में हो उसकी साधना की धारा एक रूप में बहनी चाहिये । भगवान महावीर ने कहा है ।—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा ।...दिआवाराओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा । दशवै० अ. ४
भिक्षु या भिक्षुणी छोटे छोटे गावों में घूमती हों या बडे २ शहरों में हों, वे अकेली हों या जनता के समक्ष हों, स्वप्न में हों या जागृति में उनकी साधना अपरिवर्तित रूप में रहे ।

दुप्पचिण्णं सपेहाए, अणायारं च अप्पणो ॥
अणुवट्ठितो सदा धम्मे, सो पच्छा परितप्पति ॥ ९ ॥

अर्थ :—अपने दुष्प्रचीर्ण (दुर्वासना से अर्जित) कर्म और अनाचारों के प्रति देखता हुआ भी जानबूझ उपेक्षा करनेवाला और धर्म के लिये सदैव अनुपस्थित रहनेवाला व्यक्ति जीवन की संध्या में पश्चात्ताप करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

પોતાના દુષ્પ્રચીર્ણ (અશુભ વૃત્તિથી ભેગા કરેલાં) કર્મો અને અનાચારોને પ્રતિ જાણી જોઈને ઉપેક્ષા સેવનાર અને ધર્મના માટે કદી પણ તૈયાર નહિ રહનારો માણસ જીવનની આખરી ઘડીમાં પશ્ચાત્તાપ કરે છે.

सुपइण्णं सपेहाए, आयारं वा वि अप्पणो ॥
सुपटिट्ठितो सदा धम्मे, सो पच्छा उ ण तप्पति ॥ १० ॥

अर्थ :—अपने श्रेष्ठ आचारों के प्रति सतर्क और धर्म में सदैव सुप्रतिष्ठित रहनेवाला जीवन की संध्या में कभी पश्चात्ताप के आंसू नहीं बहाता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

શ્રેષ્ઠ આચારોને વિચાર પૂર્વક જીવનમાં ઉતારનાર અને ધર્મને માટે સદા તત્પર રહેનારે કોઈ દિવસે પશ્ચાત્તાપના આસુંઓ વહાવતો નથી.

पुव्वरत्तावरत्तम्मि, संकप्पेण बहुं कडं ॥
सुकडं दुक्कडं वा वि, कत्तारमणुगच्छइ ॥ ११ ॥

अर्थ :—पूर्व रात्रि और अपर रात्रि के क्षणों में संकल्पों के द्वारा आत्मा ने जो भी अच्छे या बुरे कार्य किये हैं वे कर्ता का अनुगमन करते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

પહેલી અને પાછલી રાતે સંકલ્પો દ્વારા આત્મા એ સારાં કે નરસાં કામો કર્યા છે તે કર્તાનું અનુગમન કરે છે.

आत्मा शुभाशुभ वृत्तियों के द्वारा जो भी कर्मदलिक एकत्रित करता है वे संचित कर्म तब तक आत्मा अनुगमन करते हैं जब तक कि वे विपाकोदय या प्रदेशोदय के द्वारा भोग कर निर्जरित नहीं हो जाते ।

टीका :—**पूर्वरात्रे तथाऽपररात्रेऽतीतातीततरकाले संकल्पेन चिकीर्षया बहु कृतं यत् सुकृतं वा दुष्कृतं वा कर्म तत् कर्तारमनुगच्छति तस्य जीवे सज्जति ।**

पूर्वरात्रि तथा अपर रात्रि के अतीत और अतीततर काल में शुभाशुभ अध्यवसाय और संकल्पों के द्वारा जो कुछ शुभाशुभ कर्म आत्मा संचित करता है वे कर्म अपने कर्ता का अनुगमन करते हैं[1] ।

सुकडं दुक्कडं वा वि, अप्पणो यावि जाणति ॥
ण य णं अण्णो विजाणाति, सुक्कडं णेव दुक्कडं ॥ १२ ॥

अर्थ :—अपने अच्छे या बुरे कर्मों को आत्मा स्वयं जानता है, किन्तु किसी के अच्छे बुरे कार्यों को दूसरा व्यक्ति जान नहीं सकता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

પોતાના સારાં કે ખોટા કર્મોને આત્મા પોતે જ જાણે છે. બીજી વ્યક્તિ કોઈના સારાં કે નરસાં કર્મોને જાણી શકતી નથી.

किसी की अच्छाई और बुराई के सम्बन्ध में व्यक्ति बहुत जल्दी निर्णय दे देता है, किन्तु अपनी अच्छाई और बुराई का तौल व्यक्ति स्वतः जितना कर सकता उतना दूसरा नहीं । व्यक्ति की स्थूल आंखें अच्छाई और बुराई के स्थूल रूप को ही देख सकती हैं, किन्तु मजबूरियों के वे पतले धागे स्थूल आंखें नहीं देख पाती है; जिनसे बन्धकर जघन्य कार्य करने के लिये व्यक्ति विवश हो जाता है ।

णरं कल्लाणकारिंपि, पावकारिंति बाहिरा ॥
पावकारिं पि ते बूया, सीलमंतो त्ति बाहिरा ॥ १३ ॥

अर्थ :—बाहरी दुनियाँ कल्याणकारी आत्मा को भी पापकारी बतलाती है । और अन्तर तक न पहुंचने वाले दुराचारी को भी सदाचारी कह डालते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

બાહ્ય દષ્ટિવાળો આત્મા કલ્યાણકારી આત્માને પણ પાપકારી બોલે છે, અને ભીતર સુધી ન પહોંચી શકનાર માણસો દુરાચારીને પણ સદાચારી બતાવી દિયે છે.

१—कत्तारमेवमणुजाइ कम्मं ।—उत्त० १३—२३.

चोरं पि ता पसंसंति, मुणी वि गरिहिज्जती ॥
ण से एत्तावताऽचोरे, ण से इत्तवताऽमुणी ॥ १४ ॥

अर्थ :—स्थूल-दृष्टि जनता कभी चोर की भी प्रशंसा करती है और कभी कभी मुनि को उस के द्वारा घृणा भी मिलती, है किन्तु इतने मात्र से चोर सन्त नहीं बन जाता और सन्त असन्त नहीं हो सकता ।

गुजराती भाषान्तर :—

સ્થૂલ દૃષ્ટિવાળી જનતા ક્યારેક ચોરની પણ પ્રશંસા કરે છે અને ક્યારે ક્યારે તે મુનિને પણ ઘૃણાની દૃષ્ટિથી જુવે છે. પણ એટલા માત્રથી કોઈ ચોર સન્ત બની જતો નથી અને સંત તે ચોર થઈ જતો નથી.

साधक अपने आप को बाहिरी आँखों से तौलने का प्रयत्न न करें । दुनियाँ की निन्दा और प्रशंसा के गज से अपनी अच्छाई और बुराई को न मापे । क्योंकि दुनियाँ के गज दूसरे को मापने में कभी कभी गलती भी कर बैठते हैं । दुनियाँ की आँखों में जो सन्त हैं उपरी तह को चीर कर भीतर झांकने पर वह एक चोर भी निकल सकता है और दुनियाँ जिसे चोर मान कर जिस पर घृणा बरसा रही है । बाहर से जिस का जीवन सूखा रेगिस्तान दिखलाई दे रहा है, किन्तु प्रेम और करुणा के हल्के हाथों उपर का कठोर आवरण हटाने पर अन्तर में वह दया प्रेम और करुणा का झरना भी बहता हुआ दिखाई दे सकता है ।

णण्णस्स वयणा चोरे, णण्णस्स वयणा मुणी ॥
अप्पं अप्पा वियाणाति, जे वा उत्तमणाणिणो ॥ १५ ॥

अर्थ :—किसी के कथनमात्र से कोई चोर नहीं बन जाता और किसी के कहने से कोई सन्त नहीं बन जाता । अपने आप को स्वयं जानता है या सर्वज्ञ जानते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

કોઈના કહેવામાત્રથી કોઈ ચોર બની જતો નથી અને કોઈના કહેવામાત્રથી કોઈ સન્ત પણ બની જતો નથી. આત્મા પોતાને પોતેજ જાણે છે કે તેને સર્વજ્ઞ જાણે છે.

किसी के बोलने से सन्त चोर नहीं बन सकता है और चोर सन्त नहीं । अपनी यथार्थ स्थिति व परिस्थितियों को हम जानते हैं यह वे अनन्तज्ञानी जानते हैं ।

जइ मे परो पसंसाति, असाधुं साधुमाणिया ॥
न मे सातायए भासा, अप्पाणं असमाहितं ॥ १६ ॥

अर्थ :—यदि मैं असाधु हूँ और साधु मानकर दूसरा मेरी प्रशंसा करता है, यदि मेरी आत्मा असंयत है तो यह प्रशंसा की मधुर भाषा मुझे संयत नहीं बना सकती ।

गुजराती भाषान्तर :—

અગર હું સાધુ છું અને બીજો સાધુ માનીને મારી પ્રશંસા કરતો હોય અને જો મારો આત્મા સંયમમાં ન હોય તો બીજાની આ પ્રશંસાની ભાષા મારો વિકાસ કરી શકશે નહિં !

यदि साधक के जीवन में संयम का अभाव है किन्तु स्वार्थ या अंधश्रद्धा से प्रेरित जनता यदि एक सन्त के रूप में उनका सन्मान करती है, वह श्रद्धा के सुमन भी चरणों में चढाती है, किन्तु वे प्रशंसा के फूल असाधु को साधु के रूप में बदल देने में असमर्थ रहेंगे ।

प्रशंसा के फूलों में कभी साधक का मन फिसलन का अनुभव करता है तो अर्हतर्षि उसे सावधान करते हैं-

जति मे परो विगरहाति, साधुं संतं णिरंगणं ॥
ण मे सक्कोसए भासा, अप्पाणं सुसमाहितं ॥ १७ ॥

अर्थ :—यदि मैं निर्ग्रन्थ हूँ और जनता मेरी अवमानना करती है तो निन्दा की वह भाषा मुझ में आक्रोश नहीं पैदा कर सकती है, क्योंकि मेरी आत्मा सुसमाधिस्थ है ।

गुजराती भाषान्तर :—

જો હું સાધુ છું અને લોકો મારા પ્રત્યે ઘૃણા કરે છે, તો પણ મને ચિન્તા નથી; કેમકે તે નિન્દાની ભાષા મને ક્રોધ ઉપજાવી શકે નહિં; કારણકે મારો આત્મા સમાધિમાં છે.

यदि साधक में साधुभाव हैं तो फिर बाहिरी दुनियाँ भले ही असाधु समझकर निन्दात्मक आलोचना क्यों न करे, उससे साधक कभी क्रुद्ध न होगा। प्रशंसा के फूल साधु के मन में गुदगुदी नहीं पैदा कर सकते, न निन्दा के सूल उस के मन में टीस ही पैदा करेंगे। निन्दा और प्रशंसा में साधक की जीवनतुला सम रहती है।

हर क्रान्तिकारी को निन्दा और अपमान के कड़वे घूँट पीने ही पड़ते हैं। अपमान का जहर के घूँट पीने के बाद ही शिव बना जा सकता है। यदि साधक अपने प्रति ईमानदार है तो उसे दुनियाँ की आलोचनाएँ अपने मार्ग से हटा न सकेगीं।

जं उलूका पसंसंति, जं वा निंदंति वायसा ॥
निंदा वा सा पसंसा वा, वायुजालेव्व गच्छती ॥ १८ ॥

अर्थ :—उलूक जिसकी प्रशंसा करे और कौवे जिसकी निन्दा करे, वह निन्दा और वह प्रशंसा दोनों ही हवा की भाँति उड़ जाती हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

ઘૂવડ જેની પ્રશંસા કરે અને કાગડાઓ જેની નિન્દા કરે આવી નિન્દા અને પ્રશંસા હવા માફક ઉડી જાય છે.

जिस निन्दा और प्रशंसा के पीछे दृष्टि का कानापन रहा हुआ है, जिसके पीछे केवल साम्प्रदायिक, स्वार्थिक ममत्व बोल रहा है, वे निन्दा और प्रशंसा तथ्य-विहीन है। उसी के लिये सुन्दर-सा रूपक दिया है। उल्लू प्रकाश की निन्दा करता है और अंधकार की स्तुति करता श्रेष्ठ बतलाता है। और कौवा रात्री की निन्दा करता है। यह निन्दा और प्रशंसा वस्तु की अच्छाई और बुराई के प्रति नहीं है। अपने स्वार्थ की साधना अंधेरे में होती देख रात्री की प्रशंसा ही करेगा। और कौवे के स्वार्थ में क्षति होती है तो वह निन्दा करेगा ही।

जं च बाला पसंसंति, जं वा णिंदंति कोविदा ॥
णिंदा वा सा पसंसा वा, पप्पाति कुरुए जगे ॥ १९ ॥

अर्थ :—अज्ञानी जिसकी प्रशंसा करता है और विद्वान् जिसकी निन्दा करता है, ऐसी निन्दा और प्रशंसा इस छली दुनियाँ में सर्वत्र उपलब्ध है।

गुजराती भाषान्तर :—

અજ્ઞાની જેની પ્રશંસા કરે અને વિદ્વાન જેની નિન્દા કરે, આ કપટી દુનિયામાં આવી નિન્દા અને પ્રશંસા સર્વત્ર મળી આવે છે.

अज्ञानी और भोली जनता सत्य से अछुती रहने के अंधश्रद्धा के अंधेरे में पलती है, अतः उससे प्रशंसा प्राप्त कर लेना सहज है। विद्वानों की दुनियाँ में प्रशंसा उतनी सस्ती नहीं रहती, क्योंकि उनमें भावुकता का अभाव है। हाँ; आलोचना का भाव गर्म रहता है। क्योंकि दूसरे की प्रशंसा को पचा लेने के लिये आवश्यक पाचन-शक्ति का उसमें अभाव होता है। अतः इस मायाशील विश्व में निन्दा और प्रशंसा कदम कदम पर मिलती है, किन्तु साधक को दोनों से सावधान रहना है। साथ ही निर्भीक भी।

जो जत्थ विज्जती भावो, जो वा जत्थ ण विज्जती ॥
सो सभावेण सव्वो वि, लोकम्मि तु पवत्तती ॥ २० ॥
विसं वा अमतं वावि, सभावेण उवट्ठितं ॥
चंदसूरा मणी जोती, तमो अग्गी दिवं खिती ॥ २१ ॥

अर्थ :—जो भाव जहाँ उपलब्ध है या जहाँ जिसका अभाव है यह सद्भाव या अभाव लोक में स्वाभाविक ही है। दुनियाँ में अमृत भी है और विष भी है। चन्द्र और सूर्य, अंधकार और प्रकाश, मणी और अग्नि, स्वर्ग और पृथ्वी, सब कुछ स्वभाव से ही उपस्थित हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

કોઈ ભાવ ક્યાંક ઉપલબ્ધ છે અને કોઈ વસ્તુ ક્યાં નથી પણ આ સદ્ભાવ અને અભાવ લોકમાં સર્વત્ર સ્વાભાવિક રૂપે જ છે. દુનિયાંમાં અમૃત પણ છે અને ઝેર પણ છે. ચાંદ, સૂરજ, અંધારું અને પ્રકાશ મણિ અને અગ્નિ, સ્વર્ગ અને પૃથ્વી બધા સ્વભાવથી જ રહેલા છે.

विश्व की प्रत्येक वस्तु अपने २ स्वभाव में उपस्थित है। हमारे चाहने या न चाहने से किसी का सद्भाव और अभाव नहीं हो जाता। दुनियाँ में अंधकार भी अनन्तकाल से है और प्रकाश भी अनन्त काल से है। अमृत भी अनादि है और जहर भी। साधक को उलझना नहीं है। सीधी राह पर लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाना उसका उद्देश्य है।

वदतु जणे जं से इच्छियं, किंणु कलेमि उदिण्णमप्पणो ॥
भावित मम णत्थि एलिसे, इति संखाए न संजलामहं ॥ २२ ॥

अर्थ :—कोई भी जो चाहे वह बोल सकता है। मैं अपने आप को उद्विग्न क्यों करूँ। मुझसे वह सन्तुष्ट नहीं है। यह समझकर मैं कुपित नहीं होता हूँ।

गुजराती भाषान्तर :—

કોઈ પણ માણસ જેમ ફાવે તેમ બોલી શકે છે. હું પોતાને કલેશમય શા માટે થવા દઉં. તે મારાથી સંતુષ્ટ નથી આ સમજીને હું ક્રોધ નથી કરતો.

कोई भी मानव सारी दुनियाँ को प्रसन्न नहीं कर सकता, सूर्य सबको प्रकाश देता है, फिर भी घुग्घू उसकी आलोचना करेगा ही। जिसके स्वार्थ को ठेस लगेगी वह आलोचना अवश्य करेगा। उस स्थिति में साधक अपनी मनःस्थिति गड़बड़ाने न दे; वह सोचे दुनियाँ चाहे जो बोल सकती है यदि मैं संयम और साधना के प्रति वफादार हूँ, तो मुझे इन आलोचनाओं से उद्विग्न नहीं होना है। मेरे द्वारा इसके स्वार्थ को सहयोग नहीं मिल रहा है, इस लिये यह मेरे पर क्रुद्ध हैं। फिर मैं क्यों इसके प्रति क्रोध लाकर अपनी शान्ति को भंग करूँ ?।

टीका :—वदतु जनो यद् यस्येष्टं तृणवत् तद् गणयामि। किं नु करोम्यहं यज्ज्ञानेनात्मस्वभावेनोदीर्णम् ? नैवास्मि तस्य कर्तेति भावः। नास्तीदृशं मम भावितमिति संख्यायाहं न संज्वलामि न क्रुध्ये, किन्तु जनस्य आक्षेपं क्षमे। इदं तु "ल" श्रुति गर्भं वैतालियमन्यस्य कस्यचिद् कवेः कृतिरिव दृश्यते।

जिसको जो इष्ट है वह बोल सकता है। उसे मैं तृणवत् गिनता हूँ। उसे जानकर मैं अपने आपको उदीर्ण क्यों करूँ ?। मैं उसका कर्ता नहीं हूँ और न मेरा ऐसा बुरा करने वाला कोई विचार ही है। यह सोच कर मैं उस पर कुपित नहीं होता हूं। अतः जनता के आक्षेपों को मैं सहूँगा। "ल" श्रुतिवाला यह वैतालिक (छंद) किसी अन्य कवि की कृति होना चाहिये।

अक्खोवंजणमाताया, सीलवं सुसमाहिते ॥
अप्पणा चेवमप्पाणं, चोदितो वहते रहं ॥ २३ ॥

अर्थ :—अष्टप्रवचन माता रूप अक्ष (धुरा) से युक्त शीलवान सुसमाहित आत्मा का रथ आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर चलता है।

गुजराती भाषान्तर :—

આઠ પ્રવચન માતા (પાંચ સમિતિ ત્રણ ગુપ્તિ) રૂપ અક્ષ (ધુરા) સહિત શીલવાળો સુસમાધિસ્થ આત્માનો રથ આત્મા દ્વારા જ પ્રેરાઈને ચાલે છે.

जीवन भी एक रथ है जिसकी धुरी में अष्टप्रवचन माता (पांच समिति तीन गुप्ति) का तेल लगा हुआ वह अपनी गति पर स्वतः प्रेरित होकर आगे बढ़ता है।

सीलक्खरहमारूढो, णाण-दंसण-सारही ॥
अप्पणा चेवमप्पाणं, जदित्ता सुभमेहती ॥ २४ ॥
एवं से बुद्धे मुत्ते० गतार्थ।

अर्थ :—शील ही जिसका अक्ष है, ज्ञान और दर्शन जिसके सारथी हैं, ऐसे रथ पर आरूढ होकर आत्मा अपने द्वारा अपने आपको जीतता है और शुभस्थिति को प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

સીયલ જેની ધુરા છે અને જ્ઞાન અને દર્શન જેના સારથી છે, એવા રથ ઉપર બેસીને આત્મા પોતે પોતાને જીતે છે અને શુભ સ્થિતિ મેળવે છે.

ब्रह्मचर्य की सुदृढ धुरा और ज्ञान दर्शन जैसे कुशल सारथी को पाकर शुभ आत्मपर्याय अशुभस्थित आत्मपर्याय से युद्ध करता है और शुद्ध रूप को प्राप्त करता है।

यहां जीवन युद्ध का चित्रण दिया गया है। आत्मा बाहिरी संघर्ष अनन्त २ वार कर चुका है। उसमें तलवार के बल पर उसने विजय भी पाई, किन्तु एक दिन वह पराजय के रूप में बदल जाती है। विश्व-विजेता अपने घर पर शासन नहीं चला सकता। और गृह-विजेता अपनी इन्द्रियों पर शासन नहीं चला सकता। इन्द्रिय-विजेता के लिये अशुभ आत्मपरिणति पर विजय पाना कठिन है। उसी अशुभपरिणति से युद्ध के लिये साधक को प्रेरित किया है। पच्चीसवीं गाथा में रथ का रूपक दिया है, उसी रथ पर आरूढ़ होकर ब्रह्मचर्य की सुदृढ धुरा बनाकर युद्ध के लिये आगे बढ़े। यहां विजय के रूप में शुभस्थिति का वर्णन किया है। आत्मा की अशुभस्थिति पापाश्रव है, शुभस्थिति पुण्याश्रव है, किन्तु आत्मा की शुद्धस्थिति निर्बन्ध है, उसी की ओर यहां इंगित है, किन्तु आगम में शुद्धस्थिति के लिये प्रायः शुभ ही प्रयुक्त हुआ है। आत्म-युद्ध का रूपक उत्तराध्ययन में भी दिया गया है। इन्द्र के प्रश्न के उत्तर में राजर्षि नमि आत्म-युद्ध का विस्तृत सांग रूपक देते हैं।[1]

चउत्थं अंगिरिसिणामज्झयणं ॥

॥ चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

१ उत्तरा० अ० ९ गाथा २०–२२

पंचम अध्ययन

पुप्फसाल-अज्झयण

पुप्फसालपुत्त उवाचः—

मन का अहंकार आत्मा के सूक्ष्म शत्रुओं में एक है। अहंकार पर ठेस लगती है तो क्रोध उछलता है। अहं ही विकास पाकर कुटुम्ब और परिवार बनता है। यही मैं और मेरा पाप के अग्रदूत हैं। पंचम अध्ययन अहं विजय के लिये प्रेरणा देता है।

माणा पच्चोरित्ताणं, विणए अप्पाणुवदंसए ॥
पुप्फसालपुत्तेण, अरहता इसिणा बुइयं ॥ १ ॥

अर्थ :—मान से नीचे उतरे हुए, विनय में आत्मा को स्थित रखने वाले पुष्पशालपुत्र अर्हतर्षि ने कहा है।

गुजराती भाषान्तर :—

માનથી હેઠે ઉતરેલા અને વિનયમાં પોતાના આત્માને સ્થિર રાખનાર પુષ્પશાલપુત્ર નામક અર્હતર્ષીએ આમ કહ્યું છે.

पुढवीं आगम्म सिरसा, थले किच्चाण अंजलिं ॥
पाण-भोजण से किच्चा, सव्वं च सयणासणं ॥ २ ॥

अर्थ :—उन्होंने मस्तक के द्वारा पृथ्वी को छूकर भूमि पर अंजलि करके भोजन पानी और समस्त शयनासन का त्याग कर दिया है।

गुजराती भाषान्तर :—

તેમને મસ્તક દ્વારા પૃથ્વીને સ્પર્શ કરીને તથા ભૂમિ ઉપર બન્ને હાથ જોડીને સર્વ ભોજન પાણી તથા શય્યાસનનો ત્યાગ કર્યો છે.

णमंसमाणस्स सदा, संति आगम वट्टती ॥
कोध-माण-प्पहीणस्स, आता जाणइ पज्जवे ॥ ३ ॥

अर्थ :—नमस्कार करने वाले की आत्मा सदैव शान्ति और आगम में लीन रहती है। क्रोध और मान से विहीन आत्मा पर्यायों को जानता है।

गुजराती भाषान्तर :—

નમસ્કાર કરનાર આત્મા સદા શાન્તિ તથા આગમ(શાસ્ત્રવચન)માં તલ્લીન રહે છે. જેણે ક્રોધ તથા માન જીત્યા છે તે (સર્વ દ્રવ્યોની) પર્યાયોને જાણે છે.

नमनशील आत्मा की निष्ठा आगम में होती है। और आगमाभ्यासी शान्तिपथ से परिचित रहता है। अशान्ति के मूल क्रोध और अहं से उपरत होकर आत्मा समस्तपर्यायों को जानता है। कषाय मोह के क्षय के साथ अन्तर्मुहूर्त में शेष तीनों घातिकर्म क्षय कर आत्मा सर्वज्ञ बनता है। सर्वज्ञ द्रव्यों की अनन्त पर्यायें युगपत् जानते हैं। छद्मस्थ समस्त द्रव्यों का परिज्ञान रखता है, किन्तु एक द्रव्य की भी वह समस्त पर्यायों को वह नहीं जान सकता। वाचकमुख्य भी बोलते हैं— "मतिश्रुतयोर्निबंधः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" मति श्रुत का विषय प्रबन्ध समस्त द्रव्यों में है, पर समस्त पर्यायों में नहीं है।

"सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" केवलज्ञान का विषयनिर्बन्ध समस्त द्रव्यपर्यायों में युगपत् है। तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सूत्र २७-३०.

टीका :—मानात् प्रत्यवतीर्य मानं त्यक्त्वा विनय आत्मानं उपदर्शयेत्, क्रोधमानहीनस्य आत्मा पर्यायान् जानाति, क्रोधस्थाने शमं सेवते मानस्थाने मार्दवम्।

मान रूप गज से नीचे उतर कर आत्मा विनय के दर्शन करता है। क्रोध-मान से विहीन आत्मा पर्यायों को जानता है। क्रोध के स्थान पर शान्ति और मान के स्थान पर मार्दव को प्राप्त करता है।

ण पाणे अतिपातेज्जा, अलियादिण्णं च वज्जए ॥
ण मेहुणं च सेवेज्जा, भवेज्जा अपरिग्गहे ॥ ४ ॥

अर्थ :—साधक प्राणातिपात का सेवन न करे। असत्य और स्तेय का वर्जन करे। मैथुन का सेवन न करे। और अपरिग्रही बने।

गुजराती भाषान्तर :—

મુનિ પ્રાણાતિપાત (હિંસા) ન કરે, અસત્ય તથા ચોરીને છોડે, મૈથુનનો ત્યાગ કરે અને અપરિગ્રહી બને.

प्रस्तुत गाथा में साधक जीवन में पांच महाव्रतों का निरूपण किया है। यद्यपि पुष्पशालपुत्र ऋषि भगवान नेमनाथ की परम्परा के हैं, किन्तु यहाँ पंच महाव्रतों का पृथक् पृथक् निरूपण करते हैं।

कोह-माण-परिण्णस्स, आता जाणाति पज्जवे ॥
कुणिमं च ण सेवेज्जा, समाधिमभिदंसए ॥ ५ ॥

अर्थ :—क्रोध-मान का परिज्ञाता आत्मा पर्यायों का भी परिज्ञाता है। समाधि का इच्छुक साधक मांस का भी सेवन न करे।

गुजराती भाषान्तर :—

ક્રોધ તથા માનને જીતનાર આત્માના પર્યાયોને પણ જાણે છે. સમાધિને ચાહનાર સાધક માંસનું પણ સેવન ન કરે.

आगम में दो प्रकार की परिज्ञा बताई है— ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा। ज्ञपरिज्ञा से साधक वस्तु के स्वरूप को जानता है और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से आश्रव का प्रत्याख्यान करता है।

एवं से बुद्धे विरए पावाओ० ॥

अर्थ :—इस प्रकार प्रबुद्ध आत्मा पाप से विरक्त होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

આ પ્રમાણે પ્રબુદ્ધ આત્મા પાપથી મુક્ત થાય છે.

इति पंचमं पुप्फसालपुत्त णामज्झयणं ॥

इस प्रकार पुष्पशालपुत्रनामक पंचम अध्ययन समाप्त ॥

षष्ठ अध्ययन

वागलचीरी-अज्झयण

तमेव उवरते मातंग,-सड्ढे काय-भेदाति ॥
आयति तमुदाहरे, देवदाणवाणुमतं ॥ १ ॥

अर्थ :—देह भेद न होने पर भी गजेन्द्र की श्रद्धा रखने वाला अशुभ वृत्तियों से उपरत रहकर देव और दानव से अभिमत सिद्धान्त बोलते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જેમ હાથી યુદ્ધમાં જાય અને બાણવૃષ્ટિથી પાછો ન ફરે તેવી રીતે સાધકને મરણાન્તિક ઉપસર્ગ આવે તો પણ અશુભ વૃત્તિઓથી અલગ રહેવા જોઈએ એવું દેવ અને દાનવોને પણ માન્ય સિદ્ધાન્ત (અર્હતર્ષિ) બોલે છે.

आयतिः उत्तरकालः—अमरकोष ।

युद्ध में गया हुआ गजेन्द्र शत्रुदल के प्रहारों को सह कर भी आगे ही बढ़ता है। उसी की सुदृढ़ श्रद्धा से साधक की श्रद्धा को तोलते हुए ऋषि बोलते हैं। देव दानव और मानव समस्त सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी साधक को युद्ध रत हस्ति की उपमा दी गई है:—

पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरेव महामुणी ॥
नागो संगामसीसे वा, सुरो अभिहणे परं ॥ अध्य० २-१०.

प्रस्तुत अध्ययन की पहली गाथा काफी गूढ़ है। अर्थ अस्पष्ट है। टीकाकार एवं प्रोफेसर शुब्रिंग इसके सम्बन्ध में भिन्न मत रखते हैं। दोनों की व्याख्याएँ नीचे दी जा रही हैं। सत्य का तथ्य पाठकों की विवेक बुद्धि पर छोड़ता हूँ।—

टीका :—**मातंग इति ललितविस्तरग्रंथतृतीयपरिवर्तानुसारेण कस्यचिद् प्रत्येकबुद्धस्य नाम अस्य त्वर्षेर्बुद्धक्षेत्रं रिंचतस्तेजो धातुं च समापद्योल्कैव परिनिर्वाणस्येहाध्ययनस्य गद्ये च पद्ये चानुलेखितत्वान्मातंगो गज एवेति अपरिहार्या व्याख्या।**

ललित विस्तर ग्रंथ के तीसरे परिवर्त के अनुसार मातंग यह किसी प्रत्येक बुद्ध का नाम है। किन्तु यह ऋषि बुद्धक्षेत्र का है और तेज धारण के लिये चमकती बीजली की भांति वर्णन आता है। किन्तु परिनिर्वाण के इस अध्ययन में उल्लिखित मातंग का अर्थ हस्ति ही है। इस व्याख्या को मानकर ही हमें चलना होगा।

टीका :—**गजो मरणार्थं गहनं वनं यातीति प्रसिद्धं। मातंगवत् आचरन् श्राद्धो मातंगश्राद्धः। गजो यथा तमसि गहन उपरतो मृतस्तथा श्राद्धोऽपि कायभेदाय मरणायैकाकी एव प्रायोपगमं गच्छति। आयति भविष्यत् काले तं देवदानवानुमतं प्रशस्यमति उदाहरे उदाहरिष्यति जनः।**

हाथी मृत्यु के लिये गहन वन में प्रवेश करता है यह प्रसिद्ध है। मातंग (हस्ति) की भांति आचरण करने वाला श्रद्धावान् (साधक) मातंगश्राद्ध कहलाता है। जैसे हस्ति अंधकार पूर्ण गहन वन में प्रवेश करके मरता है ऐसे ही साधक शरीर त्याग के लिये अकेला पादपोपगमन (संथारा) करता है।

आयतिशब्द भविष्यकाल के अर्थ में आया है। देव और दानव सभी के लिये प्रशस्त हो ऐसा (सिद्धान्त) मैं कहूंगा।

प्रोफेसर शुब्रिंग् " मातंगश्राद्धे " के सम्बन्ध में भिन्न मत रखते हैं:—"इधर उधर भटकते हाथी की भांति सामान्य मानव अपने लिये जीता है। अंधेरी झाड़ियों में हाथी मर जाता है उसका कोई साक्षी नहीं रहता; इसी प्रकार सामान्य मानव मर जाता है उस ओर भी कोई देखता नहीं है, उसकी कोई कहानी कहने वाला नहीं मिलता। ऐसा मानव कभी कभी मृत्यु के लिये महत् वन में पहुँचता है, ऐसे मानव को यहां (प्रस्तुत अध्ययन में) देव और दानव के बीच लिया गया है। प्रस्तुत पाठ में कसी हुई शब्द-रचना है।

तेणेमं खलु भो लोकं सणरामरं वसीकतमेव मण्णासि ॥
तमहं बेमि विरयं वागलचीरिणा अरहता इसिणा बुइतं ॥ २ ॥

अर्थ :—देव दानव और मानवों की यह सम्पूर्ण सृष्टि जिसके आधीन है वह मैं विरत वल्कलचीरि अर्हतर्षि इस प्रकार बोलता हूँ।

गुजराती भाषान्तर :—

જેણે દેવ દાનવ અને માનવની સંપૂર્ણ સૃષ્ટિ વશમાં કરી છે તે હું વલ્કલચીરી નામનો સંસારથી વિરત અર્હતર્ષિ આમ બોલું છું.

टीका :—**तेनायं खलु भो लोकः सनरामरो वशीकृत एवेति मन्ये तमहं विरतं विरजस्कं वेति ब्रवीमि ।**

हे आत्माओं! उसी ने देव और मानव की सृष्टि वश में की है ऐसा मैं मानता हूँ वह मैं विरत अथवा (कर्म) रज-रहित (वल्कलचीरी) इस प्रकार बोलता हूँ।

ण णारीगणपसत्ते अप्पणो य अबंधवे ॥
पुरिसा जत्तो वि वच्चह तत्तो वि जुधिरे जणे ॥ ३ ॥

अर्थ :—हे पुरुष! तूं स्त्रीवृन्द की संसक्ति (आसक्ति) से दूर रह और अपना अबंधु (दुश्मन) भी न बन; क्यों कि नारी-प्रसक्त (आसक्त) व्यक्ति अपने आपका शत्रु होता है। अतः जितना भी संभव है युद्ध करो और विजयी बनो।

गुजराती भाषान्तर :—

હે પુરુષ! તૂ નારીજાતિની આસક્તિથી દૂર રહ અને પોતાનો જ દુશ્મન પણ ના બન. કેમકે નારીમાં આસક્ત થએલો આત્મા પોતાનો દુશ્મન બને છે. માટે જેટલું બને તેટલું (વિકારો સાથે) યુદ્ધ કરો અને વિજય મેળવો.

जिस आरंभ से आत्मा नरक के द्वार पहुँचता है, उससे दूर रहो। स्त्रीवर्ग में संसक्त और युद्धविरत व्यक्ति नरक की राह लेते हैं। वे दोनों पापशील आत्माएँ कर्म विपाक को प्राप्त करेंगी।

जीवन भी एक युद्ध स्थल है। साधक को दो मोर्चे पर लड़ना होगा। एक नारी पर आसक्ति और दूसरा परिवार पर ममत्व। यह अन्तर का संघर्ष है। साधक! तुम्हें इस मोर्चे पर डट जाना है। पूरी शक्ति के साथ रहो, विजय तुम्हारे हाथ है।

इसके दो पाठान्तर हैं "ण नारीगणपसेते" दूसरा "ण नारीगणपसंत्वतु" दोनों पाठ प्रायः स्त्री-संसर्ग से बचने का आशय रखते हैं।

टीका :—**हे पुरुष! नारीगणप्रसक्तो मा भूः आत्मनश्चाबन्धवः हे पुरुषाः यस्मात् आरंभाद् व्रजथ नरकमिति शेषः, तस्माद् युद्धशीलो जनोऽपि व्रजति, स्त्रीगृद्धो हिंसकश्चोभौ पापकारिणौ कर्मफलं लप्स्येते इति भावः ।**

हे पुरुष! नारीवृन्द पर आसक्त मत हो, साथ ही अपना शत्रु भी मत हो। हे पुरुष! जिस आरंभ (पाप) से नरक के द्वार पर आत्मा पहुँचता है उस युद्ध की भयानक वृत्ति से भी तुम दूर रहो। स्त्रियों में आसक्त और हिंसक ये दोनों पाप-कारी आत्माएँ कर्मफल को प्राप्त करते हैं।

णिरंकुसे व मातंगे छिण्णरस्सी हए वि वा ॥
णाणपग्गहपब्भट्ठे विविधं पवते णरे ॥ ४ ॥

अर्थ :—निरंकुश हस्ति और लगामविहीन अश्व नानाविध रस्सियों को तोड़ देता है। इसी प्रकार ज्ञानरूप प्रग्रह से भ्रष्ट मनुष्य भी अनेक रूप में दौड़ता है और विनाश को प्राप्त होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જેમ નિરંકુશ હાથી અને લગામ વગરનો ઘોડો રસ્સીઓને તોડી દિયે છે, તેમ જ્ઞાનરૂપ રસ્સી (મર્યાદા) થી ભ્રષ્ટ થયેલો માણુસ પણ આમ તેમ દોડે છે અને વિનાશને પામે છે.

टीका :—**निरंकुश इव मातंगः च्छिन्नरश्मिर् हयोऽपि भ्रामयति एवं ज्ञानप्रभ्रष्टः विविधं प्लवते, विनाशं गच्छति नरः ।**

अर्थ उपरवत् है।

मर्यादा-भंग करने वाले मानव का जीवन अंकुशविहीन हस्ति और बेलगाम घोड़े की भांति खतरनाक होता है। वह ऋषि और सन्तों के व्रतों की मर्यादा के बंधनों को तोड़कर आत्म-पतन करता है।

"हए" का पाठान्तर "रवे" मिलता है। जिसका अर्थ शब्द होता है, जो कि छिन्न रस्सी के साथ ठीक नहीं बैठता है।

णावा अकण्णधारा व सागरे वायुणेरिता ॥
चंचला धावते णावा सभावाओ अकोविता ॥ ५ ॥

अर्थ :—नाविक (मल्लाह) रहित नौका वायु से प्रेरित होकर सागर में इतस्ततः दौड़ती है। इसी प्रकार अकोविद मानव भी स्वभाव से भटकते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

નાવિક વગરની નાવ હવાને લીધે સમુદ્રમાં આમ તેમ દોડે છે તેમ અજ્ઞાની માણસ પણ (સંસારમાં વાસનાથી પ્રેરાઈને) આમ તેમ છોડે છે.

सागर में पड़ी हुई मल्लाह रहित नौका वायु के थपेड़ों से इतस्ततः लक्ष्य-हीन दौड़ती है। ज्ञान-शून्य आत्मा अपने आपको इच्छाओं की लहरों पर छोड़ देते हैं। इच्छाओं की लहरों पर तैरने वाला लक्ष्य हीन होकर भटक जाता है।

टीका :—अकर्णधारा नौरिव सागरे वायुनेरिता चंचला धावते नौरिति द्वितीयपदं स्वभावादकोविदा। अर्थ गतं।

मुक्कं पुप्फं व आगासे णिराधारे तु से णरे ॥
दढसुंबणिबद्धे तु विहरे बलवं विहिं ॥ ६ ॥

अर्थ :—आकाश में फेंका हुआ पुष्प, निराधार मानव और दृढ़ रस्सी से बद्ध पक्षी के लिये विधि ही बलवान है।

गुजराती भाषान्तर :—

આકાશમાં ફેંકાયલા ફૂલ, (સમુદ્રમાં પડેલો) નિરાધાર માણસ અને મજબૂત દોરડાથી બંધાયેલા પક્ષી એ બધાની સફલતા અને શાન્તિ ભાગ્યને આધારે છે.

आकाश में उड़ता हुआ पुष्प कहाँ जा गिरेगा, अपार सागरमें पडा मानव कहाँ थाह पाएगा और सुदृढ़ सूत्र से बंधा पक्षी कब लक्ष्य पर पहुँचेगा? उसके लिये कोई कुछ कह नहीं सकता। उसका भाग्य ही वहाँ एक मात्र सहायक हो। अर्थात् इनका लक्ष्य स्थान पर पहुँचना विधि के हाथों में है। अथवा आकाश में फेंके गये पुष्प की भांति वह मनुष्य निराधार है। तथा बंधे हुए पक्षी के भांति उसका जीवन है। उसके लिये विधि ही बलवान है। अथवा उसकी मुक्ति के लिये तप की विधि ही बलवती है। वही उसे अशान्ति से मुक्त कर सकती है।

टीका :—पुष्पमिवाकाशे मुक्तं स्थापितं एवं निराधारः स नरः पुष्पमिव दढशुल्बनिबद्धं एवं दढसूत्र निबद्ध इति षष्ठे श्लोकेऽभिहितमिहैवाध्याहार्यं; नरो बलवन्तं तपोविधिं विहरेदिति। विहरते सकर्मकः प्रयोगः। अर्थ गतं।

छठे श्लोक में जो कहा गया है वही नवम अध्याय में अध्याहार्य है।

सुत्तमेत्तगतिं चेव, [1]गंतुकामेऽवि से जहा ॥
एवं लद्धा वि सम्मग्गं, सभावाओ अकोविते ॥ ७ ॥

अर्थ :—सूत्र मात्र ही उसकी गति है और वह गमन करना चाहता है। स्वभाव से अकोविद पुरुष सम्यक् मार्ग को प्राप्त करके भी लक्ष्य स्थान को नहीं पा सकते।

गुजराती भाषान्तर :—

જે માણસો સ્વભાવથી કુશળ નથી તેઓ સમ્યગ્ માર્ગને પ્રાપ્ત કરીને પોતાના લક્ષ્ય તરફ જઈ શકતા નથી. પણ તે સૂત્રના અનુસારેજ ગતિ કરી શકે છે.

धागे से बंधा पक्षी गति करना चाहता है उपर उसकी दौड़ वहीं तक है जहां तक कि धागा है। उससे वह आगे नहीं बढ़ सकता। इसी प्रकार जो स्वभावतः कुशल नहीं है, स्वतः ज्ञानसम्पन्न नहीं है वे सम्यग् मार्ग प्राप्त करके भी आगे नहीं बढ़ सकते। वे परम्परा के धागे से (सूत्र से) चिपटे रहेंगे, पर उनके विशेषार्थ तक पहुँच कर आत्मसाधना करना उनके वश की बात नहीं है।

---

१ तुग।

जं तु परं णवएहिं अंबरे वा विहंगमे ॥
दढसुत्तणिबद्धेत्ति सिलोको[1] ॥ ८ ॥

अर्थ :—जो दूसरे को नवीन विचारधाराओं के द्वारा आकाश में विहंगम बने देखते हैं। पर वे अपने आप को दृढ़ रज्जुबद्ध पाते हैं। शेष छठे श्लोक की भांति है।

गुजराती भाषान्तर :—

જે (માણસો) બીજાને નવીન વિચારોના આધારે આકાશમાં (સ્વતંત્ર) પક્ષીની જેમ (ઉડતા) જુવે છે, પણ પોતાને દોરડીથી બંધાયેલો જુવે છે.

जब साधक दूसरे को स्वतंत्र उड़ान भरते देखता है और अपने आप को सुदृढ पाश में बंधा हुआ पाता है, तो उसका हृदय मुक्त गगन में उड़ान भरने के लिये वैसा ही छटपटाता है जैसा पाश में बद्ध पक्षी। सम्यग्दृष्टि आत्मा मुक्ति की ओर जाने वाले महापुरुषों को देखता है तब भी उसे बन्धन की कठोरता अखर जाती है।

णाणा-पग्गहसंबंधे, धितिमं पणिहितिंदिए ॥
सुत्तमेत्तगती चेव, तधा साधू णिरंगणे ॥ ९ ॥

अर्थ :—नानाविध नियमों (प्रग्रह) के सम्बन्ध में धैर्यशील दमितेन्द्रिय निरंगण साधु सूत्रमात्र गति का अवलंबन लेता है।

गुजराती भाषान्तर :—

અનેક પ્રકારના જુદા જુદા નિયમોના સંબન્ધમાં ધૈર્યશીલ, ઈન્દ્રિયોને દમન કરનાર, અને સ્ત્રિઓથી દૂર રહેનાર સાધુ સૂત્રને અવલંબીને જ ગતિ કરે છે.

इच्छा स्वयं एक पाश है। इच्छा की पूर्ति में सुख की कल्पना आत्मा की बद्ध दशा है जब कि इच्छानिरोध मुक्ति का द्वार है। इच्छाओं का गुलाम सारे जगत का गुलाम है। आशा के पाश में बद्ध व्यक्ति का चित्र ठीक वैसा ही होगा जैसा सैंकड़ो बन्धनों से बन्धे हुए अश्व का चित्र। न वह इस ओर हिल सकता है और न वह उस ओर। साधक विविध नियमों द्वारा इच्छा के पाश को तोड़ता है और स्वतंत्र बनता है। नियमों के सम्बन्ध में धैर्यशील साधक सूत्र की गति का अवलंब न ले।

सच्छंदगतिपयारा, जीवा संसारसागरे ॥
कम्मसंताणसंबद्धा, हिंडंति विविहं भवं ॥ १० ॥

अर्थ :—स्वच्छन्द गति से घूमने वाली आत्माएँ कर्म-संतति से सम्बद्ध होकर विविध भवों में भटकती हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

સ્વૈર વૃત્તિથી ભટકવાવાળા આત્માઓ, કર્મથી બંધાઈને ભવોભવ પરિભ્રમણ કરે છે.

पिछली गाथा में बताया गया है, साधक इच्छानिरोध के लिये सूत्र द्वारा निर्दिष्ट दिशा में आगे बढ़े। क्यों कि आगम की मर्यादाओं को तोड़कर स्वच्छन्द आचरण रखने वाले प्राणी कर्म वेष्टित होकर भवपरम्परा में परिभ्रमण करते हैं।

कम्मसंताणः—कर्म आत्मा के साथ सन्तति प्रवाह से ही सम्बद्ध है। कोई भी कर्म अनन्त अनन्त काल तक के लिये आत्मा के साथ बंध नहीं जाता है, किन्तु समय की अमुक सीमा विशेष को लेकर ही कर्म आत्मा के साथ चिपकते हैं। किन्तु जब उनका विपाकोदय होता है उस समय वह आत्मा शुभनिमित्त को पाकर राग की परिणति लाता है और अशुभ-निमित्त पर द्वेष परिणति रखता है। ये ही परिणतियाँ पुनः अनन्त अनन्त नये कर्मों की वर्गणाएँ आकृष्ट करती हैं और आत्मा उनसे संबद्ध होता है।

इत्थीणुगिद्धे वसए, अप्पणो य अबंधवे ॥
जत्तो विवज्जती पुरिसे, तत्तो विज्झविणे जणे ॥ ११ ॥

अर्थ :—नारीविषयों में अनुगृद्ध (लोलुप) रहने वाला आत्मा अपने आपका भी दुश्मन होता है। पुरुष जितना जितना इसका विवर्जन करता है उतना वह उपशान्त रह सकता है।

गुजराती भाषान्तर :—

વિષયોમાં લોલુપ રહેવાવાળો આત્મા પોતાનો જ સ્વયં પણ દુશ્મન હોય છે. પુરુષ જેટલો તેનાથી દૂર રહે છે, તેટલો જ તે શાન્ત રહી શકે છે.

---

१ तुसिणे वाइए जगे (रतलामवाली प्रति)।

वासना वासित आत्मा स्वतः स्वभाव दशा की हत्या करता है। आत्म-गुणों को नष्ट कर आत्मा का पतन करता है, अतः वह आत्मा का शत्रु ही है। दूसरी ओर मोह के आवेग में आत्महत्या करने वालों की भी कमी नहीं है। अतः साधक को इससे दूर रहने का संकेत किया गया है। वह विवर्जन केवल पार्थिव ही न हों अपि तु मानसिक भी होना चाहिये। जितनी दूरी है उतना ही मन शान्त रहेगा।

मन्नती मुक्कमप्पाणं पडिबद्धे पलायते ॥
विरते भगवं वक्कलचीरि उग्गतवेत्ति ॥ १२ ॥
एवं से बुद्धे० ॥

अर्थ :—जो अपने आपको मुक्त मान लेता है वह प्रतिबद्ध होकर पलायन करता है। किन्तु भगवान वल्कलचीरि ही संसार के दावानल से बाहर निकलते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જે સ્વયં પોતાને મુક્ત માની બેસે છે, તેને સામેથી (કર્મથી) બંધાઈને ભાગવું પડે છે. પરંતુ ભગવાન વલ્કલચીરિ જ સંસારરૂપી દાવાનળમાંથી બહાર નીકળે છે.

बहुत से लोक अपने आपको मुक्त मानते हैं, किन्तु केवल मान लेने मात्र से आग ठण्डी नहीं हो जाती। मुक्त मान लेने पर भी वह आत्मा कर्म-शृंखलाओं से प्रतिबद्ध होकर पलायन करता है। तो वह 'वदतो व्याघात' हुआ। मुक्त आत्मा पुनः कर्मबद्ध हो संसार में परिभ्रमण नहीं करेगा।

छट्ठं वक्कलचीरिणामज्झयणं ॥

॥ वक्कलचीरिप्रोक्तं षष्ठं अध्ययनं समाप्तम् ॥
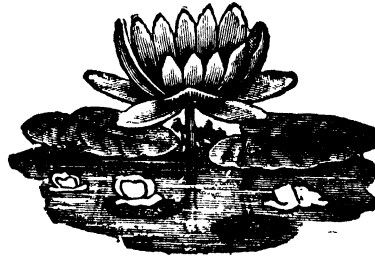
सप्तम अध्ययन

कुम्मापुत्त इसि-भासिय अध्ययन

घर में कैवल्य पाने वाले अर्हतर्षि कुर्मापुत्र दुःख से मुक्त होने के लिये प्रेरणा दे रहे हैं। दुःख क्या है और दुःख के कारण क्या है ?। उत्सुकता याने उत्सूत्रता स्वयं एक दुःख का हेतु है। शास्त्रवाक्यों को तोड़-मरोड़ कर उस से मनमाना अर्थ निकालना और उसके द्वारा अपना अभीप्सित पूरा करना गलत है। भोली जनता को भुलावा देकर शास्त्रों की दुहाई देकर उस ओट में वैयक्तिक हितों का पोषण करना एक पाप है। किसी भी लेखक के शब्दों को गलत ढंग से रख कर उसका वह अर्थ कर डालना जो स्वयं लेखक को मान्य न हो तो लेखक के प्रति अन्याय होगा। दूसरी ओर उत्सुकता और इच्छा स्वयं दुःख का हेतु है। इच्छाओं के बहाव में रहने वाला बिना पतवार की नौका की तरह भटकता है, इच्छा की तुष्टि के लिये वह साधना करता है, समाज-सेवा करता है, राष्ट्रीयता अपनाता है, तो भी अन्तर में छिपी वासना उसे कहीं शान्ति नहीं पाने देती। यही सब कुछ प्रस्तुत अध्ययन का प्रतिपाद्य है।

सव्वं दुक्खावहं दुक्खं दुक्खं सुउसुयत्तणं ॥
दुक्खीव दुक्करचरियं चरित्ता सव्वदुक्खं खवेति तवसा ॥ १ ॥

अर्थ :—समस्त दुःख दुःखप्रद है। उत्सुकता अथवा उत्सूत्रता सबसे बड़ा दुःखी के सदृश दुष्कर साधना करके तप के द्वारा साधक समस्त दुःख का क्षय करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

બધાં દુઃખો કષ્ટ આપનાર છે. ઉત્સુકતા અથવા ઉત્સૂત્રતા સૌથી મોટું દુઃખ છે. દુઃખીની જેમ દુષ્કર સાધના કરીને, તપદ્વારા સાધક સમસ્ત દુઃખોનો ક્ષય (નાશ) કરે છે.

दुःख का नाम ही आत्मा को दुःखी करता है। वह दुःख से दूर भागना चाहता है। किन्तु दुःख भी दुनियाँ की निकम्मी चीज नहीं है। कमल कीचड़ से पैदा होता है, उसी प्रकार वैराग्य भी प्रायः दुःख से ही आता है। गर्मी से पारा पिघलता है, उसी तरह दुःख की आँच में मानव का बन्धुत्व प्रसरता है। दुःखी व्यक्ति सबमें आत्मीयता के दर्शन करता है। दुःखी यदि दुःख में समभाव की साधना करता है तो वह सन्त की कोटी में पहुँच जाता है साथ ही साधक इच्छा को नियंत्रित करे। क्योंकि वही तो अशान्ति की जड़ है। इच्छा की पूर्ति न होना दुःख है तो इच्छा की पूर्ति भी सुख न होकर दुःख का द्वारा खोलती है, अतः साधक इच्छा-निरोध करे। ऐसा करके साधक स्थूल रूप से दुःखी की श्रेणि में आ जाएगा और दुःखी मानव की भांति आवश्यकताओं को सीमित करेगा, किन्तु अन्तर् में वह तप की ज्वाला द्वारा समस्त दुःखों को समाप्त कर देता है।

टीका :—सर्वं दुःखावहं दुःखं; सोत्सुकत्वमिच्छा। दुःखी वा त्ति इवेत्ति न, किन्त्वेवेति।

इच्छा समस्त दुःखों के कारण है तथा स्वयं दुःखरूप है। दुःखीव शब्द से यहां दुःख के समान ऐसा अर्थ न लिया जाय अपि तु वह दुःखी ही है, इस रूप में उसे ग्रहण किया जाए।

प्रोफेसर शुब्रिंग इस सम्बन्ध में अपना अभिप्राय निम्न रूप में प्रदर्शित करते हैं—

प्रत्येक दुःख अपने साथ नया दुःख लाता है। पहिले से किसी वस्तु की अभीप्सा (उत्सुकता) भी दुःख है। साधुत्व समस्त दुःखों का अन्त कर सकता है। साधना के पथ में आने वाले कष्टों को सहना चाहिये। प्रथम श्लोक साधना में आने वाले दुःखों का वर्णन करता है।

तम्हा अदीणमणसो दुक्खी सव्वदुक्खं तितिक्खेज्जा ॥
सेत्ति कुम्मापुत्तेण अरहता इसिणा वुइयं ॥ २ ॥

अर्थ :—अतः दुःखी व्यक्ति अदीन मन होकर समस्त दुःखों को सहन करे। कुर्मापुत्र अर्हतर्षि इस प्रकार बोले।

गुजराती भाषान्तर :—

તેથી દુઃખી વ્યક્તિઓએ, દીન હીન ન થતાં સર્વ પ્રકારના દુઃખોને (સમભાવથી) સહન કરવા એમ "કુર્મા-પુત્ર અર્હતર્ષિ" એ પ્રમાણે બોલ્યા.

इच्छा जन्य दुःख पर साधक विजय पाए, किन्तु उसके बाद भी शारीरिक वेदना कभी सता सकती है। दुःख आना यह एक बात है, किन्तु उसके साथ दीन मनोवृत्ति का आना दूसरी बात है। दुःख शरीर के तेज को समाप्त करता है, तो दीन मनोवृत्ति आत्मा की चमक को समाप्त करती है; इसलिये गरीबी बुरी नहीं है, दीनता बुरी है। गरीबी में सुखी रोटी चटनी के साथ खाकर भी आदमी के चेहरे पर मुस्कान बनी रह सकती है, किन्तु दीनता में दूसरों की गुलामी है। दीनता में भी विनम्रता है, किन्तु स्वार्थ भावना से दूषित है। इसीलिये दुःख आने पर भी साधक दीनता न आने दे। उत्तराध्ययन में परिसह अध्ययन में क्षुधा पीड़ित होने पर भी साधक भोजन की याचना करे, किन्तु याचना भी दीन वृत्ति से दूर रहे "अदीणमणसो चरे" उत्त. अ. २.

जणवादो ण ताएज्जा अत्थित्तं तवसंजमे।
समाहिं च विराहेति जेरिट्ठचरियं चरे॥ ३॥

अर्थ :—तप-संयम के अस्तित्व में जनवाद आत्मकल्याण नहीं कर सकता। जो देशाचार में पड़ता है वह समाधि को भी खो बैठता है।

गुजराती भाषान्तर :—

તપ-સંયમના અસ્તિત્વમાં જનવાદ આત્મ-કલ્યાણ કરી શકતો નથી. જે દેશાચારમાં પડે છે તે સમાધિને પણ ખોઈ બેસે છે.

वित्तैषणा से उपरत होने के बाद भी मानव लोकैषणा की ओर हाथ बढ़ाता है। यश की भूख भी मानव के मन में सुरक्षित स्थान रखती है। आगे आने के लिये हर संभव प्रयत्न करता है, सेवा भी करता है, किन्तु सेवा का तोल वह यश से करता है। उसका लक्ष्य सेवा न रह कर यश-लिप्सा होगा। यश का मोह उसे राष्ट्रीय क्षेत्र में भी पटकता है, वहां भी ख्याति के प्रवाह में औचित्य का विचार भी न करेगा और आत्मसमाधि को भी खो बैठेगा।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं :—

आक्षिप्तं निन्दितं पुरुषं जनवादो न त्याजयेत्। तपःसंयमौ समाधिं च विराधयति स हिनस्ति योरिष्टाचरियं अपूर्ण-तपश्चरियं चरति।

आक्षिप्त अर्थात् निन्दित पुरुष को जनवाद त्यागता नहीं है। अर्थात् जो साधक संयम पथ से गिर जाता है। जन साधारण उसकी तीव्र निन्दा और भर्त्सना करता है। परिणाम यह आता है साधक गिर कर संभलने के बजाय तप संयम और समाधि भाव सब कुछ खो देता है। साथ ही जो अपूर्ण तप करता है वह कभी हिंसा के लिये भी तत्पर हो जाता है।

आलस्सेणावि जे केइ उस्सुअत्तं ण गच्छति।
तेणावि से सुही होइ किं तु सिद्धि परक्कमे॥ ४॥

अर्थ :—आलस्यवश भी कोई मानव उत्सुकता-इच्छा के पंथ में नहीं जाता है। उससे भी वह सुखी हो सकता है यदि श्रद्धावान् सही पुरुषार्थ करे तो फिर क्या? अवश्य सफलता पा सकता है।

सिद्धि का पाठान्तर सद्धी भी है उसका अर्थ श्रद्धी या सधीर श्रद्धाशील या धैर्ययुक्त पुरुष पराक्रम करे, आलस्य न करे।

गुजराती भाषान्तर :—

આળસુ મનુષ્ય પણ ઉત્સુકતા-ઇચ્છાના પંથે જાતો નથી. તેનાથી પણ તે સુખી થઈ શકે છે, જો શ્રદ્ધાવાન્ હોય અને પુરુષાર્થ કરે તો પછી શું? જરૂર વિજય મેળવી શકે છે. સિદ્ધિનું પાઠાન્તર સદ્ધી પણ છે, તેનો અર્થ શ્રદ્ધી અથવા સધીર, શ્રદ્ધાશીલ અથવા ધૈર્યયુક્ત પુરુષ પરાક્રમ કરે, પણ આળસ ન કરે.

प्रमाद की गणना पांच पापों में है, किन्तु वह प्रमाद यदि आत्मा को अशुभ से रोकता है तो द्रव्य प्रमाद इतना अनिष्ट कारक नहीं होता, क्यों कि यदि आलस्य को लेकर भी मानव पाप की ओर प्रवृत्त नहीं होता है तो भी वह नारक से तो बच जाता है। किन्तु आत्मा यदि विचार पूर्वक अपने पुरुषार्थ को आत्मसिद्धि की ओर मोड़ देता है तो अपने लक्ष्य को पा लेता है।

टीका :—यः कश्चिदालस्येन कारणतोत्सुकत्वं न गच्छति तेनापि स सुखी भवति इ. अ. किन्तु परन्तु श्रद्धी सधीर धीमान् वा पराक्रामेदालस्यं न गच्छेत्।

आलस्य से भी जो कोई पापक्रिया में उत्सुकता नहीं रखता है वह भी सुखी होता है। फिर भी श्रद्धावान् धैर्यशील साधक पुरुषार्थ वादी बने। आलस्य का परित्याग कर शुभ में प्रवृत्ति के लिये उठ खड़ा हो।

आलस्संतु परिण्णाए जाती-मरण-बंधणं।
उत्तिमट्ठवरग्गाही वीरियातो परिव्वए ॥ ५ ॥

अर्थ :—प्रमाद जन्म-मृत्यु के बंधन रूप में परिज्ञात है। श्रेष्ठ ग्राही आत्मा श्रेष्ठ अर्थ के लिये शक्ति के साथ विचरण करे।

गुजराती भाषान्तर :—

પ્રમાદ (ભૂલ) જન્મ. મૃત્યુના બંધન રૂપમાં પરિજ્ઞાત છે. શ્રેષ્ઠ ગ્રાહી આત્માએ શ્રેષ્ઠ અર્થ માટે શક્તિની સાથે ચાલવું જોઈએ.

प्रमाद स्वयं एक मौत है। अतः साधक उससे सावधान रहे। अच्छाई का ग्राहक व्यक्ति के साथ घूमें। विहार करे। श्रमण संस्कृति पुरुषार्थ में विश्वास करती है। उसके आराध्य देव स्वयं श्रमण भगवान थे। उन्होंने गौतम जैसे साधक को अप्रमत्त रहने के लिये उद्बोधन दिया है[1]। अतः आलस्य से पाप में न जाने यह ठीक है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि आलस्य अच्छा है। इसीलिये प्रस्तुत गाथा में साधक को अप्रमत्त रहकर विचरण करने की प्रेरणा दी गई है।

कामं अकाम-कारी अत्तत्ताए परिव्वए।
सावज्जं णिरवज्जेणं परिण्णाए परिव्वएज्जासि ॥ ६ ॥

अर्थ :—साधक काम को अकाम बनाकर अर्थात् कामपर विजय पाकर विचरण करे। सावद्य को निरवद्य से परिज्ञात कर विचरे।

गुजराती भाषान्तर :—

સાધકે કામને અકામ બનાવીને અર્થાત્ (એટલે કે) કામ પર વિજય મેળવીને ચાલવું જોઈએ. સાવદ્યને નિરવદ્યથી પરિજ્ઞાત કરીને ચાલવું જોઈએ.

परिज्ञा के दो प्रकार बताये गये हैं। ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा। साधक ज्ञपरिज्ञा से सावद्य कर्म को जाने और प्रत्याख्यान से उसका परित्याग करे। आचारांग सूत्र में यह पाठ बहुत स्थानों पर आया है।

पिछली गाथा में बताया गया है कि साधक पुरुषार्थ-वादी बने। पुरुषार्थ चार हैं-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। श्रमण संस्कृति में अर्थ, काम हेय है और धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ उपादेय हैं। उसी की ओर इंगित करते हुए बताया है साधक काम को अकाम अर्थात् उसे विफल करे।

वासना का त्यागी मुनि केवल आत्म-शुद्धि के लिये ही साधना करे। स्वर्ग के फूल और नरक के शूल उसके मन में आकर्षण और भय पैदा न कर सके। तत्त्वज्ञ की साधना स्वर्ग के वैभव के लिये न वह नरक की आग से बचने के लिये भी साधना करेगा। वह इसलिये तप नहीं करता कि यहां एक दिन भूखा रहने से अगले जन्म में इसके बदले में हजार गुना खाद्य सामग्री मिलेगी।

दशवैकालिककार बोलते हैं (अ. ९ उद्देश ४-)

नो इहलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा।
नो परलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा।
नो कित्ति-वण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा।
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा।

साधक इस लोक के भौतिक टुकड़ों को लक्ष्य में रखकर भी तप न करे। न अगले जन्म के लिये ही वह शरीर को सुखावे। प्रशंसा के फूल उस के मन को न लुभावे। किन्तु केवल आत्मा को कर्मबन्धन से विमुक्त करने के लिये ही वह साधक तप का आराधन करे!

टीका—कामं अकामकारी परिव्रजेत्। अत्तत्तेत्ति आत्मत्वार्थं आत्महितार्थं सर्वं सावद्यं परिज्ञाय प्रत्याख्याय निरवद्येन चरितेन परिव्रजेत्।

काम को निष्काम बनाकर साधक विचरे। साधक आत्महित के हित को प्रमुखता देकर सावद्य प्रवृत्ति परिज्ञात कर उसका परित्याग कर निरवद्य चारित्र को लेकर विचरे।

एवं से बुद्धे० ॥ गतार्थ ॥
सत्तमं कुम्मापुत्तणामज्झयणं
सप्तम कुर्मापुत्र नामक अध्ययन समाप्त ॥

१-समयं गोयममा पमायए-उत्तरा० अ० १०.

केतली णाम अट्ठमज्झयणं

केतली पुत्र अर्हतर्षि भाषित अष्टम अध्ययन
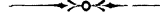
आरं दुगुणेणं पारं एक गुणेणं ।
(ते) केतलीपुत्तेण इसिणा बुइतं ॥ १ ॥

अर्थ :—इस लोक में जीव दो गुणों से युक्त रहता है । दो गुणों से मतलब ज्ञान और चारित्र हो सकते हैं। परलोक में आत्मा के साथ केवल एक गुण ज्ञान ही रहता है । चारित्र साथ नहीं जाता । भगवतीसूत्र में पूछा गया है, कि ज्ञान आत्मा के साथ इस भव में रहता है या पर भव में? इसका समाधान करते हुए प्रभु बोले-गौतम ! ज्ञान इस जन्म में भी होता है और अगले जन्म में भी साथ रह सकता है[1]। चारित्र के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है, वह केवल इसी जन्म में रहता है।

गुजराती भाषान्तर—

આ લોકમાં જીવ બે ગુણોથી યુક્ત હોય છે બે ગુણો એટલે જ્ઞાન અને ચારિત્ર થઈ શકે છે. પરલોકમાં આત્માની સાથે માત્ર જ્ઞાન જ રહે છે, ચારિત્ર સાથે જતું નથી. ભગવતી-સૂત્રમાં પૂછયું છે કે આત્માની સાથે જ્ઞાન આ ભવમાં રહે છે કે પરભવમાં? તેનું સમાધાન કરતા પ્રભુ બોલ્યા-ગૌતમ! જ્ઞાન આ જન્મમાં પણ હોય છે અને આવતા જન્મમાં પણ સાથે રહી શકે છે. ચારિત્ર્યના સંબંધમાં આવું નથી. તે માત્ર આજ ભવમાં (જન્મમાં) રહે છે.

टीकाकार इस सम्बन्ध में भिन्नमत रखते हैं :—आरं ति इहलोके द्विगुणेन द्विगुणपाशेनेव दृढतरं बध्यते जीव इति शेषः । पारं ति परलोकं एकगुणेन सम्यक्त्वेन ।

आरं अर्थात् इसलोक में द्विगुणित पाश से आत्मा बन्धता है । पारं अर्थात् परलोक में एक गुण से अर्थात् से बंधता है । यह अर्थ अस्पष्ट है । द्विगुण से क्या लिया जाय राग या द्वेष ? हाँ; राग द्वेष से आत्मा बंधता है किन्तु इसके साथ यह भी प्रश्न आता है क्या राग द्वेष इसी भव में बंधन कारक हैं, अगले जीवन में नहीं ? दूसरा प्रश्न परलोक में एक गुण बंधन कारक है वह एक गुण है सम्यक्त्व तो क्या सम्यक्त्व भी बन्धन कारक है[2]। सम्यग्दर्शन आत्मा का शुद्ध रूप है, फिर वह बन्धन कारक कैसे हो सकता है ? अतः प्रथम गाथा का प्रस्तुत अर्थ उचित नहीं जान पड़ता ।

द्विगुण से मतलब ज्ञान और चारित्र का ग्रहण उपयुक्त है । एक गुण से अभिप्राय ज्ञान से हो सकता है । यह बंध का नहीं, बंधच्छेद का अभिप्राय है । जो कि अगली गाथा से स्पष्ट होता है—

इह उत्तमगंथ[3]चेयए रहसमिया लुप्पंति ।
गच्छती सयं वा छिंद पावए ॥ २ ॥

अर्थ :—इस श्रेष्ठ ग्रंथ का ज्ञाता रथ की **शम्या** (रथके चक्र से बनी रेखा) की भांति पाप कर्म को नष्ट करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

આ શ્રેષ્ઠ ગ્રંથનો જાણકાર રથની શમ્યા (રથના ચક્રથી બનેલી રેખા) માફક પાપ કર્મોનો નાશ કરે છે.

'गंध' का पाठान्तर गंध है, उसका अर्थ यदि सौरभ लिया जाय तो जीवन की खुशबू होगा । जीवन की सुगन्ध सर्व श्रेष्ठ सुगन्ध है ।

धम्मपद वर्ग में भी कहा गया है:—

चंदणं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सकी ।
एत संगंधजातानं सीलगंधो अणुत्तरो !—धम्मपद पुष्पवर्ग ॥

१—इह भविए भन्ते ! णाणे पर भविए नाणे तदुभविए णाणे ? गोयमा इह भविए वि नाणे, पर भविए वि नाणे, तदुभविए वि नाणे । इह भविए भन्ते चरित्ते पर भविए चरित्ते तदुभयभविए चरित्ते ? गोयमा ! इह भविए चरित्ते, नो पर भविए चरित्ते नो तदु भय भविए चरित्ते । २—सुहाय परिणाम रुवंतु—नवतत्त्वभाष्य. आतम विनिश्चयते बोधः दर्शनं तत्त्व विनिश्चयते । स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यः भवति बन्धः । ३—गंध,

टीका :—हे पुरुष! जीवरथस्य शम्याय इवानिभ इव छिन्दि पापकर्म। रथशम्या लुप्यमाना गच्छति नश्यति।

हे साधक! आत्मा रूप रथ के चरण चिन्हवत् पाप कर्म को नष्ट करो। रथ चलता है और पीछे रेखा छोड़ता जाता है। इसी प्रकार आत्मा जो क्रिया करता है उसके अनुरूप शुभाशुभ बन्ध करता है पाप कर्म को नष्ट करो।

सयं वोच्छिदय कम्मसंचयं
कोसारकीडेव जहाइ बंधणं ॥ ३ ॥

अर्थ :—जैसे रेशम का कीड़ा बंधन को छोड़कर मुक्त होता है, इउसी प्रकार आत्मा स्वयं ही कर्म दलिकों को त्यागकर मुक्त होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જે પ્રમાણે રેશમનો કીડો બંધન તોડીને મુક્ત થાય છે, તેજ પ્રમાણે આત્મા સ્વયં કર્મના બંધનોનો ત્યાગ કરીને મુક્ત થાય છે.

ग्रंथ छेद महामुनि कोशार (रेशम के) कीड़े की भांति बंधन को छोड़कर स्वयं मुक्त होता है।

कोशार नामक रेशमी कीड़ा होता है। सहतूत खाता है, लोग उसे पालते हैं। कुछ दिनों के बाद वह अपने मुँह से एक तांत सी छोड़ता है। उसे अपने शरीर पर लपेटता जाता है। वह तार सैंकड़ों गज लम्बा होता है। उसके द्वारा स्वयं बंध जाता है। बाद में उसे गर्म पानी में छोड़ा जाता है, उष्णता से सारे तार वह तोड़ देता है। आत्मा कोशार (रेशमी किड़े) के सदृश स्वयं अपनी विभावपरिणति के द्वारा कर्म दलिकों का संचय करता है, किन्तु सम्यग्दर्शन पाकर तप की ज्योति लगते ही स्वयं ही कर्मबन्धनों के रेशमी धागे को तोड़कर मुक्त होता है।

जैन दर्शन इस चीज में विश्वास नहीं रखता है कि हमारी आत्मा को कर्म से विमुक्त करने के लिये कोई अदृश्य शक्ति आएगी। अनन्त काल तक परमात्मा के नाम पर घूटने टेक कर गिड़गिड़ाते रहो। दुनियाँ की कोई दूसरी शक्ति बंधन को तोड़ नहीं सकती। आत्मा की सोई हुई अनन्त अनन्त शक्ति जब जागृत होती है तब वह स्वयं ही कर्म जंजीरों को तोड़कर मुक्त होता है।

टीकाकार इस संबंध में भिन्न मत रखते हैं :—उत्तमग्रंथच्छेदको विशिष्टो मुनिर् लोकबन्धनं जहाति कोशाद् रथनिदाद् अरकील इव अत्र प्रथमतृतीयपादयोर्विनिमयो द्वितीयाध्ययनवत् कार्यः।

राग द्वेष की ग्रंथि का छेदन करने वाला विशिष्ट उत्तम मुनि लोकबन्धन का त्याग करता है। जैसे रथ की धुरी में से कील निकल जाने पर रथ भग्न हो जाता है। उसी प्रकार साधक संसार रूप रथ की कील राग द्वेष को नष्ट कर देता है, इस प्रकार वह भवका अंत कर देता है। द्वितीय अध्ययन की भांति यहां भी प्रथम और तृतीय पाद मिल गये हैं।

प्रोफेसर शुब्रिंग भी लिखते हैं—वाहन के खीले की भांति तुम्हारे दोष संसार के संबंध को बनाये रखते हैं और खीले के निकलते ही रथ की गति बंद हो जाती है। इसी प्रकार पाप हटते ही सांसारिक जीवन समाप्त हो जाता है।

तम्हा एयं वियाणिय गंथजालं दुक्खं दुहावहं छिंदिय ठाइ संजमे।
से हु मुणी दुक्खा विमुच्चइ धुवं सिवं गइं उवेइ ॥ ४ ॥ (प्रत्यन्तरे)

अर्थ :—इस प्रकार अभ्यन्तर ग्रंथि जाल को दुःख का हेतु और दुःखरूप जानकर साधक उसका छेदन करता है और संयम में स्थित होता है, वही मुनि दुःख से विमुक्त होता है। आयु-समाप्ति के बाद शाश्वत शिवरूप सिद्ध स्थिति को प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

આ પ્રમાણે અભ્યન્તર ગ્રંથિજાળને દુઃખનું કારણ અને દુઃખરૂપ જાણીને સાધક તેનું છેદન કરે છે અને સંયમમાં સ્થિરતા મેળવે છે, તેજ મુનિ દુઃખથી વિમુક્ત (પર) હોય છે. આયુષ્ય પૂર્ણ થયા પછી શાશ્વત શિવરૂપ સિદ્ધસ્થિતિને પામે છે.

मिथ्यात्व और कषायों की ग्रंथियाँ ही दुःखों के लिये बद्धमूल हैं और इसे मैं अपने पुरुषार्थ के द्वारा ही भेद सकता हूँ। यह परिज्ञान पाते ही आत्मा संयम में स्थित होता है और संयम की परिणति में लीन मुनि समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

टीका :—तस्माद् य एतद् ग्रंथजालं विविधानि लोकबंधनानि विज्ञाय दुःखं दुःखावहं चित्वा संयमे तिष्ठति स खलु मुनिर्दुःखाद् विमुच्यते।

अतः जो ग्रंथ जालरूप विविध प्रकार के लोकबंधनों को जानकर दुःख को दुःख का हेतु जानकर संयम में रहता है वही साधक दुःख से विमुक्त होता है।

एवं से बुद्धे० ॥ गतार्थ

केतलीपुत्र अर्हतर्षिप्रोक्त

॥ इति केतलीपुत्राध्ययनं ॥

॥ इति अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

नवम अध्ययन

णवम महाकासवज्झयणं

महाकाश्यप अर्हतर्षिभाषित

जन्म और मृत्यु की परम्परा कर्म के अस्तित्व को सूचित करती है। जब तक कर्म उपस्थित है तब तक भवभ्रमण चालू रहेगा। कार्य की समाप्ति के लिए कारण को समाप्त करना होगा। संसार रंग मंच पर होने वाली घटनाएं, विचित्रताएं, दुःख और त्रास के रोमांचक दृश्य पर्दे के पीछे एक ही सूत्रधार काम कर रहा है, वह है कर्म जब तक कर्म सूत्रधार है। भयानक नाटक के दृश्यों को समाप्त करने के लिए सूत्रधार को अलग हटाना होगा। कर्म की फिलोसफी ही प्रस्तुत अध्ययन का विषय है।

जाव जाव जम्मं ताव ताव कम्मं, कम्मुणा खलु भो
पया सिया, समियं उवनिचिज्जइ, अवचिज्जइ
य, इइ महाकासेवेण अरहता इसिणा बुइतं ॥

अर्थ :—जब तक जन्म है तब तक कर्म है। कर्म से ही प्रजा उत्पन्न होती है। सम्यक् चरित्र के अनुसरण से कर्मों का अपचय होता है और वे सम्पूर्ण क्षय भी हो सकते हैं। महा काश्यप अर्हतर्षि इस प्रकार बोले :

गुजराती भाषान्तर :—

જ્યાં સુધી જન્મ છે ત્યાં સુધી કર્મ છે. કર્મથી જ પ્રજા ઉત્પન્ન થાય છે. સમ્યક્ ચારિત્ર્યના અનુસરણથી કર્મો શિથિલ થાય છે અને તેનો સંપૂર્ણ ક્ષય પણ થઈ શકે છે. મહાકાશ્યપ અર્હતર્ષિ આ પ્રમાણે બોલ્યા.

महर्षि काश्यप एक महत्व पूर्ण सिद्धान्त बताते हैं। जहां तक जन्म की परम्परा है वहां तक कर्म की परम्पार है। जन्म और कर्म एक दूसरे पर आधार रखते हैं। कर्म से जन्म है और जन्म लेने पर फिर नए कर्मों का संचय है। अतः कर्म-चक्र की गति को रोकने के लिए हमें जन्म-परम्परा को रोकना होगा।

कर्म-परम्परा को रोकने का प्रमुख साधन सम्यक् चरित्र है। दर्शन से आत्मा तत्त्व का साक्षात्कार करता है, सम्यक् ज्ञान के द्वारा उसकी विशेष स्थिति को समझता है और सम्यक् चरित्र के द्वारा उसके प्रवाह को रोकता है अथवा प्रवाह में कमी तो अवश्य लाता है।

टीका :—यावद् यावजन्म तावत् तावत् कर्म, कर्मणा खलु भो प्रजा स्यात्, सम्यक् चरितं अनुसृत्योऽपचीयतेऽपचीयते च कर्म।

जब तक जन्म है तब तक कर्म है। कर्म से ही प्रजा होती है। संसार संतति कर्म पर ही आधारित है। सम्यक् चरित्र के अनुसरण के द्वारा आत्मा कर्म को शिथिल करता है और नष्ट भी करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જ્યાં સુધી જન્મ છે, ત્યાં સુધી કર્મ છે. કર્મથી જ પ્રજા થાય છે. સંસાર સંતતિ કર્મ પર જ આધારિત છે. સમ્યક્ ચરિત્રનું અનુસરણ કરવાથી આત્મા કર્મને શિથિલ કરી શકે છે અને નષ્ટ પણ કરી શકે છે.

कम्मुणा खलु भो अप्पहीणेणं पुणरवि आगच्छइ
हत्थच्छेयणाणि, पायच्छेयणाणि, एवं कण्णच्छेयणाणि,
नक्कच्छेयणाणि उट्ठच्छेयणाणि. जिब्भच्छेयणाणि
सीसदंडणाणि, मुंडणाणि, उदिण्णेण जीवो कोट्टणाणि
पिट्टणाणि, तज्जणाणि, तालणाणि, वहणाइं, बंधणाइं परिकिलेसणाइं ॥

अर्थ :—जब तक आत्मा कर्मों से विहीन नहीं होती है, तब तक उसकी भव-परम्परा समाप्त नहीं है। कहीं हाथ का छेदन होता है, कहीं पैर काटे जाते हैं, कहीं कान का छेदन होता है, कहीं पर नाक का, कहीं होंठ का, तो कहीं जीभ का छेदन होता है। कहीं पर सिर को दंडित किया जाता है, कहीं पर मुंडित किया जाता है। कहीं पर उद्विग्न जीव कूटे जाते हैं, कहीं पर किसी प्राणी को पीटा जा रहा है, तो कहीं उसका तर्जन किया जा रहा है, कहीं पर कोई ताडना दे रहा है, कहीं पर प्राणियों का वध होता है, कहीं पर बंधनों में जकडा जा रहा है, कहीं पर चारों ओर से उसे परिक्लेश दिया जा रहा है।

गुजराती भाषान्तर :—

જ્યાં સુધી આત્મા કર્મોથી છુટકારો પામતો નથી ત્યાં સુધી તેની ભવ-પરંપરા સમાપ્ત થતી નથી. કયાંક હાથનું છેદન થાય છે, તો કયાંય પગ કાપવામાં આવે છે; કયાંક કાન કપાય છે તો કયાંક નાક, કયારેક હોઠો, તો ક્યારેક જીભ કપાય છે. ક્યાંય માથાને દંડ આપવામાં આવે છે તો ક્યાંક તેને મુંડિત કરવામાં આવે છે. કોઈક સ્થળે ઉદ્વિગ્ન જીવને કૂટવામાં આવે છે, તો કોઈક જગ્યાએ કોઈ પ્રાણીને માર મારવામાં આવે છે, તો ક્યાંય તેનું તર્જન કરવામાં આવે છે, ક્યાંક તેને માર મળે છે તો કોઈક સ્થળે પ્રાણીઓનો વધ કરવામાં આવે છે. તો ક્યાંય તેને બંધનમાં જકડવામાં આવે છે. તો કોઈસ્થળે તેને ચારે બાજુથી ઘણું જ દુઃખ (પરિકલેશ) આપવામાં આવે છે.

टीका :—कर्मणा खलु भो अपरिहीनेन पुनरपि हस्तादिच्छेदनानि शीर्षदण्डनानि आगच्छति जीवः उदीरेण तु कर्मणा कुट्टणाणीत्यादि।

कर्म और उसकी उदीरणा से आत्मा हस्तच्छेदनादि दुःखों का अनुभव करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

કર્મ અને તેની ઉદીરણાથી આત્મા હાથનો ઉચ્છેદ વગેરે દુઃખોનો અનુભવ કરે છે.

जब तक जन्म है तब तक कर्म-परम्परा है। जो आत्मा कर्म-परम्परा को छिन्न किए बगैर मरता है, उसे पुनः संसार में आना ही पडता है। जन्म लेने के बाद उसके भाग्य में दुःख ही दुःख है। यह संसार जीता-जागता नरक है। कहीं पर किसी को मारा जा रहा है। कहीं मारना है, कहीं ताडना है, कहीं वध है और कहीं बंधन है। यही दुनियां का चित्र है। दो राष्ट्रों के स्वार्थ आपस में टकराते हैं। उस संघर्ष में से युद्ध की ज्वाला फूट निकलती है। हजारों सैनिक हजारों नागरिक उस ज्वाला में जल जाते हैं। शस्त्रों के द्वारा किसी का हाथ कट जाता है, किसी का पैर कट जाता है, कोई कराहता है और कोई चिल्लाता है। युद्ध के ऐसे छोटे छोटे नक्शे तो रोज ही देखने को मिल जाते हैं। अर्थात् जब तक कर्म है तब तक दुःख मौजूद है।

गुजराती भाषान्तर :—

જ્યાં સુધી જન્મ છે ત્યાં સુધી કર્મની પરમ્પરા છે; જે આત્માઓ કર્મ પરમ્પરાને ક્ષીણ કર્યા વગર મૃત્યુ પામે છે તેને ફરીથી સંસારમાં આવવું જ પડે છે. જન્મ લીધા પછી એના ભાગ્યમાં દુઃખ છે. આ સંસાર જીવતો જાગતો નરક છે. ક્યાંક કોઈને મારી નાખવામાં આવ્યો છે; ક્યાંક મારવાનું, લડવાનું, બાંધવાનું

અને ક્યાંક બંધ છે. આજ દુનિયાનું ચિત્ર છે. એ રાષ્ટ્રોના સ્વાર્થને ખાતર અંદરોઅંદર ઝઘડે છે તે સંઘર્ષમાંથી યુદ્ધની જ્વાળા ફૂટી નીકળે છે. હજારો સૈનિકો અને હજારો નાગરિકો તે જ્વાળામાં હોમાઈ જાય છે. શસ્ત્રોને લીધે કોઈના હાથ કપાઈ જાય છે, કોઈના પગ કપાઈ જાય છે, ફણસે છે અને કોઈ બૂમો પાડે છે. યુદ્ધના આવા નાના નાના નકશાઓ તો રોજ જોવા મળે છે. અર્થાત્ જ્યાં સુધી કર્મ છે ત્યાં સુધી દુઃખ છે જ ને છે. (મોજૂદ છે).

अंडुबंधणकइं बंधणाइं, त्रियलबंधणाणि, जावजीवबंधणाणि,
नियलजुयल संकोडण-मोडणाइं हिययुप्पाडणाइं दसणुप्पाडणाइं,
उलंबणाइं ओलंबणाइं घंसणाइं पीलणाइं सीहपुच्छणाइं कडग्गिदाहणाइं,
भत्तपाणनिरोहणाइं दोगच्चाइं दोभत्ताइं दोमणसाइं ॥

अर्थ :—शृंखला और बेडी के बन्धन, यावज्जीवन के बन्धन, युगल रूप में शृंखला में जकडे, संकोचन मोडन आदि कष्ट, कहीं हृदय उखाडे जा रहे हैं, कहीं किसी के दांत उखाडे जा रहे हैं। कहीं पर किसी वृक्ष की शाखाओं से बांधा जा रहा है, कहीं पर किसी को शृंखला से बांध कर ऊपर लटकाया जा रहा है। कहीं किसी को घसीटा जा रहा है, कहीं पर किसी का घोलन हो रहा है, कहीं पर पीडन किया जा रहा है। कहीं पर सींग को पूंछ से बांध कर चमडी उधेडी जा रही है। कहीं पर कटाग्निदाह हो रहा हैं, कहीं पर भोजन और पानी नहीं दिया जा रहा है। कोई दरिद्रता के दुःख से पीडित हैं। कोई भोजन के अभाव से या अभोज्य भोजन से दुःखी हैं। कोई दुर्मन है, दिन रात आर्थिक या पारिवारिक कठिनाइयों से हमेशा चिंतित रहते हैं।

સાંકળ અને બેડીના બંધન. યાવજ્જીવનના બંધનો, યુગલ રૂપમાં શૃંખલામાં જકડાયેલો, કુલાવું સંકોચાવું તુટવું વગેરે દુઃખ, ક્યાંક હૃદય ખાલી કર્યે જઈ રહ્યા છે, ક્યાંક કોઈના દાંત પાડવામાં આવી રહ્યા છે, કયાંક કોઈ વૃક્ષની ડાળીથી બંધાઈ રહ્યો છે, કયાંક કોઈનાં સાંકળોથી બાંધીને ઉપર લટકાવી રહ્યા છે ક્યાંક કોઈને ઘસેડાવાઈ રહ્યો છે. ક્યાંક કોઈને માર મારાઇ રહ્યો છે, ક્યાંક કોઈ પર બળાત્કાર થઈ રહ્યો છે, ક્યાંક આગળ શિંગડાને પુછડી બાંધી ચામડી ઉતરવાઈ રહી છે. તો ક્યાંક ઘોર અગ્નિદાહ થઈ રહ્યો છે, કોઈ જગ્યાએ અન્નપાણી પણ અપાતા નથી. કોઈ દરિદ્રતાના દુઃખથી પીડાય છે, કોઈ અન્નના અભાવથી અગર અણગમતા અન્નથી દુઃખી થઈ રહ્યા છે. કોઈ આર્થીક કે પારિવારિક આપત્તિ ઓથી હંમેશા ચિંતિત છે.

यहां दुःख पूर्ण बिभीषिकामय संसार का नग्न-चित्र दिया गया है। चारों ओर दुःख की और अशान्ति की लपटें हैं। बहुत से प्राणी मात्र की क्रूरता से पीड़ित हैं। कोई आर्थिक चिन्ताओं से पीडित हैं, कोई दारिद्र की अग्नि से झुलसे जा रहे हैं। कोई आर्थिक कष्ट से युक्त हैं तो पारिवारिक समस्याओं में उलझे रहते हैं। लाखों की सम्पत्ति होने पर भी पारिवारिक समस्याएं मानव को अशान्त बनाए रखती हैं।

टीका :—अन्दु इति शृंखला तया बन्धनानि निगडबन्धनानि सिंहपुच्छनानित्ति श्रीअभयदेवेन औपपातिकवृत्तौ मेहनत्रोटनमिति व्याख्यातानि कडग्गिदाहणाइंति कटकेन वेष्टितुं प्रदीपनं इति दशाश्रुतस्कंधचुराणिः शेषं कठ्यं केवलं दुःखानि प्रत्यनुभवमानो जीवो संसारसागरं अनुपरिवर्तते ॥

अर्थात् अन्दु शृंखला से बांधा जाना निबिड बन्धन। सिंह पुच्छनानि की औपपातिक सूत्र की टीका में आचार्य अभयदेव मेहणत्रोटनं" के रूप में व्याख्या करते हैं। कडीग्गिदाह से मतलब है कटक से बांधने के लिए प्रदीप्त करना।" दशाश्रुतस्कंधचूर्णि। शेष सभी सरल है। केवल दुःख का अनुभव करता हुआ आत्मा संसार-सागर में भटकता है।

"सिंह-पुच्छणाइं" का एक अर्थ यह होता है, सींग को पूंछ से बांध कर उसकी चमडी उधेड़ना। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि किसी आदमी के गर्दन के पिछले भाग की चमडी उतार कर सिंह की पूंछ की आकृति में लटकाया जाता है। कटाग्नि बांस के दो भागों को मिलाकर जलाना कटाग्नि कहलाता है, कि दूसरा अर्थ होता कट नामक घास में लपेट कर आदमी को जला डालना कटाग्नि कहलाता है।

भाउमरणाइं भइणिमरणाइं पुत्तमरणाइं धूयमरणाइं
भज्जमरणाइं अण्णाणि य सयणमित्त-
बंधुवग्गमरणाइं तेसिं च णं दोगच्चाइं दोभाइं
दोमणस्साइं अप्पियसंवासाइं पियविप्पओगाइं
हीलणाइं खिसणाइं गरहणाइं पव्वहणाइं

परिभवणाइं, आगडुणाइं, अण्णयराइं, च दुक्खदोमणस्साइं
पच्चणुभवमाणा अणाइयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारसागरं अणुपरियट्टंति

भाई की मृत्यु, बहन की मृत्यु, पुत्र पुत्री पत्नी की मृत्यु, और दूसरे स्वजन परिजन की मृत्यु या उनका दारिद्र्य, दुर्भोजन, उनकी मानसिक चिन्ताएं, अप्रिय का संयोग और प्रिय का वियोग, अपमान, घृणा और पराजय तथा और भी अनेक दुःख दुश्चिन्ताओं का अनुभव करते हुए आत्मा अनादि, अनन्त, दीर्घ मार्गशील चातुरन्त संसार सागर में परिभ्रमण करते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

ભાઈ, બહેન, પુત્ર, પુત્રી, પતિ, પત્ની વગેરેનું મરણ અને બીજા સ્વજનો પરિજનોનું મરણ અથવા તેમનું દારિદ્રય, માનસિક ચિન્તાઓ, અપ્રિયનો સંયોગ અને પ્રિયવસ્તુનો વિયોગ, અપમાન, ઘૃણા અને પરાજય તથા વધુ અનેક દુઃખ ખરાબ ચિન્તાઓનો અનુભવ કરતાં અનાદિ, અનંત ચીર, માર્ગશીલ સંસાર રૂપી સાગરમાં આત્મા પરિભ્રમણ કરે છે.

कम्मुणा पहीणेणं खलु भो जीवा नो आगच्छिहिति
हत्थच्छेयणाणि ताइं चेव भाणियव्वाइं जाव
संसारकंतारं विईवइत्ता सिवं मयल-मरूय-मक्खय-
मव्वाबाहमपुणरावत्तं सासयं ठाणमब्भुवगया चिट्ठंति।

अर्थ :—कर्महीन आत्मा संसार में पुनः नहीं आती है। हस्तच्छेदनादि उपर्युक्त दुःख उनके लिए समाप्त हो जाते हैं। वे संसार के बीहड बन को पार कर शिव, अचल अरुज, अक्षय, अव्याबाध, पुनरागमन रहित और शाश्वत स्थान को पा लेते हैं।

કર્મહીન આત્મા સંસારમાં ફરીથી આવતો નથી. હસ્ત છેદનાદિ ઉપર કહેલા દુઃખ તેને માટે સમાપ્ત થઈ જાય છે. તે સંસારરૂપી ભયંકર જંગલને પાર કરીને શિવ, અચલ, અરૂજ, અક્ષય, અવ્યાબાધ, પુનરાગમન રહિત અને શાશ્વત સ્થાનને પ્રાપ્ત કરે છે.

कम्ममूलमनिव्वाणं संसारे सव्वदेहिणं।
कम्ममूलाइं दुक्खाइं कम्ममूलं च जम्मणे॥

अर्थ :—संसार के समस्त देह-धारियों का भव-भ्रमण कर्म जन्य है। समस्त दुःखों की जड कर्म है और जन्म भी कर्म मूल है।

સંસારના સમસ્ત દેહધારિયોના ભવભ્રમણનું ઉગમસ્થાન કર્મ છે. સમસ્ત દુઃખોની જડ (મૂળ) કર્મ છે; અને જન્મ પણ કર્મનું જ મૂળ છે.

जब तक लौह पिंड में अग्नि तत्त्व है तब तक उसे घन का प्रहार सहना ही पडेगा। जब तक कर्म है तब तक अशान्ति के प्रहार आत्मा को सहने ही पडेंगे। जब तक आत्मा पर राग और द्वेष की चिकनाहट रहेगी, तब तक कर्म रज उससे अवश्य ही चिपकेगी। बाजार में धूल उडती है तो नए कपडों पर भी लगती है और पुराने स्निग्ध कपडे पर भी चिपकती है। परन्तु नए कपडे पर लगी मिट्टी शीघ्र ही दूर हो सकती है। जब कि चिकनाहट वाले कपडे की रज बिना साबुन और पानी के दूर नहीं हो सकती। इसी प्रकार योग रूप हवा से कर्म धूल उडती है, किंतु आत्मा पर कषाय की चिकनाहट होने पर वह मजबूती से चिपकी रहती है और कषाय की चिकाश रहित आत्मा पर कर्म रज अधिक ठहरती नहीं है, किन्तु सकषाय आत्मा कर्म से वेष्टित हो कर संसार में भव-परम्परा बढाती है।

आचार्य उमास्वाति कहते हैं :—

सकषायत्वाज्जीवकर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते संबन्धः। —तत्वार्थ अ. ८ सू. २ और ३
सकषाय परिणति से आत्मा कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बन्ध है।

संसारसंतईमूलं पुण्णं पावं पुरेकडं।
पुण्णपावनिरोहाय सम्मं संपरिव्वए॥ २॥

अर्थ :—पूर्व कृत पुण्य और पाप संसार संतति के मूल है। पुण्य और पाप के निरोध के लिए साधक सम्यक् प्रकार से विचरे।

गुजराती भाषान्तर :—

પૂર્વે કરેલા પુણ્ય અને પાપ સંસાર સંતતિના મૂળ છે. પુણ્ય અને પાપના અટકાવ માટે સાધકે સમ્યક્ પ્રકારથી વિચરવું જોઈએ.

पुण्य और पाप दोनों बन्ध-हेतुक हैं। क्योंकि, दोनों आश्रव हैं। वाचक मुख्य उमास्वाति भी कहते हैं: —

स आश्रवः शुभः पुण्यस्य,

अशुभः पापस्य ॥-तत्त्वार्थ अ. ६ सू. २, ४

पुण्य और पाप दोनों आश्रव हैं। एक शुभ है, और दूसरा अशुभ। एक सोने की बेडी है, और दूसरा लोहे की। बन्धन दोनों में है। एक से स्वर्गीय सुषमा मिल सकती है, पर शाश्वत शान्ति नहीं। यात्री वन से पार होता है, महकते गुलाब उसके मन को सुरभित बना देते हैं, कांटे पैर में चुभ कर तन और मन को दुःखित बना सकते हैं। कांटों में तन उलझता है, तो फूलों में मन उलझता है। दोनों उलझन ही हैं और दोनों उलझनें पथ के बन्धन ही हैं। दोनों ही लक्ष्य से दूर हैं। फूलों से सुगन्ध भले ही मिल जाय किन्तु मंजिल को निकट लाने में तो वह असमर्थ ही है। लक्ष्य का साधक यात्री जितना ही शूल से बचेगा उतना ही या उससे भी अधिक फूल भी बचेगा, क्योंकि शूल की चुभन थोडी ही देर रोकती है, किन्तु फूल की सौरभ मन को बांध लेती है और मन का बन्धन तन के बन्धन से अधिक मजबूत होता है।

अतः पुण्य और पाप दोनों बन्धन ही हैं, वे चाहे फूल के हों या शूल के। मोक्षमार्ग में दोनों ही बाधक हैं। साधक को दोनों ही बन्धन तोड फेंकना है।

पुण्णपावस्स आयाणे परिभोगे यावि देहिणं।
संतई-भोग-पाउग्गं पुण्णं पावं सयंकडं ॥ ३ ॥

अर्थ :—देहधारी आत्मा को पुण्य पाप के आदान–ग्रहण और परिभोग में योग्य वस्तुओं की परम्परा प्राप्त होती है, किन्तु वह स्वकृत पुण्य और पाप के फल स्वरूप है।

गुजराती भाषान्तर :—

દેહધારી આત્માને પુણ્ય પાપના આદાન, ગ્રહણ, અને ઉપભોગમાં અયોગ્ય વસ્તુઓની પરંપરા પ્રાપ્ત થાય છે, પરંતુ તે પુણ્ય અને પાપના ફલસ્વરૂપ છે.

पुण्य और पाप के विपाक रूप में प्राणी को शुभ या अशुभ वस्तुओं की प्राप्ति होती है। किन्तु पुण्य के मीठे स्वादु फलों के भोग के समय उसका अहं बोलता है, कि मैं ने अपने श्रम की बुन्दों के बदले इसे पाया है। दूसरे को इसे छिनने का क्या अधिकार है? यदि किसी मुकद्दमे में सफलता मिल जाएगी तो कहेगा कि मेरी बुद्धि से सफलता प्राप्त हुई है। किन्तु यदि हार मिलती है तो वह वकील को दोष देगा, गवाह की गलती निकालेगा या फिर भगवान के मस्तक पर पाप थोपेगा।

जैन दर्शन मानव को स्वावलम्बन का संदेश देता है। संतति और सम्पत्ति के लिए भिखारी बन कर क्यों किसी के सामने गिडगिडाता है, क्यों हाथ फैलाता है, तेरा पुण्य कोष भरा होगा तो मिलेगा ही। दूसरी ओर दर्शन की यह देन मानव के दिमाग से अहं का नशा भी दूर करता है। तेरे पुण्य का यह कल्पवृक्ष तुझे मीठे फल दे रहा है। तेरा अपना कुछ नहीं, यदि पुण्य का कल्पवृक्ष सूख गया तो सब कुछ समाप्त है। अतः इसे सेवा के जल से सिंचन करता जा।

दूसरी ओर अशुभोदय के समय मानव बुरी तरह से छटपटाता है और अशुभोदय जिस निमित्त आगे आता है, आत्मा उसी निमित्त पर झपटता है, आक्रोश करता है और चीखता-चिल्लाता है। उस निमित्त को दुःख का मूल मान कर समाप्त करने की चेष्टा करता है। किन्तु कर्मवाद कहता है कि जिस विष फल से तू भागना चाहता है उसके बीज एक दिन तेरी आत्मा ने बोए थे। फिर दूसरे पर रोष और दोष क्यों?

संवरो निज्जरा चेव पुण्ण-पावविणासणं।
संवरं निज्जरं चेव सव्वहो सम्ममायरे ॥ ४ ॥

अर्थ:—संवर और निर्जरा पुण्य-पाप के विनाशक हैं। अतः साधक संवर और निर्जरा का सम्यक् प्रकार से आचरण करे।

गुजराती भाषान्तर:—

સંવર અને નિર્જરા પુણ્ય-પાપના વિનાશકર્તા છે. તેથી સાધકે સંવર અને નિર્જરાની સારી રીતે આરાધના કરવી જોઈએ.

आत्मा को कर्म से मुक्त करना है। उसके लिए आगम में सुन्दर रूपक दिया है। जीवन एक सरोवर है, जिसमें पुण्य और पाप का कटु, मधुर जल भरा है। उसे जल से खाली करना है। किन्तु जब तक उस जल आगमन के द्वार खुले हैं तब तक तालाब नहीं सूखेगा। आगम उसको सुखाने का तरीका बताता है।

जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवेणाए कम्मेण सोसणा भवे ॥-उत्तरा० अ० ३२ गा. ५

जैसे महान् तालाब की मोरियां बन्द कर दी जायं और बाद में उसका पानी उलीचा जाय और ताप की व्यवस्था की जाय तो वह महा तालाब भी सूख जाएगा। आत्मा तालाब में पुण्य पाप का आश्रव आगमन का द्वार रोकना संवर है और उसके बाद पानी का उलीचना निर्जरा है।

संवर की एक सुन्दर परिभाषा द्रव्य-संग्रह में मिलती है। वहां संवर के दो रूप बताए गए हैं—एक भाव-संवर, और दूसरा द्रव्य-संवर।

चेदणपरिणामो जो कम्मासवरोहणे हेउ।
सो भाव-संवरो खलु दव्वासव-रोहणे अण्णो ॥ -द्रव्यसंग्रह गा० ३४

कर्मों के आश्रव को रोकने में सक्षम आत्मा का चेतन परिणाम भाव-संवर है। और द्रव्याश्रव को रोकने वाला द्रव्य-संवर है। निर्जरा के भी दो रूप बताए हैं:—

जह कालेण तवेण्यभुत्तरसंकम्म-पुग्गलं जेणं।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदिनिज्जरा दुविहा ॥ -द्रव्यसंग्रह ३६

आत्मा का वह भाव, निर्जरा है, जिसके द्वारा कर्म-पुद्गल फल देकर नष्ट हो जाते हैं। और यथा काल से अथवा तप के द्वारा कर्म-पुद्गलों का आत्मा से पृथक्करण होना द्रव्य-निर्जरा है। आत्मा की वह विशुद्ध भाव धारा जिसके द्वारा कर्म परमाणु आत्मा से पृथक् होते हैं वह भाव-निर्जरा है। द्रव्य-निर्जरा के भी दो प्रकार हैं—प्रथम कर्म जितनी स्थिति के साथ बंधा है उसकी स्थिति क्षय होने पर वे कर्म आत्मा से पृथक् होते ही हैं यह यथाकाल निर्जरा कहलाती है। तथा तप के द्वारा कर्म को उदीर्ण करके उन्हें स्थिति के पहले प्रदेशोदय के द्वारा भोग कर नाश कर देना दूसरे प्रकार की निर्जरा है।

मिच्छत्तं अनियत्ती य पमाओ यावि णेगहा।
कसाया चेव जोगाय कम्मादाणस्स कारणं ॥ ५ ॥

अर्थ:—मिथ्यात्व, अनिवृत्ति, अनेक (पंच) प्रकार का प्रमाद, कषाय और योग कर्म ग्रहण करने के कारण हैं। जिन निमित्तों को पाकर आत्मा कर्म ग्रहण करता है वे पांच हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

મિથ્યાત્વ, અનિવૃત્તિ, અનેક પાંચ પ્રકારના પ્રમાદ, કષાય અને યોગ કર્મ આવવાના કારણો છે. જે નિમિત્તોને લીધે આત્મા કર્મનું ગ્રહણ કરે છે તે પાંચ છે. (પાંચ નિમિત્તોને લીધે આત્માને કર્મ લાગે છે)

तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति कहते हैं:—

मिथ्यादर्शनाविरतप्रमादकाषाययोगबन्धहेतवः ॥
-तत्त्वार्थसूत्र अ. ८ सू. १

आत्मा से कर्म को बन्ध होने में ये पांच मुख्य हेतु हैं। इन्हें पंच आश्रव भी कहा जाता है।

मिथ्यात्व :—व्यवहार में सत्य, देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा का भ्रम अभाव, असद्, देव, गुरु और अधर्म पर श्रद्धा मिथ्या तत्त्व हैं। दार्शनिक दृष्टि से नव तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा का अभाव या उनको विपरीत रूप में देखना मिथ्यात्व है। किसी पदार्थ को एकान्त नित्य या अनित्य मानना भी मिथ्यात्व है। वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी विशेष धर्म को स्वीकार करके शेष धर्मों अपलाप करना भी मिथ्यात्व है। व्यवहार और निश्चय आदि नयों में से एक को ही सत्य मान कर दूसरे का विरोध करना मिथ्यात्व है। निश्चय दृष्टि से आत्मा की शुद्ध स्वभाव-दशा से हट कर विभाव-दशा में रमण करना मिथ्यात्व है।

अनिवृत्ति :—इसे अव्रत या अविरति भी कहते हैं। हिंसा, असत्य आदि में जाती हुई आत्मा-प्रवृत्ति का निराध-व्रत है। इसका अभाव व्यावहारिक दृष्टि से अव्रत है। निश्चय दृष्टि से अन्तरात्म वृत्ति में अरति पाकर बहिरात्मक प्रवृत्ति में जाना अव्रत है।

प्रमाद :—मद विषयादि से प्रेरित होकर मूल गुण एवं उत्तर गुणों में अतिचार लगना व्यवहार प्रमाद है। निश्चय दृष्टि में आत्मा के अप्रमाद रूप शुद्ध भाव से चलित होना प्रमाद है।

कषाय :—जिनके द्वारा भव-परम्परा की वृद्धि होती है ऐसे क्रोधादि विकार व्यवहार कषाय है। निश्चय दृष्टि में आत्मा के प्रशान्त रूप में क्षोभ की लहर पैदा होना कषाय है।

योग :—मन वचन और काया की चंचलता योग कहलाती है। नैश्चयिक दृष्टि से आत्मा में परिस्पंद होना ही योग है।

मिथ्यात्व के पांच या पच्चीस भेद हैं। व्रत के १२ भेद हैं। प्रमाद के ५ कषाय के चार और योग के तीन भेद हैं। विस्तृत व्याख्या के लिये अन्य ग्रंथों का अवलोकन करें।

जहा अंडे जहा बीए, तहा कम्मं सरीरिणं।
संताणे चेव भोगे य नाणावन्नत्तमिच्छइ ॥ ६ ॥

अर्थ :—जैसा अंडा होता है वैसा ही पक्षी भी होता है। जैसा बीज होगा वैसा ही वृत्त होगा। इसी प्रकार जैसे कर्म होंगे आत्मा को वैसी शरीर मिलेगी। कर्म के ही कारण सन्तति में और भोग में नानात्व देखा जाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જેવું ઈંડું હોય છે તેવું જ પક્ષી પણ હોય છે. જેવું બીજ હશે તેવું જ ઝાડ થશે. તેજ પ્રમાણે જેવા કર્મો હશે, તેના પ્રમાણે આત્માને શરીરની પ્રાપ્તિ થશે. કર્મને લીધે જ સંતતિમાં અને ભોગમાં નાનાત્વ જોવા મળે છે.

संसार विरूपता और विविधता का जीता-जागता रूप है। एक ही मां के दो लडकों में साम्य नहीं पाया जाता। कोई बुद्धिमान् है तो कोई मूर्ख है। इस विविधता का उत्तर वैदिक दर्शन ईश्वर में देता है, कि ईश्वर की इच्छा ही इस विविधता का कारण है। जैन दर्शन इसका ठीक ठीक उत्तर देता है, कि मयूर के अंडे से मयूर ही जन्म लेता है। आम की गुठली से आम ही पैदा होता है। इसी प्रकार जैसा कर्म होगा उसी के अनुरूप देहधारियों के भोग होते हैं। यह विविधता और विचित्रता आत्मा के पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्म पर आधारित है।

निव्वत्ती वीरियं चेव, संकप्पे य अणेगहा।
नाणावण्णवियक्कस्स दारमेयं हि कम्मुणो ॥ ७ ॥

अर्थ :—निवृत्ति, रचना, पुरुषार्थ, अनेकविध संकल्प, नाना प्रकार के वर्षा और वितर्कों का द्वार-कर्म है।

गुजराती भाषान्तर :—

નિવૃત્તિ, રચના, પુરુષાર્થ, અનેકવિધ સંકલ્પ, વિવિધ પ્રકારના વર્ણો અને દુઃખોના દ્વાર કર્મ છે.

हर व्यक्ति की रचना, शक्ति और संकल्प पृथक् पृथक् हैं। यह सूत्रत्रयी ही नव सर्जन का केन्द्र है। आत्मा के जैसे संकल्प होंगे उसी दिशा में उसका शक्ति-प्रवाह भी बहता है। संकल्प और शक्ति ही मानव बनता है। सत् संकल्प और शक्ति सत्प्रयोग मानव को सत् रूप में ढालता है। आत्मा का संकल्प बल ही तो था कि महावीर बन सके। आत्मा सत् संकल्प करता है तो वीर्य शक्ति उसकी सहचारिणी बनती है और वही शक्ति मानव को महामानव बना सकती है।

असद् संकल्प और असत् शक्ति मानव को दानव बना सकती है। रावण को रावण बनाने वाले उसके दुस्संकल्प ही तो थे। संकल्प का छोटा-सा बीज-शक्ति का जल पाकर एक दिन विराट् वृक्ष बनता है। आत्मा भुलक्कड माली है जो बीज डालकर भूल जाता है। किन्तु जब वे वृक्ष का रूप लेते हैं तब उसे प्रतिबोध होता है। आत्मा प्रतिक्षण असंख्य बीज डाल रहा है। प्रतिक्षण सावधान रहे कि खेत में बुरे बीज न पड जायँ, अन्यथा वे ऊग के ही रहेंगे।

आत्मा के हर संकल्प में अनन्त बल है। जैसे हमारे संकल्प हैं वैसे ही हम बनेंगे। "यो यच्छ्रद्धः स एव सः"।

अतः अपनी चेतना जागृत रखे। कहीं असत्संकल्प हमारे मन में बैठ न जावें। दुनियां में वर्णों की वितर्कों की, दूसरे शब्दों में आकृति और प्रकृति की विषमता ही संकल्पों पर आधारित है। दार्शनिक भाषा में सत्संकल्प के द्वारा शुभ कर्म एकत्र होता है और वे ही कर्म आत्मा, को शुभ या अशुभ रूप आकृति और प्रकृति प्रदान करते हैं।

एस एव विवण्णासो संवुडो संवुडो पुणो।
कमसो संवरो नेओ देस-सव्वविकप्पिओ॥ ८॥

अर्थ :—यही आत्मा का विपन्न रूप-विभाव दशा है, अतः साधक पुनः पुनः संवृत्त बन आत्मा को पाप से संवृत करना ही देश और सर्वतः संवर है।

गुजराती भाषान्तर :—

આજ આત્માનું શુદ્ધ સ્વરૂપ છે; વિભાવ દશા છે; તેથી સાધક ફરી ફરીને સાવધ બનીને પાપને પોતાથી દૂર રાખે તે જ દેશ અને સર્વ સંવર છે.

प्रस्तुत गाथा में संवर तत्त्व का निरूपण किया गया है। असत्संकल्पों के द्वारा आत्मा विद्रूप रूप बनता है। यह विभाग दशा आत्मा का शुद्ध रूप नष्ट करती है। अतः साधक अपने को असत्संकल्पों से समेटे। मिथ्या विचारों से समेटे। कषाय और वासना से आत्मा को संवृत्त बनाए। जैसे कछुआ अपने पर आघात होते देखता है तो अपने को संवृत कर लेता है। गर्दन और पैरों को समेट लेता है। फिर कोई भी शत्रु उस पर प्रहार नहीं कर सकता है। इसी प्रकार आत्मा भी जहां अपनी स्वभाव दशा का हनन देखे वहां अपने को समेट ले। यही समेटना संवर कहलाता है। जो कि देश और सब दो भेदों में विभक्त है। खिन्नाव परिणति से आंशिक रूप में हटना देश संवर है। और सब संवर रूप चारित्र यथाकाल कहलाता है जिसमें किसी प्रकार के कर्म का बन्धन नहीं होता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार शैलेशीकरण सब संवर रूप चारित्र है। आत्मा की वह नियुकंप अवस्था जिसमें समस्त राग द्वेष प्रेरित आत्मा के स्पंदन (भावक्रिया) रुक जाते हैं साथ ही योग जनित द्रव्य क्रिया भी रुक जाती है और आत्मा अपना शुद्ध रूप प्राप्त कर कर्म रहित हो जाता है।

सोपायाणा निरादाणा विपाकेयरसंजुया।
उवक्कमेण तवसा निज्जरा जायए सया॥ ९॥

अर्थ :—आत्मा की भिन्न रूपों से कर्मों की निर्जरा करता है। कभी वह निर्जरा उपादान सहित होती है, कभी नए कर्मों के अग्रहण मूलक होती है। कभी वह विपाकोदय के साथ होती है तो कभी केवल प्रदेशोदय वा हैं और कभी उपक्रम सहित तप से भी निर्जरा होती है।

गुजराती भाषान्तर :—

આત્મા જુદાં જુદાં રૂપોથી કર્મોની નિર્જરા કરે છે. ક્યારેક તે નિર્જરા ઉપાદાન સાથે હોય છે, ક્યારેક નવા કર્મો અટકાવવાના રૂપમાં હોય છે, તો ક્યારેક તે વિપાકના ઉદયની સાથે હોય છે તો ક્યારેક ફક્ત પ્રદેશનો ઉદય-વાળી હોય છે. અને ક્યારેક ઉપક્રમ સાથે તપથી પણ નિર્જરા થાય છે.

अर्हतर्षि संवर तत्व के निरूपण के बाद निर्जरा तत्त्व की व्याख्या कर रहे हैं। कर्म प्रदेशों का रसहीन होकर आत्मा से पृथक् हो जाना निर्जरा है, उसके अनेक प्रकार हैं। प्रथम निर्जरा वह है जिसमें मूल हेतु को ग्रहण किया गया है। जिसमें निर्जरा के रहस्य को समझा है और उसके प्राप्त किए जाने वाले साध्य मोक्ष का निश्चय किया गया है। कर्म के आगमन के हेतुभूत मिथ्यात्व मोह रूप कर्म की निर्जरा सोपादाना निर्जरा है। निर्जरा का दूसरा प्रकार है निरादाना अर्थात् जिसमें निर्जरा का मूल हेतु ग्रहीत नहीं है, जिसमें भव-परम्परा की समाप्ति का ध्येय नहीं ऐसे बाल आदि के द्वारा होने वाली निर्जरा निरादाना है। दूसरे शब्दों में सोपादाना निर्जरा सकाम निर्जरा है और निरादाना निर्जरा अकाम निर्जरा।

अथवा निरादाना का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि आत्मा एक बार जिस कर्म की निर्जरा करे उसे भविष्य में कभी ग्रहण न करे नह भी कर्म के अग्रहण मूलक निरादाना निर्जरा है।

विपाकेतर संयुता आत्मा जिन कर्म प्रदेशों के विपाकानुभव रसानुभव छोडता है। वे विपाकोदय वाले कर्म प्रदेश और उनका निर्जरा सविपाका निर्जरा है।

आत्मा कुछ कर्म प्रदेशों का अत्यन्त रसानुभव करके त्यागता है। वह प्रदेशोदय कहलाता है। उदाहरण के तौर पर क्लोरोफॉर्म सुंघा कर ऑपरेशन किया जाता है। उस समय वेदना अत्यल्प होती है वह वेदनीय कर्म का प्रदेशोदय है। ऐसी निर्जरा अविपाका निर्जरा कहलाती है। उपक्रम और तप के द्वारा भी निर्जरा होती है। उपक्रम के अनेक अर्थ है। बीज बोने के लिए की जाने वाली क्षेत्र शुद्धि पूर्व तैयारी उपक्रम है। आयु का टूटना भी उपक्रम है। सम्यक् बीज बोने के लिए मिथ्यात्व मोह की निर्जरा उपक्रम निर्जरा। अन्य अर्थ ये आयुभोग होने पर कर्मों को आत्मा भोग करके क्षय करता है वह भी सोपक्रमिक निर्जरा है आभ्यंतर और बाह्य तप जिन कर्मों को रस विहीन करते हैं वह तपाजन्य निर्जरा है।

तपाजन्य निर्जरा को बताते हुए अर्हतर्षि गाथा बोलते हैं :—

संततं बंधए कम्मं निज्जरेइ य संततं।
संसारगोयरो जीवो विसेसो उ तवो मओ ॥ १० ॥

अर्थ :—संसारी आत्मा प्रतिक्षण कर्म बांध रहा है और प्रतिक्षण कर्मों की निर्जरा भी कर रहा है, किन्तु तप से होने वाली निर्जरा ही विशेष है।

गुजराती भाषान्तर :—

સંસારી આત્મા ક્ષણે ક્ષણે કર્મનું બંધન બાંધી રહ્યો છે અને ક્ષણે ક્ષણે કર્મોની નિર્જરા પણ કરી રહ્યો છે. પણ તપથી થનારી નિર્જરા જ વિશેષ છે.

संसारावस्थित आत्मा ऐसे प्रतिक्षण अनंत पुराने कर्मों की निर्जरा कर रहा है। किन्तु अनंत कर्म नए बांध रहा है। क्योंकि आत्मा अनुभूतिमय है उसका वेदन एक क्षण भी शून्य नहीं है। चाहे वह सातारूप में हो या असातारूप में वेदन तो है ही। पुराने वेदनीय कर्म तो विपाकोदय में आ रहे हैं और रस देकर समाप्त हो रहे हैं। और तो और कषाय के तीव्र परिणाम में भी आत्मा मोह कर्म की निर्जरा करता है। सूत्र में इसका निरूपण आता है। ऊपर से यह जरा अटपटा तो लगता है कि कषाय परिणति में निर्जरा कैसे? उसका समाधान है कषाय मोह के उदय में ही तो आएगी और कषाय करने पर पूर्व संचित कषाय में मोह के कर्म विपाकोदय में आ कर रसहीन बनते हैं। फिर प्रश्न होता है कि निर्जरा होती है तो आत्मा मुक्त क्यों नहीं होती?। इसका उत्तर यह होगा कि आत्मा जो प्रतिक्षण जितने कर्मों की निर्जरा कर रहा है उससे वे कर्म अनंत गुणित हैं; जो कि अभी अनुदय अवस्था में ही पडे हैं। अतः सम्पूर्ण कर्मों के क्षय के विना मोक्ष संभव नहीं। दूसरा उत्तर महाकाश्यप दे रहे हैं: आत्मा शुभ या अशुभ कर्मों का विपाकोदय प्राप्त करता है। अर्थात् वे उदय में आते हैं तो किसी निमित्त को ले कर ही आते हैं। अज्ञानी आत्मा शुभ निमित्त पर राग करता है और अशुभ निमित्त पर द्वेष करता है। राग और द्वेष के कारण आत्मा पुनः नए कर्मों का उपार्जन करता है। जो कि निर्जरित कर्मों की अपेक्षा परिमाण में द्विगुणित या असंख्य गुणित भी हो सकते हैं। आत्मा ऐसा मूढ कर्जदार है जो कर्ज चुकाता है, किन्तु एक हजार चुकाता है और दस हजार का नया कर्ज फिर ले लेता है। कब मुक्त होगा? यदि ऋण होना है तो नया कर्ज लेना बन्द करे। और पुराना कर्ज अल्प रूप में भी चुकाए फिर भी एक दिन ऐसा आएगा जब वह पूर्णतः ऋणमुक्त हो जाएगा। इसीलिए पहले संवर तत्त्व का निरूपण है। आत्मा अपने आप को संवृत करे अर्थात् नया ऋण लेना बन्द करे, बाद में की गई निर्जरा ही उसे ऋण मुक्त कर सकती हैं। संवर बिना की गई निर्जरा कोई मूल्य नहीं रखती है। क्यों कि वह तो अनादि से चली आ रही है, किन्तु निर्जरा भव-परम्परा को समाप्त करने में सहयोगी नहीं हो सकती; इसी लिए अर्हतर्षि ने कहा है "विसेसो उ तवोमओ" अर्थात् तप के द्वारा होने वाली निर्जरा महत्वशील है; क्योंकि उसके द्वारा निर्जरित कर्म आत्मा से पुनः कभी चिपकते नहीं हैं।

अंकुरा खंधखंधीया जहा भवइ वीरुहो।
कम्मं तहा तु जीवाणं सारासारतरं ठितं ॥ ११ ॥

अर्थ :—अंकुर से स्कंध बनता है, स्कंध से शाखाएँ फूटती हैं और वह विशाल वृक्ष बनता है। आत्मा के शुभाशुभ कर्म इसी प्रकार विकसित होते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

અંકુરમાંથી ડાળી બને છે. ડાળીમાંથી શાખાઓ નીકળે છે. અને તે મોટો વૃક્ષ (ઝાડ) બને છે. આત્માના શુભ અશુભ કર્મોનો વિકાસ આવી રીતે થાય છે (આ જ પ્રમાણે થાય છે).

छोटा-सा अंकुर एक दिन स्कंध से शाखा प्रशाखा से मुक्त हो विशाल वृक्ष हो जाता है। ऐसे ही अशुभ कर्म का छोटा-सा अंकुर यदि समाप्त न किया गया तो एक दिन विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। अंकुर छोटा है ऐसा मान कर हम उसकी उपेक्षा कर जाते हैं, किन्तु यह उपेक्षा ही उसकी वृद्धि में सहायक होती है और वह दुर्निवार हो जाता है। इसी प्रकार शुभ संकल्प को इच्छा कार्यशक्ति का सिंचन मिलता है तो वह भी विराट् रूप धारण कर प्रशस्त फलप्रद वृक्ष बनता है।

उवकम्मो य उक्केरो संछोभो खवणं तथा।
बद्धपुट्ठनिधत्ताणं वेयणा तु निकाइते॥ १२॥

अर्थ :—बद्ध स्पष्ट और निधत्त कर्मों में उपक्रम[1], उत्कर्ष[2], संक्षोभ और क्षय हो सकता है। किन्तु निकाचित कर्म की वेदना अवश्य होती है।

गुजराती भाषान्तर :—

બદ્ધ સ્પષ્ટ અને નિધત્ત કર્મોમાં ઉપક્રમ (બંધાયેલા કર્મોને તોડવું), ઉત્કર (કર્મની સ્થિતિ આદિમાં વૃદ્ધિ કરવી), સંક્ષોભ (કર્મોના પ્રદેશમાં હલચલ) અને ક્ષય થઈ શકે છે. પરંતુ નિકાચિત કર્મની વેદના અવશ્ય થાય છે.

कर्म बन्ध के दो रूप हैं। कषाय की मंद परिणति में जो कर्म बंधते हैं उनका बन्धन शिथिल होता है। उनमें परिवर्त-संभव है। किन्तु जो कर्म कषाय की तीव्र परिणति में बांधे जाते हैं उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं।

जिन कर्मों में उद्वर्तन, अपवर्तन और संक्रमण संभव है उसे 'निधत्त' कर्म कहते हैं। कर्म बन्ध की वह शिथिल स्थिति जिसमें स्थिति और रस में हानि वृद्धि तथा उसी की अवान्तर प्रकृतियों में परिवर्तन संभव हो, वह 'निधत्त' कहलाती है। किन्तु जिसमें उद्वर्तनादि एक भी करण संभव न हो वह 'निकाचित' कर्म कहलाता है। आगम में इसके लिए रूपक भी आता है। तपी हुई सूइयों के समूह के सदृश 'निधत्त' कर्म हैं। उन सूइयों में परिवर्तन की गुंजाइश रहती है। किन्तु यदि उन्ही सूइयों को तपा कर घन से पीट कर एकमेव बना दिया जाए फिर उनका पृथक्करण असंभव सा है। इसी प्रकार जो कर्म तीव्र कषाय के द्वारा बांधे गए हैं; उनमें स्थितिघात, रसघात कुछ भी संभव नहीं है। उसे 'निकाचित' बंध कहते हैं।

संक्षोभ :—कर्म-प्रदेशों में हलचल।

क्षयण :—क्षय करना।

आत्मा के साथ बद्ध स्पष्ट कर्मों में उपक्रम आदि संभवित है। अर्थात उन में परिवर्तन भी हो सकता है और तप के द्वारा उनका क्षय भी हो सकता है। किन्तु निकाचित कर्मों को तो भोगना ही होगा।

टीका :—**उपक्रमः उत्कर्षः च तथा संक्षोभः संक्षेपः क्षापणं बद्ध-स्पृष्ट-निवृत्तानां विनिहितानां भवति कर्म-प्रदेशानां निकाचिते च कर्मणि वेदना पीडा। अर्थ गतं।**

उकड्ढंतं जधा तोयं सारिज्जंतं जधा जलं।
संखविज्जा निदाणे वा पावकम्मं उदीरती॥ १३॥

अर्थ :—अंजली में भरकर ऊपर उठाया जाने वाला पानी और (सार्यमाण) ले जाया जाता पानी धीरे धीरे क्षय होता जाता है, किन्तु निदान कृत कर्म अवश्य उदय में आता है।

---

१ उपक्रम—बद्ध कर्मों को तोडना उपक्रम है। उसका का दूसरा अर्थ कर्मों के बन्ध का आरंभ भी है। २ उक्केरी (उत्कर) कर्म की स्थिति आदि में वृद्धि करना।

गुजराती भाषान्तर :—

અંજલીમાં ભરીને ઉપર લઈ જવાતું પાણી અને (સાર્યમાણ) તે લઈ જવાતું પાણી ધીરે ધીરે ક્ષય થતું જાય છે પરંતુ નિદાન-કર્મકૃત અવશ્ય ઉદયમાં આવે છે.

कर्म-बन्ध के बाद उसका अबाधा काल विपाक काल पूर्ण होने के बाद शनैः शनैः वह कर्म उदय में आकर क्षीण हो जाता है। जैसे अंजली में भरा पानी प्रतिक्षण एक एक बूंद गिरता जाता है वैसे ही यदि बद्धकर्म यदि निधत्त है तो क्षय होता जाता है। किन्तु निदान कृत कर्म तो अवश्य उदय में आता है। किसी फलशक्ति को ले कर किया जाने वाला संकल्प निदान है वह उदय में आ कर रहता है।

टीका :—उत्कृष्यमाणं यथा तोयं सार्यमाणं यथा जलं कर्म संक्षपयेत्।

अन्यत्र निदाने परलोकं अधिकृत्य फलेप्सु पापं कर्मशेष उदीर्यति। अर्थं गतम्।

अप्पा ठिती सरीराणं बहुं पावं च दुक्कडं।
पुव्वं बज्झिज्जते पावं तेण दुक्करं तवो मयं॥ १४॥

अर्थ :—देहधारियों की स्थिति अल्प है और पाप कर्म बहुत है साथ ही वे दुष्कर भी है। और पाप कर्म पहले भी बांधे जाते हैं। अतः दुष्कर तप की आवश्यकता है।

गुजराती भाषान्तर :—

દેહધારિયોની સ્થિતિ અલ્પ છે અને પાપ કર્મ બહુ છે સાથે સાથે દુષ્કર પણ છે. અને પાપકર્મ પહેલા પણ બાંધવામાં આવે છે. તેથી દુષ્કર તપની આવશ્યકતા છે.

संयत साधक साधना काल में कोई विशेष कर्मार्जित नहीं करता है फिर उसे तप की क्या आवश्यकता है?। यह भी एक प्रश्न है। इसका उत्तर ऋषि देते हैं; देहधारियों की जितनी स्थिति है कर्मों की स्थिति उससे कई गुना अधिक है। साथ ही सभी कर्म इसी भव के नहीं है पूर्व जन्म के अनंत कर्म आत्मा के साथ हैं, अतः उन सब के क्षय के लिए साधक दुःखप्रद तप की भी साधना करता है।

टीका :—अल्पा स्थितिः शरीरिणां बहु च पापं दुष्कृतं भवति।

पूर्वं च बध्यते पापं तस्मात् तपो दुष्करं मतम्॥ -अर्थ ऊपरवत् है।

खिज्जंते पावकम्मानि, जुत्त-जोगस्स धीमतो।
देसकम्मक्खयब्भूता जायंते रिद्धियो बहू॥ १५॥

अर्थ :—बुद्धि-शीलयुक्त योगी साधक पाप कर्मों को नष्ट करता है। आंशिक रूप में कर्म क्षय होने पर अनेक ऋद्धियां=लब्धियां प्राप्त हो जाती हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

બુદ્ધિ-શીલયુક્ત યોગી સાધક પાપકર્મનો નાશ કરે છે. આંશિક રૂપમાંથી કર્મ ક્ષય થઈ જવાથી અનેક રિદ્ધિ-સિદ્ધિ પ્રાપ્ત થઈ જાય છે.

धीमान् साधक विधि पूर्वक योग-निग्रह करता है। मनादि योगों के संगोपन से आत्मा कर्मों का क्षय करता है। अशेष कर्म क्षय होने पर आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है, किन्तु आंशिक रूप से कर्म क्षय होने पर साधक जंघाचारणादि लब्धियां प्राप्त करता है।

साधक की साधना का लक्ष्य ये हल्की फुल्की सिद्धियां नहीं हैं, ये तो दो पैसे के चमत्कार हैं। क्या साधक इतनी बडी साधना इन्ही चमत्कारों के पीछे गुमा देगा? नहीं नहीं; साधक की साधना चमत्कारों के लिए नहीं होती। पर हां, सच्ची साधनों के पीछे ये हाथ बांधे चली आती हैं।

टीका :—योगे युक्तस्य धीमतः पापकर्माणि क्षीयन्ते।

बह्व्यो ऋद्धयश्च जायन्ते कर्मभाक् क्षयभूताः॥

साधना में लीन साधक पाप कर्मों का क्षय करता है। आंशिक रूप से कर्म के क्षय होने पर अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ उसे प्राप्त होती हैं।

विज्जोसहि णिवाणेसु, वत्थु-सिक्खा गतीसु य ।
तवसंजमपयुत्ते.य विमद्दे होति पच्चओ ॥ १६ ॥

अर्थ :—तप-संयम में प्रयुक्त आत्मा कर्मों का विमर्दन करने पर विषौषधि की गहराई में प्रवेश करता है । दृष्टिवाद के वास्तु पूर्व तथा शिक्षा एवं गति से उसका साक्षात्कार होता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

તપ-સંયમમાં પ્રયુક્ત આત્મા કર્મોનું વિમર્દન કરવાથી વિષૌષધિના ઉંડાણુમાં પ્રવેશ કરે છે. દૃષ્ટિવાદના વાસ્તુ પૂર્વ અને શિક્ષા તેમ જ ગતિથી તેનો સાક્ષાત્કાર થાય છે.

पिछली गाथा में बताया गया है कि संयमशील साधक कर्म क्षय के हेतु तप और साधना करता है । किन्तु आंशिक रूप से कर्म क्षय होने पर उसे लब्धियां[1] प्राप्त होती है । उन्हीं लब्धियों में से कुछ यहां दी गई हैं । औषधविज्ञान में की गहराई में प्रवेश, अर्थात् ऐसी लब्धिप्राप्त साधक को औषधियां का अच्छा ज्ञान हो जाता है । साथ ही दृष्टिवाद[2] के वास्तु पूर्व तक उसे ज्ञान होता है । अथवा वास्तु भवन निर्माण कला का ज्ञान होता है । साथ ही वह साधक शिक्षा शास्त्र में और गति में निपुण होता है । किसी की गति के आधार पर उसका इतिहास जान लेता है अथवा चारों गतियों का विशिष्ट स्वरूप वह जानता है ।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं :

टीका :—कश्चित् तपःसंयमप्रयुक्तस्य विमर्दो विरोधो भवति, तदा विद्यौषधिनिपानेषु दृष्टिवादवस्तुशिक्षागतिषु च तस्य प्रत्ययः ।

तप और संयम में प्रयुक्त साधक को साधना में कुछ विमर्द विरोध स्खलना होती है तब विद्या औषधि निपान गहराई दृष्टिवाद वस्तु शिक्षागति में उसका प्रत्यय (विश्वास) साक्षात्कार होता है । शुद्ध की और बढ़ने वाला साधक भाव धारा की मंदता के कारण शुभ में रुक जाता है तभी उसे ये सिद्धियां प्राप्त होती हैं । पर शुद्ध की ओर बढने वाला इन सिद्धियों के व्यामोह में कभी नहीं फंसता है ।

प्रोफेसर शुब्रिंग लिखते हैं जिसमें साधुत्व और आत्मसंयम है वहां चमत्कार जडी बूटी आदि में श्रद्धा भी है । वह गति के उपयोग में पूर्व ज्ञान का उपयोग करता है और संघर्ष को वह पूर्व ज्ञान वस्तु पूर्व से समाप्त करता है ।

दुक्खं खवेति जुत्तप्पा पावं मीसे वि बंधणे ।
जधा मीसे वि गाहंमि विसपुप्फाण छड्डणं ॥ १७ ॥

अर्थ :—ये लब्धियां पाप में बन्धन रूप होती हैं । अतः युक्तात्मा इनके (लब्धियों के) द्वारा कभी दुःख का क्षय भी करता है । जैसे मिश्रित फूल ग्रहण करने पर कुशल व्यक्ति विष फूल छोड कर अच्छे फूलों को ग्रहण करता है । इसी प्रकार योग्य साधक लब्धियों के दुरुपयोग को रोक कर उनके सदुपयोग के द्वारा दुःख का ही क्षय करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

આ લબ્ધિઓ પાપમાં બંધન રૂપ હોય છે. તેથી યુકતાત્મા તેઓની (લબ્ધિયોની) દ્વારા કયારેક દુઃખનો ક્ષય પણ કરે છે. જેવી રીતે મિશ્રિત ફૂલ લીધા પછી કુશળ વ્યક્તિ ઝેરી ફૂલને છોડી સારાં ફૂલોને ગ્રહણ કરે છે, તેવી જ રીતે યોગ્ય સાધક લબ્ધિયોના દુરૂપયોગને રોકીને તેના સદુપયોગ દ્વારા દુઃખનોજ ક્ષય કરે છે.

तलवार शत्रु से रक्षा भी करती है और वही तलवार कभी अपना संहार भी कर सकती है । इसी प्रकार तप के द्वारा पाई हुई लब्धियां यदि शासन हित के उपयोग में आती हैं तो पुण्यरूपा है । अन्यथा शक्ति व्यक्ति को गर्वोद्धत भी बन सकती है और उसका दुरुपयोग भी हो सकता है । दुरुपयोग में गई हुई शक्ति पाप का ही बन्धन करती है । वन में सुन्दर स्वास्थ्यप्रद पुष्प भी होते हैं और विष पुष्प भी होते हैं, किन्तु कुशल माली विषपुष्पों को छोड कर अमृत

---

१ आत्मसाक्षात्कार के द्वारा प्राप्त दिव्य शक्ति लब्धि कहलाती है । जन साधारण जिसे चमत्कार कह कर चमत्कृत होता है किन्तु अध्यात्म साधना में यह बहुत नीचे की वस्तु है ।

२ सम्यक् श्रुत का बारहवां अंग दृष्टिवाद है । श्रुत साहित्य का विशालतम कोष जिसमें १४ पूर्वों का समावेश होता है । जिसे पाकर मुनि श्रुतकेवलिपद पाता है । जिसके द्वारा साधक को तत्त्वातत्त्व के निर्णय में विशुद्ध दृष्टि प्राप्त होती है ।

पुष्प का ग्रहण करता है। उसी प्रकार आत्मज्ञ साधु लब्धियों के द्वारा होनेवाली हानियोंसे बचे। लब्धि वह तलवार है जो यदि सीधी चली तो दुःखों का क्षय कर सकती है। शासन की रक्षा में किया गया लब्धि का उपयोग शासन को संकटों से बचाएगा, हजारों साधकों के जीवन और उनके समाधि की तथा प्रतिष्ठा की रक्षा करेगा। किन्तु यदि किसी से अपने वैर का प्रतिशोध लेने में लब्धि का प्रयोग किया गया तो गलत ढंग से किया गया वह प्रयोग विकाश नहीं विनाश करेगा। अतः साधक लब्धि पाने के बाद उसके उपयोग में पूरी सावधानी रखे।

टीकाकार का मत इस तरह है:—

सुकृतेन च दुष्कृतेन च मिश्रमपि सतिकर्मे बन्धने मुक्तात्मा साधुः पापं दुःखं क्षपयति यथा मिश्रेऽपि हिताहित-मिश्रितेऽपि पुष्पाणां ग्राहे संग्रहे विश्रन्ति पुष्पाणि चरादितानि चयवन्ति।

सत्कार्य और असत्कार्य के द्वारा शुभाशुभ रूप मिश्रित कर्मों का बन्ध होता है। किन्तु शुभाशुभ अध्यवसायों के द्वारा कर्मों का बन्ध मिश्र होता है[1]। कषाय की मन्द अवस्था में शुभ का बन्ध विशेष और अशुभ का बन्ध अल्प होता है। कषाय की तीव्रावस्था में यदि कषाय प्रशस्त कषाय है तो अशुभ के साथ आत्मा शुभ का भी बन्ध करता है। मन्द कषायी आत्मा देव गति का बन्ध करता है। किन्तु वहां भी वृत्तिजन्य दुःख तो मौजूद है और सम्यक्त्वी आत्मा नरक में भी शान्तिका अनुभव करता है। वहां अशुभ के साथ शुभ का उदय है। किन्तु युक्त आत्मा अशुभ को छोड़कर शुभ और शुभ से शुद्ध की ओर प्रवृत्त होता है। जैसे सम्मिश्रित हिताहित में से हंस बुद्धि मनुष्य हित का ही ग्रहण करता है। विष पुष्पों से मिश्रित पुष्प समूह में से कुशल माली अच्छे पुष्पों का ही चयन करता है।

प्रोफेसर शुब्रिंग कहते हैं कि:-जैसे अंजली में आए हुए फूलों में से जहरी पुष्पों को फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार बुद्धियुक्त आत्मा अशुभ कर्मों के असर को समाप्त कर देता है।

यहां हमें प्राचीन युग की सांस्कृतिक झांकी दिखाई देती है। प्राचीन युग में शत्रु के संहार के लिए विषमय पुष्प तैयार किए जाते थे जिनके सूंघते ही शत्रु मर जाए। साथ पिव कन्या भी तैयार की जाती थी इसका अन्य अध्याय में उल्लेख है।

समत्तं च दयं चेव सममासज्ज दुल्लहं।
ण प्पमाएज्ज मेधावी मम्मगाहं जहारियो ॥ १८ ॥

अर्थ :—मेधावी साधक दुर्लभ सम्यक्त्व और दया को सम्यक् रूप में पा कर प्रमाद न करे, जैसे शत्रु के मर्म को पा लेने के बाद शत्रु विलम्ब नहीं करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

બુદ્ધિમાન્ સાધકે દુર્લભ સમ્યકત્વ અને દયાને સમ્યક રૂપમાં પ્રાપ્ત કરીને, પ્રમાદ કરવો ન જોઈએ. જેમ પોતાના શત્રુના મર્મસ્થલ ને જાણી લીધા પછી શત્રુ જરા પણ વિલંબ કરતો નથી.

सम्यक्त्व और चारित्र-दया को पा कर साधक प्रमाद न करे। अप्रमाद के लिए यहां पर सुन्दर रूपक दिया गया है। जैसे युद्ध के मैदान में शत्रु का मर्म प्राप्त हो जाता है उसके बाद उसका वैरी एक क्षण भी विलम्ब नहीं करता। एक क्षण का विलम्ब ही विजय को पराजय में बदल सकता है। किन्तु वे गुप्त रहस्य हारती हुई सेना के हाथ में लग जाते हैं और उसका अविलम्ब उपयोग कर लिया जाए तो पराजय के आंसू के स्थान पर विजय की मुस्कान दौड जाएगी।

णेहवत्तिक्खए दीवो जहा चयति संततिं।
आयाण-बंध-रोहंमि तहप्पा भव-संतइं ॥ १९ ॥

अर्थ :—तेल और बत्ती (वाट) के क्षय होने पर जैसे दीपक दीपकलिका रूप संतति को क्षय करता है, उसी प्रकार आत्मा आदान और बन्ध का अवरोध करने पर भव परम्परा को क्षय करता है।

१-प्रशस्त राग की भांति प्रशस्त द्वेष भी संभवित है। अन्याय के प्रति आनेवाला क्रोध प्रशस्त द्वेष है। स्वार्थ भाव को लेकर आनेवाला क्रोध अप्रशस्त द्वेष है।

गुजराती भाषान्तर :—

તેલ અને વાટનો ક્ષય થયા પછી જેવી રીતે દીવો દીપકલિકા રૂપ સંતતિનો ક્ષય કરે છે તેવી જ રીતે આત્મા આદાન અને બંધનો અવરોધ કરીને ભવ-પરંપરાનો ક્ષય કરે છે.

दीपक में जब तक तेल और वर्तिका मौजूद है दीपकलिका का प्रवाह चालू ही रहेगा। ऊपर से बुझा देने पर भी अन्य ज्योति से स्पर्श होने पर पुनः उसमें ज्योति-प्रभा आ जाएगी। उसका संपूर्ण क्षय तो तेल और वर्तिका (बत्ती) का क्षय ही है, उसी प्रकार कर्म का आदान और बन्ध जब तक समाप्त नहीं होते हैं तब तक भवसंतति का क्षय भी संभव नहीं।

यहां भव परम्परा की बुद्धि में तेल और बत्ती का स्थान रखनेवाले दो शब्द आए हैं। आदान और बन्ध कर्मों को ग्रहण करना और उनके साथ बध्य होना, इस दृष्टि से आदान और बन्ध में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता है। किन्तु आदान कर्म बन्ध की प्रथम स्थिति है। राग चेतना या द्वेष चेतना के द्वारा आत्मा कर्मों को आकर्षित करता है। क्योंकि कर्म जड हैं, वे स्वयं आ चिपक नहीं सकते। उनको आकर्षित करने की विशिष्ट शक्ति अपेक्षित है। आत्मा के राग द्वेषात्मक स्पन्दन ही कर्मों का आदान है, जिसे 'भावकर्म' कहा जाता है। कर्म पहले आकर्षित होते हैं, फिर बन्ध होता है। निश्चय दृष्टि से वह आदान ही बन्ध है। आदान कारण है, और बन्ध कार्य है। अतः पहले आदान को ही समाप्त करना होगा। आदान का बटन बन्द होते ही बन्ध की विद्युत क्षीण हो जाएगी। और दोनों के बन्द होते ही पंखे की गति अपने आप बन्द हो जाएगी। अतः यदि चलते हुए पंखे को रोकना है तो पहले बटन को रोकना होगा। यदि सीधे ही पंखे के पास पहुंच गए तो उसका वेग उंगली काट देगा। वेग को बन्द करने के लिये उसके पावर को बन्द करना होगा।

निर्वाण शब्द जैन और बौद्ध दर्शन दोनों में मोक्ष के अर्थ में आया है और दीप निर्वाण से उसे उपमित किया गया है। फिर भी दोनों में अन्तर है। बौद्ध दर्शन मानता है कि तेल और बत्ती के क्षय होने पर दीपकलिका न ऊपर जाती है न नीचे, वहीं समाप्त हो जाती है। ऐसे ही वासना के समाप्त होने पर आत्मा भी समाप्त हो जाता है। बौद्ध दर्शन वासना के क्षय मानता है, और उसे निर्वाण बोलता है। जब कि जैन दर्शन वासना के क्षय के साथ भवपरंपरा का क्षय मानता है। किन्तु वासना के क्षय होने के बाद भी आत्मा उपस्थित रहता है। वह शुद्ध आत्मा लोकाग्र में स्थित रहता है। आदान बन्ध निरोध को रोगोपशमन के रूपक से व्यक्त करते हैं।

दोसादाणे णिरुद्धम्मि सम्मं सत्थाणुसारिणा।
पुव्वाउत्ते य विज्झाए खयं वाही णियच्छती ॥ २० ॥

अर्थ :—व्याधि-ग्रस्त मानव दोषों के आगमन (उत्पत्ति) को रोक कर वैद्यक शास्त्र के अनुरूप वर्तन करता है और पूर्व दोषों का परिमार्जन करता है तो व्याधि से मुक्त होता है।

બીમાર માણસ દોષોની ઉત્પત્તિને રોકીને વૈદ્યક શાસ્ત્રના અનુરૂપ વર્તન કરે, અને પૂર્વ સંચિત દોષોનું પરિમાર્જન કરે તો વ્યાધિથી મુક્ત બને છે.

रोग मुक्त होने के लिए तीन बातों की आवश्यकता है। नए दोषों का आगमन रोकना, वैद्यक शास्त्र के अनुसार वर्तन और पूर्व रोग का उपशमन। तीनों के सद्भाव में ही व्यक्ति रोग रहित हो सकता है। कर्म व्याधि के क्षय के लिए भी तीनों बातें अपेक्षित हैं। नए दोषों की परंपरा को रोकना, सम्यक् शास्त्रानुकूल वर्तन और पूर्वार्जित कर्मों का क्षय होने पर आत्मा कर्म व्याधि से मुक्त हो कर निर्वाण प्राप्त करता है।

मज्जं दोसा विसं वण्ही गहावेसो अणं अरी।
धणं धम्मं च जीवाणं विण्णेयं धुवमेव तं ॥ २१ ॥

अर्थ :—मद्य, विष, अग्नि, ग्रहावेश और ऋण तथा शत्रु ही आत्मा के दोष हैं। जब कि धर्म ही उसका ध्रुव धन है। ऐसा जानना चाहिए।

મદ્ય, વિષ, અગ્નિ, ગ્રહાવેશ અને ઋણ તથા શત્રુ જ આત્માના દોષો છે. જ્યારે ધર્મ જ તેનું ધ્રુવ ધન છે. એવું જાણવું જોઈએ.

पूर्व गाथा में स्वास्थ्य लाभ के लिए दोषागमन को रोकने की बात कही गई है। यहां आत्मिक और दैहिक स्वास्थ्य को क्षति पहुंचाने वाले दोनों प्रकार के दोष बताए गए हैं। मद्य देह और आत्मा दोनों को क्षति पहुंचाता है। अग्नि, विष, ग्रहावेश, ऋण और शत्रु प्रायः शरीर को क्षति ग्रस्त करते हैं।

आत्मा का ध्रुव धन धर्म है। यह धर्म संप्रदायों से ऊपर रहने वाला आत्म-स्वभाव रूप धर्म है। क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है।

कम्मायाणेऽवरुद्धंमि सम्मं मग्गाणुसारिणा।
पुव्वाउत्ते य णिज्जिण्णे खयं दुक्खं णियच्छती ॥ २२ ॥

अर्थ :—कर्म ग्रहण को रोक कर सम्यक् मार्ग का अनुसरण करने वाला आत्मा पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा करके समस्त दुःखों का क्षय कर देता है।

गुजराती भाषान्तर :—

કર્મ-ગ્રહણને રોકીને સમ્યક્ માર્ગનું અનુસરણ કરવાવાળો આત્મા પૂર્વાર્જિત કર્મોની નિર્જરા કરીને સમસ્ત દુઃખોનો ક્ષય કરી નાખે છે.

२२ वीं गाथा में दिए गए दृष्टांत का यह गाथा निगमन (उपसंहार) करती है। व्याधि से मुक्त होने के लिए दोषों का अवरोध, वैद्यक शास्त्र के नियमों का पालन, और पूर्व बीमारी का निष्काशन आवश्यक है। उसी प्रकार यहां आत्मा कर्म-मुक्ति के लिए नवीन कर्मों के आगमन के हेतु रूप आश्रव का निरोध करना होगा। उसे सम्यक् रूप से या सम्यक्त्व समवेत चारित्र का मार्गानुसारी बनना पडेगा। ऐसा करने से आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों को भी क्षय करता है और समस्त दुःखों से मुक्त होता है।

कर्मादान और मार्गानुसारी जैन पारिभाषिक शब्द हैं। श्रावक व्रत लेने के बाद श्रावक को जिन हिंसात्मक व्यापारों को बन्द करना पड़ता है, उन्हें कर्मादान कहा जाता है। मार्गानुसारित्व सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व के वे गुण जो आत्मा को सम्यक्त्वाभिमुख बनाते हैं उन्हें मार्गानुसारी के गुण कहे जाते हैं। जिनकी संख्या ३५ है। किन्तु यहां दोनों शब्द अपेक्षित अर्थ से भिन्न रूप में प्रयुक्त हुए हैं। कर्मादान का मतलब कर्मों के ग्रहण से है। राग द्वेषाभिभूत आत्मा कर्मों को अपनी ओर आकृष्ट करता है वह कर्मादान है। मार्गानुसारी से मतलब चारित्र-मार्ग में वर्तमान आत्मा है। क्योंकि कर्म क्षय में विशिष्ट योगदान उसी का है। पूर्वोक्त मार्गानुसारित्व तो सम्यक्त्व के पूर्व की अवस्था है और यहां सम्यक्त्व समवेत मार्गानुसारित्व का निर्देश है। जिससे चारित्र ही विवक्षित है।

पुरिसो रहमारूढो जोग्गाए सत्तसंजुतो।
विपक्खं णिहणं णेइ सम्मदिट्ठी तहा अणं ॥ २३ ॥

अर्थ :—विपक्षी को हनन करने योग्य शक्ति से संपन्न रथारूढ पुरुष शत्रु को समाप्त कर देता है, इसी प्रकार सम्यग् दृष्टि अनंतानुबंधी कषाय को समाप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

વિપક્ષીને હણવાયોગ્ય શક્તિથી સંપન્ન પુરુષ શત્રુનો નાશ કરે છે તેવીજ રીતે સમ્યગ્ દૃષ્ટિ અનંતાનુબંધી કષાયને સમાપ્ત કરે છે.

शत्रु पर विजय पाने के लिए दो बातें अपेक्षित हैं। शक्ति और बचाव का साधन। आत्मा का शत्रु अनंतानुबन्धी चतुष्क है, क्योंकि अनंतानुबन्धी और मिथ्यात्व सहभावी हैं। एक के सद्भाव में दूसरा आ ही जाता है। जो कषाय सारे जीवन तक आत्मा को जलाता रहता है और उस आग की लपटों में दूसरों को भी झुलसाता है, जीते जीते जो कषाय अन्तर की आग में जलता है और मरने के बाद नरक की आग में पटकता है, वह कषाय है अनंतानुबन्धी। आत्मा सम्यक् दर्शन की शक्ति पाकर मिथ्यात्व शत्रु का संहार करता है। अक् यह अनंतानुबन्धी कातः संक्षिप्त रूप है।

वह्नि-मारुय-संयोगा जहा हेमं विसुज्झती।
सम्मत्त-नाण-संजुत्ते तहा पावं विसुज्झती ॥ २४ ॥

अर्थ :—जैसे अग्नि और पवन के प्रयोग से स्वर्ण विशुद्ध हो जाता है, वैसे हि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान से युक्त आत्मा पाप से विशुद्ध होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જેમ અગ્નિ અને પવનના સંયોગથી (મદદથી) સોનું નિર્મળ બને છે તેમ જ સમ્યકદર્શન અને સમ્યકજ્ઞાન સાથે સંયોગી પાપ વિશુદ્ધ બને છે.

सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान के द्वारा आत्मा कर्म-मुक्ति की राह पर आगे बढता है। जब तक मिथ्यात्व है तब तक अज्ञान है। जो अमृत को ही जहर मान कर उससे घृणा करता है और जहर का अमृत मान कर पीता है वह दुःख के दावानल को निमंत्रण देता है।

सम्यग् दर्शन के आने पर ही ज्ञान सम्यग् बनता है। अन्यथा ज्ञान तो मिथ्यात्व दशा में भी होता है। किन्तु उसका ज्ञान तत्व का शुद्ध रूप नहीं देखता। वह केवल वर्तमान रूप को ही देखता है। उसके अनंत अनंत भूत और अनंत अनंत भविष्य पर्यायों को स्वीकार नहीं करता है। अतः वह वस्तु को जानता हुआ भी नहीं जानता है। ऐसे तो मिथ्यात्वी भी गौ को गौ और अश्व को अश्व देखता है। वह भी गाय को घोडा नहीं कहता। किन्तु सम्यक्त्वी जहां गाय में एक शाश्वत अनंत गुण, अनंत अतीत, अनागत पर्याय वाला आत्म-तत्त्व मानता है। आज निरीह दीन रूप में उपस्थित आत्मा एक दिन भाव बन कर चक्रवर्ती के सिंहासन पर भी बैठ सकता है।

जीवादिसद्दहणं समत्तरूवमप्पणो।
दुरभिणिवेसमुक्कं सम्मं खु होदि सदि जम्हि।

जीवादि तत्वों पर श्रद्धा सम्यक्त्व है। वही आत्मा का निज रूप है। जिसके आने पर ज्ञान दुरभिनिवेश=हठाग्रह से मुक्त हो सम्यक् बनता है। द्रव्य संग्रह कभी इन्द्र के सिंहासन पर भी बैठ सकता है, और कभी समस्त कर्म जंजीरों को तोड कर मुक्त भी बन सकता है। सम्यग् दर्शन संपन्न आत्मा गाय में चक्रवर्ती और इन्द्र का अस्तित्व स्वीकार करता है, जब कि मिथ्यात्वी केवल उसे गाय के रूप में देखता है। अतः सम्यग् दर्शन पाते ही आत्मा दर्शन विशिष्ट की शक्ति पाता है जिसके द्वारा स्व-पर का भेदविज्ञान कर सकता है। और वही पाप-विशुद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है।

जहा आतवसंतत्तं वत्थं सुज्झइ वारिणा।
सम्मत्तसंजुतो अप्पा तहा झाणेण सुज्झती॥ २५॥

अर्थ :—जैसे धूप से तप्त वस्त्र पानी के द्वारा शुद्ध होता है। वैसे ही सम्यक्त्व से युक्त आत्मा ध्यान से शुद्ध होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જેમ તડકાથી તપેલું વસ્ત્ર પાણીથી શુદ્ધ થાય છે. તેવીજ રીતે સમ્યકત્વથી યુક્ત આત્મા ધ્યાનથી શુદ્ધ બને છે.

धूप से तप्त वस्त्र पानी से शुद्ध होता है। पानी से तो कपडा भीगता है, फिर यह शुद्ध कैसे?। धूप से पसीना आता है उसके द्वारा कपडा अशुद्ध हो जाता है। मैला कपडा पानी से साफ हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व समवेत आत्मा ध्यान के द्वारा शुद्ध होता है। ध्यान के चार प्रकार हैं, जिसमें आर्त और रौद्र कर्म पाश को सुदृढ करने वाले हैं। धर्म और शुक्र ध्यान आत्म-विशुद्धि के लिए उपयोगी हैं। शुक्र ध्यान के दो पद पृथक्त्व वितर्क और एकत्व वितर्क केवल ज्ञान के हेतु हैं और शेष दो सूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्ति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति द्वारा आत्मा शैलेशीकरण अवस्था प्राप्त करता है। सर्व संवरशील आत्मा क्रिया रहित स्थिति में पहुंच कर ही पूर्ण निर्वाण को पाता है। आचार्य समन्तभद्र मल्लिनाथ प्रभु की स्तुति में कहते हैं :—

यस्य च शुक्लं परमतपोग्नि,-र्ध्यानमनंतं दुरितमधाक्षीत्।
तं जिनसिंहं कृतकरणीयं, मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि॥

जिनके शुक्र ध्यान की परम तपाग्नि में अनंत पाप भस्म हो जाते हैं, उन कृतकृत्य निःशल्य जिनसिंह मल्लिनाथ प्रभु का मैं शरण ग्रहण करता हूं। प्रस्तुत स्तुति काव्य में भी शुक्र ध्यान को आत्मशुद्धि का हेतु बतलाया गया है।

कंचणस्स जहा धाऊ जोगेणं मुच्चए मलं।
अणाईए वि संताणे तवाओ कम्मसंकरं॥ २६॥

अर्थ :—धातु के संयोग से स्वर्ण का मैल दूर होता है। इसी प्रकार अनादि कर्म सन्तान भी तप से नष्ट हो जाते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જેમ ધાતુ (તેજાબ)ના સંયોગથી સોનાનો મેલ નિકળી જાય છે તેમજ અનાદિ કર્મો પણ તપથી નષ્ટ બની જાય છે.

स्वर्णकार जब सोने को विशुद्ध करता है, वह आग में तपाने के पूर्व उसमें दूसरी धातु (तेजाब) मिलाता है जिसके द्वारा तपने के बाद स्वर्ण में अधिक दीप्ति आती है और वह मुलायम हो जाता है। इसी प्रकार कर्म मैल आत्मा के साथ अनादि है। फिर भी तप के द्वारा कर्म मैल दूर हो जाता है और आत्मा विशुद्ध होता है। बहुधा प्रश्न किया जाता है कि आत्मा और कर्म का संयोग अनादि है फिर अनादि का अंत कैसे संभव है? उसके उत्तर में आचार्य ने सोने का रूपक दिया है। जैसे सोना और उसके मैल का संबन्ध अनादि है फिर भी मानव के प्रयत्न मैल को स्वर्ण से पृथक् कर सकते हैं, इसी प्रकार तपःशक्ति अनादि आत्म-मैल को दूर कर सकती है।

वत्थादिएसु सुज्झेसु, संताणे गहणे तहा।
दिट्ठं तं देसधम्मित्तं, सम्ममेयं विभावए ॥ २७ ॥

अर्थ :— वस्त्रादि के शोधन में और कर्म संतान में दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकभाव है। दृष्टांत एकदेशीय है। अतः उसका सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।

गुजराती भाषान्तर :—

કર્મોની ઉત્પત્તિમાં, અને વસ્ત્રોના શોધન (ધુલાઈ) નો દૃષ્ટાન્ત આપવામાં આવ્યો છે. આ દૃષ્ટાંત એકદેશીય છે. એથી તેનું સમ્યક્ રીતે પઠન કરવું જોઈએ.

वस्त्रों की सफाई यह एक रूपक है और वह कर्म-संतान की विशुद्धि के लिए आयी है। यह दृष्टांत है और दृष्टांत एकदेशीय होता है। किसी के शान्त स्निग्ध मुख को चन्द्र की उपमा दी जाय तो उससे घर में प्रकाश नहीं हो जाएगा और ऐसी आकांक्षा भी पागलपन के सिवा और कुछ नहीं होगी। वहां तो चन्द्र की सौम्यता, शान्ति और सुधा ही विवक्षित है। महाकाश्यप अर्हतर्षि भी रूपकों के सम्बन्ध में निर्देश दे रहे हैं। ये एकधर्मी है, अन्यथा वस्त्रों की भांति आत्मा को पानी से धो कर शुद्ध करने के लिए चल पड़ेंगे। क्योंकि पाप का रंग इतना हल्का नहीं है कि वह पानी से धुल जाए।

टीकाकार का भिन्न मत है—

वस्त्रादिषु शोध्येषु शुद्धिं प्रापयितव्येषु मार्गितव्येषु वा तपश्च संताने षष्ठादिभक्तावलेपां पिंडग्रहणे च देवाधर्मित्वं अपूर्णानुष्ठानं बहुशो दृष्टमेतद्धर्मित्वं तु सम्यग् निःशेषं विभावयेत प्राकाश्यं नयेत् ॥

जो वस्त्रादि शुद्ध करने योग्य हैं, उनमें और कर्म-संतति के क्षय हेतु की जानेवाली षष्ठभक्तादि तप और आहार ग्रहण में देशधर्मित्व अर्थात् अपूर्ण अनुष्ठान देखे जाते हैं। किन्तु साधक उनकी अपूर्णता दूर कर सम्यक् प्रकार से उसका अनुष्ठान करे।

टीकाकार द्वारा प्रस्तुत अर्थ गाथा के हार्द से मेल नहीं खाता है। क्योंकि अर्हतर्षि ने पहले वस्त्र शोधन और स्वर्ण शोधन के दृष्टांत दिए हैं। दृष्टांत हमेशा एकदेशीय होते हैं। दो वस्तुओं में से कुछ विशेष साम्यता को देख कर एक वस्तु से दूसरी को उपमित किया जाता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि एक वस्तु के समस्त गुण दूसरी में ही हो। इसी तथ्य को बताने के लिए यह गाथा आई है।

आवज्जती समुग्घातो, जोगाणं च निरुंभणं।
अनियट्टी एव सेलेसी, सिद्धी कम्मक्खओ तहा ॥ २८ ॥

अर्थ :— आवर्जन-समुद्घात, अनिवृत्ति, योग-निरोध और शैलेशीकरण के द्वारा आत्मा कर्म-क्षय करके सिद्धि प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

આવર્જન, સમુદ્‌ઘાત, અનિવૃત્તિ, યોગનિરોધ, શૈલેશીકરણ આત્મા કર્મ ક્ષય કરીને સિદ્ધ-મુક્તિ પ્રાપ્ત કરે છે.

शुक्ल ध्यान की परम तपोग्नि के द्वारा चार कर्म क्षय करके आत्मा केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त करता है। उसी का क्रम यहां बतलाया गया है, सर्व प्रथम आवर्जन क्रिया होती है। उदयावलिका में अप्राप्त कर्मों की उदयावलिका में प्रक्षेपण करना आवर्जन क्रिया कहलाती है। जब आयु अल्प हो और वेदनीय नाम गोत्र कर्म अधिक हों, उन्हें आयु की

सम स्थिति में लाने के लिए केवली प्रभु समुद्घात करते हैं। क्योंकि यदि आयु समाप्त हो जाय और वेदनीयादि की स्थिति अधिक हो तो पैचिरी स्थिति होजायगी, क्योंकि आयु के अभाव में आत्मा शरीर में रह नहीं सकता और कर्मक्षय नहीं हुए तो सकर्मक आत्मा सिद्ध कैसे होगा? ऐसी स्थिति में केवली भगवान समुद्घात करते हैं। जो अष्टसमय भावी होती हैं। आत्म-प्रदेशों को दंड, कपाट, मन्थान और अन्तःपूर्ति के रूप में आत्म-प्रदेशों को लोक व्यापी–बनाते हैं और चार समय में उसी क्रम से पुनः प्रदेशों को शरीरस्थ करते हैं। यही क्रिया समुद्घात है। जैसे गीला वस्त्र फैला देने से जल्दी सूख जाता है उसी प्रकार समुद्घात से आत्म-प्रदेशों को लोक व्यापी बना देने से वेदनीय आदि की स्थिति आयु के तुल्य हो जाती है[1]। उसके बाद केवली क्रमशः काया, वचन और मनोयोग का निरोध करते हैं। स्थूल वचन योग से स्थूल काय योग का निरोध करते हैं। और स्थूल मन योग से स्थूल वचन योग का विरोध करते हैं। सूक्ष्म काययोग के द्वारा स्थूल मनोयोग का निरोध करते हैं। बाद में क्रमशः सूक्ष्म वचन योग से काय योग एवं सूक्ष्म मनोयोग से सूक्ष्म वचन योग का निरोध करते हैं और सूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्ति नामक शुक्ल ध्यान के चतुर्थ पद से सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करते हैं। फिर शैलेशी निष्प्रकंप अवस्था को प्राप्त करता है। अनियट्टी जो भाव मुक्ति प्राप्त किया वगर निवृत्त नहीं होता है। जिसे अनियट्टी गुण श्रेणी भी कहते हैं। उसके बाद क्रिया रहित सर्व संवर रूप शैलेशी अवस्था आती है। इस अवस्था में पंचह्रस्वाक्षर उच्चारण काल तक आत्मा देह में ठहर कर आत्मा देहमुक्त हो सिद्ध होता है।

टीका:—तस्य फलं उच्यते यथा आपद्यते कर्मप्रदेशानां समुद्घातः स्फोटनकल्पः योगानां रूपवाङ्मनःकर्म-रूपाणां निरोधः अनिवृत्तिरपुनर्भवः शैलेशीयोगनिरोधरूपावस्था सिद्धिर्निर्वाणं तथा कर्मक्षयः॥

पूर्व गाथा में बताया गया है, कि साधक अपूर्ण अनुष्ठान न करे। अपितु साधना को पूर्ण करे। पूर्ण साधना का प्रति फल यहां बतला रहे हैं। जैसे कि कर्म-प्रदेशों का समुद्घात, जिसे स्फोटनकल्प भी कहा जाता है शरीर, वाणी और मन रूप योगों का निरोध अनिवृत्ति अर्थात् पुनः न होने वाली योगनिरोध रूप शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर आत्मा कर्म-क्षय रूप सिद्धि तथा निर्वाण प्राप्त करता है।

णावा व वारिमज्झंमि, खीणलेवो अणाउलो।
रोगी वा रोगणिम्मुक्को, सिद्धो भवति णीरओ॥ २९॥

अर्थ:—जल धारा के बीच में रही नौका के समान कर्म लेपरहित अनाकुल आत्मा सिद्ध होता है। रोगी रोग से निर्मुक्त होने पर आनन्द पाता है। ऐसे ही आत्मा भव-भ्रमणों की व्याधि से मुक्त हो कर आनन्द पाता है।

गुजराती भाषान्तरः—

પાણીના પ્રવાહની અંદર રહેલ હોડીની જેમ કર્મમળ–રહિત આત્મા સિદ્ધ બને છે. રોગી રોગથી મુક્ત થવાથી આનંદીત થાય છે, તેવીજ રીતે આત્મા ભવભ્રમણના રોગથી મુક્ત થઇને આનંદ અનુભવે છે.

नौका अथाह सागर में तैरती है। उसके नीचे असंख्य जलराशि रहती है, फिर भी नौका में एक बूंद भी नहीं रहता। इसी प्रकार मोह युक्त आत्मा संसार में नौका के सदृश रहता है। अनंत अनंत कर्म वासनाएँ उसके चारों ओर रहती हैं। क्योंकि कर्म द्रव्य तो संसार में सर्वत्र व्याप्त है, सिद्ध शिला पर भी कर्म प्रदेश है। किन्तु वे कर्मनिर्मुक्त होते हैं। आत्मा रोगमुक्त व्यक्ति की भांति असीम आनन्द का अनुभव करता है।

पुव्वजोगा असंगत्ता काऊ वाया मणो इ वा।
एगतो आगती चेव कम्माभावा ण विज्जती॥ ३०॥

अर्थ:—[सिद्धस्थिति में] पूर्व [संसारी दशा] के देह वाणी और मन रूप से पृथक् एक ही आत्म द्रव्य रहता है। कर्मजन्य भावों का वहां अभाव है। आत्मा के क्षायिक सम्यक्त्व केवल ज्ञान के बाद दर्शन और अनंत सुख रूप और सत्वप्रमेयत्वादि पारिणामिक भाव ही वहां रहते हैं। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भावों का वहां अभाव[1] है। साथ ही वहां भव्यत्व रूप पारिणामिक भाव का भी अभाव है। आगम में सिद्ध प्रभु नोभव्याभव्य है कहा गया है। क्योंकि सिद्ध स्थिति पा चुके हैं। अतः अब भव्यत्व अवशेष ही कहां रहा?।

---

१ औपशमिकादिभव्यात्वाभावात्वान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः।

गुजराती भाषान्तर :—

(સિદ્ધની સ્થિતિમાં) પહેલા (સંસારી દશા) ના દેહ વાણી અને મન જન્મભાવોથી જુદો એકજ આત્મ-દ્રવ્ય રહે છે. કર્મ જન્મ ભાવોનો ત્યાં અભાવ હોય છે. આત્માના ક્ષાયિક સમ્યક્ત્વ, કેવલ જ્ઞાન, કેવલ દર્શન અને અનંત સુખ અને સત્વપ્રમેયતત્વ આદિ પરિણામિક ભાવોજ ત્યાં હોય છે. ઔદયિક, ઔપશમિક અને ક્ષયોપશમિક ભાવોનો ત્યાં અભાવ હોય છે. સાથેજ ત્યાં ભવ્યત્વરૂપ પરિણામિક ભાવનો પણ ત્યાં અભાવ હોય છે. આગમમાં સિદ્ધ પ્રભુનો ભવ્યાભવ્ય છે, તેમ કહ્યું છે. કારણકે તે સિદ્ધસ્થિતિ પામેલા છે. તેથી હવે ભવ્યત્વ અવશેષજ ક્યાં રહ્યો. ઉપશમિક આદિ ભવ્યાત્વ ભાવત્વાન્યત્ર કેવળ સમ્યક જ્ઞાન દર્શન સિદ્ધત્વેભ્યઃ.

टीका :—पूर्वयोगेनासंगतानि भवन्ति; कायो वाङ्मन इति वैकान्तेन कर्माभावादिह लोकागतिर्न विद्यते ।

सिद्ध दशा में योगों का अभाव होता है। क्योंकि कर्मागमन का मुख्य हेतु योग ही है। योगों के सद्भाव में ही कर्म आते हैं। ग्यारहवें से तेरहवें गुण स्थान तक केवलयोग ही है। अतः ईर्यापथिक क्रिया है। सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः ॥–तत्त्वार्थसूत्र अ. ६, सू. ५,

प्रस्तुत गाथा में मुक्तात्मा के पुनरागमन का निषेध किया है, क्योंकि भवपरम्परा का हेतु कर्म है और कारण के अभाव से तज्जन्म कार्य का भी अभाव है।

परं णावग्गहाभावा, सुही आवरणक्खया ।
अत्थिलक्खणसब्भावा निच्चो सो परमो धुवं ॥ ३१ ॥

अर्थ :—सिद्धात्मा लोकाग्र में स्थित है। उससे आत्मा आगे नहीं जा सकता; क्योंकि उपर अवग्रह स्थान का अभाव है। समस्त आवरण के क्षय होने पर परम सुख में अवस्थित है। अस्ति–लक्षण से सद्भाव शील है और वह परम नित्य और शाश्वत है।

कर्ममुक्त आत्मा ऊर्ध्वलोकान्त तक जाती है। आत्मा लोकाग्र से उपर क्यों नहीं जा सकता इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत गाथा में दिया है। यद्यपि आत्मा ऊर्ध्वगति–धर्मी है, फिर भी उसकी गति धर्मास्तिकाय सापेक्ष होती है। धर्मास्तिकाय लोकव्यापी होता है। अतः उसके अभाव में आत्मा लोकाग्र से ऊपर नहीं जा सकता। सुख के प्रतिबन्धक समस्त आवरण क्षय हो चुके हैं। अतः सिद्धात्मा परम सुखी है। वैशेषिक दर्शन मुक्ति को आनंद शून्य मानते हैं। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र भी कहते हैं–**"न संविदानंदमयी च मुक्तिः"**।

सुसूत्रमासूत्रितमत्वदीयैः। अन्ययोग-व्यवच्छेदिका ८ गाथा के द्वितीय चरण से वैशेषिक दर्शन के उक्त मत का खंडन किया गया है। क्योंकि सुख प्रतिबन्धक मोहनीय कर्म है। उसका वहां अभाव है। प्रतिबन्धक के अभाव में सुख विद्यमान है। हां; वह सुख पार्थिव नहीं, अपार्थिव है।

साथ ही सिद्धात्मा में अस्तिलक्षण का सद्भाव है; क्योंकि बौद्ध दर्शन आत्मा संतति का सर्वथा उच्छेद ही निर्वाण मानता है। जैसे दीपक कलिका का जब तक प्रवाह है तब तक उसमें जलन भी है। वह जलन तभी समाप्त होगी जब दीप-निर्वाण हो जाय। किन्तु जैन दर्शन मोक्ष में आत्मा का उच्छेद नहीं, उसका सद्भाव मानता है; उसकी विभावदशा-जन्य विकृतियां समाप्त होती हैं। सर्वथा आत्मा नहीं। यदि आत्मा ही समाप्त हो जाय तो फिर साधना किस लिए? अतः सिद्धिप्राप्त आत्मा शाश्वत रूप में स्थित रहता है।

टीका :—नावाग्रहाभावाज्ज्ञानदर्शनावरणक्षयाच्च परंति परमं सुखी भवति पुरुषः, ध्रुवं असंशयं स नित्यः परमश्चास्त्युक्तलक्षणसद्भावात् । अर्थं गतम् ।

दव्वतो खित्ततो चेव कालतो भावतो तहा ।
णिच्चाणिच्चं तु विण्णेयं संसारे सव्वदेहिणं ॥ ३२ ॥

अर्थः—संसार की समस्त देहधारी आत्माओं को द्रव्य क्षेत्र काल और भाव से नित्य और अनित्य जानना चाहिए।

गुजराती भाषान्तर :—

સંસારનાં દરેક શરીરધારી આત્માઓને દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવથી નિત્ય અને અનિત્ય જાણવા જોઈએ.

विश्व के समस्त पदार्थ सार्थ द्रव्य रूप में नित्य हैं और पर्याय परिवर्तन की अपेक्षा नित्य भी हैं। वाचक उमास्वाती भी कहते हैं–"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं हि सत्।" तत्त्वार्थ० अ. ५–सू. २८

हर पदार्थ प्रतिक्षण उत्पत्ति और विलय में परिवर्तित हो रहा है। किन्तु उसके परिवर्तन का यह नर्तन ध्रुव के धुरी पर ही अवस्थित है। आचार्य सिद्धसेनदिवाकर भी कहते हैं:—

उप्पज्जंति वियंति भावा णियमेण पज्जवणयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥–सन्मतितर्क अ. १ गा. १०

पर्याय नय की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी होता है। किन्तु द्रव्यार्थिक दृष्टि पदार्थ अनुत्पन्न और अविनष्ट देखती है। इस ध्रुव सिद्धान्त में सिद्धिस्थित आत्मा भी उत्पाद और व्ययशील है। ध्रुव तत्त्व का प्रतिपादन तो पूर्व गाथाओं में वर्णित है। किन्तु द्रव्यक्षेत्र काल और भाव जन्य स्थूल परिवर्तन देहधारियों में ही परिलक्षित होते हैं। मुक्त आत्मा में नहीं।

मुक्तात्माओं में सूक्ष्म परिवर्तन है। स्वभावस्थित आत्मा भी निज गुणों में रमण करता है। यह रमणता भी सूक्ष्म परिवर्तन की परिचायिका है। साथ ही सिद्ध प्रभु अनंत उच्च पर्यायों को युगपत् जानते हैं। ज्ञाता और ज्ञेय कथंचित् अभिन्न भी है, अतः ज्ञेय का परिवर्तन ज्ञान और ज्ञाता में परिणति होता है। समस्त द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है। उनका पर्याय परिवर्तन सिद्धात्माओं का पर्याय परिवर्तन है।

गंभीरं सव्वओभद्दं सव्वभावविभावणं।
धण्णा जिणाहितं मग्गं सम्मं वेदेंति भावओ ॥ ३२ ॥

अर्थ:—गंभीर सर्वतोभद्र, सदा सब के लिए कल्याणकारी, समस्त भावों का प्रकाशक, अन्तर की गुफाई को प्रकाशित करने वाले सर्वज्ञ निरूपित धर्म को जो सम्यक् प्रकार से अनुभव करते हैं या जो उसे सम्यक् प्रकार रूप में पहचानते हैं वे आत्माएं धन्य हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

ગંભીર શીતળસોળા, હંમેશને માટે બધાનું કલ્યાણ કરનારા, બધીજ જાતના ભાવોના પ્રકાશક, અન્તરની ગુફાએને પ્રકાશિત કરનાર સર્વજ્ઞ દ્વારા નિરૂપિત ધર્મને સમ્યક્ પ્રકારથી જે ઓળખે છે. અથવા જે તેને સમ્યક્ રૂપમાં જાણે છે તે આત્માઓ ધન્ય છે.

एवं से बुद्धं—गतार्थः।

नवमं महाकासवज्झयणं

इति महाकाश्यप-अर्हतर्षिप्रणीतं नवमं अध्ययनं समाप्तम्

दशम अध्ययन

तेतलिपुत्तअज्झयणं

तेतलिपुत्र-अर्हतर्षिप्रोक्तं

प्रस्तुत अध्याय में अर्हतर्षि तेतलिपुत्र स्वयं अपनी आत्म–कथा बोलते हैं। उनके जीवन के उत्थान-पतन की यह सजीव कहानी है। वे स्वयं अमात्य मंत्री थे। स्वर्णकार की पुत्री पोट्टिला पर अनुराग हुआ और उसके साथ पाणिग्रहण भी हुआ। समय के प्रवाह में राग का रंग धुल गया और वही पोट्टिला उनके लिए अप्रिय बन गई। तभी सती साध्वी सुव्रता शिष्याओं के साथ तेतलिपुर में आती है। पोट्टिला पति का प्रेम सम्पादन के लिए उनसे मंत्र लेना चाहती है, किन्तु साध्वी ने जब इसे मुनि–मर्यादा के बाहर कह कर उसे करने से इनकार कर दिया तब वह भी चरित्र की ओर बढती है। तेतलिपुत्र उसे इस शर्त पर आज्ञा देते हैं, कि यदि वह देव बने तो उन्हें वीतराग के धर्म की ओर मुड़ने की प्रेरणा दे। पोट्टिला उसे स्वीकार करती है। दीक्षित होकर संयम का यथाविध पालन कर वह स्वर्ग में दिव्य रूप प्राप्त करती है और प्रतिज्ञा के अनुरूप वीतराग के धर्म की ओर मोडने को आती है।

इधर अमात्य तेतलिपुत्र राजा कनकध्वज से सम्मान और सम्पत्ति पा कर विलास में डूब रहे थे। अतः विवश हो कर पोट्टिलदेव को राजा और परिजन को तेतलिपुत्र से विमुख करना पड़ा। इधर मंत्री विष-पान, कूप-पात और अग्नि-स्नान द्वारा प्राण देने को उद्यत हो जाते हैं। पर वे जब उसमें सफल नहीं होते तो जीवन के प्रति की आस्था हिल उठती है। और वे श्रद्धा विहीन बन जाते हैं। तब पोट्टिल देव संसार की भयानकता का चित्र उनके सामने रखते हैं तब स्वयं अमात्य बोल उठते हैं कि भीत व्यक्ति के लिए प्रव्रज्या श्रेयस्कर है। तभी पोट्टिल देव यह कह कर चल देते हैं, कि तुम्हारे विचार सत्यभूत बने।

इधर तेतलिपुत्र विचारों की गहराई में डुबकी लगाते हैं। जाति-स्मरण ज्ञान पा कर उन्हें अपने पूर्व जन्म-महा विदेह में चरित्र ग्रहण और पूर्व के ज्ञान की स्मृति हो जाती है और वे वहीं दीक्षित होते हैं। पूर्व का ज्ञान भी स्मृतिपटल पर आ जाता है। और कुछ क्षणों में अपूर्व करण गुण श्रेणी और शुक्ल ध्यान पा कर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। यह कहानी ज्ञातासूत्र में विस्तृत रूप में दी गई है। प्रस्तुत सूत्र में उसका कुछ अंश ही दिया है। परिवार से तिरस्कृत हो वह अश्रद्धावादी बनता है। उसी प्रसंग का चित्र यहां दिया गया है। कुछ अंश ज्ञातासूत्र से पृथक् भी है।

इसमें कुछ तथ्य सामने आते हैं। यह वर्णन उस समय का है जब उन्हें केवल ज्ञान ही नहीं, जातिस्मरण भी नहीं हुआ था।

ये जातिस्मरण या स्वयं दीक्षित होते हैं। जो कि प्रत्येक बुद्धों की खास विशेषता है।

महा व्रतों की संख्या नहीं दी गई है। अतः यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि यह घटना किस तीर्थंकर के शासन काल की है।

को कं ठावेइ अण्णत्थ सगाइं कम्माइं इमाइं ?।

अर्थ :—कौन किसको रोकता है? मेरे इन कर्मों के अतिरिक्त मुझे कौन रोक सकता है?।

गुजराती भाषान्तर :—

કોણ કોને રોકી શકે છે? મારા આ કર્મોની અતિરિક્ત મને કોણ અટકાવી શકે છે?

आत्मा अपने निज स्वभाव में आने के लिए छटपटाता है। उसे अपने निज रूप में आने के लिए कौन रोक सकता है? मानव अपने दोषों का उत्तरदायित्व दूसरे पर ठेलता है। किन्तु जैन-दर्शन कहता है कि अपने बन्धन और मुक्ति का विधाता तूं स्वयं है। तूं स्वयं ही अपनी वृत्तियों के द्वारा बन्धता है और उनसे मुक्त होने की शक्ति तुझमें ही है। बाहरी शक्ति न तुझे बांध सकती है, न मुक्त कर सकती है।

प्रस्तुत सूत्रवाक्य में अर्हतर्षि अपने जीवन का रहस्य बतला रहे हैं-मित्र और बन्धु जनों! मैं ने दोष दिया कि वे मुझे संसार के बीच से निकलने नहीं देते, किन्तु तथ्य यह है कि मेरे कर्मों ने ही मुझे बांध रक्खा है।

टीका :—कः कं स्वस्थाने नाम गोत्रादिलक्षणे स्थापयति नान्यत्र स्वकीयानीमानि कर्माणि। तेतलिपुत्रार्हतार्षिणा भाषितमित्यत्रैव प्रवेशनीयम्, श्रद्धेयमित्यादिवाक्यानां पूर्वगतेनासंबद्धत्वात्।

टीकाकार का मत कुछ भिन्न है। कौन किसको नाम गोत्रादि लक्षण रूप पर स्थापित करता है?। ये हमारे अपने कर्म ही वहां स्थापित करते हैं। यहां पर तेतलिपुत्र अर्हतर्षि बोले ऐसा वाक्य जोडना चाहिए, अन्यथा श्रद्धेय आगे आने वाले वाक्यों से प्रस्तुत वाक्य सम्बद्ध नहीं रहेगा। प्रोफेसर शुब्रिंग इसे दूसरे ढंग से लिखते हैं:—मनुष्य आज जिस स्थिति में है उसे वहां तक लाने वाला कौन है?। स्थिति तो उसे लाई नहीं, क्योंकि उस स्थिति में तो वह स्वयं अभी उपस्थित हैं। उसके कार्य ही उसे इस स्थिति में लाए। इस प्रकरण का अन्तिम भाग इसे स्पष्ट करता है। जब कि अर्हतर्षि तेतलिपुत्र बोलते हैं कि भयभीत व्यक्ति को दीक्षित होना चाहिए। जो दूसरे को छलता है उसे छिपने को तैयार रहना चाहिए। जो घर पहुंचने की उत्सुकता रखता है उसे स्वदेश की ओर प्रयाण करना चाहिए ... ...।

सद्धेयं खलु भो समणा वदंती, सद्धेयं खलु
माहणा, अहमेगो असद्धेयं वदिस्सामि।
तेतलिपुत्तेण अरहता इसिणा बुइयं॥

अर्थ :—श्रमण वर्ग बोलता है कि श्रद्धा करना चाहिए। ब्राह्मण वर्ग जोर-शोर से पुकार कर कहता है कि श्रद्धा करो। किन्तु मैं अकेला कहूंगा कि श्रद्धा नहीं करना चाहिए। इस प्रकार तेतलिपुत्र अर्हतर्षि बोले।

गुजराती भाषान्तर :—

શ્રમણવર્ગ કહે છે કે શ્રદ્ધા રાખવી જોઈએ, બ્રાહ્મણ વર્ગ પુકારી પુકારીને કહે છે કે શ્રદ્ધા રાખો, પરંતુ હું એકલો કહીશ કે શ્રદ્ધા રાખવી ન જોઇએ. એ પ્રમાણે તેતલિપુત્ર અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

समस्त संप्रदायें श्रद्धा में जीती हैं। समस्त पंथ और मतों की जड श्रद्धा है। यदि पंथ में से श्रद्धा निकल गई तो सारा सम्प्रदाय-वाद ताश के पत्तों का ढेर हो जाएगा। इसी लिए श्रमण-संस्कृति और ब्राह्मण-संस्कृति में श्रद्धा का महत्व दिया गया है-"सद्धा परमदुल्लहा"।

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं॥

—उत्तरा० अ० ३ गाथा १

दूसरी ओर ब्राह्मग संस्कृति ने भी श्रद्धा का नारा बुलन्द किया है-"संशयात्मा विनश्यति।"
"यो यच्छ्रद्धः स एव सः" के रूप में श्रद्धा का आघोष सुनाई देता है।

अर्हतर्षि तेतलिपुत्र का प्रस्तुत वाक्य तब का है जब कि वे सामाजिक वातावरण से ऊब चुके थे। अपमान से त्रस्त उनका मन बोल उठा-दुनियां श्रद्धा के गीत गाती है ऋषि और मुनि भी श्रद्धा के लिए बोलते हैं। किन्तु मैं कहता हूं कि दुनियां के इन संबन्धों पर कोई विश्वास न करे। क्योंकि ये संबन्ध स्वार्थ के धागे से बंधे हैं। इसके उदाहरण में वे अपनी ही कहानी कह रहे हैं:—

सपरिजणो त्ति णाम ममं अपरिजणो त्ति को मे तं सद्दहिस्सति?। सपुत्तं पि णाम मम अपुत्ते त्ति को मे तं सद्दहिस्सति?। एवं समित्तं पि णाम ममं अमित्त त्ति को मे तं सद्दहिस्सति?। सवित्तं पि णाम ममं अवित्ते त्ति को मे सद्दहिस्सति?। सपरिग्गहं पि णाम ममं अपरिग्गहे त्ति को मे तं सद्दहिस्सति?। दाण-माण-सक्कारोवयारसंगहिते त्ति को मे तं सद्दहिस्सति?।

अर्थ :—"परिजन के साथ होते हुए भी मैं परिजन परिवार रहित हूं" ऐसा कहने पर कौन श्रद्धा करेगा? पुत्र होने पर भी मैं पुत्र रहित हूं, तो मेरे इस कथन पर कौन विश्वास करेगा? इसी प्रकार मित्र और स्नेही जनों के साथ होते हुए भी मुझे कौन मित्र विहीन मानेगा? मेरे पास धन होने पर भी मेरी धनहीनता पर कौन श्रद्धा करेगा? परिग्रह होने पर भी मेरी अपरिग्रहता को कौन सच मानेगा? दान, मान, सत्कार, उपचार या उपकार से युक्त होने पर मुझे इन सब से पृथक् कौन स्वीकार करने को तैयार होगा?।

गुजराती भाषान्तर :—

પોતાનાં સગા-વ્હાલાંઓ સાથે હોવા છતાં પણ હું સગા-વ્હાલાં ને નોકર-ચાકર રહીત છું એમ કહું તો તે કોણ સાચું માનશે? (શ્રદ્ધા કરશે), પુત્ર હોવા છતાં પણ હું પુત્રરહિત છું એમ કહું તો મારા એ કથન પર કોણ વિશ્વાસ કરશે? તે જ પ્રમાણે મિત્ર અને સ્નેહિ સાથે હોવા છતાં કોઈ પણ મને મિત્રવિહીન માનશે? મારી પાસે ધન હોવા છતાં પણ મારી ગરીબાઈ પર કોણ શ્રદ્ધા કરશે? (કોણ સાચું માનશે?) પરિગ્રહ હોવા છતાં પણ મને અપરિગ્રહી કોણ કહેશે? દાન, માન, સત્કાર, ઉપચાર અથવા ઉપકારથી યુક્ત હોવા છતાં પણ મને એ બધાથી પૃથક્ સ્વીકારવા કોણ તૈયાર થશે?

त्याग का एक वह भी रूप है जहां बाहर में विलास और वैभव के प्रसाधनों के रहते हुए भी आत्मा अन्तर से अलिप्त रहता है। यह है अन्तरत्यागी बहिस्संगी। जिसे वैदिक संस्कृति में देह में रहते हुए 'विदेह' कहा जाता है और जैन संस्कृति में 'भावचारित्री' कहा गया है। गीता जिसे 'स्थित-प्रज्ञ' के नाम से पहचानती है। और जैन आगम जिसे 'अलिप्त पद्म' कहता है।

जहा पोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं तं वयं बूम माहणं॥ —उत्तरा. अ० २५ गाथा २७

कमल जल में पैदा होता है, जल में रहता है और उसके चारों ओर जलधारा होने पर भी वह जल कण से अलिप्त रहता है। इसी प्रकार कुछ आत्माएँ जिनके चारों ओर भोग और वासना का सागर हिलोरे मारता रहता है, उस वातावरण में रह कर भी वे उससे पृथक् रहती हैं। वे ही विशिष्ट आत्माएँ हैं। जो सागर के किनारे बैठे हैं और कहते हैं कि हम सूखे हैं तो इसमें आश्चर्य क्या होगा? किन्तु उसकी अतल गहराई में भी जो डुबकी लगा कर भी जो सूखा निकल आता है वही चमत्कारी कहलाएगा।

स्वजन–परिजन के बीच रह कर भी जो इन सब से अलग अलग रहता है। पुत्र है, पर पुत्र का ममत्व उसके दिल को नहीं हुआ है, परिग्रह है, लक्ष्मी के पायल की झङ्कार है, धन है, पर धन का मद नहीं है। किन्तु साधारण जन उस स्थिति पर सहसा विश्वास नहीं करेगा। कांटों की राह पर चलने वाले को वह साधु मान सकता है। किन्तु फूलों की सेज पर सो कर भी कोई साधु हो सकता है यह उसे स्वीकार न होगा। क्योंकि उसकी आंखें इसके लिए अभ्यस्त नहीं है। इस लिए उसका विश्वास न करना स्वाभाविक ही है।

कभी ऐसा भी होता है जब कि भरा=पूरा घर होता है, लाखों की जायदाद होती है, स्नेही जन, परिजन सब कुछ होता है, किन्तु सागर के बीच भी आदमी प्यासा होता है। पुत्रों और मित्रों के बीच भी वह अकेलापन महसूस करता है। उसकी घनीभूत पीडा बोल उठती है कि कहने को तो सब कुछ है, पर मेरा अपना कोई नहीं है। व्यथा और करुणा से भीगी जिसकी जीवन-कहानी है। भरे भुवन में जिसकी आँसुओं से भीगी आँखें पोंछने वाला कोई नहीं है। तेतलिपुत्र के पूर्व जीवन की कहानी इन्हीं व्यथा और दर्द के धागों से बुनी हुई है। उन्ही के शब्दों में पढेंगे। किन्तु हां; इस व्यथा में उन्होंने निराशा के आँसू नहीं बहाए, अपितु दुनियां से अनासक्ति का बोध पाया है।

टीका :—श्रद्धेयं खलु भो श्रमणा वदन्ति ब्राह्मणाश्च एकोऽहं अश्रद्धेयं वदिष्यामि, सपरिजनमपि नाम मां दृष्ट्वा अपरिजनो अहमस्मीति को मे तच्छ्रद्धिष्यति न कश्चिदिति एवमेव सपुत्रं सवित्तं सपरिग्रहं दान-मान-सत्कारोपचार-संग्रहीतम्। अर्थ उपर बताया जैसा ही है।

तेतलिपुत्तस्स सयण-परिजणे विरागं गते को मे तं सद्दहिस्सति?। जाति-कुल-रूप-विणतोवयार-सालिणी पोट्टिला मूसिकारधूता मिच्छं विप्पडिवन्ना को मे तं सद्दहिस्सति?। कालकम्मणीतिसत्थ-विसारदे तेतलिपुत्ते विसादं गते त्ति को मे तं सद्दहिस्सति?। तेतलिपुत्तेण अमच्चेण गिहं पविसित्ता तालपुडके विसे खातिते त्ति से वि य पडिहते त्ति को मे तं सद्दहिस्सति?।

अर्थः—तेतलिपुत्र के स्वजन परिजन उनसे रुष्ट हो गए। इस बात पर कौन विश्वास करेगा? श्रेष्ठ जाति कुल में जन्मी हुई रूपवती, विनय और उपचार की साकार प्रतिमा सी मूसिकार–स्वर्णकार की लडकी पोट्टिला मिथ्याभिनिवेश में पड गई। मेरे इस कथन पर कौन भला विश्वास करेगा?। काल-क्रम से नीति-शास्त्र-विशारद तेतलिपुत्र विषाद में डूब गया, मेरे इस कथन पर कौन श्रद्धा करेगा?। तेतलिपुत्र मंत्री ने घर में प्रवेश कर के तालपुट विष खा लिया, किन्तु वह विष भी उनके लिए विफल हो गया। कौन मेरी इस बात पर विश्वास लाएगा?।

गुजराती भाषान्तर :—

તેતલિપુત્રના સગા-વ્હાલાંઓ ને પરિજનો તેનાથી રીસાઈ ગયા. આ વાત ઉપર કોણ વિશ્વાસ કરશે? ઉચ્ચ વર્ણમાં ઉત્પન્ન થયેલી રૂપવંતી, વિનય અને ઉપચારની સાકાર પ્રતિમા જેવી મૂસિકાર–સુવર્ણકારની પુત્રિ પોટ્ટિલા મિથ્યાભિનિવેશમાં પડી ગઈ. મારા આ કથન ઉપર કોણ વિશ્વાસ કરશે? કાલક્રમથી નીતિશાસ્ત્ર વિશારદ તેતલીપુત્ર વિષાદમાં ડૂબી ગયા, મારા આ કથન ઉપર કોણ શ્રદ્ધા કરશે? તેતલીપુત્ર મંત્રી પોતાના ઘરમાં પ્રવેશ કરીને તાલપુટ ઝેર ખાઈ લીધું, પરંતુ તે ઝેર પણ તેને માટે વિફળ થઈ ગયું, મારી આ વાત ઉપર કોણ વિશ્વાસ કરશે?

टीका :—तेतलिपुत्रस्य स्वजनपरिजनो विरागं गतः जातिकुलविनयोपचारशालिनी पोट्टिला मूसिकारधूता मिथ्या विप्रतिपन्ना काल-कर्म-नीति-विशारदस्तेतलिपुत्रो विषादं गतः। तेतलिपुत्रामात्येन सता गृहं प्रविश्य तालपुटं नाम विषं खादितं तत् तु प्रतिहतं। टीकार्थ ऊपरवत् है।

तेतलिपुत्र अपने आप को अश्रद्धावादी बताते हैं। उसके पीछे उनकी जीवन-कहानी है। तेतलिपुत्र से उनके माता पिता स्वजन परिजन सब कोई रुष्ट हो गए। तेतलिपुत्र पोट्टिला से अति स्नेह था। जो कि सुन्दर रूपवती और विनम्र थी।

किन्तु वह मिथ्याभिनिवेश में पड [1]गई–दूसरे के बहकावे में आगई। परिणामतः तेतलिपुत्र के हृदय में गहरा आघात लगता है और वह घर जा कर जहर पी लेता है, किन्तु वह जहर भी उसके लिए अमृत बन कर आया। चाहने पर भी तेतलिपुत्र नहीं मर सका। मौत को निमंत्रण दिया फिर भी वह नहीं आई। पर वह जीवन से ऊब चुका था। अतः मौत के लिए दुबारा फिर प्रयास करता है।

तेतलिपुत्तेणं अमच्चेण महालयं रुक्खं दुरूहित्ता पासे छिण्णे तहा वि ण मए, को मे तं सद्दहिस्सति? । तेतलिपुत्तेण महति-महालयं पासाणं गीवाए बंधित्ता अत्थाहाए पुक्खरीणिए अप्पा पक्खित्ते तत्थ वि य णं थाहे लद्धे को मे तं सद्दहिस्सति? । तेतलिपुत्तेण महति-महालयं कट्ठरासिं पलीवेत्ता अप्पा पक्खित्ते से वि य से अगणिकाए विज्झाए, को मे तं सद्दहिस्सति?

अर्थ:—मंत्री तेतलिपुत्र विशाल वृक्ष पर चढ कर फांसी लगाता है फिर भी वह नहीं मर सका। उसका पाश टूट गया। कौन मेरे इस वचन पर विश्वास करेगा?। तेतलिपुत्र बडे बडे पत्थर गले में बांध कर अथाह जल वाली पुष्करिणी में अपने आप को पटकता है। किन्तु वह अथाह में भी थाह पा गया। कौन इस बात पर विश्वास करेगा? इसके बाद तेतलिपुत्र लकडी की विशाल चिता बना कर उसमें कूद पडता है। किन्तु वह आग की ज्वाला भी बुझ गई। कौन इस बात पर भरोसा करेगा?

गुजराती भाषान्तर:—

મંત્રી તેતલિપુત્ર મોટા વિશાળ વૃક્ષ ઉપર ચડીને ફાંસો દયે છે છતાં પણ તે મરી શકતા નથી. તેનો ફાંસો તૂટી ગયો. કણ મારા આ વચન ઉપર વિશ્વાસ કરશે? તેતલિપુત્ર મોટા મોટા પત્થરો ગળામાં બાંધીને વિશાળ જળવાળી પુષ્કરણીમાં પોતાને પછાડે છે. પરંતુ તે વિશાળ જળસમૂહમાં પણ તે થાહ (તરી ગયો) પામી ગયો કોણ આ વાત ઉપર વિશ્વાસ કરશે? તે પછી તેતલિપુત્ર લાકડાની વિશાળ ચિતા બનાવીને તેમાં કૂદી પડે છે. પરંતુ તે આગની જવાળા પણ બૂઝાઈ ગઈ. કોણ આ વાત પર શ્રદ્ધા કરશે?

टीका:—**तेनैव नीलोत्पलगवलगुलिकातसीकुसुमप्रकाशोऽसिः क्षुरधारो निपातितः, सोऽपि च, 'तस्यासिरुच्चले'ति अन्यपुस्तकस्य पाठः, तेनैव तथापि च न मृतः। तेनैव भयातिमहन्तं वृक्षमधिरुह्य च्छिन्नपास इत्यपूर्णकथा। तथापि च न मृतः। तेनैव भयातिमहान्तं पाषाणं ग्रीवायां बद्ध्वा तस्यां पुष्करिण्यामात्मा प्रक्षिप्तस्तथापि स्थाहो लब्धस्तेनैव भयातिमहान्तं काष्ठराशिं प्रदीप्यात्मा प्रक्षिप्तः सोपि तस्याग्निकायो विज्झातः। सर्वमेतत् को मे श्रद्धास्यति?।** टीकार्थ ऊपरवत् है।

विशेष में यहां टीकाकार बताते हैं नील कमल गवल गुलिका भैंस या पाडे के सींग की कठिन गांठ और अलसी के फूल की भाँति प्रकाशवती तलवार से भी उसने अपने ऊपर प्रहार करना चाहा। किन्तु वह प्रयास भी निष्फल रहा।

यद्यपि प्रस्तुत सूत्र में यह पाठ नहीं है, किन्तु टीकाकार कहते हैं कि दूसरी पुस्तक का पाठान्तर यहां ग्राह्य है। क्योंकि ज्ञातासूत्र में यह पाठ उपस्थित है।

साथ ही तेतलिपुत्र की पेड पर चढ कर फांसी लगाने की घटना यहां दी गई है। किन्तु पूरी घटना व्यक्त–नहीं होती। वृक्ष पर चढने के साथ ही "पासे छिण्णे" पाठ आ जाता है। जिससे लगता है कि कुछ छूट गया है। यहां पर 'जाव' शब्द आवश्यक था। ज्ञातासूत्र में श्रद्धेय आदि वाक्यों में यह घटना नहीं दी गई है, किन्तु आत्मघात के प्रयत्नों में पूर्ण रूप से दी गई है। जो कि नीचे दी जा रही है:–

---

१ प्रस्तुत पाठ में ऐसा बतलाया गया है कि मूषिकार धूता स्वर्णकार की पुत्री पोट्टिला भी मिथ्याभिनिवेश में आ गई। अर्थात् बहकावे में आ कर तेतलिपुत्र को छोड कर चली गई। किन्तु तथ्य यह है कि इस घटना के कई वर्ष पूर्व स्वयं तेतलिपुत्र हि पोट्टिला से विमुख हो चुका था। ज्ञातासूत्र की कहानी इस तथ्य को स्वीकार करती है–'त तेणं पोट्टिला अन्नया कयाई तेतलिपुत्तस्स अणिट्ठा पूजाया यावि होत्था णेच्छाइय तेतलिपुत्ते पोट्टिलाए नाम गमवि सवणभाए किं पुण दरिसणं वा परिभागं वा' :–ज्ञाता-धर्मकथांग० अ. १४ सू. ६। एक दिन तेत्तलिपुत्र के लिए पोट्टिला अनिष्ट–अमान्या हो गई। वह उसका नाम तक नहीं सुनना चाहता था। फिर देखने की बात क्या?। फिर बहक गई उसका कोई स्थान ही नहीं है। किन्तु बात यह है कि पोट्टिला साध्वी के पास दीक्षित हुई थी। इसी को तेतलिपुत्र का आकुल मन मिच्छं विप्पडिवन्ना कह रहा है। दुःखी मानव दुःख के क्षणों में सब को याद करता है।

तएणं तेतलिपुत्ते असोगवणियां तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता पासगं गीवाए बंधत्ति बंधित्ता रुक्खं दुरुहति दुरुहित्ता पासं रुक्खे बंधत्ति बंधित्ता अप्पाणं मुयति तत्थ वि य से रज्जू छिन्ना।—ज्ञाताधर्म-कथांगसूत्र १०२।

तिरस्कृत मंत्री तेतलिपुत्र मौत के लिए हर संभव प्रयत्न करता है। वृक्ष पर फंदा डाल कर झूल जाता है। पत्थर बांध कर कुहे में कूदता है। धू धू करती हुई चिता प्रज्वलित करके उसमें कूदता है, किन्तु वह आग भी बुझ जाती है।

तएणं सा पुट्टिला मूसियारधूता पंचवण्णाइं सखिंखिणिताइं पवरवत्थाइं परिहित्ता अंतलिक्खपडिवण्णा एवं वयासी। आउसो रहितो आयाणिहि पुरओ विच्छिण्णे गिरिसिहरकंदरप्पवाते पिट्ठओ कंपेमाणेव्व मेयिणितलं साकड्ढंतेव पायवे णिप्फोरेमाणेव्व अंबरतलं सव्वतमोरासिव्व पिंडिते पच्चक्खमिव सयं कतंते भीमरवं करेंते महावारणे समुट्ठिए वा।

अर्थ :—बाद में वह स्वर्णकार की पुत्री पोट्टिला छोटी छोटी घंटिकाओं से युक्त पंच वर्णीय वस्त्र पहन कर आकाश में खड़ी होकर इस प्रकार बोली—यह समझो कि तुम्हारे समक्ष गिरि शिखर और कंदरा से विच्छिन्न होता हुआ प्रपात करना है। पृथ्वी तल को कंपित करता हुआ और वृक्षों को उखाड़ता हुआ आकाश को फोड़ता पिंडीभूत तम राशि-घनीभूत अंधकार के सदृश प्रत्यक्ष महाकाल—सा शब्द करता हुआ महा गजराज सामने खड़ा हुआ है।

गुजराती भाषान्तर :—

પછીથી તે સોનીની પુત્રી પોટ્ટિલા નાની નાની ઝાંઝરીથી બનાવેલ પાંચ રંગનું વસ્ત્ર પહેરીને આકાશમાં ઊભી રહીને આવી રીતે બોલી—ધારોકે તમારી સમક્ષ શીખર અને ખીણથી જુદું પડતું પ્રપાત કરણું છે. પાછળ પૃથ્વીના તળિયા કંપિત કરતો અને વૃક્ષોને ઉખેડી મુકતો આકાશને તોડતો પિંડીભૂત જેમ રાશિ ઘનીભૂત અંધકારની જેમ પ્રત્યક્ષ મહાકાલની જેમ અવાજ કરતો ગજરાજ સામે ઊભો છે.

टीका :—**ततः सा पोट्टिला मूसिकारदुहिता पंचवर्णानि सखिनखिनिकानि प्रवरवस्त्राणि परिधाय देवीभूतेति ज्ञाताधर्मकथानां चतुर्दिशं तेतलिज्ञातमनुसृत्याहार्यरिन्तरिक्षप्रतिपन्नैवमवादीद्-यथायुष्मँस्तेतलिपुत्र एहि तावदाजानीहि यत् पुरतो विस्तीर्णो गिरिशिखरकंदरप्रपातो पृष्ठतो कंपमानमिव मेदिनीतलं संकृष्यमाणेव पादपः निष्फोटयन्निवाम्बरतलं सर्व-तमो-राशीव पिंडितः प्रत्यक्षमिव स्वयं कृतान्तः भीमरवं कुर्वन् महावारणः समुत्थितः।**

टीकार्थ :—स्वर्णकार की बेटी पोट्टिला छोटी छोटी घंटिकाओं वाले वस्त्रों को पहन कर आकाश में स्थित हो कर तेतलिपुत्र को सम्बोधन कर के बोलती है—यह पोट्टिला पहले तेतलिपुत्र की पत्नी थी। किन्तु तेतलिपुत्र को उस से विरक्त हो जाने पर वह सुव्रता साध्वी के पास दीक्षित होने को तत्पर हो रही थी। तब तेतलिपुत्र ने उससे कहा था अगर तुम देव बनो तो मुझे वीतराग के धर्माभिमुख बनाना। उसी वचन में बद्ध हो कर पोट्टिल देव तेतलिपुत्र को प्रबुद्ध करने के लिए पहले प्रयास करते हैं। उसमें सफल न होने पर राजा कनकध्वज राजा परिषद और तेतलिपुत्र के परिवार को उस से विरक्त कर देते हैं। उस अपमान से क्षुब्ध होकर तेतलिपुत्र आत्म-हत्या के अनेकविध प्रयत्न करते हैं जो कि पहले उन्ही के मुख से सुन चुके हैं। उन समस्त प्रयत्नों की निष्फलता से तेतलिपुत्र श्रद्धाविहीन बनते हैं। तब पोट्टिलदेव पोट्टिला के रूप में उसी के वस्त्रों में आकाश में स्थित हो तेतलिपुत्र को बोलते हैं। श्री ज्ञातासूत्रमें इसका अनुसंधान अविकल रूप से उपलब्ध है। टीका कार उसी की ओर संकेत करते हैं। शेष ऊपरवत् है। श्रीज्ञातासूत्र में प्रस्तुत पाठ निम्न रूप में मिलता है।

ततेणं से पोट्टिलदेवे पोट्टिलारूवं विउव्वति विउव्वित्ता तेतलिपुत्तस्स अदूरं सामंते ठिच्चा एवं वयासी हं भो तेतलिपुत्ता पुरतो पवाए पिट्ठओ हत्थिभयं दुहओ अचक्खुफासे मज्झेसराणि वरिसयंति।-ज्ञातासूत्र १०२।

श्रीज्ञातासूत्र में पोट्टिल देव अदूर सामंत (न अति निकट न अति दूर) स्थित है। जब कि "इसि भासियाइं" में आकाश में स्थित हैं। साथ ही यहां पाठ काव्यात्मक है जब कि ज्ञातासूत्र में केवल वर्णनात्मक है। बाण वर्षा का वर्णन आगे दिया है।

उभओ पासं चक्खुणिवाए सुपयंड-धणु-जंत-विप्पमुक्का पुंखमेत्ता वसेसा धरणिप्पवेसिणो सरा णिपतंति हुयवह-जाला-सहस्स-संकुलं समंततो पलित्तं धगधगेति सव्वारण्णं अचिरेण य बालसूर-गुंजद्धपुंजनिकरपकासं झियाइ इंगालभूतं गिहं आउसो तेतलिपुत्ता। कत्तो वयामो?

अर्थ :—पलक मात्र में दोनों ओर से प्रचंड धनुष से छूटे हुए पृथ्वी के वक्ष में सम्पूर्ण प्रवेश करने वाले बाण बरस रहे हैं। जिनके पिछले हिस्से पर लगे हुए पंख मात्र दिखाई पड रहे हैं। आग की सहस्रों ज्वालाओं से सारा वनप्रदेश जल रहा है। धू धू करती हुई लप उठटें रही हैं। और शीघ्र ही उदीयमान सूर्य के सदृश आरक्त गुंजा (चिरमीटी) के अर्द्ध भाग की राशि की प्रभासदृश लाल अंगार बना हुआ घर जल उठेगा। आयुष्यमान तेतलिपुत्र! ऐसा होने पर हम कहां जावें?।

गुजराती भाषान्तर :—

ક્ષણભરમાં બન્ને બાજુઓથી પ્રચંડ (મહાક્ષય) ધનુષમાંથી છૂટેલાં પૃથ્વીના સાથળમાં (વક્ષમાં) પુરેપુરા પ્રવેશ કરનારા બાણ વરસી રહ્યા છે. જેના પાછળના ભાગ ઊપર લગાવેલા પીછાં જ દેખાઈ રહ્યા છે. આગની સહસ્ર જ્વાળાઓથી આખું વન બાળી રહ્યું છે. ધૂ ધૂ કરતી જ્વાળાઓ ઊઠી રહી છે અને તરતજ ઊગતા સૂર્યની માફક લાલવર્ણના અર્ધભાગની રાશિની જેમ લાલ તણખાથી બનેલું ઘર બળી (સળગી) ઉઠશે. હે આયુષ્યવાન તેતલીપુત્ર! આમ થશે ત્યારે આપણે ક્યાં જઈશું?

टीका :—उभयतःपार्श्वे चक्षुनिपाते सुप्रचण्डधनुर्यंत्र विषमुक्ता पुंखमात्रावशेषः धरिणिप्रवेशिनःसरा निपतन्ति। हुत-वह-ज्वाला-सहस्रसंकुलं समंततः प्रदीप्तं धगधगिति शब्दायते सर्वारण्यं अचिरेण च बालसूर्यगुञ्जार्द्धपुंजनिकर-प्रकाश ज्ञापल्यंगारभूतं गृहमायुष्यमँस्तेतलिपुत्र क व्रजामः?। टीकार्थ ऊपरवत् है। ज्ञातासूत्र में यह पाठ कुछ भिन्न रूप में आता है।

गामे पलित्ते रन्ने झियातिरन्ने पलित्ते गामे झियातिआउसो तेतलिपुत्ता कओ वयामो।—ज्ञातासूत्र १०२।

ग्राम के जलने पर मनुष्य वन की ओर जाता है। और वन के जलने पर ग्राम की ओर जाता है। हे आयुष्यमान तेतलिपुत्र हम कहां जावें?। यहां 'कओ वयामो' पाठ अशुद्ध है। 'क वयामो' होना चाहिए।

पोट्टिल देव कह रहे हैं कि महाकाल के बाण चारों ओर बरस रहे हैं। सारा वन भी प्रलयंकर आग में झुलस रहा है। और घर भी उसी आग की लपटों का भेंट होने वाला है। फिर हम कहां जावें?।

ततेणं से तेतलिपुत्ते अमच्चे पोट्टिलं मूसियारधूतं एवं वयासी पोट्टिले एहि ता आयाणाहि भीयस्स खलु भो पव्वज्जा अभिउत्तस्स सवहणकिच्चं मातिस्स रहस्सकिच्चं उक्कंठियस्स देसगमणकिच्चं पिवासियस्स पाणकिच्चं छुहियस्स भोयणकिच्चं परं अभिउंजिउं कामस्स सत्थकिच्चं खंतस्स दंतस्स गुत्तस्स जितिंदियस्स एत्तो ते एक्कमवि ण भवइ।

अर्थ :—बाद में अमात्य तेतलिपुत्र मूसिकारपुत्री पोट्टिला को इस प्रकार बोला—"पोट्टिले यह तुम्हें स्वीकार करना पडेगा, कि भयत्रस्त मनुष्य की दीक्षा संभव है। अभियुक्त व्यक्ति आत्म-हत्या कर सकता है। मायाशील व्यक्ति का रहस्य गुप्त कार्य होता है। देशभ्रमण के लिए उत्कंठित व्यक्ति की देश-यात्रा होती है। पिपासित का पान करना, क्षुधित का भोजन करना, दूसरे को विजित करने की कामना वाले का शस्त्र कार्य अर्थात् शस्त्रविद्या का अध्ययन संभव है। किन्तु क्षान्त दान्त त्रिगुप्तियों से गुप्त जितेन्द्रिय के लिए प्रपातादिक कोई भी भय संभव नहीं है।

गुजराती भाषान्तर :—

પછી અમાત્ય તેતલિપુત્ર મૂસિકારપુત્રી પોટ્ટિલાને આવી રીતે બોલ્યોઃ—પોટ્ટિલી! આ તારે સ્વીકાર કરવું પડશે કે ભયત્રસ્ત માનવીની દીક્ષા સંભવ છે. આવા ગુણોવાળી વ્યક્તિ આત્મહત્યા કરી શકે છે. માયાશીલ વ્યક્તિનું રહસ્ય ગુપ્તકામ હોય છે. દેશાટનના માટે ઉત્કણ્ઠાવાન્ માનવીની દેશયાત્રા થાય છે. તરસીયાનું પાન કરવું, ભુખ્યાનું ભોજન કરવું, બીજાને જીતવા માટેની ઇચ્છાવાનના શસ્ત્રકાર્ય એટલે શસ્ત્રવિદ્યાનું અધ્યયન સંભવ છે પણ ક્ષાન્ત દાન્ત ત્રણ ગુપ્તિઓથી ગુપ્ત જીતેન્દ્રિય માટે પ્રપાતાદિક કોઈ પણ ભયસંભવ નથી.

टीका :—ततः स तेतलिपुत्रामात्यः पोट्टिलां मूसिकारदुहितरं एवमवादीद् यथा—पोट्टिले! एहि तावदाजानीहि यल्लोके भीतस्य जनस्य खलु भो प्रव्रज्याहिता अभियुक्तस्य हितं प्रत्ययकरणमध्वपरिश्रान्तस्येत्युक्तं, ज्ञातुरध्याहार्यम्, वहनकृत्यं, मायिनो रहस्यकृत्यमुत्कंठितस्य स्वदेशगमनकृत्यं, क्षुधितस्य भोजनकृत्यं, पिपासितस्य पानकृत्यं, परं पुरुषमभियोकुकामस्य शास्त्रकृत्यं क्षान्तस्य तु दान्तस्य गुप्तस्य जितेन्द्रियस्यैतासामेकमपि न भवति। त्ति तेतलिपुत्रमध्ययनम्। टीकार्थ उपरवत् है।

प्रस्तुत पाठ में छूटे हुए कुछ विशेष पाठ ज्ञातासूत्र से लिए गए हैं। ज्ञातासूत्र में निम्न पाठ विशेष हैं। "आउरस्स भेसज्जं अभिजुत्तस्स पच्चयकरणं अद्धाणपरिसंतस्स वाहणकिच्चं तिरिउकामस्स पवहणकिच्चं परं अभियोजितुकामस्स सहाय-किच्चं।" रोगमुक्ति के लिए आतुर व्यक्ति का औषध लेना, अभियुक्त व्यक्ति जिस पर अभियोग लगाया गया है ऐसे व्यक्ति को दोष रहित हो, दूसरे का विश्वास संपादन करना भी आवश्यक है। दूसरे पर स्वयं विजय पाने के लिए किसी शक्तिसंपन्न व्यक्ति की सहाय लेना भी आवश्यक है।

प्रोफेसर शुब्रिंग भी लिखते हैं कि 'अभिउत्तस्स वहनकिच्चं' पाठ अपूर्ण है। "सवहनकिच्चं" पाठ का "स" निश्चित देश गमन के अर्थ से संबन्धित है।

इसके पहले के प्रकरण से ऐसा ज्ञात होता है कि तेतलिपुत्र के हृदय पर गहरी चोट लगी थी। पोट्टिला व्यंग्य भरे शब्दों में प्रश्न करती है साथ ही वह भीयस्स पवज्जा के साथ उसे संयम मार्ग में प्रेरित करती कि "तुम्हारे मुँह से ही तुमने संयम स्वीकार किया है।" इससे प्रेरित हो कर तेतलिपुत्र जातिस्मरण ज्ञान पा कर दीक्षित होते हैं और केवल ज्ञान भी पाते हैं। विशेष विवरण ज्ञातासूत्र से जान सकते हैं। यह स्वतंत्र प्रकरण है, कहीं सीमित तो कहीं विस्तृत है। ज्ञातासूत्र की कहानियां अन्य बातों में मौलिकता रखती हैं। किन्तु पोट्टिला का देवी रूप में वर्णन ही छोड देते हैं। जब कि इसि-भासियाइं सूत्र में "तलिक्खपडिवन्ने" कह कर उसका देवी रूप प्रतिपादित किया है।

ऋषिभाषित सूत्रकार बोलते हैं–तेतलिपुत्र पोट्टिला को महत्व पूर्ण संदेश देते हैं। भयभीत व्यक्ति प्रव्रज्या ले सकता है। किन्तु उसका कार्य उतना ही सामान्य है जितना कि एक पिपासित का पानी पीना और बुभुक्षित का भोजन करना। जिसकी अन्तरात्मा में क्षमा, दया और करुणा का सागर लहरा रहा है वह ऐसा नहीं कर सकता है। जहां भय है वहां कातरता और क्या कायर भी कभी साधना के पथ पर चल सकता है? संयम के लिए अन्तर्मन में वैराग्य की धारा बननी चाहिए। और भय कभी भी साधना के पथ को प्रशस्त नहीं बना सकता। संसार के नन्हें नन्हें शूलों को देख कर ही जो सहम गया वह अपमान और तिरस्कार के शूल को कैसे सहन करेगा?। साधना के वज्रादपि कठोर मार्ग पर कैसे कदम बढा सकता है। एस "मग्गो त्ति वीरस्स" यह कायरों का नहीं है; वीरों का मार्ग है।

एवं से बुद्धे० गतार्थः ॥

तेतलिपुत्तीयं नाम अज्झयणं

तेतलिपुत्राख्यं दशमं अध्ययनं समाप्तम्

एकादश अध्ययन

मंखलीपुत्र-अर्हतर्षिप्रोक्तं एकादशमध्ययनम्

सिद्धायणे व्व आणच्चा अमुणी संखाए अणच्चा एसे तातिते। मंखलीपुत्तेण अरहता इसिणा बुइयं।

अर्थ :—वीतराग की आज्ञा प्राप्त करने के लिए लौकिक ज्ञान को प्राप्त करने वाला शिष्ट जन अमुनि हो जाता है। किन्तु लौकिक ज्ञान का आध्ययन छोड कर अध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने वाला मुनि त्रायी-रक्षक होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

वीतरागनी आज्ञा प्राप्त करवा माटे लौकिक ज्ञानने प्राप्त करवावाळो शिष्ट मनुष्य अमुनि थई जाय छे. परंतु लौकिक ज्ञाननुं अध्ययन छोडीने आध्यात्मिक ज्ञानने प्राप्त करवावाळो मुनि त्रायी एटले रक्षक थाय छे.

मुनि अध्यात्म का शोधक है। वह वीतराग धर्म का पथिक है। आध्यात्मिक शान्ति के लिए लौकिक शास्त्रों–'मिथ्या सूत्रों' का अध्ययन करना व्यर्थ है। जब तक स्व का अध्ययन नहीं है तब तक पर का अध्ययन किस काम आएगा?।

आगम में आता है कि मुनि स्व समय और पर समय का ज्ञाता बने। स्व और पर की व्याख्या साम्प्रदायिक घेरे में बंधे रहने मात्र से नहीं है। हम ऐसी व्याख्या करके स्व और पर के साथ उचित न्याय नहीं कर सकेंगे। अपितु साम्प्रदायिक खाइयों को अधिक चौडी करेंगे।

साम्प्रदायिकता के स्थिर स्वार्थियों ने गीता के एक श्लोकार्ध की गलत व्याख्या देकर समाज में साम्प्रदायिकता फैलाई है। वह है: "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।" यहां स्व का मतलब अमुक संप्रदाय में बंधे रहना नहीं है। स्व धर्म का अर्थ आत्म-धर्म है और पर धर्म का अर्थ देह-धर्म है। साधक के लिए स्व धर्म आत्म धर्म में ही रहना श्रेयस्कर है। देह धर्म में जाना उसके लिए भयावह होगा। इसी प्रकार स्व समय और पर समय का आत्म धर्म पर समय से मतलब अनात्म-देह धर्म ही लिया गया है।

आत्मा को समझे बिना देह की ओर झुकने वाला साधक तथ्यतः देहाध्यास में पड कर पतन की राह लेगा। अतः साधक पहले आत्मसिद्धान्त को समझे, फिर जड वाद को समझे। कोरा जड वाद कैसी भयानक विभीषिका ले आता है, बीसवीं सदी में जीने वाला उससे अपरिचित नहीं है। दो दो महा युद्ध जड वाद की ही देन है। साथ ही जड वाद को समझना भी आवश्यक है, क्योंकि जड के बिना अकेले चैतन्य का ज्ञान ही नहीं हो सकता। किन्तु पहले आत्म वाद को पूरी तरह समझ लें, आत्म-परिणति में स्थित हो जाएँ, फिर जड को देखें। ज्ञान की पूर्णता पर पहुंचने और चरित्र में स्थित होनेके लिए स्व और पर दोनों सिद्धान्त का ज्ञान होना आवश्यक है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं:

चरणकरणप्पहाणा ससमयपरसमयमुक्कवावारा।
चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण्याणंति॥

जो केवल चरण करण आचार के नियमोपनियम में रह कर स्वसमय और पर समय के ज्ञान से पृथक् रहने वाला साधक यथार्थतः चरण करण के सार को भी शुद्ध रूप में पहचानता नहीं है।

टीकाः—अज्ञाय लौकिकं ज्ञानमधिगम्य शिष्ट जन इवेत्ति वा स्वेति वा भवत्यमुनिः परंत्वज्ञात्वा लौकिकं ज्ञानमनाधित्याध्यात्मिकं संख्येयावधार्यैव स एव मुनिस्त्रायी भवति। टीकार्थ ऊपरवत् है।

प्रस्तुत मंखलीपुत्र जैन आगम में प्रसिद्ध आजीवक मत संस्थापक मंखलीपुत्र गौशालक से भिन्न है। गौशालक भ० महावीर का सम कालीन था जब कि ये मंखलीपुत्र भ० नेमिनाथ के युग के हैं। इसका आधार उपसंहार की निम्न गाथा है—

पत्त्येयबुद्धमिसिणो वीसं तित्थे अरिट्ठनेमिस्स।
पासस्स य पण्णस वीरस्स विलीणमोहस्स॥

से एजति वेदति खुब्भति घट्टति फंदति चलति उदीरेति तं तं भवं परिणमति ण से ताती से णो एजति णो वेदति णो खुब्भति णो घट्टति, णो फंदति, णो चलति, णो उदीरेति णो तं तं भावं परिणमति से ताती तातिणं व खलु णत्थि सजणा, वेदणा, खुब्भणा, घट्टणा, फंदणा, चलणा, उदीरणा, तं तं भावं परिणामे। ताती खलु अप्पाणं च परं च चाउरंताओ संसारकंताराओ तातीति ताई।

अर्थ:—जो मुनि परिषहों को देख कर कंपित होता है, उसमें दुःख का वे वेदन करता है, संचित द्रव्यादि से संघट्टन करता है, स्पंदित करता है, कषायजन्य तद्भावों में परिगत होता है, वह त्रायी-रक्षक नहीं है। परंतु जिस साधक को परिषह सामने आने पर न कंपकंपी छूटती है, न जो दुःख का वेदन करता है, जिसे क्षोभ, संघटन, स्पंदन, चलन, उदीरण भी नहीं है और तत् तद् भावों में जो परिणत भी नहीं होता है वही त्रायी-रक्षक मुनि है। क्योंकि त्रायी रक्षक मुनि में ये एजन वेदन आदि कोई भी भाव नहीं होते हैं। ऐसा त्रायी मुनि ही अपने आप को तथा अन्य आत्माओं को चतुरान्त चार दिशा ही जिसका अन्त है ऐसे संसार रूप वन से रक्षण करता है।

गुजराती भाषान्तरः—

જે મુનિ પરિષહને જોઈને ધ્રુજે છે, તેમાં દુઃખનું તે વેદન કરે છે, સંચિત દ્રવ્યાદિથી સંઘટન કરે છે, તેને સ્પંદિત કરે છે, કષાય જન્ય તદ્ તદ્ ભાવોમાં પરિણત થાય છે તે ત્રાયી રક્ષક નથી. પરંતુ જે સાધકને પરિષહ સામે આવતાં બીક લાગતી નથી, ને દુઃખ પણ પામતા નથી; જેને ક્ષોભ, સંઘટન, સ્પંદન, ચલન, ઉદીરણ પણ નથી અને પછી તદ્ભાવોમાં પરિણત પણ જે નથી થતાં તે જ ત્રાયી એટલે રક્ષક મુનિ છે. કારણકે ત્રાયી રક્ષક મુનિમાં આ એજન વેદન આદિ કોઈ પણ ભાવ હોતા નથી. એવા ત્રાયી મુનિ જ સ્વયં પોતાને તથા અન્ય આત્માઓને ચતુરાન્ત-ચાર દિશા જ જેનો અંત છે. એવા સંસારરૂપ વનથી રક્ષણ કરે છે.

साधना का पथ फूलों का नहीं कांटों का है। कदम कदम पर कष्टों का सामना करना पडता है। कष्ट के शूलों को देख कर जिसकी आत्मा कांप उठती है उसका हृदय दुःख का वेदन कहने लगा और वह कष्ट से बचने के लिए इधर उधर मार्ग खोजता है तो वह संयम मार्ग से भटक जाता है। सही अर्थों में वह अपनी आत्म-परिणति और पर का रक्षक नहीं हो सकता है।

यह उत्सर्ग मार्ग है। साधक परिसहों के साथ संघर्ष करता हुआ भी सम भाव को कायम रख सकता है। तब तक उत्सर्ग-मार्ग पर ही चलता रहे। किन्तु यदि उत्सर्ग में मन की समाधि भंग होते देखे तो वह अपवाद का अवलंब भी ले सकता है। इसीलिए त्रिकरण त्रियोग से हिंसा के त्यागी मुनि को भी अपवाद मार्ग में पहाडी आदि विकट मार्ग से गुजरने पर हुए पैर के फिसल जाने पर वृक्ष लता आदि का अवलंबन ले कर उतरने की अनुज्ञा दी है[1]।

इसीलिए साधक वृक्षादि को स्पर्श करके भी अनाचार का भागी नहीं होता। अपवाद अनाचार नहीं है। दोनों में उतना ही अंतर है जितना उतरने और गिरने में। सीढी द्वारा उतर कर भी उसी भूमि पर आते हैं और गिर कर भी वहीं आते हैं। किन्तु उतरने में सही सलामत रहते हैं जब कि गिरने में हड्डी-पसली चूर्ण हो जाता है। अतः अपवाद उतरना है, और अनाचार गिरना है।

यहां उत्सर्ग मार्ग का विधान है:

टीका:—त्रायी तु कीदृश इत्युच्यते यः पुरुषः एजति वेदति क्षुभ्यति घट्टति स्पन्दति चलति उदीरयति तं तं भावं परिणमति न स त्रायी। य स न एजति यावत् परिणमति स त्रायी। त्रायिणा च खलु नास्त्येजनं वेदनं शोभनं घट्टनं स्पन्दनं चलनं उदीरणं तं तं भावं परिणामः। त्रायी खल्वात्मानं च परं च चतुरान्तात् संसारकांतारात् त्रातीति। टीकार्थ उपरवत् है।

असंमूढो उ जो णेता मग्गदोसपरक्कमो।
गमणिज्जं गतिं णाउं जणं पावेति गामिणं॥ १॥

अर्थ:—मार्गदर्शक पुरुषार्थी कुशल नेता लक्ष्य और गति का परिज्ञान कर के मनुष्य अपने ग्राम में रहे हुए लोगों को मिल सकता है।

गुजराती भाषान्तर:—

માર્ગ દેખાડનાર પુરૂષાર્થી કુશળ નેતા લક્ષ્ય અને ગતિનું પરિજ્ઞાન (હોય તો જ) કરીને મનુષ્ય પોતાના ગામમાં જઈ ધારેલા મનુષ્યને મળી શકે છે.

लक्ष्य पर पहुंचने के लिए कुशल नेता का सहयोग आवश्यक होता है। यदि नेता कुशल है तो भयानक वन में भी पगडंडी खोज लेता है। पुरुषार्थ वादी नेता लक्ष्य और गति का संतुलन रखता है। लक्ष्य को दूरी के अनुपात में यदि गति में तेजी हो तभी नेता राही को ग्राम तक पहुंचा सकता है।

अपरिचित वन प्रदेश में यदि हमें गुजरना है तो उसके लिए एक कुशल नेता आवश्यक है। साधना के क्षेत्र में प्रगति करने के लिए भी एक कुशल नेता की आवश्यकता है। किन्तु वह असंमूढ हो, पथ की बाधाओं को देख कर भयभीत न हो। साथ ही जिस पथ से गुजरना है उसके मोडों से भी वह परिचित हो। साथ ही वह एक दृष्टि अपने साथी की गति पर भी रखे और एक दृष्टि उसकी लक्ष्य पर रहे। दोनों का संतुलन रहने पर ही लक्ष्य पर पहुंच सकता है।

टीका:—असम्मूढस्तु यो नेता मार्गदोषात् कुमार्गदोषं वर्जयेत् पराक्रमो यस्य स तथा। सन्मार्गेण व्रजन् हि अगमनीयां गतिं ज्ञात्वा तां प्राप्यति। टीकार्थ ऊपरवत् है।

सिद्धकम्मो तु जो वेज्जो सत्थकम्मे य कोविओ।
मोयणिज्जातो सो वीरो रोगा मोतेति रोगिणं॥ २॥

अर्थ:—शस्त्र (शल्य) कर्म में कुशल सिद्धहस्त वीर वैद्य मोचनीय (साध्य) रोग से रोगी को मुक्त करता है। सिद्धहस्त वैद्य के हाथ में रोगी अपने आप को रोग मुक्त मानता है। अध्यात्म के कुशल चिकित्सक के पास पहुंचने पर साधक अनादि वासनाओं की व्याधियों से विमुक्त हो जाता है।

गुजराती भाषान्तर:—

શસ્ત્રકર્મમાં કુશળ સિદ્ધહસ્ત વૈદ્ય સાધ્ય રોગથી રોગીને મુક્ત કરે છે. કેમકે સિદ્ધહસ્ત (અનુભવી) વૈદ્યના હાથમાં રોગી સ્વયં પોતાને રોગમુક્ત માને છે. અધ્યાત્મના કુશળ ચિકિત્સકની પાસે પહોંચતાંજ સાધક અનાદિ વાસનાઓની વ્યાધિઓથી વિમુક્ત થઈ જાય છે.

टीका:—शिष्टकर्मणि तु यो विद्याः शस्त्रकर्मणि कोविदः। स वीरो ह सन् रोगिणं मोचयति मोचनीयात् रोगात्।

---

१ से तत्थ पयलमाणे रुक्खाणि वा गुच्छाणि वा गुम्माणि वा लयाओ वा व वल्लिओ वा तणाणि वा हरियाणि वा अवलंबिय अवलंबिय उतरेज्जा – आचारांग०।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं। शिष्ट कर्म विद्याएँ शास्त्र निर्दिष्ट कर्म क्रिया से युक्त कोविद व्यक्ति मोचनीय रोग से रोगी को मुक्त करता है। परंतु टीकाकार द्वारा निर्दिष्ट अर्थ उचित नहीं लगता।

संजोए जो विहाणं तु दव्वाणं गुणलाघवे।
सो उ संजोग-णिप्फण्णं सव्वं कुणइ कारियं ॥ ३ ॥

अर्थ :—जो द्रव्यों के गुण और लाघव के विधान का संयोग करता है वह संयोग-निष्पन्नता सभी कार्यों को पूर्ण करती है।

गुजराती भाषान्तर :—

જે દ્રવ્યોના ગુણ અને લાઘવને વિધાનો સંયોગ કરે છે તે સંયોગ પ્રાપ્તિ બધાજ કાર્યોને પૂર્ણ કરે છે.

कार्य संपन्न करने के लिए साधक को पहले द्रव्यों के गुण का ज्ञान आवश्यक है। उसके विधान नियमों में जो कुशल है उसके विधि विधानों की जो कुशलता पूर्वक संयोजना करता है वही कार्य में सफल होता है।

टीका :—**यस्तु द्रव्याणां गुणलाघवे विधानं योजयति तृणमिव तानि गणयति स सत्यं संयोगनिष्पन्नं कार्यं करोति।**

जो द्रव्यों के गुण लाघव में विधान की योजना करता है अर्थात् द्रव्यों के गुण लाघव में विधानानुकूल कार्य करता है, द्रव्यों को तृणवत् गिनता है वह सत्यतः संयोग निष्पन्न कार्य करता है।

विज्जोपयारविण्णाता, जो धीमं सत्तसंजुतो।
सो विज्जं साहइत्ताणं कज्जं कुणइ तक्खणं ॥ ४ ॥

अर्थ :—प्रज्ञाशील साधक विद्या और उपचार का विज्ञाता है और शक्तिसंपन्न है तो वह विद्या की साधना कर के तुरन्त ही अपना कार्य करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જે પ્રજ્ઞાશીલ (સમજુ) સાધક વિદ્યા અને ઉપચારનો જાણકાર હોય અને શક્તિવાન હોય તો તે વિદ્યાની સાધના કરીને વિલંબ વગર પોતાનું કાર્ય કરી શકે છે.

सिद्धि के लिए दो बातें अपेक्षित हैं। साध्य और उसकी साधना का परिज्ञान और उसके लिए अपेक्षित आत्म-बल का सद्भाव। इसके अभाव में साधना अधूरी रहेगी। वह सिद्धि के शीर्ष को छू न सकेगी।

टीका :—**विद्योपचारविज्ञाता विद्योपचारे कोविदो यो धीमान् सत्वसंयुतो भवति स विद्यां साधयित्वा तत्क्षणं कार्यं करोति।**

यहां विद्या की साधना का रहस्य बतलाया गया है। उसकी सिद्धि के लिए उसके उपचार सत्व की आवश्यकता रहती है। किन्तु यहां विद्या का अर्थ केवल भौतिक मंत्र-तंत्रादि की साधना न ले कर आत्म-विद्या ही अभिप्रेत है। और वह है ज्ञान-साधना। ज्ञान के लिए 'विद्या' शब्द आता[1] है।

णिवत्तिं मोक्खमग्गस्स, सम्मं जो तु विजाणति।
राग-दोषे णिराकिच्चा से उ सिद्धिं गमिस्सति ॥ ५ ॥

अर्थ :—जो मोक्ष-मार्ग की स्वरूप रचना सम्यक् प्रकार से जानता है, वह आत्मा राग-द्वेष को समाप्त कर सिद्ध स्थिति को प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જે મોક્ષમાર્ગના સ્વરૂપની રચના સારી રીતે જાણે છે તે આત્મા રાગ અને દ્વેષનો નાશ કરી સિદ્ધ સ્થિતિને પ્રાપ્ત કરે છે.

आत्म-विमुक्ति के लिए सर्व प्रथम मोक्ष का स्वरूप-ज्ञान आवश्यक है। उसके अभाव में मोक्ष के दिवानों ने अपने शरीर को भी कटवा लिए हैं। परन्तु इतने कष्टों के बावजूद भी आत्मा मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकी, क्योंकि उसमें सम्यग् दर्शन का अभाव है। जब तक राग और द्वेष की आग नहीं बुझ जाती तब तक मोक्ष की मंजिल दूर रहेगी। फिर चाहे कितना भी देह-दंड क्यों न किया जाए।

एवं से बुद्धे०। गतार्थं।
मंखलीपुत्तनाम अज्झयणं
इति मंखलीपुत्र-अर्हतर्षिप्रोक्तं एकादशं अध्ययनं समाप्तम्।

---

१ 'विज्जाचरणपारगे'-उत्तरा० अ० २३.६

द्वादश अध्ययन

याज्ञवल्क्यअर्हतर्षिप्रोक्तं
लोकेषणानाम द्वादशाध्ययनम् ।

मन की वृत्तियाँ आत्मा को चंचल बनाती हैं । मानव का मन वृत्तियों के द्वारा ही गतिशील होता है । वृत्तियां कभी शुभ होती हैं कभी अशुभ । वृत्ति ही व्यक्ति का निर्माण करती है । मानव मन को अशुभ की ओर प्रेरित करने वाली दो वृत्तियां हैं-एक है लोकैषणा और दूसरी वित्तैषणा । मैं कुछ हूं, जनता मुझे कुछ समझे, यह लोकैषणा है । अपनी अहंवृत्ति के पोषण के लिए मानव साधन के रूप में वित्त को अपनाता है । इन्हीं वृत्तियों का विश्लेषण प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है ।

आणच्चा जाव ताव लोएसणा, ताव ताव वित्तेसणा, जाव ताव वित्तेसणा ताव ताव लोएसणा, से लोएसणं च वित्तेसणं च परिण्णाए गो-पहेणं गच्छेज्जा, णो महापहेणं गच्छेज्जा। जण्णवक्केण अरहता इसिणा बुइतं ।

अर्थ :—साधक को यह जानना चाहिए कि जब तक लोकैषणा है तब तक वित्तैषणा है । जब तक वित्तैषणा है तब तक लोकैषणा है । साधक लोकैषणा और वित्तैषणा का परित्याग कर गो-पथ से जाय, महापथ से न जाय । ऐसा याज्ञवल्क्य अर्हतर्षि बोले ।

गुजराती भाषान्तर :—

સાધકે સમજવું જોઈએ કે જ્યાં સુધી લોકૈષણા છે ત્યાં સુધી વિત્તૈષણા છે. જ્યાં સુધી વિત્તૈષણા છે ત્યાં સુધી લોકૈષણા છે. સાધકે લોકૈષણા અને વિત્તૈષણાનો ત્યાગ કરી ગોપથથી જવું જોઈએ અને મહાપથથી ન જવું જોઈએ એમ યાજ્ઞવલ્ક્ય અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

मानव मन को दो तरह की भूख है-संपत्ति और प्रसिद्धि । जब तक प्रसिद्धि की कामना है तब तक उसके लिए संपत्ति की आवश्यकता रहेगी । क्योंकि संपत्ति से प्रसिद्धि खरीदी जा सकती है । कुछ व्यक्ति संपत्ति खर्च करके कीर्ति खरीदते हैं । और एक बार प्रसिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद उसका उपयोग संपत्ति के अर्जन में करते हैं । अतः लोकैषणा और वित्तैषणा दोनों सगी बहनें हैं । एक के सद्भाव में दूसरी आ ही जाती है ।

साधक लोकैषणा और वित्तैषणा के मर्म को छुए । उसके अन्तरंग में प्रवेश करने पर उसे असली तथ्य हाथ लग जाएगा । और वह दोनों का परिज्ञान करके उनका परित्याग करे ।

एक महत्त्वपूर्ण बात और कही गई है । साधक गोपथ से जाए, किन्तु महापथ से नहीं ।

जीवन जग के दो पथ हैं । पहला है अधिक से अधिक अर्जन करे और अधिक से अधिक खर्च करे । विलास और वैभव के प्रसाधन अधिक रूप में एकत्रित किए जाय, अपनी आवश्यकताएँ अधिक बढाए और उनकी पूर्ति के लिए अधिक सम्पत्ति जुटाए । दूसरा पथ है सीमित आवश्यकता और सीमित साधन । जैन-संस्कृति पहले सिद्धान्त में विश्वास नहीं करती, क्यों कि जितनी ही आवश्यकताएं बढाएंगे उसके लिए उतने ही संघर्ष बढेंगे । क्योंकि इच्छाएँ असीमित हैं जब कि साधन सीमित हैं ! जीवन है तो उसकी आवश्यकताएं भी रहेगीं । किन्तु वे अनियन्त्रित न हों । जैनसाधक गोपथ से जाएगा, महापथ से नहीं । उसकी आवश्यकता यदि एक ही वस्त्र से पूर्ण हो जाती है तो वह दूसरे वस्त्र के लिए प्रयत्न नहीं करेगा और प्रयत्न का अभाव हुआ तो याचना और उसके अभाव के खेद से भी बचेगा ।

यही सिद्धान्त गृहस्थ के लिए भी है । यदि एक ही मकान से उसका काम चल जाता है तो वह दो मकानों के लिए लोभ में न गिरे । यदि स्वल्प हिंसा से ही उसका काम चल जाता है तो वह हिंसा के क्षेत्र का विस्तार नहीं करे । दया और करुणा के क्षेत्र में श्रावक महापथ से जाएगा किन्तु आरंभ और हिंसा के क्षेत्र में गोपथ से ही जाएगा ।

टीका :—यावद् यावल्लोकैषणा लोकसंबन्धस्तावत् तावद् वित्तैषणा लोक इति तद्विपरीतश्चालापको द्रष्टव्यः। आणच्च त्ति आज्ञाएति हितासंबद्धत्वात् पूर्वगताध्ययनस्य टिप्पणत्वाख्यानादतं । स मुनिर्लोकैषणं च वित्तैषणं च परिज्ञाय त्यक्त्वा गोपथा गच्छेन्न महापथा राजमार्गेण तद्यथा कार्यं तदुच्यते ।

जहां जहां लोकैषणा लोकसंबंध है वहां वहां वित्तैषणा लोभ है । इसीप्रकार यहां विपरीत आलापक भी जानना चाहिए । आणच्च का अर्थ आज्ञाय आज्ञा के लिए होता है । किन्तु यहां वह असंबद्ध है । साथ ही पूर्व गत अध्ययन का

टिप्पण होने के कारण अग्राह्य है। ग्यारहवें अध्ययन में 'आणच' पद आया है संभव। है उसी की अनुश्रुति में यहां भी आणच पद दे दिया गया हो। शेष अर्थ ऊपरवत् है।

तं जहा-जहा कवोता य कविंजला य गाओ चरंति इह पातरासं।
एवं मुनी गोयरियप्पविट्ठे णो आलवे णो वि य संजलेज्जा ॥ १ ॥

अर्थ :—जैसे कपोत कबूतर कपिंजल पक्षीविशेष और गौ प्रातः भोजन के लिए वन में घूमते हैं इसी प्रकार गौचरी में प्रविष्ट मुनि गौवत् भिक्षा करे, परंतु स्वादिष्ट पदार्थ की प्राप्ति के लिए किसी गृहस्थ की प्रशंसा न करे। और भिक्षा न मिलने पर वह कुपित भी न होए।

गुजराती भाषान्तर :—

જેવી રીતે કપોત-કબૂતર, કપિંજલ-પક્ષીવિશેષ અને ગાય પ્રાતઃકાળનું ભોજન પ્રાપ્ત કરવા માટે વનમાં ફરે છે, તેવીજ રીતે ગોચરી માટે ગયેલા મુનિએ ગાયની માફક ભિક્ષા ગ્રહણ કરવી જોઈએ. પરંતુ સ્વાદિષ્ટ પદાર્થોની પ્રાપ્તિ માટે તેણે બીજાની પ્રશંસા પણ નહિ કરવી જોઈએ અને ભિક્ષા ન મળે તો તેણે ક્રોધાયમાન પણ થવું ન જોઈએ.

पहले कहा गया है कि साधक लोकैषणा और वित्तैषणा का त्याग करे; वह गोपथ से जाए, महापथ से नहीं। उसी गोपथ पर चलता हुआ मुनि भिक्षा के लिए जाता है। किन्तु उसका मन अनाकुल होना चाहिए। कपोत कपिंजल और गौ जब अपना अपना भोजन ढूंढने निकलते हैं तब उनके मन में न तो कोई आकुलता रहती है किसी प्रकार की दौड़-धूप शान्त गति से अपने अपने भोजन का शोध करते हैं। मुनि भी भिक्षा के समय समचित्त रहे। स्वादिष्ट पदार्थों का आकर्षण उसके मन को भटकाए नहीं। रास्ते में सेठ का भवन आया, उसमें भी वह जाता है, वहां से स्वादिष्ट आहार प्राप्त हुआ तो झोली में डाल कर आगे बढे और एक गरीब का घर आये तो वहां भी प्रवेश करे और उसकी रूखी रोटी भी उसी स्नेह के साथ स्वीकार करे। पर यदि कभी झोली खाली भी रह गई तो भी मन की झोली को न खाली होने दे; मन की झोली तो प्रेम और श्रद्धा से भरी रहे।

टीका :—गावः प्रातराशं चरन्ति, इह इति स्थाने इवेति युक्ततरमिव दृश्यते। एवं मुनिर्गोचर्यां प्रविष्टः स्वाल्लाभे सति नाल्पेन न मुदा लेपेन नापि चालाभे क्रोधेन संज्वलेत्।

गौ प्रातः अशन के लिए चरती है। इसी प्रकार मुनि गोचरी के लिए जाता है। अभीप्सित वस्तु मिल जाने पर उसके मुख पर अल्प भी मुस्कान की रेखा न खींचे और वस्तु नहीं मिलने पर वह क्रोध से जले भी नहीं। गाथा में इह पद आया है उसके स्थान पर इव पद उपयुक्त लगता है।

पंचवणीमकसुद्धं जो भिक्खं एसणाए एसेज्जा।
तस्स सुलद्धा लाभा हणणाए विप्पमुक्कदोसस्स ॥ २ ॥

अर्थ :—दोषों (कर्मों) के हनन के लिए विशेषतः मुक्त आत्मा मुनि पंच वनीपक-याचक-अतिथि [१]कृपण दी[२]न [३]ब्राह्मण [४]कुकुर कुत्ता [५]श्रमणों से शुद्ध अर्थात् उनके लिए विघ्न न बनता हुआ निर्दोष भिक्षा को गवेषणा पूर्वक ग्रहण करे।

गुजराती भाषान्तर :—

દોષો, કર્મોનો નાશ કરવા માટે વિપ્રમુક્ત આત્મા મુનિ પંચવનીપક, યાચક, અતિથિ કૃપણ, ગરીબ, બ્રાહ્મણ, દુબળા, કૂતરો, શ્રમણથી શુદ્ધ અર્થાત્ તેને માટે વિઘ્ન ન બનતો નિર્દોષ આહારને ગવેષણા પૂર્વક ગ્રહણ કરે.

पूर्व गाथा में साधक के लिए अनाकुल मन से भिक्षाचरी का निर्देश किया गया था। यहां भिक्षा शुद्धि के संबंध में निर्देश है। मुनि भिक्षा के लिए किसी घर में प्रवेश करता है यदि उसके सामने अतिथि कृपण दीन दुर्बल कुत्ता ब्राह्मण और अन्य तैर्थिक श्रमण जो कि वनीपक कहलाते हैं; उपस्थित हों तो मुनि लौट जाए[१]। अन्यथा भविक गृहस्थ मुनि को भिक्षा देते हुए अन्य को नहीं देगा। और इस प्रकार अन्य याचक निराश लौट जाएंगे। **"मित्ति मे सव्वभूयेसु"** का उद्गाता यह कैसे स्वीकार कर सकता है कि उसकी झोली भर जाए और दूसरे खाली हाथ लौटे।

---

१ समणं माहणं वा वि किवणं वा वणीमगं। तमतिक्कम्म न पविसे न चिट्ठे चक्खुफासयो।
पडिसेहिते व दिण्णे वा ततो तम्मि णयत्तिते। उवसंकमे भत्त-पाणट्ठाए व संजते॥

—दशवैकालिक अ० ५ उ. २ गाथा १०१-१२

टीका :— पंच वनीपका अतिथि-कृपण-कुक्कुर-श्रवणाः तैः शुद्धां दोषवारितां भिक्षां य एषण्यैषते तस्य हननदोष-विप्रमुक्तस्य लाभः सुलब्धो भवति। गतार्थः।

पंथाणं रूवसंबद्धं फलावत्तिं च चिंतए।
कोहातीणं विवाकं च अप्पणो य परस्स य॥ ३॥

अर्थ :— मुनि रूपसंबद्ध पंथ और फलावृत्ति का विचार करे। स्व और पर के क्रोधादि के विपाक का भी चिन्तन करे। अर्थात् भिक्षा के लिए जाते समय जिन शासन और मुनिरूप को हमेशा सामने रखे। उसी के अनुरूप फल की आवृत्ति चाहे। साथ ही वह स्व और पर किसी के लिए भी क्रोध का निमित्त न बने।

गुजराती भाषान्तर :—

મુનિ રૂપ-સંબદ્ધ પંથ અને ફળપ્રાપ્તીનો વિચાર કરે. સ્વ અને પરનું ક્રોધાદિના વિપાકનું પણ ચિંતન કરે. અર્થાત્ ભિક્ષા માટે જતી વખતે જૈનશાસન અને મુનિરૂપને હંમેશા સામે રાખે. તેને અનુરૂપ ફળની આવૃત્તિ ચાહે. સાથે સાથે તે સ્વ અને પર કોઈ ને માટે પણ ક્રોધનું નિમિત્ત ન બને.

पूर्वगाथा में बताया गया है कि भिक्षार्थी मुनी पंच वनीपकों से शुद्ध भिक्षा ग्रहण करे। उसका हेतु यहां पर दिया गया है। मुनि भिक्षा लेते समय अपने मुनिरूप और शासन के प्रतिष्ठा की सुरक्षा करे। क्षुधा से आक्रान्त मन में दीनता को प्रवेश न करने दे। दीनता दिखा कर भिक्षा लेना मुनि रूप और शासन की प्रतिष्ठा को समाप्त करना है। साथ ही यदि पंच वनीपक याचक जहां खडे हैं, वहां प्रवेश करने पर संभव है कि अपने लाभ के प्रति विघ्न कारक जान कर वे मुनि के ऊपर क्रोधित हो जाय और वे संघर्ष तक के लिए भी तत्पर हो जाएं। परिणामतः मुनि के मन में भी क्रोध आ सकता है। अतः समभाव का उपासक मुनि स्व और पर को कषाय के निमित्तों से दूर रखे[1]।

टीका :— पथं मार्गान्तं रूपसंबद्धमनुरूपं फलापत्तिं च चिन्तयेत कामक्रोध-मान-माया-लोभांतं पिंडैषणायामनु-भूतानां चात्मानं परं चाधिकृत्य विपाकम्।

जाण्णवक्कीय णाम अज्झयणं

साधक जिन शासन के अनुरूप फलप्राप्ति का चिन्तन करे तथा पिंडैषणा आहार की गवेषणा के समय अनुभूति में आए हुए क्रोध मान माया लोभ आदि के विपाक का चिन्तन करे, क्योंकि कषाय के अशुभ विपाक का चिंतन उसे कषाय से मुक्त करेगा।

इति याज्ञवल्कीयाध्ययनं द्वादशं समाप्तम्

---

१ वणीमगस्स वा तस्स दायगस्सुभयस्स वा।
अपत्तियं सिया होज्जा लहुत्तं पवयणस्स वा॥
—दशवै. अ० ५ द्वि. उ. गा. ११

भयाली-अर्हतर्षि प्रोक्त

भयाली-णाम

त्रयोदश अध्ययन

ऐसा माना जाता है कि एक का विकास दूसरे का विनाश ही ले कर आता है। किंतु यदि मेरा उत्थान से दूसरे का पतन बनता है तो वह मेरे लिए कदापि ग्राह्य नहीं होगा। जिसमें सबका हित है, सबका श्रेय है वही मुझे ग्राह्य होगा। यह सर्वोदय की ऊर्जस्व भाव-धारा आज के पांच सौ वर्ष पूर्व आचार्य समन्तभद्र की वाणी में सुनाई देती है।

'सर्वोदयमिदं शासनं तवैतत्'। शताब्दियों नहीं सहस्राब्दियों के भी पूर्व भयाली अर्हतर्षि के मुख से भी यह सर्वोदय की पवित्र वाणी सुनाई देती है।

किमत्थं णत्थि लावण्णं ताए? मेतेज्जेण भयालिणा अरहता इसिणा बुइतं :—
णोऽहं खलु भो अप्पणो विमोयणट्ठताए परं अभिभविस्सामि
मा णं मा णं से परे अभिभूयमाणे ममं चेव अहिताए भविस्सति ॥

अर्थ :—तुम्हारा लावण्य क्यों नहीं है? इसके उत्तर में मैतार्य भयाली अर्हतर्षि बोले-मैं अपनी विमुक्ति के लिए दूसरे को पराजित नहीं करूंगा। नहीं नहीं; वह पराजित व्यक्ति मेरे ही लिए अहित-कर्ता बनेगा।

गुजराती भाषान्तर :—

તમારું લાવણ્ય શા માટે નથી? તેના ઉત્તરમાં મૈતાર્ય ભયાલી અર્હતર્ષિ બોલ્યા : હું પોતાની વિમુક્તિ માટે બીજાને પરાજિત નહીં કરું. ના, ના, તે પરાજિત વ્યક્તિ જ આપણે માટે અહિત-કર્તા બનશે.

विश्वव्यवस्था में एक की विजय दूसरे की पराजय बन कर आती है। एक की मुस्कान दूसरे के लिए आंसू ले कर आती है। व्यक्ति अपने विकास के लिए दूसरे का विनाश करता है। किन्तु भयाली अर्हतर्षि कहते हैं कि मैं अपनी विजय के लिए दूसरे को पराजित नहीं कर सकता। दूसरे की चिता भस्म पर अपने लिए महल नहीं चुन सकता। क्योंकि दूसरे की पराजय में मेरा ही अहित छिपा हुआ है। दूसरे के बहते हुए आंसू मुझे भी चैन से नहीं रहने देगे। अतः दूसरे के हर्ष में मेरा हर्ष है और दूसरे के सुख में ही मेरा सुख है।

टीका :—किमर्थं त्वया लावण्यं मैत्री (नास्ति) न क्रियते इति बलात् प्रतिबोधितोऽपि संस्तं कंचिच्छ्रावकं प्रतिभाषितं नाहं खलु भो आत्मनो विमोचनार्थाय परमभिभविष्यामि। मा भूत् स परोऽभिभूयमानो ममैवाहिताय पापकर्मविपाकायेत्युक्तप्रकारेणक्षिप्तश्रावकस्याध्यवसायः।

किसी श्रावक को बलात् प्रतिबोध देते हुए किसी ने पूछा कि तुम सौन्दर्य से मैत्री क्यों नहीं करते हो? अर्थात् तुम सौन्दर्यशाली क्यों नहीं बनते? इसके उत्तर में वह बोला कि अपनी मुक्ति के लिए दूसरे को पराजित नहीं करूंगा। क्यों कि वह दूसरा पराजित होता हुआ भी मेरे अहित का निमित्त न बन जाए। अर्थात् पाप कर्म के विपाकरूप में उदय न हो इस प्रकार अक्षिप्त श्रावक का अध्यवसाय है।

आताणाए उ सव्वेसिं, गिहिबूहणतारए।
संसारवाससंताणं कहं मे हंतुमिच्छसि? ॥ १ ॥

अर्थ :—दूसरा अभिभूत होने वाला व्यक्ति संसार में रहे हुए गृहस्थ कहे जानेवाले तारकों-श्रावकों से पूछता है कि तुम मुझे क्यों मारना चाहते हो?।

गुजराती भाषान्तर :—

હાર પામવાવાળી બીજી વ્યક્તિ સંસારમાં રહેલા ગૃહસ્થ કહેવાતા તારકો-શ્રાવકોને પૂછે છે કે તમે મને શા માટે મારી નાખવા ઇચ્છો છો?

श्रावक गृहस्थ है यद्यपि उसकी भी जिम्मेदारियां हैं। इसे उन्हें निभाते हुए उसे चलना है। अतः वह हिंसा नहीं करता है। अपितु उसे हिंसा करना पडता है। फिर भी उसकी मर्यादा है। जीवन-यापन के लिए आवश्यक रूप में अनिवार्य हिंसा के लिए ही वह मुक्त है, किन्तु बनावट और सजावट के लिए होने वाली हिंसा के लिए वह मुक्त नहीं है। साथ ही

वह पंचम गुण स्थानवर्ती है, अतः वह भी केवल अपने ही हित को लेकर नहीं चल सकता। अपने हित के लिए दूसरे के हित में खिलवाड नहीं कर सकता। मुनि अपने अभ्युदय के लिए हर प्रकार से किसी को अनिष्ट नहीं पहुंचा सकता तो श्रावक भी इसमें आंशिक रूप से अवश्य ही बद्ध है।

क्या मुनि के द्वारा होनेवाली हिंसा ही बंध रूप है?। श्रावक सर्वथा मुक्त है?। मुनि त्रिकरण त्रियोग से हिंसा का प्रत्याख्यानी है तो श्रावक भी द्विकरण त्रियोग से हिंसा का प्रत्याख्यानी है। जो श्रावक लाउडस्पीकर से होने वाली हिंसा से मुनि के महाव्रतों का पहरेदार बना रहता है और बोलता है उपाश्रय में इलेक्ट्रिक का तार भी नहीं आना चाहिए तो क्या वह श्रावक अपने भवनों को एअरकंडीशन कराने के लिए स्वतंत्र है?। दिन और रात अनावश्यकरूप से जलने वाली इलेक्ट्रिक बत्ती और ट्यूब लाइट से होने वाली हिंसा से भी बचने का प्रयत्न नहीं कर सकता?

हिंसा कहीं भी हो वह अशुभ ही है। भांग कहीं पर भी बैठ कर खाई जाए लहर अवश्य ही देगी। हिंसा का पाप उपाश्रय में लगता है और अन्यत्र वह पुण्य बन जाता है यह अपूर्ण सत्य है तो धर्म उपाश्रय में ही हो सकता है यह भी सत्य का एक ही अंश है। धर्म और कर्म का संबंध ईंट और चूने के साथ नहीं है, क्योंकि वह तो वसता है आत्मा की वृत्तियों में!

श्रावक भी शृंगार-प्रसाधनों के पीछे होने वाली हिंसाओं से बचे। चमकीले चमडे के बूट सादे बूटों की अपेक्षा अधिक हिंसा से निर्मित है। अतः यदि श्रावक सादगी से काम चलावे तो वह महारंभ से बच सकता है। प्रस्तुत गाथा का यही हार्द है।

टीका:—सर्वेषां संसारावासे शान्तानां तुष्टानां गृही श्रावको यदि वा गृहिणां श्रावकानां ब्रह्मरतः प्रशंसाप्रियः कर्मोपादानाय भूत्वा तैः प्रत्युक्तः कथमिति कुतोऽर्थे हंतुमिच्छसीति।

आत्मरत गृहस्थ श्रावक संसारावस्था में प्रशंसाप्रिय हो कर भी सभी शान्त संतुष्ट गृही श्रावकों के लिए कर्मोपादान का कारण बनाता है। तो भी वे गृही श्रावक उसे कहते हैं। क्यों मुझे मारना चाहते हो?। यहां टीका स्पष्ट नहीं है।

जर्मन विद्वान प्रोफेसर शुब्रिंग् इस संबंध में भिन्न मत रखते हैं-जिसे अपनी शक्ति पर गर्व है वह पार्थिव जीवन में सत्य उपदेश ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं होता। साथ ही वह झूठे प्रदर्शन से लज्जित भी नहीं होता[1]।

संतस्स करणं णत्थि णासतो करणं भवे।
बहुधा दिट्ठं इमं सुट्ठु णासतो भवसंकरो ॥ २ ॥

अर्थ:—विद्यमान वस्तु कभी की नहीं जाती है और असत् वस्तु तो कभी की ही नहीं जाती। अथवा विद्यमान वस्तु का करण (कारण) नहीं है। क्योंकि अपने करण के द्वारा ही कार्यरूप में आई है। असत् वस्तु का कोई करण नहीं होता। बहुधा यह भली भांति देखा गया है कि भवसांकर्य असत् नहीं है।

गुजराती भाषान्तर:—

વિદ્યમાન વસ્તુ ક્યારે પણ કરાતી નથી. અને અસત્ વસ્તુ તો ક્યારેય ઉત્પન્ન થતી જ નથી. અથવા વિદ્યમાન વસ્તુનું કરણ (કારણ) નથી, કારણ કે આપણા કરણદ્વારા જ કાર્ય રૂપમાં આવી છે. અને અસત્ વસ્તુનું કોઈ કારણ નથી હોતું. બહુધા આ સારી રીતે જોવાયું છે. કે ભવ સાંકર્ય અસત્ નથી.

दर्शन के क्षेत्र में सांख्यदर्शन सत् वादी है जब कि बौद्ध और वैशेषिक दर्शन असत् वादी है। सांख्य दर्शन कहता है कि विश्व में सत् विद्यमान वस्तु ही की जाती है, असत् नहीं। घट मिट्टी के रूप में पहले ही से विद्यमान है। कुंभकार के कुशल हाथ उसको मूर्त रूप देते हैं। यदि कुम्भकार यह दावा करता हो कि वही असत् का भी निर्माता है तो जरा उससे यह कह दीजिए कि आकाश का भी एक घट बना दे। वह कहेगा कि यह असंभव है। इसका मतलब सत् की ही उत्पत्ति हो सकती है।

बौद्ध और वैशेषिक दर्शन असत् वादी है। उनका विश्वास है कि असत् की ही उत्पत्ति होती है। विद्यमान वस्तु का करना क्या है? साथही एक दूसरा भी प्रश्न है, कि यदि घट मिट्टी में ही उपस्थित है तो दिखाई क्यों नहीं देता? यह प्रत्यक्ष

---

१ इसिभासियं पर प्रो० शुब्रिंग् के टिप्पण पृष्ठ ५५८

विरोध है। साथ ही यदि घट मिट्टी में पहले से ही उपस्थित है तो कुंभकार की आवश्यकता ही क्या है और उसको खरीदने के लिए पैसे देने की ही क्या आवश्यकता है ?।

दार्शनिक जगत् का एक सिद्धान्त है कि असत् का कभी उत्पादन नहीं होता है और सत् कभी नष्ट नहीं होता है। 'नासतो जायते भावः नाभावो विद्यते सतः।' असत् कभी किया नहीं जा सकता और सत् भी नहीं किया जाता। क्यों कि वह तो विद्यमान है ही। कृत का करना ही क्या है ? किन्तु यह निश्चित देखा गया है कि भव अंकुर असत् नहीं है, क्यों कि भव-परंपरा सहेतुक है। उसके पीछे कर्म वर्गणा है जो कि भव परंपरा का मुख्य हेतु है।

टीका :—सा ब्राह्मणरतिः शान्तस्य कारणं नास्ति शांतो न एवं करोतीत्यर्थः। किन्तु नाश्यतो हिंसकस्य करणं भवेत् नाशयतस्तु भव. शंकरः संसाराहिंडनं भविष्यति तद् बहुधा सुदृष्टं गुरुभिः।

वह ब्राह्मणरति आत्म-परिणति में रमणता शांत व्यक्ति के लिए करणीय नहीं है; क्यों कि शान्तव्यक्ति स्वात्मपरिणति में लीन रहता है। हिंसक व्यक्ति के लिए विनाश ही कार्य है, विनाश के द्वारा वह आत्मा भव शंकर अर्थात् भविष्य में भी संसार में भ्रमण-करता है ज्ञानियों ने अनेकों बार ऐसा देखा है।

संतमेतं इमं कम्मं दारेणेतेण वट्टियं।
णिमित्तमेत्तं परो एत्थ मज्झ मे तु पुरे कडं ॥ ३ ॥

अर्थ :—यह उपस्थित कर्म भवपरंपरा के द्वार के रूप में उपस्थित है। दूसरा तो केवल निमित्त मात्र है। मेरे शुभाशुभ विपाक के लिए तो मेरे पूर्व कृत कर्म ही उत्तरदायी है।

गुजराती भाषान्तर :—

આ ઉપસ્થિત કર્મ ભવ-પરંપરાના દ્વારના રૂપમાં ઉપસ્થિત છે, બીજું તો માત્ર નિમિત્તરૂપ છે. મારા શુભા-શુભ વિપાક માટે તો મારા પૂર્વે કરેલા કર્મ જ જવાબદાર છે.

भवपरंपरा कार्य है तो कर्म उसका कारण है। क्यों कि कारण के अभाव में कार्य संभव नहीं है। सुख और दुःख का जो भी विपाकोदय है उसका मूल उपादन तो आत्मा स्वयं है। दूसरा तो केवल निमित्त मात्र है। वृत्ति दो प्रकार की होती है। पहली शेर की और दूसरी कुत्ते की। कुत्ते पर जब कोई लाठी प्रहार करता है तब वह लाठी पर भौंकता है पर लाठी वाले पर नहीं। किंतु शेर को जब गोली लगती है तब वह बंदूक पर नहीं बल्कि बंदूकधारी पर ही वार करता है।

अज्ञानी मनुष्य जब कभी विपत्ति से ग्रसित होता है तो वह अशुभोदय के निमित्त बनने वाले व्यक्ति पर ही आक्रोश करता है। उसे ही समाप्त करना चाहता है किंतु ज्ञानसंपन्न आत्मा विपत्ति के बुरे से बुरे क्षणों में भी दूसरे पर रोष नहीं करता। क्यों कि वह जानता है कि शुभ और अशुभ विपाक कर्मजन्य है। दूसरा तो निमित्तमात्र है। दूसरा कोई यदि सुख या दुःख दे सकता है तो उसका कोई नियामक नहीं रहेगा। फिर अकृत कर्म का भी फल भोगना पडेगा। साथ ही अपने सुख और दुःख दूसरे व्यक्ति के हाथ में चला जाएगा। फिर आत्मा की स्वतंत्र शक्ति ही क्या रही ? अतः जैनदर्शन कहता है कि तू अपना विधाता स्वयं है क्यों किसी के सामने भीख मांगता है ?। यदि तेरे शुभोदय है तो तुझे मिल कर ही रहेगा। फिर दूसरे के सामने गिडगिडाने से फायदा ही क्या है ? अशुभोदय में दूसरा वेदना नहीं दे सकता। हमारा ही अशुभ कर्म वेदना लेकर आया है। दूसरा तो निमित्त मात्र है। गीता भी कहती है "निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।" सब अपनी अपनी नियत गति पर चल रहे हैं। हम तो उसके निमित्त मात्र ही बन सकते हैं।

टीका :—हिंसितं पुरुषं त्वेदं शांतं अबाधायुक्तं कर्म एतेन द्वारेण प्रकारेणोपस्थितं भवति यथा मायैव पुरः पूर्वभवे यत् कृतं तस्य स परोऽत्र निमित्तमात्रविपाककारयितैव भवतीति।

---

१ जे संत वायदोसे सकोलूया भणंति संखाणं।
संखाय असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥
तेउ भयणो वणीया सम्मदंसणमणुत्तरं होंति।
जं भव-दुक्ख-विमोक्खं दोवि पूरा न पाडेंति ॥
नत्थि पुढवि विसिट्ठो घडोत्ति जं तेण जुज्जइ अण्णो।
जं पुण घडोत्ति पुव्वं ण आसि पुढवी तओ अण्णो ॥

आचार्य सिद्धसेनदिवाकर :—सन्मतिप्रकरण ५०-५१-५२।

जिसकी हिंसा की गई है वह पुरुष भी अपने आप को इस विचार से शांत कर सकता है कि इस रूप में उदय में आया हुआ कर्म एक दिन मैं ने ही पहले पूर्व भव में किया है। दूसरा तो केवल विपाकोदय में निमित्त मात्र है। प्रोफेसर शुब्रिंग् भी कहते हैं कि :-

दूसरे को हानि पहुंचाने वाला अनिष्ट कर्म उसके जीवन में विविध परिणाम लाता है। जिसको आघात लगा है वह भी अपने पूर्वकृत कर्मों को भोग रहा है। प्रहार करने वाला तो अपराधी है ही, किंतु जिस पर प्रहार किया गया है वह भी एकदम निर्दोष है ऐसी बात नहीं है। उसने भी पहले हिंसा द्वारा कर्म एकत्रित किए थे, प्रहार कर्ता तो शांत पडे अनुदीरित कर्मों को एक नई हलचल देता है। वही उदीरणा है।

मूलसेके फलुप्पत्ती मूलघाते हतं फलं।
फलत्थी सिंचती मूलं फलघाती ण सिंचती ॥ ४ ॥

अर्थ :—मूल के सींचने से फल की उत्पत्ति होती है। मूल नष्ट करने पर फल नष्ट हो जाता है। फलार्थी मूल का सिंचन करता है। फल को नष्ट करने वाला मूल का सिंचन नहीं करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

ઝાડના મૂળને પાણી પાવાથી ફળની ઉત્પત્તિ થાય છે. મૂળનો નાશ કરતાં ફળ પણ નાશ પામે છે. ફલાર્થી મૂળનું સિંચન કરે છે, ફળને નષ્ટ કરવાવાળો મૂળનું સિંચન કરતો નથી.

टीका :—प्रस्तुत गाथा वज्जियपुत्र अर्हतर्षि भाषित द्वितीय अध्ययन में आ चुकी है।

लुप्पती जस्स जं अत्थि, णासंतं किंचि लुप्पती।
संताती लुप्पती किंचि, णासंतं किंचि लुप्पती ॥ ५ ॥

अर्थ :—जिसका जो कर्म होता है वही लुप्त हो सकता है। किन्तु असत् का लोप नहीं हो सकता है। विद्यमान में किंचित् वस्तु का लोप होता है, किन्तु असत् में से किंचित् भी लोप नहीं हो सकता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જેનું જે કર્મ હોય છે તે જ લુપ્ત થઈ શકે છે. પરંતુ કર્મ ન જ હોય તો તેનો લોપ થઈ શકતો નથી. વસ્તુ હોય તો જ ક્યારેક તેનો લોપ થઈ શકે છે. પરંતુ અસત્‌માં તો ક્યારે પણ (કોઈપિણ વખતે) લોપ થઈ શકતો નથી.

अथवा जो कर्म उदयावलिका में आता है वह क्षय होता है। जो आत्मा उदित कर्मों को शांत भाव से भोगता है वह कर्म क्षय करता है। किंतु कर्मोदय के क्षणों में जो अशान्त हो उठता है वह कर्म का क्षय नहीं करता। यद्यपि उदयावस्था में आये हुए कर्मों को तो वह क्षय करता है। किन्तु नए कर्मों का पुनः बन्ध कर लेता है। जो कि पूर्व के कर्मों के अनुपात में कई गुना अधिक होते हैं। शांति कर्मों का क्षय करती है और अशांति कुछ भी क्षय नहीं करती।

टीका :—यस्य यदस्ति कर्म तद् विपाकेन लुप्यते यदशान्तं उदीरितं कर्म भवति तस्य न किंचिल्लुप्यते उदीरणावशादेव शान्तात् कर्मणः किंचिल्लुप्यते किंचिन्न, शान्तेरसंक्षिप्तत्वात् विपाकात् पूर्वं तु न लुप्यते शान्तं कर्म।

टीकाकार का मत कुछ भिन्न है। जिसका जो कुछ है वह कर्म विपाक से लुप्त होता है। जो कर्म अशान्तरूप में उदीरित होता है उसका अल्प रूप में भी नहीं लुप्त होते। उदीरणा के द्वारा भी कुछ कर्म लुप्त होते हैं। कुछ लुप्त भी नहीं होते, उसका कारण है विपाकोदय के समय यदि आत्मा शान्त रहा तो वह कर्म क्षय करता है। असंक्षिप्त विस्तृत होने से शान्त कर्म उदीरणा में नहीं आए हुए कर्म विपाकोदय के पूर्व नष्ट नहीं हो सकते।

कर्म दो रूप से क्षय होता है-एक विपाकोदय से और दूसरा उदीरणा के द्वारा। कर्म जब सहज रूप में विपाक काल समाप्त होने पर उदय में आकार क्षय हो जाता है, वह विपाकोदय है; देर से उदय में आने वाले कर्मों को जब कभी आत्मा जिस प्रक्रिया द्वारा शीघ्र उदय में ले आता है, उसे उदीरणा कहा जाता है। उदीरणा के भी दो रूप हैं-पहली शान्त उदीरणा और दूसरी अशान्त उदीरणा। शान्त उदीरणा में आत्मा कर्म क्षय करता है। अशान्त उदीरणा में आत्मा कर्मों का विशेष बन्धन करता है। निम्न लिखित चार्ट उसे समझाने में सहायक होगा :—
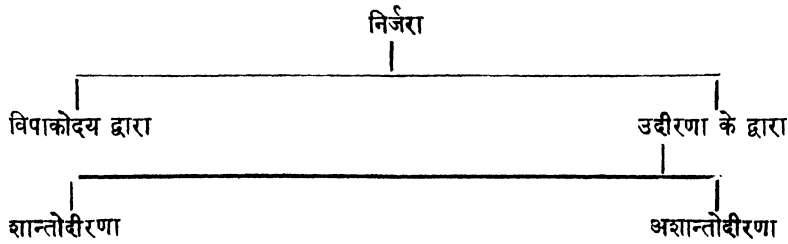
प्रोफेसर शुब्रिंग् प्रस्तुत गाथा की व्याख्या भिन्न रूप में करते हैं। उनके विचार से गाथा के पूर्वार्द्ध में कर्म के स्वरूप का वर्णन है। जब कि उत्तर भाग में भौतिक सम्पत्ति की चर्चा की गई है। क्यों कि दोनों एक दूसरे से संबन्धित हैं। कर्म का क्षय होने से आत्मा का सांसारिक रूप समाप्त हो जाता है। अर्थात् आत्मा की अशुभ पर्यायें लुप्त हो जाती हैं। अथवा विद्यमान कर्म अल्प रूप में नष्ट हो जाता है। किन्तु उदय उदीरणा रहित शान्त कर्म नष्ट नहीं होता।

लोप विद्यमान का ही होता है। अविद्यमान का लोप नहीं हो सकता। आत्मा के साथ कर्म है तभी उसका लोप हो सकता है। सत् वस्तु में से कुछ का लोप हो सकता है, सम्पूर्ण का नहीं। आत्मा की कुछ विभाव जन्म पर्यायें नष्ट हो सकतीं हैं और ऐसे तो प्रति क्षण पर्याय परिवर्तन होता ही है। किन्तु पर्याय के नाश के साथ साथ द्रव्य नष्ट नहीं होता।

'अत्थि मे' तेण देति; 'नत्थि मे' तेण देइ मे।
जइ से होज्ज, ण मे देज्जा; णत्थि से, तेण देइ मे॥ ६॥

अर्थ :—हां में यदि वह कुछ देता है तो ना में भी कुछ दे ही जाता है। यदि उसके पास कुछ है और वह नहीं दे रहा है तो कम से कम इन्कार तो देता है। अथवा एक व्यक्ति देता है, क्योंकि उसके पास कुछ है। दूसरा देता है किन्तु, उस वस्तु पर वह अपना अधिकार नहीं मानता है; यदि अधिकार रखे तो वह दे ही नहीं सकता और अधिकार नहीं मानता है; इसी लिए तो वह देता है।

गुजराती भाषान्तर :—

હકારમાં જો તે કાંઈ આપે છે તો નકારમાં પણ કાંઈક આપતો જાય છે. અને કદાચ તેની પાસે હોય અને તે આપતો નથી તો ઓછામાં ઓછું નકાર તો આપશે જ; એક વ્યક્તિ કાંઈક આપે છે કારણ કે તેની પાસે કંઈક છે. બીજો આપે છે પરંતુ તે વસ્તુ પર પોતાનો અધિકાર છે એમ માનતો નથી. અને જો અધિકાર રાખે તો તે દઈ શકતો નથી. અધિકાર નથી એમ સમજે છે એટલે તો તે આપે છે.

हमने किसी से कुछ याचना की, वह यदि कुछ देता है तो उसके पीछे कुछ अस्तित्व है। उस व्यक्ति के पास भी वस्तु का सद्भाव है और मेरे शुभोदय का योग है, अतः वह देता है। यदि वस्तु उसके पास मौजूद है, फिर भी वह इन्कार करता है, तो भी कोई बुरी बात नहीं होगी। हा में वह कुछ देता है तो ना में भी कुछ दे ही जाता है। कम से कम नहीं तो देता ही है और अपने अनुदार स्वभाव का परिचय देता है, साथ ही हमें आत्मनिरीक्षण का भी एक अवसर देता है।

१. दान के अन्दर चार वृत्तियां काम करती हैं–एक व्यक्ति देता है कुर्सी के लिए। हजार दे कर बदले में दस हजार मान लेना चाहता है। पर यह दान नहीं, एक प्रकार का सौदा है। इसमें दाता ऊंचा है और लेने वाला नीचा। दाता स्वतंत्र है वह चाहे तो हजारों दे सकता है और न चाहे तो एक नया पैसा भी नहीं दे। यह शिलालेखों का दान है। पर विज्ञापन की यह वृत्ति दान की पवित्रता को समाप्त करती है। लेबनान का प्रसिद्ध विचारक खलील जिब्रान कहता है:-

There are those who give a little of much which they have and they give it for recognition and their hidden desire makes their gifts unwholesome.

जो व्यक्ति अपनी विशाल सम्पत्ति में से कुछ भाग देता है वह भी इसलिए कि उसकी ख्याति हो। उसकी यह छिपी हुई कामना उसके दान को अशिव बना देती है।

२. दूसरा देता है स्वर्ग में सीट रिजर्व कराने के लिए। उसकी धारणा यह रहती है की जो कुछ यहां पर दिया जाएगा वह सहस्र गुणित होकर स्वर्ग में मिलेगा।

३. तीसरा एक व्यक्ति है वह कुछ इसलिए देता है कि समाज गत विषमता दूर हो। एक ओर सम्पत्ति के ढेर लगे हुए हैं तो दूसरी ओर खड्डे हैं। एक ओर भवनों की पंक्तियां हैं, तो दूसरी ओर सिर ढकने के लिए झोपडी तक नसीब नहीं होती है। यह विषमता समाज के अस्वस्थता की प्रतीक है। अपनी सम्पत्ति का हिस्सा देकर वह व्यक्ति समाज की इन विषमताओं को दूर करना चाहता है।

४. चौथा व्यक्ति इसलिए देता है कि उसकी धारणा यह है कि सम्पत्ति मेरी थी ही कब ?। जब दुनियां को पहली आंखों देखा था तब कुछ भी नहीं था और जब दुनियाँ से विदा लेंगे तब भी कुछ मेरे साथ नहीं जाएगा। यहां मेरा कुछ भी नहीं है। फिर तेरा तुझको देने में क्या लगता है मुझे ?।

पहले दो लोभी हैं – एक कीर्ति का, दूसरा स्वर्ग का, तीसरा भी सम्पत्ति पर अपना अधिकार नहीं छोडता है, जब कि चौथा सम्पत्ति पर अपना अधिकार भी नहीं मानता है। प्रस्तुत गाथा में दो वृत्तियों का वर्णन है। एक देता है तो दूसरा अपना अधिकार भी दे देता है।

प्रोफेसर शुब्रिंग् प्रस्तुत अभिप्राय से संमत हैं। वे लिखते हैं कि एक देता है, क्यों कि उसके पास कुछ है। दूसरा देता है, क्यों कि वह उस पर अपनी मालकियत नहीं रखता है। यदि वह किसी वस्तु पर अपनी मालकियत रखे तो मुझे वह वस्तु कभी नहीं देगा, किन्तु वह उस वस्तु पर अधिकार नहीं रखता, इसलिए मुझे दे देता है।

टीका :—यत्कारणंभिक्षादिमार्गितस्य किंचिदस्ति तेन मम ददाति। यत् कारणं नास्यास्ति किंचित् तेनापि मम ददाति। स्वधनस्यानंगीकारात्। यदि त्वस्य स्वद् यदि स्वधनमंगीकुर्यात् ततो मम न दद्यात्। नास्त्यस्येति नांगीकरोति तस्मान्मम ददातीत्येवमनयोः श्लोकयोरर्थः सम्यगवगत इत्याशास्म।

उसके पास कुछ है, इसीलिए वह भिक्षा के समय मुझे कुछ देता है। कोई कारण नहीं है फिर भी यदि वह मुझे देता है, क्योंकि वह अपनी संपत्ति पर अपना अधिकार ही नहीं समझता है। शेष पूर्ववत् है। विशेष में टीकाकार बोलते हैं कि दोनों श्लोकों का अर्थ हमने ठीक ठीक समझ लिया है ऐसी आशा करते हैं।

मैत्रेयभयाली-नाम अज्झयणं

इति मैत्रेयभयालीप्रोक्तं त्रयोदशाध्ययनम्

बाहुक-अर्हतर्षि प्रोक्त

चतुर्दश अध्ययन

साधना में निष्ठा का महत्व है, क्रिया का नहीं। क्रिया शुभ है, पर उसके पीछे अशुभ निष्ठा काम कर रही है तो क्रिय अपवित्र हो जाएगी। एक वैद्य भी किसी बहन का हाथ पकडता है और एक गुंडा भी कभी बुरे विचारों से प्रेरित होकर किसी स्त्री का हाथ पकड लेता है। क्रिया में साम्य है, किन्तु भाव में भेद है। इसीलिए दोनों के परिणाम में भी भेद है धर्म क्रिया में बसता है या भाव में ? कभी वह क्रिया में रहता है तो कभी भाव में रहता है, किंतु सही अर्थो में धर्म का निवास–भूमि विवेक है। क्रिया, भावना और विवेक तीनों का इस अध्ययन में निरूपण किया गया है।

जुत्तं अजुत्तं जोगं ण पमाणमिति बाहुकेण अरहता इसिणा बुइतं।

अर्थ :—युक्त बात भी यदि अयुक्त विचार के साथ है, तो प्रमाण स्वरूप नहीं है। इस प्रकार बाहुक अर्हतर्षि ने कहा है।

गुजराती भाषान्तर :—

સાચી વાત પણ જો અસત્ય વિચારથી ભેળવેલી હોય તો પ્રમાણસ્વરૂપ નહીં કહેવાય. આમ બાહુક અર્હતર્ષિએ કહ્યું છે.

क्रिया शुद्ध है, किंतु यदि उसके पीछे विचारधारा अशुद्ध है तो सारी क्रिया अशुद्ध होगी। पक्षियों के लिए दाना डालना करुणा प्रेरित कार्य माना जाता है। किंतु एक शिकारी भी दाने बिखेरता है, किंतु उसके पीछे उसकी भावना अशुभ है। अतः शुभ क्रिया भी पुण्य बंधन न होकर पाप बंधक हो जाती है।

अप्पाणिया खलु भो अप्पाणं समुक्कसिया ण भवति बद्धचिंधे णरवती अप्पणिया खलु भो य अप्पाणं समुक्कसिय समुक्कसिय भवति बद्धचिंधे सेट्ठी।

अर्थ :—अपने द्वारा राजा अपने आप को कसने पर बद्धचिन्ह नहीं कहलाता। किन्तु एक सेठ अपने द्वारा अपने को कसने पर बद्धचिन्ह कहा जाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

પોતાનાથી પોતાને કસવાથી રાજા બદ્ધચિન્હ નહીં કહેવડાવે. પરંતુ એક સેઠ પોતાનાથી પોતાને કસવાથી બદ્ધચિન્હ કહાવે છે.

एक व्यक्ति एक कार्य करता है उसका परिणाम ठीक आता है। तो दूसरा व्यक्ति भी वही काम करता है तो उसका परिणाम विपरीत आता है। एक सम्राट यदि फटा हुआ वस्त्र पहनता है तो भी वह फटेहाल नहीं कहलाता। किन्तु उसके इस कार्य से उसके लिए सादगी का आदर किया जाता है। जब कि एक सामान्य गृहस्थ फटा हुआ वस्त्र पहने तो वह फटेहाल कहा जाएगा, दूसरी ओर यदि एक लक्षाधिपति अधिक बोलता है तो उसकी एक वाक् उदारता समझी जाती है!। एक गरीब यदि कोई योग्य बात भी बोले तो वाचाल कहा जाता है!। क्रिया एक होने पर भी व्यक्ति की स्थिति-भेद से क्रिया के परिणाम में भी भेद हो जाता है।

टीका :—युक्तमयुक्तयोगं न प्रमाणम्—आत्मना खलु भो आत्मानं समुत्कृष्योन्नमय्य न भवति बद्धचिह्नो राजलक्षण-संयुक्तो नरपतिरात्मानं समुत्कष्टुं नावश्यं तस्य सर्वपूजितत्वात् तद्वद् विश्वमानितस्य श्रेष्ठिनः स्ववेशविशिष्टस्य।

यदि कोई योग्य वस्तु भी किसी अयोग्य के साथ है तो वह ग्राह्य नहीं है। राज-चिन्ह से युक्त राजा के लिए अपने आप को उत्कृष्ट करने की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो पूज्य है ही। इसी प्रकार विश्वमान्य सेठ भी स्ववेश में विशिष्ट है, किन्तु उसे अपने अनप को उत्कर्षशील बनाने की आवश्यकता है।

एवं चेव अणुयोये जाणह खलु भो समणा माहणा गामे अदु वा रण्णे अदु वा गामेणोऽवि रण्णे अभिणिस्सिए इमं लोगं परलोगं पणिस्सए दुहओ वि लोके अपट्ठिते अकामए बाहुए मतेति अकामए चरए तवं अकामए कालगए णरकं पत्ते अकामए पव्वइए अकामते चरते तवं अकामते कालगते सिद्धि-पत्ते अकामए।

अर्थ :—यह अनुयोग इस प्रकार समझना चाहिए – ग्राम में बन में या दोनों के मध्य में रहते हुए श्रमण और ब्राह्मण इस लोक के लिए अभिनिःसृत हैं, और परलोक में प्रनिःसृत होते हैं। दोनों लोकों में अप्रतिष्ठित हैं, क्योंकि दोनों ही अशा-श्वत हैं। अकामक–कामना रहित बाहुक ने अकाम तप किया। अकाम मृत्यु से मर कर पूर्व कर्म के वशीभूत हो कर नरक में गया। बाद जब मनुष्य लोक में जन्म लेकर निष्काम दीक्षा ग्रहण करता है, निष्काम तप करता है, सभी ओर निष्काम साधन करके निष्काम सिद्धि प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

આ અનુયોગ આવી રીતે સમજવો જોઈએ: ગામડામાં અથવા વનમાં અથવા બન્નેના વચ્ચે રહેતા સાધુ અને બ્રાહ્મણ આ લોકમાટે નિકળે છે, અને પરલોકમાં પ્રતિષ્ઠિત થાય છે, પણ તે બન્ને લોકમાં અપ્રતિષ્ઠિત થાય છે કેમકે બન્ને અશાશ્વત છે.

અકામ=કામનારહિત બાહુક અકામ તપ કર્યું અને અકામ મૃત્યુથી મરીને તે પૂર્વે કરેલા કુકર્મોને વશ થઈને નરકમાં ગયો. પછી જ્યારે મનુષ્યલોકમાં જન્મ લઈને નિષ્કામ દીક્ષા ગ્રહણ કરે છે, નિષ્કામ તપ કરે છે, બધી બાજુએ નિષ્કામ સાધના કરીને નિષ્કામ સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરે છે.

जो क्रिया किसी स्थान पर योग्य रहती है वही क्रिया किसी स्थान पर अयोग्य भी हो जाती है, सेठ और राजा के उदाहरण के द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। उसका अनुयोग यहां बताया गया है। श्रमण और ब्राह्मण कभी गांव में रहते हैं और कभी वन में साधना करते हैं। और साधक कभी गांव में ही विचरण करता रहता है। वह कहीं भी रहे उसका लक्ष्य साधना में रहना चाहिए। उसकी साधना आत्म-मुक्ति के लिए है। यदि वह इस लोक की भौतिक साधना में गिरता है या परलोक और देवलोकों के लिए साधना करता है तो दोनों में अप्रतिष्ठित होता है, क्योंकि दोनों ही अशाश्वत हैं। साधक के हृदय में न इस लोक की कामना ही, न परलोक देवलोक आदि की वासना ही। क्योंकि उसके लिए यह लोक भी परलोक है। अतः वह परलोक को भी लक्ष्य में रख कर कभी साधना नहीं करे।

टीका:—हे श्रमणा ब्राह्मणाः! चानुयोगे सत्युक्तस्य हेतुं यदि पृच्छत्यर्थं स्वमेव जानीत खलु भो यथा ग्रामे वा अरण्ये वा केवले ग्रामे नत्वरण्ये यदि कश्चिदिमं लोकं अभिनिश्रयते सेवते परं वा लोकं देवलोकं प्रणिश्रयते न तत्सारवदुभयोर्लोकयोरप्रतिष्ठितत्वादशाश्वतत्वात्। एष मुक्तोपायानामयुक्तयोगः तदेवोदाहरति। यथा अकामको बाहुको मतः स्मृतः मुक्तकामो ह्यकामकस्तपश्चरते चरितवान् अकामकः कालगतः पूर्वकर्मवशान्नरकं प्राप्तः मनुष्यलोकोपपन्नो कामकः प्रव्रजितस्तपश्चरितवान् कामतः सिद्धिप्राप्तः सर्वत्र कामकः सकामस्तद्वत् केवलं किं सिद्धिं प्राप्तः? इति प्रश्नः; नेत्युत्तरं।

यदि श्रमण ब्राह्मण अनुयोग से युक्त बात का हेतु जानना चाहते हों तो ऐसा समझें। ग्राम अथवा वन में अथवा केवल वन में यदि कोई इस लोक की सेवा करता है अथवा परलोक अर्थात् देवलोक की उपासना करता है उसकी साधना अनुचित है। क्योंकि दोनों लोक अशाश्वत हैं। वह युक्त योगियों का अयुक्त योग है। उसे ही सोदाहरण बतलाते हैं। जैसे बाहुक अकामक माना गया है। उसने अकाम तप किया और अकाम मृत्यु से मरकर पूर्वकर्मवशात् वह नरक में उत्पन्न हुआ। मनुष्यलोक में उत्पन्न होकर सकाम चरित्र लेता है, सकाम तप करता है और सकाम मृत्यु प्राप्त कर सिद्धि प्राप्त करता है। सर्वत्र अकामक सकामक की भांति है। अकेला कैसे सिद्धि प्राप्त करता है? यह प्रश्न है। किन्तु इसका उत्तर नहीं है।

शब्द एक ही है, किन्तु उसके पीछे रही हुई भावना में भेद होने से शब्द के अर्थ में बहुत बडा भेद हो जाता है। अकाम साधना एक शब्द है, किंतु उसी को एक स्थान पर नरक प्राप्ति का हेतु बतलाया गया है। दूसरी ओर वही अकाम साधना आत्मा को निर्वाण भी प्राप्त करा सकती है।

अकाम साधना का एक वह रूप है जहां आत्मा विना अन्तःप्रेरणा के किसी बाहरी दबाव विशेष से प्रेरित होकर तप करता है। जैन परिभाषा में इसे 'अकाम निर्जरा' कहा गया है। जिस आत्मा को विवेक दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है उसे अपने साध्य का बोध नहीं है। ऐसी साधना आत्मा को सही लक्ष्य पर नहीं पहुंचा सकती। महावीर ने पावापुरी के अन्तिम उपदेश में कहा था:—

> **सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसी विसोवमा।**
> **कामेव पत्थमाणा अकामा जंति दोग्गइं॥**

लक्ष्य हीन साधना 'अकाम निर्जरा' कहलाती है। जो कभी नरक का हेतु भी हो सकती है। वह बाहर से निष्काम भले ही हो, किन्तु उसके अन्तर में काम की ज्वाला रहती है। अकाम का दूसरा अर्थ होता है कामना रहित; अर्थात् फलासक्ति रहित निष्काम साधना, जिसमें न स्वर्ग के रंगीन स्वप्न हों न नरक की आग से बचने की अकांक्षा हो; ऐसा निष्काम तप मोक्ष का हेतु होता है। अकाम का पहला रूप जैन परम्परा में व्यवहृत है। दूसरा रूप गीता को निष्काम साधना के अधिक निकट है।

सकामए पव्वइए सकामए चरते तवं सकामए कालगते णरगं पत्ते, सकामए चरते तवं सकामए कालगते सिद्धिं पत्ते सकामए।

अर्थ:—जो साधक कामना के साथ प्रव्रजित हुआ है और कामना को लक्ष्य में रख कर ही तपश्चरण करता है और सकाम मृत्यु प्राप्त कर नरक को प्राप्त करता है। दूसरी ओर सकाम तप करके अर्थात् स्वेच्छा से तप कर के और सकाम मृत्यु अर्थात् इच्छित अन्तिम मृत्यु प्राप्त कर आत्मा सिद्ध-स्थिति को प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જે સાધક વાસનાયુક્ત છતાં પ્રવ્રજિત થયો હોય અને કામનાને મનમાં રાખીને તપશ્ચરણ કરતો હોય, તે અકામ મૃત્યુ પ્રાપ્ત કરીને નરકમાં જાય છે. બીજી બાજુ સકામ તપ કરીને અર્થાત્ પોતાની ઇચ્છાથીજ તપ કરીને અને સકામ મૃત્યુ એટલે કે અન્તિમ મૃત્યુ પ્રાપ્ત કરીને આત્મા સિદ્ધપદવીને પ્રાપ્ત કરે છે.

अकाम की ही भांति सकाम शब्द भी दो अर्थों में व्यवहृत है। पहला अर्थ है जिस साधक के अन्तर्मन में वासना की चिनगारी नहीं बुझी है और उसी वासना और उसके प्रसाधनों को सहस्र गुणित रूप में पाने के लिए जो साधना करता है, किन्तु वह वासना की चिनगारी समय पाकर ज्वाला का रूप ले सकती है और वही ज्वाला नरक की ज्वाला के रूप में परिणत भी हो सकती है। सकाम तप का दूसरा अर्थ है – स्वेच्छा से किया गया तप, जिसमें बाहरी दबाव न हो। परिस्थिति या पराधीनता के कारण भूखा रहना तप है अवश्य, किन्तु उसकी गणना अकाम तप में है। किन्तु जिसके पीछे विवेक की मशाल जल रही है, साधक की अन्तरात्मा तप की प्रेरणा दे रही है, ऐसा स्वेच्छित आत्म साधना का हेतु बन सकता है और वह तप सिद्धस्थिति की प्राप्ति का साक्षात् कारण भी बनता है।

सकाम और अकाम साधना दोनों मोक्ष हेतुक हो सकती हैं, यदि उसके पीछे सदुद्देश्य काम कर रहा है। अन्यथा दोनों ही नरक के भी हेतु हैं। अतः क्रिया का बाहरी रूप अन्तःशुद्धि का मानदंड नहीं हो सकता। अपितु उसके पीछे रही हुई अन्तर्भावना क्रिया की शुद्धता और अशुद्धता का मानदंड होता है।

एवं से बुद्धे०। गतार्थः।

बाहुकणामज्झयणं समत्तं

इति बाहुक-अर्हतर्षि-प्रोक्तं चतुर्दशं अध्ययनम्

मधुराज-अर्हतर्षि प्रोक्त

सात नामक पंचदश अध्ययन

कोई भी आत्मा दुःख नहीं चाहता, फिर भी दुःख का निमन्त्रण वही स्वयं देता है। दुःख बहुरूपिया है। वह विभिन्न रूपों में आता है। कभी वह शान्ति के रूप में आता है। ऊपर से सुख का रूप दिखाई देने वाला कार्य कभी कभी अपने अन्तर में अशान्ति की आग लेकर आता है। भौतिक सुख इसी प्रकार का सुख है। उसके हर कदम के साथ दुःख बंधा हुआ है। दुःख की उदीरणा कौन करता है? इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत अध्याय करता है।

सिद्धिः। सातादुक्खेण अभिभूते दुक्खी दुक्खं उदीरेति, असातादुक्खेण अभिभूए दुक्खी दुक्खं उदीरेति? सातादुक्खेण अभिभूए जावणो असातादुक्खेण अभिभूए दुक्खी दुक्खं उदीरेति। सातादुक्खेण अभिभूयस्स दुक्खिणो दुक्खं उदीरेति, असातादुक्खेण अभिभूयस्स दुक्खिणो दुक्खं उदीरेति सातादुक्खेण अभिभूतस्स दुक्खिणो दुक्खं उदीरेति। पुच्छाय य वागरणं च।

अर्थ :—साता दुःख से अभिभूत आत्मा दुःख की उदीरणा करता है? या असाता दुःख से अभिभूत दुःखी आत्मा दुःख की उदीरणा करता है? साता और असाता दुःख से अभिभूत आत्मा दुःख की उदीरणा नहीं करता। साता दुःख से अभिभूत दुःखी आत्माएँ दुःख की उदीरणा करते हैं, असाता दुःख से अभिभूत दुःखी आत्माएँ दुःख की उदीरणा करते हैं। पृच्छा और इसका व्याकरण अर्थात् प्रश्न और उसके उत्तर यहां दिए गये हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

શાન્તિના દુઃખથી અભિભૂત આત્મા દુઃખની ઉદીરણા કરે છે કે અશાન્તિના દુઃખથી દુઃખી આત્મા દુઃખની ઉદીરણા કરે છે? શાંતિ અને અશાંતિના દુઃખથી દુઃખી આત્માઓ દુઃખની ઉદીરણા કરે છે અશાંતિના દુઃખથી અભિભૂત દુઃખી આત્માઓ દુઃખની ઉદીરણા કરે છે પ્રશ્ન તથા તેના ઉત્તર અહીં આપવામાં આવેલ છે.

संसारस्थ आत्माएँ दुःखी हैं तो प्रश्न उठता है कि दुःख को निमन्त्रण कौन देता है ?। साता दुःख से दुःखी आत्मा दुःख को निमन्त्रण देता है अथवा असाता दुःख से अभिभूत आत्मा दुःख की उदीरणा करती है। दुःख दो रूप से आता है-एक सुख के द्वारा दूसरा दुःख के द्वारा। आत्मा जब सुख में पागल बनता है, तब दुःख को निमन्त्रण देता है; अति सुख दुःख में परिवर्तित हो जाता है। रावण और दुर्योधन सुख से ही पागल थे। उनका सुख ही दुःख लेकर आया। दूसरी ओर दुःख कभी असाता के द्वारा भी आता है । असाता के उदय में जब व्यक्ति धैर्य को खो बैठता है और निमित्त पर आक्रोश करने लगता है तब वह उस दुःख के साथ दूसरे दुःख को निमन्त्रण देता है।

यहां ही प्रश्न है कि सुख में पागल बनी व्यक्ति दुःख को निमन्त्रण देता है या दुःख में पागल बने व्यक्ति दुःख को निमन्त्रण देते हैं ?।

पहला प्रश्न एक वचन में है, फिर वही प्रश्न बहुवचन में दुहराया गया है; एक वचन के लिए इनकार कर दिया गया है, क्योंकि एक ही व्यक्ति संसार में साता या असाता दुःख से दुःखी नहीं है। बहुवचन में पूछे गए प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि साता दुःख से अभिभूत व्यक्ति दुःख की उदीरणा करता है। पर यह विषय अस्पष्ट है, क्योंकि क्या असाता दुःख से अभिभूत व्यक्ति दुःख की उदीरणा नहीं करता ?

टीका :—शातं सुखं तस्मादुत्पन्नं दुःखं शात् दुःखं किं तेनाभिभूता उताशात् दुःखेनाभिभूतो दुःखी दुःखं उदीरयतीति पृच्छा नशात् दुःखेनाशात् दुःखेनेत्युत्तरं। उदीरणाहेतोः निःसारत्वादित्यर्थः संभाव्यते। अपरा पृच्छा यथा-किं दुःखी शात् दुःखेनाभिभूतस्योताशात् दुःखेनाभिभूतस्य परस्प दुःखिनो दुःखमुदीरयतीति शाताभिभूत इत्युत्तरं दुःखिनोऽभिभवपूर्वसुखी भावात्। पृच्छा च व्याकरणं चेति प्राचीनटिप्पणी।

शात अर्थात् सुख, उससे उत्पन्न होने वाला दुःख शात दुःख है।

१ प्रश्न :—शात दुःख से अभिभूत आत्मा दुःख की उदीरणा करता है अथवा अशात् दुःख से अभिभूत आत्मा दुःख की उदीरणा करता है ?।

उत्तर :—शात दुःख से अभिभूत व्यक्ति दुःख की उदीरणा नहीं करता। क्योंकि उदीरणा का हेतु निर्बल है। इस प्रकार अर्थ की संभावना की जाती है।

२ प्रश्न :—दुःखी व्यक्ति दूसरे किसी शात दुःख से अभिभूत दुःखी व्यक्ति के दुःख की उदीरणा करता है अथवा अशात् दुःख से दुःखी की ?।

उत्तर :—शाताभिभूत व्यक्ति के दुःख की उदीरणा करती है। क्योंकि वर्तमान में वे दुःख का अनुभव कर रहे हैं, किन्तु पहले वे सुखी थे। पृच्छा और व्याकरण प्रश्न और उत्तर यह प्राचीन टिप्पणी है।

प्रोफेसर शुब्रिंग् इस विषय में अपना भिन्न मत रखते हैं। सय दुःख शात दुःख से यह अर्थ समझा जा सकता है कि विषयप्रियता से जन्म लेने वाला दुःख यहां लिया गया है। यहां प्रश्नवाचक कृदन्त नहीं है। यहां प्रश्न और उत्तर दिए गए हैं।

१. जो शारीरिक या मानसिक नाराजगी प्रगट करता है यह मानसिक प्रियता या अप्रियता का परिणाम है। (वह ज्यादा उपयोगी नहीं है।)

२. जिसे इस प्रकार का प्रत्याघात लगता है, वह पूरी तरह से दुःख से आवृत है।

३. इस दुःख को हम कर्म का असर कह सकते हैं। गद्य का मूल लेख नवम अध्ययन की ही भांति कर्म फिलोसॉफी के अनुरूप है।

जो कर्म अशान्त अस्पन्दन शील हैं, वे ही उदय में आते हैं। अतः उन्हें उदीरित करने की आवश्यकता नहीं है।

संतं दुक्खी दुक्खं उदीरेइ। असंतं दुक्खी दुक्खं उदीरेति। संतं दुक्खी दुक्खं उदीरेइ। साता-दुक्खेण अभिभूतस्य उदीरेति णो असंतं दुक्खी दुक्खं उदीरेइ। मधुरायणेण अरहता इसिणा बुइयं।

अर्थ :—प्रश्न :—दुःखी व्यक्ति शान्त बाधा रहित दुःख की उदीरणा करता है या अशान्त दुःख की ?

उत्तर :—दुःखी व्यक्ति शान्त दुःख की ही उदीरणा करता है। क्योंकि उदीरित की उदीरणा निरर्थक है।

शांत दुःखों से ही अभिभूत व्यक्ति के कर्मों की उदीरणा होती है। अशान्त दुःखी दुःख की उदीरणा नहीं करता। क्योंकि कर्म की उदीरणा से ही वह दुःखी हुआ है। अतः फिर से उदीरणा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, ऐसा मधुराज अर्हतर्षि बोले।

गुजराती भाषान्तर :—

પ્રશ્ન: – દુઃખી વ્યક્તિ શાન્ત આધારરહિત દુઃખની ઉદીરણા કરે છે કે અશાન્ત દુઃખની ?

જવાબ: – દુઃખી વ્યક્તિ શાન્ત આધારરહિત દુઃખની જ ઉદીરણા કરે છે. કારણકે ઉદીરિત ઉદીરણા નિરર્થક છે.

શાંત દુઃખોથી જ અભિભૂત વ્યક્તિના કર્મોની ઉદીરણા થાય છે. અશાન્ત દુઃખી દુઃખની ઉદીરણા નથી કરતો. કારણ કે કર્મની ઉદીરણાથી જ તે દુઃખી થયો છે, તેથી ફરીથી ઉદીરણાના કોઈ પ્રશ્ન જ ઉપસ્થિત થતો નથી. એમ મધુરાજ અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

कर्म प्रदेश आत्मा के साथ बद्ध होते हैं। कुछ काल तक निश्चल पडे रहते हैं। उन्हें 'शान्त कर्म' कहा जाता है। शान्त कर्म ही शान्त दुःख है। उसी के संबन्ध में यहां प्रश्नोत्तर किए गए हैं।

प्रश्न :—जिनके कर्म शान्त और निश्चल अवस्था में पडे हुए हैं ऐसा आत्मा भी भविष्य की अपेक्षा से दुःखी है, वह शान्त दुःख की उदीरणा करता है या अशान्त दुःख की?। अर्थात् निश्चल कर्म की उदीरणा होती है या चलित कर्म की?।

उत्तर :—शान्त दुःख की ही उदीरणा हो सकती है। क्यों कि जो कर्म चलित हो चुके हैं, उदीरणा में आ चुके हैं, उनकी उदीरणा ही क्या होगी?।

शात् दुःख और अशात् दुःख की उदीरणा का प्रश्न पहले चर्चा गया है उसका ही उपसंहार करते हुए मधुराज अर्हतर्षि कहते हैं–शाता दुःख से अभिभूत आत्मा के कर्मों की उदीरणा होती है। अशान्त दुःखी दुःख की उदीरणा नहीं करता।

टीका :—पुनः पृच्छा यथा – किं शान्तं बाधारहितं दुःखं दुःखी उदीरयस्युत्तरशान्तम्? इति। शान्तमेवेत्युत्तरमुदीरितस्योदीरणाः, निरर्थकत्वात्। गतमर्थम्।

दुक्खेण खलु भो अप्पहीणेणं जीए आगच्छंति हत्थच्छेयणाइं पादच्छेयणाइं एवं णवमज्झयणं गमएणं णेयव्वं जाव सासतं निव्वाणमब्भुवगता चिट्ठंति णवरं दुक्खाभिलावो।

अर्थ :—दुःख से अविमुक्त आत्मा संसार में पुनः आता है और उनका हस्त-छेदन होता है, पाद-छेदन होता है। शेष नवम अध्ययनवत् समझना चाहिए, यावत् शाश्वत निर्वाण प्राप्त करते हैं विशेष वहां जीव की सकर्मक दशा को दुःख का मूल बताया गया है। यहां दुःख युक्त आत्मा का निरूपण है।

गुजराती भाषान्तर :—

દુઃખથી મુક્ત ન થયેલો આત્મા સંસારમાં ફરીથી આવે છે અને તેના હાથ કપાય છે, પગ છેદાય છે. નવમા અધ્યયન મુજબ સમજવું જોઈએ શાશ્વત (હંમેશનું) મૃત્યુ પ્રાપ્ત કરે છે. વધુ ત્યાં જીવની સકર્મક (કર્મસાથેની) દશાને દુઃખનું મૂળ કહેવાયું છે. અહીં દુઃખથી ભરેલ આત્માનું નિરૂપણ છે.

पावमूलमणिव्वाणं संसारे सव्वदेहिणं।
पावमूलाणि दुक्खाणि पावमूलं च जम्मणं॥ १॥

अर्थ :—संसार के समस्त देह-धारियों का अनिर्वाण भव-भ्रमण का मूल पाप है और समस्त दुःखों की सृष्टि भी पापमूलक ही है, जन्म एवं च शब्द से ग्राह्य मृत्यु पापमूल है।

गुजराती भाषान्तर :—

સંસારના દરેક દેહધારીઓનું ભવભ્રમણનું મૂળ પાપ છે અને દરેક દુઃખની સૃષ્ટિ પણ પાપજ છે. જન્મ એવા શબ્દથી ગ્રહણ કરાયેલું મૃત્યુ પાપનું મૂળ છે.

मिलाइए अध्ययन २ गाथा ७। केवल मोह शब्द विशेष है।

संसारे दुक्खमूलं तु पावं कम्मं पुरेकडं।
पावकम्मणिरोधाय सम्मं भिक्खू परिव्वए॥ २॥

अर्थ :—संसार में दुःख का मूल पूर्वभव कृत पाप है। कर्म के निरोध के लिए भिक्षु सम्यक् प्रकार से विचरण करे।

गुजराती भाषान्तरः—

સંસારમાં દુઃખનું મૂળ પહેલા (પૂર્વે) કરેલા પાપ છે. પાપકર્મના અટકાવ કરવા માટે સાધુ સારી રીતે આચરણ કરે.

सभावे सति कंदस्स धुवं वल्लीय रोहणं।
बीए संवुज्झमाणंमि अंकुरस्सेव संपदा ॥ ३ ॥

अर्थ :—वृक्ष के स्कंध का सद्भाव होने पर लता उस पर अवश्य ही चढेगी। बीज के विकसित होने पर अंकुरों की संपदा अवश्य आएगी।

गुजराती भाषान्तर :—

વૃક્ષના ખભા(ડાળીઓ)નો સદ્ભાવ હોવાથી વેલો તેના ઉપર અવશ્ય ચઢશે. બીજના વધવાથી અંકુરો જરુર ફૂટશે.

लता का स्वभाव ऊपर चढना है। यदि उसे वृक्ष-स्कंध का आश्रय मिल जाता है वह ऊर्ध्वमुखी होकर प्रगति करती है। बीज में हल-चल आना अंकुर संपत्ति का हेतु है। यदि पाप का स्कंध है तो दुःख की लता उस पर जरूर आरोहण करेगी और बीज है तो उसके विकसित होने पर नए अंकुर आवेंगे ही।

टीका :—स्कंधस्यैवं सति स्वभावे ध्रुवं निःशंकं वल्ल्यारोहणं भवति। बीजे समुह्यमानेऽप्यंकुरस्येव संपद् भविष्यति। गतमर्थम्।

सभावे सति पावस्स धुवं दुक्खं पसूयते।
णासतो मट्टिया पिंडे णिवत्ती तु घडादिणं ॥ ४ ॥

अर्थ :—पाप का सद्भाव होने पर निश्चित ही उसमें से दुःख की उत्पत्ति होगी। मृत्तिका पिंड के अभाव में घटादि की रचना संभव नहीं। मृत्पिंड है इस लिए घटादि उत्पन्न हो सकते हैं। पाप है इसलिए दुःख की सृष्टि है।

गुजराती भाषान्तर :—

પાપનું અસ્તિત્વ (હાજરી) હોવાથી ચોક્કસ તેમાંથી દુઃખની ઉત્પત્તિ થશે. માટીજ ન હોય તો ઘડા વગેરે બનાવવાનું જ બનશે નહીં.

दर्शन के क्षेत्र में पदार्थों की उत्पत्ति के संबन्ध में दो प्रकार की विचार-धाराएं हैं। प्रथम वह है जो कारण में कार्य का सद्भाव मानती है। इसे हम सत्कार्यवादी के नाम से पुकारते हैं। दार्शनिक जगत् सांख्य वादी दर्शन कहता है। उसका तर्क है कि कार्य अपने कारण में सत् रूप से उपस्थित है। किन्तु निमित्त उसको मूर्त रूप देता है। यह दर्शन कार्य और कारण में सभेद मानता है। कारण में कार्य पहले से ही उपस्थित है, पर वह अव्यक्त रूप में है। पट तंतु में उपस्थित है, वह अव्यक्त रूप में था; किन्तु तंतुओं के संयोग से व्यक्त हो गया। यदि पट तंतुओं में था ही नहीं तो आया कहां से?। क्योंकि असत् की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

दूसरी ओर असत् कार्य वादी नैयायिक दर्शन है। इसका अपना पक्ष है। कारण और कार्य दो भिन्न वस्तुएँ हैं। कारण से कार्य होता है। दोनों पूर्वापरवर्ती हैं। अतः दोनों में भेद भी निश्चित है। तन्तुओं से पट बनता है, तो तंतु एक भिन्न वस्तु है और पट एक स्वतंत्र वस्तु है। लज्जा-निवारणादि जो कार्य पट से हो सकता है, वह तन्तुओं से नहीं हो सकता। यदि पट में तन्तु पहले से ही विद्यमान हैं तो फिर वह हमें दिखाई क्यों नहीं देता और उससे शरीराच्छादनादि क्रिया क्यों नहीं होती? साथ ही तंतु में पट मौजूद है ही तो वस्त्र-निर्माण की प्रक्रिया ही व्यर्थ जाएगी!।

जैन दर्शन दोनों के समन्वय में विश्वास रखता है, क्योंकि वह एकान्त का उपासक है। सत्कार्य-वाद की अपेक्षा कहा जा सकता है कि मृत्तिका के पिंड में घड़ा प्रकृति रूप में मौजूद है। आकृति का वहां अभाव है। इसी प्रकार जहां अशुभ वृत्ति है दुःख उसी में मौजूद है। किन्तु उसका सद्भाव मानना ही होगा, भले ही वह अव्यक्त रूप से ही क्यों न हो?। अतः दुःख के मूलोच्छेद के लिए आत्मा को पाप प्रवृत्ति का ही मूलोच्छेद करना होगा।

सभावे सति कंदस्स जहा वल्लीय रोहणं।
बीयातो अंकुरो चेव दुक्खं वल्लीय अंकुरा॥ ५॥

अर्थ:—जैसे कंद के सद्भाव में ही लता पैदा होती है और बीज से अंकुर फूट पड़ते हैं, उसी प्रकार पाप रूप लता से दुःख अंकुरित होते हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

જેવી રીતે કંદ હોય તો જ વેલ પેદા થાય છે અને બીજથી અંકુર ફૂટે છે તેવી જ રીતે પાપ રૂપ વેલથી દુઃખ અંકુરિત થાય છે.

जहां कंद होगा वहां लता अवश्य होगी और बीज को मिट्टी और पानी का सहयोग मिला तो उसमें से अंकुर फूट पड़ेंगे। इसी प्रकार जहां पाप की उपस्थिति है वहां दुःख की लता अवश्य ही पैदा होगी।

पावघाते हतं दुक्खं, पुप्फघाए जहा फलं।
विद्धाए मुद्धसूईए कतो तालस्स संभवे? ॥ ६॥

अर्थ:—जैसे फूल को कुचल देने पर फल स्वतः नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार पाप को नष्ट कर देने से दुःख भी समाप्त हो जाता है। सूई के द्वारा ताड के ऊर्ध्व भाग को विंध दिया जाए फिर ताड वृक्ष का विनाश निश्चित ही है।

गुजराती भाषान्तर:—

જેવી રીતે ફૂલને કચડી નાખતાં ફળ જાતે જ નાશ પામે છે તેવીજ રીતે પાપનો નાશ કરતાં દુઃખ પોતાની મેળે જ નષ્ટ થાય છે. સોઈથી તાડના ઝાડનો ઉપલા ભાગને વીંધી દેવાથી તાડનો નાશ થયા વગર રહે નહીં.

टीका:—पापघाते हतं दुक्खं यथा फलं हतं पुष्पघाते कृते। कुतस्तालफलस्य संभवो विद्धायां सत्यां मूर्धसूच्यां हते तालपादपस्य शिखरे तालफलानि द्रुमस्याग्रे पच्यन्ते इति प्रसिद्धं।

पाप के नष्ट कर देने पर दुःख उसी प्रकार से नष्ट हो जाता है जिस प्रकार कि फूल को नष्ट कर देने पर फल। यदि ताड के शिखर भाग को विंध दिया जाय तो ताड का फल कभी नहीं पैदा हो सकता, क्योंकि ताड फल वृक्षाग्र पर ही पकते है जो कि प्रसिद्ध है।

मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं।
फलत्थी सिंचए मूलं, फलघाती न सिंचति॥ ७॥

अर्थ:—जड के सिंचन करने पर फल प्राप्त होता है और मूल पर प्रहार करने से फल स्वतः नष्ट हो जाता है। फलार्थी फूल को सींचता है फल–घातक मूल का सिंचन नहीं करता है। विशेष देखिए अध्ययन २ गाथा ६।

गुजराती भाषान्तर:—

મૂળનું સિંચન કરવાથી ફળની પ્રાપ્તિ થાય છે અને મૂળ પર પ્રહાર કરવાથી ફળ સ્વતઃ નાશ પામે છે. ફલને ચાહનાર મૂળને સીંચે છે, ફળઘાતક મૂળનું સિંચન કરતો નથી. વધારા માટે જુઓ અધ્યયન ૨ ગાથા ૬.

दुक्खितो दुक्ख-घाताय, दुक्खावेत्ता सरीरिणो।
पडियारेण दुक्खस्स दुक्खमण्णं णिबंधई॥ ८॥

अर्थ:—दुःख की अनुभूति करते हुए दुःखाभिभूत देहधारी दुःख का विघात चाहते हैं। किन्तु एक दुःख के प्रतिकार करने पर दूसरे दुःख का निबन्धन कर लेते हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

દુઃખના અનુભવ કરવાવાળા દુઃખથી પીડિત પ્રાણી દુઃખના નાશ માટે ઇચ્છા રાખે છે, અને એક દુઃખનો નાશ કરતાં બીજા દુઃખોને નોતરે છે.

दुःखवेदन शील आत्मा दुःख-मुक्ति के लिए प्रति क्षण प्रयत्नशील रहता है। किन्तु होता यह है कि एक दुःख से मुक्त होने के लिए किया गया उपचार नए दुःख का द्वार बन जाता है। आज प्रायः यही होता है। एक बीमारी को दबाने के लिए डॉक्टर इन्जेक्शन् देता है वह पूर्ण रूप से दबती भी नहीं है कि दूसरी बीमारी के अंकुर फूट निकलते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि भी बताती है, कि अज्ञानाभिभूत आत्मा एक दुःख से मुक्त होने की चेष्टा करती है तभी वह शतशः दुःखों की नई परम्परा के द्वार खोल देता है । असातावेदनीय से मुक्त होने के लिए वह हिंसात्मक उपचार करता है फलतः कर्मों की नयी जंजीरों से पुनः आबद्ध हो जाता है ।

टीका :—दुःखितो दुःखघातार्थमन्यं कंचिच्छरीरिणं पुरुषं दुःखीकृत्वा वेदनां प्रापयित्वा एकस्य दुःखस्य प्रतिकारेणा-न्यद् दुःखं निबध्नातीति विरोधः ।

दुःखी व्यक्ति दुःख-नाश के लिए किसी अल्प शरीरधारी पुरुष को दुःख का दाता मान कर उसे वेदना देकर एक दुःख का प्रतिकार करना चाहता है, किन्तु उस के द्वारा दूसरे दुःख का बन्धन करता है, किन्तु यह विरोध है ।

दुक्खं मूलं पुरा किच्चा, दुक्खमासज्ज सोयती ।
गहितम्मि अणे पुव्विं अदइत्ता ण मुच्चइ ॥ ९ ॥

अर्थ :—आत्मा दुःख के बीज को पहले बोता है, फिर दुःख को प्राप्त करने के बाद शोक करता है । पहले ऋण लिया है तो उसको लौटाए बिना वह मुक्त नहीं हो सकता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

આત્મા દુઃખના બીજને પહેલાં વાવે છે અને પછી દુઃખ પ્રાપ્ત કરે છે અને શોક કરે છે. પહેલાંનું ઋણ બાકી છે તો પછી તે ચૂકવ્યા પહેલાં મુક્ત થઈ શકતો નથી.

आत्मा मन के खेत में हजारों बीज प्रति क्षण डाल रहा है । किन्तु वह भुलक्कड माली है जो बीज डाल कर फिर उस पर ध्यान नहीं देता है । किन्तु बीज डाला है तो वह अवश्य ही एक दीन विशाल वृक्ष बन कर तैयार होगा, विष वृक्ष के कटु फल जब उसके सामने आते हैं तब वह हाय हाय करता है, रोता और तडपना भी है । किन्तु एक बार ऋण लिया है तो उसको लौटाए बिना मुक्ति नहीं है ।

आहारत्थी जहा बालो, वण्ही सप्पं च गेण्हती ।
तहा मूढो सुहत्थी तु, पावमण्णं पकुव्वती ॥ १० ॥

अर्थ :—यदि बुभुक्षित बालक आग और सर्प को पकडता है तो वह संकट को ही निमन्त्रण देता है । इसी प्रकार सुख चाहने वाला अज्ञानी आत्मा नए पाप करता है ।

गुजराती भाषान्तरः —

જો ભૂખ્યો (અજ્ઞાની) બાળક જો આગ કે સર્પને સ્પર્શ કરે તો તે આફતને જ નોતરે છે. તેવી જ રીતે સુખ મેળવવા માટે કોશિશ કરનાર અજ્ઞાની આત્મા નવા પાપો કરે છે.

नन्हा बालक यदि अनार का दाना समझ कर अंगारों को खाना चाहे तो वह कष्ट ही पाएगा । चूहा पिटारे को देखता है और सोचता है इसमें अवश्य ही मोदक होंगे और वह अपने दांतों से पिटारे को कुतर कर उसमें प्रवेश करता है । वह जाता तो है लड्डू खाने, परन्तु स्वयं साँप का भक्ष्य बन जाता है । इसी प्रकार अज्ञान के अन्धकार में भटकता हुआ आत्मा सुख मानकर जिसको अपनाता है वही उसके लिए कष्ट दायी बन जाता है और वह सुख की मृग-तृष्णा में दौडता हुआ अगणित पापों को एकत्रित कर लेता है जो कि दुःख के बीज होते हैं ।

पावं परस्स कुव्वंतो हसती मोहमोहितो ।
मच्छो गलं गसंतो वा विणिघातं ण पस्सती ॥ ११ ॥

अर्थ :—जब मोह-मोहित आत्मा दूसरे (की हानि) के लिए पाप करता है, उस समय आनन्द का अनुभव करता है । मछली आटे की गोली गले में उतारती हुई आनन्द पाती है, किन्तु उसके पीछे छिपी हुई अपनी मौत को वह नहीं देखती है ।

गुजराती भाषान्तर :—

જ્યારે મોહમુગ્ધ આત્મા બીજાને (નુકસાન પહોંચાડવા) માટે પાપ કરે છે તે સમયે તો તે આનંદ અનુભવે છે. જેમ માછલી પકડવાના આંકડા ઉપરના લોટની ગોળી ગળામાં ઉતારતા આનંદ પામે છે, પરંતુ તેની પાછળ છુપાએલી પોતાની મોતને તે જોતી નથી.

प्राचीन काल में धीवर लोग मछली पकडने के लिए एक प्रकार का कांटा बनाते थे, और उस पर आटे की गोली लगा देते थे। जब वह कांटा पानी में डाला जाता तो आटे को खाने के लिए मछली आती थी, किन्तु ज्यों ही वह गोली को निगल जाना चाहती त्यों ही आटे में छिपा हुआ आटा उसके गले को विंध देता। इसी प्रकार मोह युक्त आत्मा स्वजन परिजन के लिए अनीति और अत्याचार के द्वारा सम्पत्ति का संग्रह करता है। किन्तु भोला मानव उसी भूखी मछली की भांति है जो आटे को देखती है, कांटे को नहीं। वह व्यक्ति सम्मुख रहे हुए आनन्द को ही देखता है किन्तु उस क्षणिक आनन्द के पीछे आने वाली दुःख की परम्परा को नहीं देखता है।

पच्चुप्पण्णरसे गिद्धो मोहमल्लपणोल्लितो।
दित्तं पावति उक्कंठं[1] वारिमज्झे व वारणा ॥ १२ ॥

अर्थ :—मोहमल्ल से प्रेरित आत्मा वर्तमान भोग के आनन्द में लुब्ध होता है और पानी में रहे हुए हाथी की भांति वह मोह-मोहित आत्मा दीप्त उत्कंठा अथवा उत्कृष्ट उत्तेजना को प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तरः —

મોહરૂપી મલ્લ (પહેલવાન) થી પ્રેરિત આત્મા ભોગના તાત્કાલિક આનંદમાં લુબ્ધ થાય છે. અને પાણીમાં રહેલા હાથીની માફક મોહ–મોહિત આત્મા દીપ્ત ઉત્કંઠા અથવા ઉત્કૃષ્ટ ઉત્તેજનાને પ્રાપ્ત કરે છે.

मोह-गृद्ध व्यक्ति केवल वर्तमान के सुख में आनन्द मानता है। भविष्य में होने वाले कटु परिणामों की ओर से आंख मूंद लेता है। जिस प्रकार हाथी पानी में रह कर मद-मस्त हो जाता है, उसी प्रकार मोह के कीचड में फंस कर आत्मा अधिक मोहान्ध हो जाता है।

परोवघाततल्लिच्छो दप्प-मोह-मलुद्धुरो।
सीहो जरो दुपाणे वा गुण-दोसं न विंदती ॥ १३ ॥

अर्थ :—दर्प रूप मोह-मल्ल से उद्धत बनी हुई व्यक्ति दूसरे के घात में आनन्दित होता है। जैसे वृद्ध सिंह उन्मत्त हो कर विवेक खो बैठता है और निर्बल प्राणियों की हिंसा करता है। इसी प्रकार मोहोन्मत्त मानव गुण-दोष का विवेक भूल जाता है।

गुजराती भाषान्तरः —

દર્પરૂપી મોહમલ્લથી ઉદ્ધત થયેલી વ્યક્તિ બીજાના નુકસાનમાં આનંદ પામે છે. જેવી રીતે વૃદ્ધ સિંહ ઉન્મત્ત બનીને વિવેક ખોઈ બેસે છે અને નિર્બળ પ્રાણીઓને નાશ કરે છે, તેવી જ રીતે મોહોન્મત્ત માનવી ગુણદોષનો વિવેક ભૂલી જાય છે.

मोह विवेक की ज्योति को बुझा देता है, मोह-मदिरा है, जो पीता है उसे पागल बना देता है। उसका मन अहंकार के मद से मत्त हो उठता है। अहंकारी व्यक्ति अपने में बहुत बड़ी शक्ति मानता है और दूसरे को सदैव निर्बल मानता है। जब कभी उसके अहं पर ठेस लगती है वह भूखे भेड़िए की तरह उस पर टूट पडता है।

जैसे विक्षिप्त वृद्ध व्याघ्र दुष्प्राण दुर्बल प्राणियों का संहार करता है इसी प्रकार मोह-मत्त मानव विवेक भूल कर दूसरों के व्याघात के लिए तत्पर हो जाता है।

टीका :—**परोपघातपरो दर्पमोहमल्लैरुद्धुरो उद्धतो गुणदोषान् न विंदति। यथा वृद्धः सिंह उद्यानं गतः प्राणिनो हन्ति विवेकमकृत्वा यदि वा यथा सिंह एकविंशाध्ययनकथितः परं जिघांसते। गतमर्थम्।**

विशेष इक्कीसवें अध्ययन में भी सिंह का रूपक आया है कि किसी प्राणी के शिकार में वह किस प्रकार अपने प्राण खो देता है।[2]

सवसो पावं पुरोकिच्चा दुक्खं वेदेति दुम्मती।
आसत्तकंठपावो(सो) वा मुक्कधारो दुहट्टिओ ॥ १४ ॥

अर्थ :—पूर्व कृत पाप के वशीभूत हो कर दुर्बुद्धि आत्मा दुःख का अनुभव करते हैं। आकंठ पाप में आसक्त रहने वाला कष्टों और विपदाओं की धारा में अपने आप को छोड देता है।

---

१ उक्कंथं। २ देखिये अध्ययन २१ गाथा ६।

गुजराती भाषान्तर :—

પૂર્વ ભવમાં કરેલા પાપને વશ થઈને દુર્બુદ્ધિ આત્મા દુઃખનો અનુભવ લે છે. ગાઢ પાપમાં આસક્ત રહેનાર કષ્ટ અને વિપત્તિના પ્રવાહમાં સ્વયં પોતાને નાંખી દે છે.

आत्मा स्व-वश हो कर पाप करता है। पाप-प्रवृत्ति के लिए उसे दूसरा कोई प्रेरित नहीं करता है। किन्तु उसकी अशुभ परिणति ही उसे उस ओर प्रेरित कर देती है। वह चाहे तो दुर्वासनाओं को रोक सकता है। किन्तु उसकी स्वार्थ बुद्धि उसे ऐसा करने से रोकती है। परिणामतः वह दुर्वासना के प्रवाह में वह जाता है और पाप-कर्म का बन्धन कर लेता है। किन्तु उसके प्रतिफल भोगने में वह स्वतंत्र नहीं है। वह चाहे या नहीं चाहे, किन्तु उसको फल भोगने के लिए तैयार रहना ही होगा।

पावं जे उपकुव्वंति, जीवा सातागुगामिणो।
वड्ढती पावकं तेसिं अणग्गाहिस्स वा अणं ॥ १५ ॥

अर्थ :—सुखेच्छु आत्माएँ सुख के लिए पाप करते हैं, किन्तु जैसे ऋण लेने वाले पर ऋण बढ़ता ही जाता है वैसे ही सुखार्थी आत्मा का पाप भी बढ़ता जाता है।

गुजराती भाषान्तरः —

સુખ ચાહનારા આત્માઓ સુખ મેળવા માટે પાપ કરે છે. પણ જેવી રીતે કરજ લેવાવાળા પર દરરોજ દેવું વધતું જ જાય છે; તેજ પ્રમાણે સુખાર્થી આત્માનું પાપ પણ દરરોજ વધતું જાય છે.

आत्मा अनन्त युग से सुख के लिए परिश्रम करता है। उस स्वार्थ जन्य सुख की प्राप्ति के लिए जघन्य से जघन्य कृत्य भी करता है। अतः उसकी पाप परम्परा सुरसा के मुँह की भांति बढती ही जाती है। वह एक ऐसा ऋणी है जो ऋण लेता ही जाता है। अथवा लौटाता भी हो तो एक हजार लौटाता है और दस हजार पुनः ले आता है। तो वह कब ऋणमुक्त हो सकता है?।

अणुबद्धमपस्संता पच्चुप्पण्णगवेसका।
ते पच्छा दुक्खमच्छंति गलुच्छिन्ना झसा जहा ॥ १६ ॥

अर्थ :—जो केवल वर्तमान सुख को ही खोजते हैं किन्तु उस से अनुबद्ध फल को देखने से इनकार कर देते हैं, वे (आत्माएँ) बाद में उसी प्रकार से दुःख पाते हैं-जैसे कि गला विंधी हुई मछली।

गुजराती भाषान्तरः —

જેઓ ફક્ત વર્તમાન સુખને જ શોધે છે પરંતુ તેથી અનુબદ્ધ (તેને સાથે જોડાયેલ) ફળને માટે લાંબો વિચાર કરતા નથી, તે આત્માઓ-ગળું વિંધાયેલી માછલી જેવી રીતે પાછળથી દુઃખી થાય છે-તેવી જ રીતે દુઃખી થાય છે.

कुछ आत्माएँ वर्तमान तक सीमित होती हैं, अतीत अनागत से उपेक्षित होते हैं। वर्तमान सुख पर उनकी दृष्टि होती है। किन्तु उस सुख के साथ बंधी हुई दुःख की परम्परा को वे नहीं देखते। आंख मूंद लेने मात्र से ही कष्ट के कांटे नष्ट नहीं हो जाते हैं। मछली केवल आटे को देखती है किन्तु उसके पीछे छिपे हुए कांटे को नहीं देखती। इसीलिए तो वह भोली मछली अपना गला छिदवा लेती है।

आताकडाण कम्माणं, आता भुंजति जं फलं।
तम्हा आतस्स अट्ठाए, पावमादाय वज्जए ॥ १७ ॥

अर्थ :—आत्मा ही कर्मों का कर्ता है और आत्मा ही उसका भोक्ता है। अतः साधक आत्मा के अभ्युदय के लिए पाप को छोड दे।

गुजराती भाषान्तरः —

આત્મા જ કર્મોનો કર્તા છે અને આત્મા જ તેનો ભોક્તા છે; માટે સાધકે આત્માની આબાદી માટે પાપ કરવાનું જ છોડવું જોઈએ.

जैन दर्शन कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों प्रकार की शक्तियां आत्मा में स्वीकार करता है । दूसरा कोई आत्मा को बांध नहीं सकता । तो विश्व की कोई भी शक्ति आत्मा को मुक्त भी नहीं कर सकती है । जब आत्मा की सोई हुई चेतनां जागृत होगी और अपनी शक्ति का उसे परिज्ञान होगा तो एक क्षण में जंजीरों को तोडकर मुक्त हो जाएगा ।

संते जम्मे पसूयंति वाहि-सोग-जरादओ ।
नासंते डहते वण्ही तरुच्छेत्ता ण छिंदति ॥ १८ ॥

अर्थ :—जन्म के सद्भाव में व्याधि, शोक और वार्धक्य आदि उपाधियां पैदा होती हैं। जन्म का अभाव होने पर समस्त उपाधियाँ समाप्त हो जाती हैं। यदि आग में जलने योग्य वस्तु का अभाव है तो आग जलाएगी किसे ? । अथवा यदि आग का अभाव है तो वह जलाएगी भी नहीं और यदि वृक्ष काटने वाले का अभाव है तो अकेली कुल्हाडी वृक्ष को नहीं काट सकती ।

गुजराती भाषान्तरः —

જન્મની હયાતીમાં વ્યાધિ, શોક અને ઘડપણ આદિ ઉપાધિઓ આવી પડે છે. જન્મ-પ્રાપ્તિનો અભાવ થતાં સમસ્ત ઉપાધિઓ નષ્ટ થઈ જાય છે. જો આગમાં બળતણ ન જ હોય તો આગ બાળશે કોને ? અથવા જો આગનો અભાવ હોય તો તે બાળશે પણ નહીં અને જો વૃક્ષ કાપવાવાળો જ ન હોય એકલી કુહાડી વૃક્ષને કાપી શકતી નથી.

मानव जन्म तो चाहता है कि व्याधि और उपाधि हो नहीं, यह किन्तु असंभव है, क्योंकि जन्म स्वयं उपाधि है। यह तो वैसा ही हुआ, जैसे कोई आग तो चाहता है किन्तु उसकी उष्णता को नहीं चाहता है । उष्णता को समाप्त करने के लिए आग को ही समाप्त करना होगा । यदि वृक्ष को कटने से बचाना है वृक्ष के काटने वाले को ही समाप्त-दूर करना होगा । फिर हजारों कुल्हाडियां क्यों न पडी हों, वृक्ष के एक अंश को भी नहीं काट सकतीं । यदि जन्म-जन्य व्याधियों से बचना है तो जन्म से ही बचना होगा । आदमी मौत से डरता है और जन्म से प्यार करता है । किन्तु यदि मौत से बचना है तो जन्म से ही बचना होगा । जहां जन्म है वहां मौत अवश्य है । आत्मा सराग वृत्ति से हट जाए, क्योंकि वीतराग दशा आने के बाद जन्म भी समाप्त हो जाता है और मौत पहले ही मर जाती है।

दुक्खं जरा य मच्चू य, सोगो माणावमाणणा ।
जम्मघाते हता होंती, पुप्फघाते जहा फलं ॥ १९ ॥

अर्थ :—दुःख जरा (बुढापा), शोक, मान और अपमान ये सब उसी क्षण समाप्त हो जाते हैं जब जन्म समाप्त हो जाता है । जैसे पुष्प के नष्ट कर देने पर फल स्वतः नष्ट हो जाता है ।

गुजराती भाषान्तरः —

દુઃખ, ઘડપણ, શોક, માન અને અપમાન આ બધું તેજ ક્ષણે નાશ પામી જાય છે કે જ્યારે જન્મનો જ છેડો આવી જાય છે. જેવી રીતે ફૂલનો નાશ થતા ફળ આપોઆપ જ નાશ પામે છે.

जन्म, मृत्यु, मानापमान सभी दुःख ही हैं । किन्तु ये जन्म के पैर से बंधे हुए हैं । जन्म के समाप्त होते ही सभी समाप्त हो जाएंगे ।

पत्थरेणाहतो कीवो, खिप्पं डसइ पत्थरं ।
सिगारि ऊसरं पप्प, सरूपत्तिं व मग्गति ॥ २० ॥
तहा बालो दुही वत्थुं, बाहिरं णिंदती भिसं ।
दुक्खुप्पत्ति-विणासं तु सिगारि व्व ण पप्पति ॥ २१ ॥

अर्थ :—पत्थर से आहत कुत्ता पत्थर को ही काटने दौडता है । किन्तु जब सिंह को बाण लगता है तब वह बाण को छोड कर बाण के उत्पत्ति (छुटे हुए) स्थल पर झपटता है । इसी प्रकार अज्ञान शील आत्मा कष्ट के आने पर बाहरी वस्तु पर आक्रोश करता है । किन्तु सिंह के सदृश दुःखोत्पत्ति के हेतु को नष्ट करने का प्रयास नहीं करता है ।

गुजराती भाषान्तरः —

પત્થરથી ઘવાયેલો કૂતરો પત્થરને જ બટકું ભરવા દોડે છે. પરંતુ જ્યારે સિંહને બાણ લાગે છે ત્યારે તે બાણને છોડીને બાણ જ્યાંથી છુટ્યો હોય તેજ જગ્યા પર હુમલો કરે છે. તે જ પ્રમાણે અજ્ઞાનશીલ આત્મા કષ્ટ

આવતાં બહારની વસ્તુઓને જ ઠપકો દે છે, પરંતુ સિંહની જેમ દુઃખની ઉત્પત્તિના અસલ કારણને નષ્ટ કરવા પ્રયત્ન કરતો નથી.

विश्व के समस्त पदार्थ कार्य कारण के रूप से विमान है । जब किसी कार्य को समाप्त करना है तो प्रजाशील विचारक उसके कारण को समाप्त करता है । कारण के समाप्त होने पर कार्य अपने आप ही समाप्त हो जाएगा । यदि विष फल नहीं चाहते हैं तो पहले उसके विषैले पुष्प को ही समाप्त कर देना होगा । फूल नष्ट होने पर फल नष्ट हो ही जाएगा । यदि पंखे को बंद करना है तो पहले बटन को दबाइए । पंखा स्वतः बंद हो जाएगा । किन्तु यदि सीधे पंखे को हाथ लगाया तो अंगुली ही कट जाएगी । अतः विचारक वर्ग कारण और कार्य की सृष्टि को बन्द करने के लिए पहले कारण को रोकता है । कुत्ते को कोई मारता है तो वह मारने वाले को नहीं पत्थर को ही काटता है । किन्तु शेर पर कोई बाण छोडता है तो वह बाण पर नहीं बाण चलाने वाले पर झपटता है । ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में इतना ही अंतर होता है । अज्ञानी आत्मा पर जब कभी दुःख आता है तब वह बाहरी निमित्तों को दुःख का मूल हेतु मान कर उस पर आक्रोश करता है, मूल पर उसकी दृष्टि जाती ही नहीं है । जब कि विवेक शील आत्मा पत्तों पर नहीं मूल पर ही आघात करता है ।

टीका :—पाषाणेनाहतः किवः पक्षिविशेषः क्षिप्रं पाषाणं दशति मृगारिः=सिंह उपरं प्राप्य शरउत्पत्तिस्थानमेव मार्गति किवसिंहौ निरर्थकं कुरुत इति भावः ।

टीकार्थ :—पत्थर से आहत किव पक्षिविशेष शीघ्र पत्थर को काटता है जब कि सिंह बाण के उत्पत्ति स्थान को खोजता है । किव सिंह निरर्थक करता है, यह भाव है ।

टीकाकार का कहना है, कि किव पक्षिविशेष का नाम है । जब कि अन्य स्थान पर किव अर्थात् कृपण अथवा क्लिव अर्थात् कुत्ता ग्रहण किया गया है । किव पक्षी को पत्थर मारने का विशेष संबन्ध नहीं आता है । क्योंकि पक्षी तो आहट पाते ही उड जाता है । श्वान वृत्ति प्रसिद्ध है वह पत्थर मारने वाले को नहीं पत्थर को ही काटता है ।

टीका :—तथा तेनैव प्रकारेण बालो दुःखी दुःखपीडितो बाहिरं वस्तु भृशं निन्दति, नतु दुःखोत्पत्तिविनाशौ प्राप्नोति सिंह इवेति द्वे पदे अतिरिक्ते । गतार्थः ।

वणं वण्हि कसाए य अणं जं वा वि दुट्ठितं ।
आमगं च उव्वहंता दुक्खं पावंति पीवरं ॥ २२ ॥

अर्थ :—व्रण अग्नि और कषाय तथा और भी जो दुष्ट कार्यों को करके बीमारियों को ढोते हुए व्यक्ति महान् दुःख प्राप्त करते हैं ।

गुजराती भाषान्तरः —

વ્રણ, અગ્નિ અને કષાય તથા બીજા પણ દુષ્ટ કાર્યો કરીને બિમારીને વહોરી લેવાવાળી વ્યક્તિ મહાન દુઃખને પ્રાપ્ત કરે છે.

सुखेच्छु व्यक्ति भोग और वासना में ही आनन्द देखता है । किन्तु वे ही भोग रोग का निमंत्रण बन कर आते हैं । तब वह व्यक्ति शरीर से पुष्ट रह कर भी मनःशक्ति और स्वास्थ्यशक्ति से क्षीण होकर दुःख और अशान्ति का अनुभव करता है ।

टीका :—व्रण-अग्नि-कषायान् ऋणं चामगं त्ति रोगं च यद् वाप्य अन्यद् दुःस्थितं तदुद्वहन्तोऽनुभवन्तः पीवरं महद् दुःखं प्राप्नुवन्ति मानुषाः ।

अर्थ :—व्रण, अग्नि, कषाय और रोग तथा अन्य दुःखों का अनुभव करते हुए मनुष्य महान दुःख को प्राप्त करता है ।

गुजराती भाषान्तरः —

વ્રણ, અગ્નિ, કષાય અને રાગને પ્રાપ્ત કરીને તથા અન્ય દુઃખોનો અનુભવ કરતા મનુષ્ય મહાન દુઃખને પ્રાપ્ત કરે છે.

वण्ही अणस्स कम्मस्स, आमकस्स वणस्स य ।
णिस्सेसं घायिणं सेयो, छिण्णो वि रुहती दुमो ॥ २३ ॥

अर्थ :—अग्नि चार प्रकार की होती है–ऋण की आग, कर्म की आग, बीमारी की आग और वन की आग। दुःख की जड संपूर्ण रूप से ही नष्ट करना चाहिए, क्योंकि ऊपर से काट डालने पर भी वृक्ष फिर से उग आता है।

गुजराती भाषान्तरः —

અગ્નિના ચાર પ્રકાર છેઃ ઋણની આગ, કર્મની આગ, બિમારીની આગ અને વનની આગ. દુઃખની જડ સંપૂર્ણપણે નાશ કરવી જોઈએ, કારણકે ઉપરથી કાપી નાખવા છતાં વૃક્ષ ફરીથી ઉગી નીકળે છે.

चार प्रकार की आग है–ऋण की आग भी एक प्रकार की आग ही है, जो हिमालय में भी मनुष्य को जलाती रहती है। कभी ऋण दाता उसे वचनों की आग से भूनता है। घर में बालक भूख की आग में जलते हैं, दिन-रात मेहनत कर के कुछ कमाता है; वर्ष भर खून का पसीना कर के कमाया गया पैसा सेठ एक ही दिन में ले जाता है। अतः ऋण की आग दूर रह कर भी मनुष्य के तन और मन दोनों को जलाती है। कर्म की आग आत्मा के दिव्य गुणों को भस्म कर डालती है। वही कर्म की आग तो नरक की ज्वाला का हेतु बनती है। वेदना अर्थात् बीमारी की आग भी एक आग है तो वन की भी एक आग है।

दुःख की लता को जड मूल से उखाड फेंकना चाहिए। क्योंकि आधे काटे हुए वृक्ष में से भी नई नई कोंपलें निकल आती हैं।

टीका :—वण्हिस्स त्ति वह्नेः ऋणकर्मणः आमकस्स त्ति रोगस्य व्रणस्य च निःशेषं घातिनां यथासंख्यं निवारयितुर्दातुश्चिकित्सकस्य च श्रेय आनन्दो भवति गतमिति वह्न्यादीनि तु कालेन प्रत्यागमिष्यन्ति यथा द्रुमश्छिन्नोऽपि पुनरारोहति।

अर्थ :—अग्नि, ऋण, कर्म, रोग और व्रण को संपूर्ण नष्ट करने वाले को आनन्द मिलता है और क्रमशः अग्नि बुझाने वाला, ऋणदाता और चिकित्सक को श्रेय मिलता है। यह ठीक है, किन्तु अग्नि आदि समय पा कर पुनः लौट सकते हैं।

भासच्छण्णो जहा वण्ही, गूढकोहो जहा रिपू।
पावकम्मं तहा लीणं, दुक्खसंताणसंकडं ॥ २४ ॥

अर्थ :—भस्माच्छादित अग्नि और निगूढ क्रोधी शत्रु जैसे छिपा घात करता है, उसी प्रकार पाप कर्म में दुःख की परंपरा और संकट छिपे रहते हैं।

गुजराती भाषान्तरः —

રાખોડીમાં ઢાંકેલો અગ્નિ અને ક્રોધી શત્રુ જેવી રીતે છૂપો હુમલો કરી શકે છે; તે જ પ્રમાણે પાપકર્મમાં દુઃખની પરંપરા અને સંકટ છૂપાયેલા રહે છે.

प्रत्यक्ष आग से भस्माच्छादित आग अधिक भयंकर होती है। यदि शत्रु के वेष में आता है तो उतना बुरा नहीं होता जितना कि मित्र के वेष में आया हुआ शत्रु। उसका आघात गहरा होता है, क्योंकि मित्र के वेष में आए हुए शत्रु को हम जल्दी से पहचान नहीं सकते। इसी प्रकार पाप जब कटु रूप में आता है तब वह शीघ्र ही पहचाना जा सकता है। किन्तु सुख के रूप में आया हुआ पाप मित्र के रूप में आया हुआ शत्रु है। और दुःख एक चतुर बहुरूपिया है, जो हमेशा सुख के ही रूप में आता है। जनता उसका स्वागत करती है, किन्तु पीछे से वह दुःखों और संकटों की परंपरा छोड जाता है।

टीका :—यथा वह्निर्भस्मच्छन्नो वा यथा रिपुर्गूढक्रोधो वा तथा लीनं गूढं पापकर्म दुःखसंतानसंकटं भवति। गतार्थः।

पत्तिंधणस्स वण्हिस्स, उद्दामस्स विसस्स य।
मिच्छत्ते यावि कम्मस्स, दित्ता वुड्ढी दुहावहा ॥ २५ ॥

अर्थः —अग्नि को जब प्रचुर इंधन प्राप्त हो जाता है विष जब उद्दाम हो जाता है और कर्म जब मिथ्यात्व में प्रवेश करता है तो तीनों प्रचंड हो जाते हैं। इस अभिवृद्धि का परिणाम आत्मा के लिए दुःख रूप ही होता है।

गुजराती भाषान्तरः —

અગ્નિને જ્યારે પ્રચુર ઈંધન (બળતણ) પ્રાપ્ત થાય છે; વિષ જ્યારે સર્વત્ર (શરીરમાં) ફેલાઈ જાય છે; અને કર્મ જ્યારે મિથ્યાત્વમાં પ્રવેશ કરે છે ત્યારે ત્રણે ઘણા ભયંકર થઈ જાય છે. આવી રીતે તેઓની અભિવૃદ્ધિનું પરિણામ આત્મા માટે દુઃખરૂપ થઈ જાય છે.

इंधन प्राप्त अग्नि शीघ्र शान्त नहीं हो सकती। विष जब शरीर के हर एक अवयवों में प्रवेश कर जाता है तब उसको दूर करने की शक्ति न तो वैद्य की पुडियाओं में होती है, न डाक्टरों के इंजेक्शनों में। इसी प्रकार कर्म जब मिथ्यात्व मोह के साथ बंधता है तब वह दीर्घ स्थिति और अशुभ विपाक को लेकर आता है। शीघ्र ही उससे मुक्ति पा जाना संभव नहीं। इसीलिए मिथ्यात्व को समस्त पापों में प्रथम स्थान प्राप्त है। हिंसा का पाप निकृष्टतम है, किन्तु फिर भी हिंसा से हिंसा का विश्वास अधिक बुरा होता है। हिंसा का विश्वास मिथ्यात्व है।

धूमहीणो य जो वण्ही, छिण्णादाणं च जं अणं।
मंताहतं विसं जं ति, धुवं तं खयमिच्छती ॥ २६ ॥
छिण्णादाणं धुवं कम्मं, झिज्जते तं तहाहतं।
आदित्त-रस्सि-तत्तं व, छिण्णादाणं जहा जलं ॥ २७ ॥

अर्थ :—धूमहीन अग्नि, आदान अर्थात् लेना बन्द कर दिया गया है ऐसा ऋण और मंत्राहत विष जिस प्रकार निश्चित ही समाप्त होजाता है उसी प्रकार जब कर्म का आदान अर्थात् ग्रहण या आश्रव जब समाप्त हो जाता है तब कर्म भी निर्जरित हो जाता है। जैसे सूर्य की प्रखर किरणों से पानी तप्त होता है, किन्तु जब किरणों का साहचर्य छूटता है तब वह प्रकृतिस्थ हो कर स्वाभाविक शीतलता प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार कर्म के संयोग से आत्मा विभाव दशा में आकुल होकर परिभ्रमण करता है। किन्तु कर्म का साहचर्य छूटते ही वह स्वभाव में स्थित हो कर सहज रूप को प्राप्त कर लेता है।

गुजराती भाषान्तर :—

ધુમાડાવગરનો અગ્નિ, આદાન અર્થાત્ લેવું બંધ કરી દેવામાં આવ્યું છે તેવું ઋણ, અને મંત્રથી નાશ પામેલું ઝેર જેવી રીતે નિશ્ચિત (અવશ્ય) જ નાશ થઈ જાય છે તે જ પ્રમાણે જ્યારે કર્મનું આદાન અર્થાત્ ગ્રહણ અથવા આશ્રવ જ્યારે સમાપ્ત થઈ જાય છે ત્યારે કર્મ પણ નિર્જરિત થઈ જાય છે. જેવી રીતે સૂર્યના પ્રખર કિરણોથી પાણી તપી ઊઠે છે પરંતુ જ્યારે કિરણોનો સંબંધ છૂટી જાય છે ત્યારે તે હમેશ મુજબનું થઈ સ્વાભાવિક શીતળતા પ્રાપ્ત કરી લે છે, તે જ પ્રમાણે કર્મના સંયોગથી આત્મા વિભાવદશામાં આકુળ થઈને પરિભ્રમણ કરે છે. પરંતુ કર્મનું સાંનિધ્ય (સંબંધ) છૂટતાં જ તે હંમેશ મુજબ (અસ્સલ રૂપ) નું થઈને સહજ રૂપને પ્રાપ્ત કરી લે છે.

जिस आग में से धुआं समाप्त हो जाता है वह आग शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। ऋणी यदि ऋण लेना बन्द कर दे फिर यदि वह अल्प मात्रा में भी ऋण चुकाता रहे तो वह ऋण–मुक्त हो जाएगा। इसी प्रकार आत्मा जब कर्म का ग्रहण करना बन्द कर देता है तो वह एक दिन अवश्य ही कर्म–मुक्त हो जाता है। किन्तु उसके लिए आत्मा के साथ कर्म का साहचर्य समाप्त होना चाहिए। पानी जब तक चूल्हे पर रहेगा तब तक वह गर्म होता ही रहेगा। अथवा जब तक सूर्य-किरणों का पानी के साथ संयोग है तब तक पानी की उष्णता दूर नहीं हो सकती है। पानी में शीतलता लाने के लिए उष्णता के बाहरी संयोगों को दूर करना ही होगा। इसी प्रकार आत्मा को स्वभावस्थ बनाने के लिए विभाव दशा से मोडना होगा।

तम्हा उ सव्वदुक्खाणं, कुज्जा मूलविणासणं।
वालग्गाहि व्व सप्पस्स, विसदोसविणासणं ॥ २८ ॥

अर्थ :—अतः साधक सभी दुःखों के वैसे ही जड मूल को समाप्त करे। जैसे कि सपेरा साँप के विष-दोष को दूर कर देता है।

गुजराती भाषान्तर :—

તેથી સાધક બધા દુઃખોની મૂળનો તેવી જ રીતે નાશ કરે, જેવી રીતે સાપનો મદારી સાપના ઝેર(ની કોથળી) રૂપી દોષને કાઢી નાંખે છે.

साधक आत्म-शान्ति के लिए अशान्ति के मूल को ही समाप्त करे। साधना के क्षेत्र में शरीर को मारने का महत्त्व नहीं है, मारना ही है तो उन वृत्तियों को मारे, जिनके द्वारा आत्मा अशुभ की ओर जाता है और पाप कर्मों में लिप्त होता है। वही अशान्ति की जड है। सपेरा साप को नहीं उसके जहर को निकाल देता है। फिर सर्प एक भयंकर जन्तु नहीं, बल्कि क्रीडा का एक सुकोमल प्रसाधन हो जाता है। सर्प बुरा नहीं है, बुरा है उसका जहर। सर्प को मारना भी गलत होगा। इसी

प्रकार साधक को-शरीर को नहीं-उसके विष को याने वासना को मारना है। अनुचित वृत्ति को मारना है। सोमल विष है, किन्तु उसे मार दिया जाए, अर्थात् पका दिया जाए तो वही अमृत बन जाएगा। इसी प्रकार अशुभ वृत्ति समाप्त हुई तो यहीं स्वर्ग है और यहीं मोक्ष है। भ० महावीर की भाषा में कहा जाए तोः—

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नंदणं वणं॥ –उत्तरा० अ० २० गा० ३६।

मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष (काली सेमल) दोनों ही है। किन्तु भूलो नहीं, कामदुघा धेनु भी मेरी ही आत्मा है। और देवों की रमणीय भूमि नन्दन-वन भी मैं ही हूं। बाहर कहां खोज रहे हो?। यदि खोजना है तो अपने आप में खोजो। वहीं सब कुछ है!।

एवं से सिद्धे बुद्धे०। गतार्थम्।

मधुरायणिज्ज-मज्झयणं

मधुराजर्षिभाषित पंचदशाध्ययनम्

सोरियायण-अर्हतर्षि-भाषित

षोडश अध्ययन

श्रेष्ठ कौन है? जिसके पास वैभव है। विशाल अट्टालिकाओं में सौन्दर्य नाचता है। सौन्दर्य के पायल के झंकार से जिसका मन झंकृत होता रहता है। भारतीय संस्कृति भोग में नहीं, त्याग में विश्वास करती है। उसने भोगियों के नहीं, त्यागियों के सामने मस्तक झुकाया है।

जिसका मन और इन्द्रियों पर शासन है वही महान् है। पदार्थों का चंचल सौन्दर्य जिसके मन को चलित नहीं बनाता है, वही पुरुषोत्तम है। इन्द्रियों का दमन और उसके साधन का प्रस्तुत अध्ययन में निरूपण है।

सिद्ध०। जस्स खलु भो विसयायारा ण य परिस्सवंति इंदिया वा दवेहिं से खलु उत्तमे पुरिसे त्ति सोरियायणेण अरहता इसिणा बुइतं।

अर्थः—जिसके इन्द्रियों का वेग द्रवित वस्तु की तरह विषयाचार की ओर नहीं दौडता है वही आत्मा श्रेष्ठ है। इस प्रकार सोरियायण अर्हतर्षि बोले।

गुजराती भाषान्तरः—

જેના ઇન્દ્રિયોનું ધ્યાન (આકર્ષણ) પ્રવાહી પદાર્થની જેમ વિષયોના ઉપભોગની તરફ દોડતું નથી તે જ આત્મા શ્રેષ્ઠ છે. એ પ્રમાણે સોરિયાયણ અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

जो इन्द्रियों का गुलाम है वह दुनियां का गुलाम है। इन्द्रियों पर जय पाने वाला साधक विश्व-विजयी है। पानी का स्वभाव है ढलकाव की ओर बहना। ऐसे ही इन्द्रियों का स्वभाव है विलय की ओर दौडना। किन्तु जिसके पास ज्ञानांकुश है वह इन्द्रियों पर स्वामित्व पा सकता है।

टीकाः—यस्य खलु भो इन्द्रियाणि विषयाचारा न परिस्रवन्ति द्रवैरिव स खलु भवत्युत्तमः पुरुषः। गतार्थः।

तं कहमिति? मणुण्णेसु सद्देसु सोय विसयपत्तेसु णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा णो गिज्झेज्जा णो विणिघायमावज्जेज्जा। मणुण्णेसु सद्देसु सोत्तविसयपत्तेसु सज्जमाणे, रज्जमाणे, गिज्झमाणे सुमणो आसेवमाणे विप्पवहतो पावकम्मस्स आदाणाए भवति। तम्हा मणुण्णासु सद्देसु सोय-विसय-पत्तेसु णो सज्जेज्जा, णो रज्जेज्जा णो गिज्झेज्जा णो सुमणो अण्णे अवि एवं रूवेसु, गंधेसु, रसेसु, फासेसु एवं विवरीएसु णो दूसेज्जा।

अर्थ :—परिस्रवण (बहाव) किस प्रकार होता है । इसके उत्तर में अर्हतर्षि बोलते हैं कि श्रोत्र विषय प्राप्त मनोज्ञ शब्दों में साधक आसक्त न हो, अनुरक्त न हो, और न उन मधुर शब्दावली में गृद्ध ही हो । उन शब्दों के द्वारा साधक अपनी स्वभाव स्थिति में व्याघात का भी अनुभव न करे । श्रोत्र विषय प्राप्त शब्दों में आसक्ति, विरक्ति और गृद्धता की अनुभूति करता हुआ सुमनशील सुन्दर मन वाला श्रमण मन से उनकी आसेवना करता हुआ, उसकी मधुरिमा के रस प्रवाह में बहता हुआ पाप कर्म को ग्रहण करता है। अतः साधक श्रोत्र विषय प्राप्त मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में आसक्त–न हो, अनुरक्त न हो और न उसमें लालची ही हो । इसी प्रकार सुमनशील श्रमण रूप गंध रस और स्पर्श में मन को आकर्षित करने वाले अंश पर रागानुभूति न करे और विपरीत अमनोज्ञ रूपादि पर द्वेष न करे ।

गुजराती भाषान्तर :—

તે પરિસ્રવણ (પ્રવાહ) કઇ રીતે થાય છે ? તેના જવાબમાં અર્હતર્ષિ બોલે છે કે કાન તરફ આવેલા મીઠા શબ્દોમાં સાધક આસક્ત ન થાય, અનુરક્ત ન થાય અને એ મધુર શબ્દાવલીમાં પણ મોહિત ન થાય. તે શબ્દો દ્વારા સાધક પોતાના સ્વભાવમાં વ્યાઘાત પણ અનુભવ ન કરે. સાંભળવા આવેલા શબ્દોમાં આસક્તિ, અનુરક્તિ અને લાલચનો અનુભવ કરતા કરતા સુમનશીલ સુન્દર મનવાળા શ્રમણ મનથી તેમાં રસ લેતા તેની મધુરિમાના રસપ્રવાહમાં વહેતા પાપ કર્મોને ગ્રહણ કરે છે. આથી સાધક સાંભળેલા મીઠા અને મધુર શબ્દોમાં આસક્ત ન રહે, અનુરક્ત ન રહે, અને તેમાં લાલચુ પણ ન થાય. એ પ્રમાણે સુજ્ઞ શ્રમણ રૂપ, ગંધ, રસ અને સ્પર્શમાં મનને આકર્ષિત કરવાવાળા પદાર્થ ઉપર લોભી બને નહીં તેમજ વિપરીત બદસીકલ પર દ્વેષાદિ કરે નહીં.

आत्म–साधना में लीन साधक की इन्द्रियों के आकर्षण से परे रहने के लिए संकेत किया गया है । पदार्थों का एक रूप मधुर होता है । पदार्थों का एक रूप मधुर होता है । दूसरा कटु । मन की स्थिति कुछ ऐसी है कि वह मधुर रूप पर आकर्षित होता है और कटु रूप पर द्वेष–भाव रखता है । यह आसक्ति ही कर्मबन्ध का मूल हेतु है । अन्यथा केवल पदार्थ को देखना और जानना-मात्र कर्मबन्ध का हेतु नहीं है, क्योंकि आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है । वही जानने की शक्ति–भी रखता है । आत्मा नहीं जानेगा तो क्या पत्थर जानेगा ? । ज्ञान कभी भी बन्ध का कारण नहीं हुआ है, किन्तु उस पदार्थ को देखने के बाद यह संकल्प आया–यह सुन्दर है, यह असुन्दर है; इन्हीं में रागानुभूति और द्वेषानुभूति के बीज निहित हैं । अतः इन्द्रियाकर्षक वस्तु पर न साधक की अनुरक्ति–हो न विपरीतरूपा पर विरक्ति ही । आत्मा की यह स्थिति बन्ध हीन होगी ।

टीका :—तद् परिस्रवणं कथमिति पृच्छा। मनोज्ञेपु, शब्देषु, रूपेषु, गंधेपु, रसेपु, स्पर्शेपु श्रोत्र-चक्षु-नासा-तालु-त्वग्विषयप्राप्तेषु न सजेत न रज्येत न गृध्येत नाध्युपपद्येत न विनिघातमापद्येत। मनोज्ञेपु शब्दादिपु श्रोत्रादिविषयं प्राप्तेपु सजमानो रज्यमानो गृद्ध्यमानोऽध्युपपद्यमानः सुमनाः सदभिप्रायवान्स्तानासेवमानो विप्रवहतः पापकर्मणे भवत्यादानाय तत्कर्माददातीत्यर्थः। तस्मात् तेपु मनोज्ञेषु प्रागुक्तेपु न सजमानित्यादि न सुमना इत्याद्युक्तपापकर्मणा न दुष्येत। गतार्थः।

साधक इन्द्रियों को साधे । मारना अलग चीज है और साधना अलग है । घोडे को साधा जाता है मारा नहीं जाता । विपथ-गामी घोडे को मोड कर प्रशस्त पथ की ओर प्रेरित करना ही कुशल चालक का कार्य है । कुशल साधक विपथगामी इन्द्रियों को प्रशस्त पथ की ओर मोडे । मारना है तो मन को मारे । इन्द्रियाँ तो अनेक बार मारी गई हैं । उन्हें मारने से तो कोई मतलब नहीं निकलता है ।

दुदंता इंदिया पंच, संसाराए सरीरिणं ।
ते च्चेव णियमिया संता, णेज्जाणाए भवंति हि ॥ १ ॥

अर्थ :—देहधारियों की दुर्दान्त बनी हुई पांचों इन्द्रियां संसार का हेतु बनती हैं । वे ही संवृत होने पर मोक्ष का हेतु बन सकती हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

શરીરી માનવની અજેય બનેલી પાંચે ઇન્દ્રિયો સંસારની હેતુ બને છે. તે તાબે થયા પછીજ મોક્ષનો હેતુ બની શકે છે.

इन्द्रियां अपने आप में न मोक्ष का हेतु है, न संसार का । क्योंकि वे तो जड हैं । उनके पीछे रही हुई शुभाशुभ

भावना ही मोक्ष और संसार का हेतु होती है। आत्मा जब इन्द्रियों पर शासन करता है तब इन्द्रियां मोक्ष-हेतुक बनती हैं और जब इन्द्रियां ही आत्मा पर शासन करती हैं तब वे भव-हेतुक होती हैं।

दुद्दंते इंदिए पंच, रागदोसपरंगमे।
कुम्मो विव स अंगाइं, सए देहम्मि साहरे ॥ २ ॥

अर्थ :—राग और द्वेष चेतना में प्रवृत्त पांचों इन्द्रियां दुर्दान्त बनती हैं। अतः बाहरी आघात की आशंका होते ही जैसे कछुआ अपने अवयवों का संगोपन कर लेता है उसी प्रकार साधक आश्रव की ओर प्रवृत्त इन्द्रियों का संवरण करे।

गुजराती भाषान्तर :—

રાગ અને દ્વેષ ચેતનામાં પ્રવૃત્ત થયેલી પાંચે ઇન્દ્રિયો અજેય બને છે. માટે બહારના આઘાતની આશંકા થતાં જ જેવી રીતે કાચબો પોતાના અવયવો સંકોચી લે છે તેવી જ રીતે સાધક આશ્રવ (ઉલ્લંઘન) તરફ પ્રવૃત્ત ઇન્દ્રિયોનું સંવરણ કરે.

अप्रशस्त पथ की ओर प्रवृत्त इन्द्रियों का साधक किस प्रकार संवरण करे इसका सुन्दर रूपक प्रस्तुत गाथा में है। कछुआ जब तक अपने आप को सुरक्षित मानता है तब तक वह चलता रहता है, किन्तु जब उसे खतरे का अनुभव हुआ वह अपने अवयवों को समेट लेता है। साधक भी ऐसा ही करे। इन्द्रियाँ स्वाध्याय आदि प्रशस्त पथ में जाएं तो उन्हें जाने दे। किन्तु जब वह अप्रशस्त पथ की ओर जाने लगे तो उन्हें अविलम्ब ही संवृत कर ले।

वण्ही सरीरमाहारं जहा जोएण जुंजती।
इंदियाणि य जोए य तहा जोगे वियाणसु ॥ ३ ॥

अर्थ :—जैसे अग्नि आहार और शरीर को यथास्थान पर जोड़ती है। वैसे ही इन्द्रियां बाहरी पदार्थों को आत्मा से जोड़ती हैं और योग को सक्रिय बनाती हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જેવી રીતે અગ્નિ, આહાર અને શરીરને પોતપોતાના સ્થાન પર જોડી દે છે, ઇંદ્રિયો બહારના પદાર્થોને આત્મા સાથે જોડે છે, તે જ પ્રમાણે ઇન્દ્રિયો જ યોગને સક્રિય બનાવે છે.

अग्नि के द्वारा पक्व अन्न शरीर के लिए उपयोगी हो सकता है। अथवा उदरगत अग्नि खाए हुए भोजन का पाचन कर के शरीर के विभिन्न अवयवों को शक्ति प्रदान करती है। इसी प्रकार इन्द्रियां और योगत्रय अर्थात् मनोयोग, वचनयोग और काययोग पदार्थों को आत्मा तक पहुंचाते हैं। इन्द्रियाँ पदार्थ और आत्मा का योग करती हैं।

परोक्ष ज्ञान युक्त आत्मा पदार्थों को इन्द्रियों के ही माध्यम से जानता है। अतः परोक्ष ज्ञान इन्द्रिय सापेक्ष होता है। शब्द-रूपादि-रूप में परिणत द्रव्यों को आत्मा तक पहुंचाने का काम इन्द्रियों का है।

टीका :—वह्निः परिणाम-तेजः शरीरमाहारं ति आहारेण यथा युनक्ति योगेन कारणेन तथा योगान् विजानीहीन्द्रियाणि तत् प्रयोगांश्च युञ्जत इति श्लोकस्योत्तरार्धस्य शंकनीयोऽर्थः।

जैसे जठराग्नि आहार को शरीर में परिणत करती है, क्योंकि खाद्य पदार्थ को शरीर के लिए उपयोगी बनाने वाली अग्नि है इसी प्रकार योगों को सक्रिय बनाने वाली इन्द्रियां हैं। उनके प्रयोगों को वह जोडती है। इस पर श्लोक के उत्तरार्ध का अर्थ टीकाकार की दृष्टि में संदेहास्पद है।

एवं से बुद्धे०। गतार्थः।

सोरियायण-णामज्झयणं ॥

इति सोरियायण-अर्हतर्षि-भाषितं षोडशाध्ययनम्।

विदु अर्हतर्षि प्रोक्त

सप्तदश अध्ययन

"सा विद्या या विमुक्तये" एक ऋषि की पट्ट वाणी विद्या का लक्ष्य बता रही है। जो मानवीय चेतनाओं को बंधन से मुक्ति की ओर ले जाए, अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाए, देह की संकीर्णताओं से उपर उठा कर आत्मा के विराट रूप का साक्षात्कार कराए और स्वार्थ, संप्रदाय तथा मिथ्यामिनिवेशों के घेरे को तोडने की पुनीत प्रेरणा दे वही विद्या है। इंग्लिश विचारकों की दृष्टि में ज्ञान का ध्येय है कि The great end of education is to discipline of the mind. विचार शक्ति को विकसित करना ही शिक्षा का महान् उद्देश्य है। विद्या और विज्ञान की व्याख्या आप प्रस्तुत अध्ययन में पाएंगे।

इमा विज्जा महाविज्जा सव्वविज्जाण उत्तमा।
जं विज्जं साहइत्ताणं सव्वदुक्खाण मुच्चति ॥ १ ॥

अर्थ :—वह विद्या महाविद्या है और समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ है, जिस विद्या की साधना करके आत्मा समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

તે વિદ્યા મહાવિદ્યા છે અને સમસ્ત વિદ્યાઓમાં શ્રેષ્ઠ છે, જે વિદ્યાની સાધના કરીને આત્મા સમસ્ત દુઃખોથી મુક્ત થઈ જાય છે.

शिक्षा जीवन में नई रोशनी देती है। शिक्षा और साक्षरता में बहुत बडा अंतर है। विशाल साहित्य राशि को पढ लेना केवल साक्षरता है। साक्षरता शिक्षा नहीं, अपि तु शिक्षा का शरीर है। शिक्षा वही है जो मानव को बंधन से मुक्ति की ओर लेजाए। वह बंधन फिर विचार, समाज, प्रान्तीयता और राष्ट्रीयता का ही क्यों न हो बंधन अपने आप में बंधन ही है। वह मानव की बुद्धि, मन और चेतना को सीमित कर देता है। और यही अविधा है। अहंता और समता के क्षुद्र घेरों को तोड कर मानव मन को जो विराट बनाती है वही विद्या है। जो ज्ञान आत्मा की शान्ति-पिपासा को न बुझा सके, उसकी दुःखपरंपरा को समाप्त न कर सके वह ज्ञान नहीं अज्ञान है। आत्मा को दुःख से मुक्त करे वही ज्ञान है।

जेण बंधं च मोक्खं च जीवाणं गतिरागतिं।
आयाभावं च जाणाति सा विज्जा दुक्खमोयणी ॥ २ ॥

अर्थ :—जिसके द्वारा आत्मा के बन्ध और मोक्ष गति और अगति का परिज्ञान होता है और जिसके द्वारा आत्म-भाव का अवबोध होता है वही विद्या दुःख से विमुक्त करने में सक्षम है।

गुजराती भाषान्तर :—

જેની દ્વારા આત્માના બન્ધ, મોક્ષગતિ અને અગતિનું પરિજ્ઞાન થાય છે અને જેની દ્વારા આત્મભાવનું જ્ઞાન થાય છે તે જ વિદ્યા દુઃખથી મુક્ત કરવામાં સમર્થ છે.

रोटी का सवाल हल करना विद्या का लक्ष्य नहीं है। रोटी की विद्या तो पशु संसार बिना सीखे ही जानता है। विद्या का लक्ष्य है कि वह मानव को मानव बना दे। दूसरे शब्दों में आत्मा को अपनी पहचान करा दे। जिसके द्वारा आत्मा अपना परिज्ञान कर सकता है वही विद्या विमुक्ति की ओर ले जा सकती है आत्म-भाव का परिज्ञाता जब अपनी शुद्ध स्थिति का अभाव पाता है। तब वह बंधन को महसूस करता है और अगले क्षण मुक्ति की राह लेता है। जिसके द्वारा आत्मा परिभ्रम का हेतु शोधता है। वही विद्या दुःख-विमोचक है।

टीका :—यया बंधं च मोक्षं च जीवानां गत्यागतावात्मभावं च जानाति सा विद्या दुःखमोचनी। इयं विद्या भवति महाविद्या भवति सर्वविद्यानामुत्तमा, यां विद्यां साधयित्वा सर्वदुःखेभ्यो मुच्यते। गतार्थः।

टीकाकार ने गाथा के क्रम में परिवर्तन किया है। दूसरी के बाद प्रथम गाथा का होना अन्वय की दृष्टि से वे उचित मानते हैं।

विदुणा अरहता इसिणा बुइतं—

सम्मं रोग-परिण्णाणं, ततो तस्स विणिच्छितं ।
रोगोसह-परिण्णाणं, जोगो रोगतिगिच्छितं ॥ ३ ॥
सम्मं कम्मपरिण्णाणं ततो तस्स विमोक्खणं ।
कम्म-मोक्ख-परिण्णाणं, करणं च विमोक्खणं ॥ ४ ॥

अर्थ :—विदु अर्हतर्षि इस प्रकार कहते हैं, रोग मुक्ति के लिए सर्व प्रथम रोग का परिज्ञान होना चाहिए। तत्पश्चात् उसका निदान हो । साथ ही रोग के औषध की भी पहचान चाहिए। तभी उसके रोग की चिकित्सा संभवित है। यही बात कर्म विमुक्ति के लिए भी है । पहले सम्यक् रूप से कर्म का परिज्ञान हो, बाद में उसके विमोक्ष का ज्ञान अपेक्षित है । कर्म और मोक्ष का परिज्ञान और उसका आचरण आत्मा को मुक्त बना सकता है।

गुजराती भाषान्तर :—

વિદુ અર્હતર્ષિ આ પ્રમાણે કહે છે કે રોગથી મુક્ત થવા માટે સર્વ પહેલાં રોગનું પૂર્ણ જ્ઞાન કરી તે પછી તેનું નિદાન થાય. સાથે સાથ રોગ-નાશક ઔષધના ગુણધર્મનું જ્ઞાન હોવા જોઈએ, ત્યારે જ રોગની ચિકિત્સા કરી શકાય. આ જ વાત કર્મ વિમુક્તિ માટે પણ અગત્યની છે. પહેલા કર્મનું જ્ઞાન સારી રીતે કરી લેવા જોઈએ, પછી તેનો વિમોક્ષ એટલે છુટકારો મેળવવાનું જ્ઞાન સદંતરરૂપ છે. કર્મ અને મોક્ષનું ઉંડું જ્ઞાન અને તેનું આચરણ આત્માને મુક્ત બનાવી શકે છે.

रोगोपशमन के लिए सर्व प्रथम यह आवश्यक होगा कि व्यक्ति को इस बात का अनुभव हो, कि मेरे देह में किसी प्रकार का रोग है । उसके बाद दूसरा कदम होगा रोग की पहचान का । रोग है तो वह कौन-सा है ? साथ ही रोग के औषध का भी ज्ञान अपेक्षित है । कर्म से विमुक्ति के लिए भी चार बातें आवश्यक हैं । सर्व प्रथम यह विश्वास कि "कर्म है, कर्म से मोक्ष हो सकता है । कर्म और मोक्ष का स्वरूप विज्ञान और उस ज्ञान को जीवन में आचरण । जिसे यही अनुभूति नहीं है कि मैं बीमार हूं, वह आरोग्य की ओर बढ़ ही कैसे सकता है और जिसे यह अनुभूति नहीं है कि मैं कर्म से बद्ध हूं वह मुक्ति की राह पर कदम नहीं रख सकता है । साथ ही उसे यह भी विश्वास होना चाहिए कि आत्मा और कर्म पृथक् हो सकते हैं । यही विश्वास आत्मा को इस दिशा में प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करेगा । बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्य इसी से कुछ मिलते-जुलते हैं । पहला दुःख है और दूसरा दुःख का हेतु है । तीसरा हान दुःखों का अन्त संभव है और हानोपाय दुःखों के अन्त करने का उपाय है ।

मम्मं ससल्ल-जीवं च, पुरिसं वा मोहघातिणं ।
सल्लुद्धरणजोगं च, जो जाणइ स सल्लहा ॥ ५ ॥

अर्थ :—जो मर्मत्व और सशल्य जीव को जानता है और दूसरी ओर विगत मोह-पुरुष को जानता है और शल्य को नष्ट करने का योग जानता है वही शल्य को नष्ट करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

જે મર્મસ્થળ અને સશલ્ય જીવને જાણે છે અને બીજી બાજુ વીતરાગ પુરુષને પણ જાણે છે અને શલ્યને નષ્ટ કરવાના ઉપાય જાણે છે તે જ શલ્યને નષ્ટ કરે છે.

साधक एक ओर शल्य युक्त आत्मा को देखता है जिसके अन्तरतम की गुत्थियां दुर्भेद्य हैं जो न अपने प्रति स्पष्ट हो सकता है, न दूसरे के प्रति । दूसरी ओर मोह मुक्त पुरुष को देखता है जिसकी अन्तर्गुत्थियां खुल चुकी हैं, उसका सरल निश्छल हृदय साधक को आकर्षित करता है । साधक उन्हें देख कर अपने अन्तर्मन की गूढ़ ग्रन्थियों को निकाल कर निष्कपट हृदय से आलोचना करता है । निःशल्य साधक के मन, वचन और कर्म में एक-रूपता आती है । शल्य नष्ट करने की साधना है ही निःशल्य बनती है ।

टीका :—मर्म सशल्यजीवं च पुरुषं वा मोहघातिनं गुरुं शल्योद्धरणयोगं च यो जानाति स शल्यहा । गतमर्थम् ।

बंधणं मोयणं चेव तहा फलपरंपरं ।
जीवाण जो विजाणाति, कम्माणं तु स कम्महा ॥ ६ ॥

अर्थ :—आत्मा के बन्धन और मोक्ष को तथा उसके फल की परंपरा को जो जानता है वही कर्म-शृंखला को तोड़ सकता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

આત્માના બન્ધન અને મોક્ષને તથા તેના ફળની પરંપરાને જે જાણે છે તે જ કર્મની સાંકળ (બેડી) ને તોડી શકે છે.

आध्यात्मिक पथ में आगे बढने के लिए बन्ध और मोक्ष का ज्ञान सर्वप्रथम आवश्यक है । वे कौन से हेतु हैं जिनके द्वारा आत्मा कर्म-बद्ध होता है ?। जब तक उन हेतुओं का परिज्ञान नहीं होगा तब तक आत्मा बन्ध से मुक्त नहीं हो सकता । अतः बन्ध क्या है, द्रव्य बंध क्या है और भाव बंध क्या है ? इसका परिज्ञान सर्वप्रथम अपेक्षित है । आत्मा का सराग स्पन्दन भाव बंध है जिसके द्वारा कर्म द्रव्य आकर्षित होते हैं । सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचंद्र बोलते हैं कि:—

बज्झदि कम्मं जेण दुचेदणभावेण भावबंधो सो कम्मादपदेसाणं अण्णोण्ण-पवेसणं इदरो ।–द्रव्यसंग्रहगाथा ३२ ।

आत्मा की वह दुश्चेतन परिणति जो कर्म-बन्ध का हेतु है वही भाव बंध है । क्योंकि उसी के द्वारा तो द्रव्य कर्म आत्मा से चिपक सकते हैं । कर्म और आत्मप्रदेशों का लोह पिंड में अग्नि प्रवेशवत् एक दूसरे में प्रवेश होना ही द्रव्य-बंध है ।

कर्म क्या है ? उसका बंध क्यों होता है ? और उससे मुक्ति कैसे संभव है ? इतना जान लेने के बाद ही आत्मा कर्मों को नष्ट कर सकता है ।

सावज्जजोगं णिहिलं विदित्ता तं चेव सम्मं परिजाणिऊणं ।
तीतस्स णिंदाए समुत्थितप्पा सावज्जवुत्तिं तु ण सद्दहेज्जा ॥ ७ ॥

अर्थ :—सावद्य योग को निखिल रूप में जान कर उसका सम्यक् प्रकार से परिज्ञान कर के अतीत की निन्दा के लिए उपस्थित आत्मा सावद्य वृत्ति पर श्रद्धा न करे ।

गुजराती भाषान्तर :—

સાવદ્ય યોગને સંપૂર્ણ રૂપથી જાણીને તેનું જ્ઞાન મેળવી અતીત એટલે બની ગયેલાની નિંદા માટે પ્રાપ્ત થએલા આત્મા સાવદ્ય વૃત્તિ પર શ્રદ્ધા ન કરે.

साधक सावद्य योग का विवेक करे । प्रथम चरण में सावद्य योग जान लेने के बाद द्वितीय चरण में उसके परिज्ञान के लिए कहा गया है । आगम में परिज्ञा के दो प्रकार बताए हैं—ज्ञ-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा । ज्ञ-परिज्ञा के द्वारा साधक सावद्य प्रवृत्ति को जाने और प्रत्याख्यान-परिज्ञा के द्वारा उसका प्रत्याख्यान करे । अतीत काल में जो सावद्य योग की प्रवृत्ति हुई है उसके लिए आलोचना के लिए तत्पर रहे । क्योंकि वर्तमान सावद्य योग का ही त्याग हो सकता है । अतीत का नहीं, उसके लिए तो पश्चात्ताप ही संभव है । किन्तु सावद्य वृत्ति की श्रद्धा का त्याग अवश्य करे, क्योंकि हिंसा से हिंसा का विश्वास अधिक पतन करता है ।

सज्झायझाणोवगतो जितप्पा संसारवासं बहुधा विदित्ता ।
सावज्जवुत्तीकरणे ठितप्पा निरवज्जवित्ती उ समाहरेज्जा ॥ ८ ॥

अर्थ :—स्वाध्याय-ध्यानरत जितेन्द्रिय आत्मा संसार वास को सर्व प्रकार से जान कर स्थितात्मा सावद्य प्रवृत्ति के कार्य में निरवद्य वृत्ति को स्वीकार करे ।

गुजराती भाषान्तर :—

સ્વાધ્યાય અને ધ્યાનમાં તન્મય, અને ઇન્દ્રિયોં પર કાબુ મેળવેલ આત્મા સાંસારિક જીવનને દરેક રીતે જાણીને સ્થિતાત્મા થઈ સાવદ્ય પ્રવૃત્તિના કાર્યમાં નિરવદ્ય વૃત્તિને સ્વીકારે.

स्वाध्याय भी एक तप है । स्वाध्याय के माध्यम से साधक अतीत के महा पुरुषों से मिलता है । उनके दर्शन और चिंतन का साक्षात्कार करता है और वह जीवन और जगत् को पहचानता है । जितेन्द्रिय साधक सब दूर स्व का ही अध्ययन करता है । पार्थिव संसार में अपार्थिव का दर्शन करता है । विश्व-व्यवस्था का सही दर्शन उसे स्वाध्याय के द्वारा ही होता है ।

किसी पुस्तक या ग्रन्थ का पारायण कर जाना स्वाध्याय नहीं है । वह तो केवल वाचन ही है । किन्तु उसके साथ जब आत्मा का स्वरूप-दर्शन पाता है विश्व-व्यवस्था का अनुबंध कैसे बिगडा ? उसके प्रभंजक कौन से तत्व हैं ? इन सबका अनुचिंतन ही स्वाध्याय है ।

स्वरूप में लीन हो जाना ध्यान है । वृत्तियों को बहिर्मुखता से मोड कर अन्तर्मुख बना देना; आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार करना ध्यान है । स्वाध्याय और ध्यान साधक को जीवन और जगत् का सही दर्शन कराते हैं । स्वरूप दर्शन

के बाद साधक स्वरूप स्थिति में लीन होता है। फिर पररूप पौद्गलिक सौन्दर्य उसकी अन्तर्वृत्ति को चंचल नहीं बना सकता है। स्वात्म-परिणति में स्थित साधक सावद्य प्रवृत्ति से मुक्त हो जाता है। निज रूप में लीन साधक पररूप में जाएगा ही नहीं। फिर हिंसा का वहां अवकाश ही कहां?। यही गीता का स्थिति-प्रज्ञ-दर्शन है। जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो चुकी है उसे इन्द्रियां और मन की विकारात्मक दशा चलित नहीं कर सकती—यही स्थितप्रज्ञता है।

परकीय-सव्व-सावज्ज-जोगं, इह अज्ज दुच्चरियं णायरे।
अपरिसेसं णिरवज्जे ठितस्स णो कप्पति, पुणरवि सावज्जं सेवित्तए॥

अर्थ:—परकीय वृत्ति सभी सावद्य योग हैं। यह जान लेने के बाद साधक दुश्चरित्रता का संपूर्ण रूप से वर्जनकरे। निरवद्य स्थिति में स्थित आत्मा को पुनः सावद्य वृत्ति में जाने की कल्पना तक नहीं करता है। अर्थात् ऐसा करना अनुचित है।

टीका:—परकीयं सर्वसावद्ययोगं दुश्चरितं इहाद्य नाचरेत्। अपरिशेषं सर्वथा निरवद्ये चरिते स्थितस्य न कल्पते। पुनरपि सावद्यं सेवितुम्। गतार्थः। एतानि गद्यपद्यानि विदुनामकऋषेर्भाषितमिति दृश्यते। पूर्वगतास्तु तृतीयादयः श्लोकाः शेषभाषितानां कल्पेन तद्विवरणत्वाद् गद्यानुबद्धव्याः।

ये गद्य-पद्य विदु अर्हतर्षि भाषित हैं ऐसा दिखाई देता है, किन्तु पूर्व अध्ययनों में तीसरे या अन्य श्लोकों में शेष रूप में कहे गये श्लोकों के अनुरूप उसका विवरण रहता है। अतः गद्य में उसका अनुबन्ध होता है।

निज रूप में सावद्य योग का परित्याग आवश्यक है। प्रस्तुत गाथा में सावद्य योग की परिभाषा दी गई है। आत्मा की स्वभाव दशा से परे समस्त प्रवृत्ति परकीय है और परकीयता ही सावद्यता है। आत्मा जब स्वभाव दशा से हट कर परभाव में जाता है वहीं बंध सराग वृत्ति और पर में स्व का आभास ही अज्ञान की जड है। आत्मा का स्व में स्थित होना ही चारित्र है। दर्शन ज्ञान चारित्र की परिभाषा देते हुए आचार्य कहते हैं कि:—

दर्शनं तत्व-विनिश्चितिः आत्म-विनिच्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बंधः॥

आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती व्यवहार चारित्र और निश्चय चारित्र का भेद बतलाते हुए कहते हैं कि:—

असुहादो विणिवत्तो सुहे पवित्तिय जाण चरित्तं।
वद समिति गुत्ति रूवं ववहारणया दु जिण भाखियं॥ —द्रव्यसंग्रह गाथा ४५

अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति चारित्र है। जो कि व्यवहार नय से व्रत समिति और गुप्ति रूप है। ये जिनेश्वर के वचन हैं। आचार्य निश्चय चारित्र का निरूपण करते हुए कहते हैं कि:—

बहिरब्भंतर-किरिया-रोहो भव कारणपणासट्ठं।
णपणिस्सजं जिणुत्तं तं परमं सम्म चारित्तं॥ —द्रव्य-संग्रह गाथा ४६।

भव-परस्पर के हेतु को नष्ट करने के लिए बाह्य और आभ्यंतर समस्त प्रकार की क्रियाओं का अवरोध ही जिनोक्त परम सम्यक् चारित्र है।

स्वरूप स्थिति प्राप्त साधक सावद्य वृत्ति से विरक्त हो ही जाएगा। निरवद्य वृत्ति में स्थित आत्मा के लिए पुनः सावद्य में आना उसके कल्प की सीमा के बाहर की बात है। आत्मा सावद्य से निरवद्य की ओर प्रगति करता है, किन्तु पूर्ण निरवद्य स्थिति में पहुंचने के पश्चात् सावद्य में नहीं लौट सकता है। पूर्ण निरवद्य स्थिति में पहुँचने के पश्चात् व्रत-मर्यादा भी पीछे छूट जाएगी। किन्तु इसका अर्थ यह न होगा, कि वह अव्रत में ही लौट जाएगा। एक आचार्य आत्मा की स्वरूप स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं—

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तामपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः॥ —समाधिशतकम्।

साधक अव्रत से व्रत में आता है और उस परम स्थिति को पा लेने के बाद व्रत को भी छोड देता है। स्व स्थिति पा लेने के बाद व्रत का भी बंधन क्यों?।

एवं से बुद्धे०। गतार्थः।

इति विदुअर्हतर्षिप्रोक्तं सप्तदशं विद्याअध्ययनम्

वरिसवकृष्ण अर्हतर्षि प्रोक्त

अष्टादश अध्ययन

स्वच्छंदी मानव पाप की ओर कदम बढाता है। विवेक-भ्रष्टता ही पाप का पहला कदम है। पाप की कल्पना प्रारम्भ में तो अफीम-फूल की भांति होती है, जो कि देखने में तो बहुत ही सुन्दर लगती है, किन्तु अन्त में अफीम की ही तरह कटु होती है। पाप का प्रारम्भ सुन्दर है, किन्तु अन्त भयावह है। पाप के फणिधर मानव को मृत्यु के गोद में भी शान्ति से नहीं सोने देते हैं। पश्चिमी विचारक **वॉल्टर स्कॉट** बोलते हैं कि:—

When we think of death, a thousand sins, which we have trodden as worms beneath our feet, rise up against us as fanning serpents.

"जब हम मृत्यु का स्मरण करते हैं तो हजारों पाप जिन्हें हम कीड़े-मकोड़े की तरह पैरों के नीचे मसल चुके हैं, हमारे विरुद्ध फणिधर सर्प की भांति खड़े होते हैं! । पाप का डंक बिच्छू से अधिक तीखा और सर्प से भी अधिक घातक होता है।" प्रस्तुत अध्ययन में पाप से पीछे हटने की प्रेरणा है।

सिद्धि। अयते खलु भो जीवो वज्जं समादियति से कहमेतं? । पाणातिवाएणं जाव परिग्गहेणं अरति-जाव मिच्छा दंसणसल्लेणं वज्जं समाइत्ता हत्थच्छेयणाइं, पायच्छेयणाइं जाव अणुपरियट्टंति णवमुद्देसगमेणं।

प्रश्न:—जो आत्मा पाप का सेवन करता है वह संसार में परिभ्रमण करता है, वह कैसे?

उत्तर:—प्राणातिपात, यावत् परिग्रह और अरति यावत् मिथ्या-दर्शन-शल्य के द्वारा आत्मा पाप का उपार्जन करता है। पश्चात् उसके प्रतिफल में हस्तछेदन पादछेदनादि नवम उद्देशकवत् असीम दुःखों का अनुभव करता हुआ परिभ्रमण करता है।

गुजराती भाषान्तर:—

પ્રશ્ન:—જે આત્માએ પાપ કર્યું હોય તે સંસારમાં પરિભ્રમણ કરે છે તે કેવી રીતે?

જવાબ:—પ્રાણાતિપાત હિંસાથી લઈને પરિગ્રહ અને અરતિથી લઈને મિથ્યા દર્શન સુધીના શલ્યથી આત્મા પાપનું સંપાદન કરે છે; પાછળથી તેનું ફળ મળે છે, હસ્તનું છેદન, પગનું છેદન વગેરે અસહ્ય દુ:ખો તેનો અનુભવ કરતો તે સંસારમાં ફર્યા કરે છે.

प्याज खाकर इलाइची की डकार लेने की बात मिथ्या है। इसी प्रकार पाप करके सुख की कल्पना करना भी मिथ्या ही है। As you sow, so you reap 'जैसा बोओगे वैसा ही काटोगे'। पाप परिणति का अशुभ विपाकोदय प्रस्तुत अध्ययन में बतलाया गया है। प्राणातिपात आदि सभी पाप हैं। अज्ञान के द्वारा मानव बहुत पाप आर्जित कर लेता है। यत्नाविवेक अमृत है तो अयत्ना अविवेक विष है जो कि साधक की साधना को दूषित कर देता है।

टीका:—अयते त्यक्तयत्नः खलु भो जीवः पुरुषो वज्रं हिंसां समाददाति। कथमेतत्? प्राणातिपातादिना रत्यरतिभ्यां मायाया मिथ्यादर्शनशल्येन वज्रं समादाय हस्तच्छेदनादीनि प्रत्यनुभवमानाः संसार-सागरमनुपरिवर्तन्ते जीवा यथोक्तं नवमाध्ययने। गतार्थम्।

टीकाकार 'वज्ज'[1] का अर्थ वज्र करते हैं और वज्र से हिंसा का अभिप्राय निकालते हैं। जो कि उचित नहीं जान पडता है। वज्र इन्द्र का एक विशेष आयुध है। इसका दूसरा अर्थ है वज्र जैसी कठोर खील। -अर्द्धमागधीकोष पृ० ३२४

जे खलु भो जीवे णो वज्जं समादियति से कहमेतं? । वरिसवकण्हेण अरहता इसिणा बुइतं। पाणातिवातवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं सोइंदियणिग्गहेणं णो वज्जं समज्जिणित्ता हत्थच्छेयणाइं, पायच्छेयणाइं जाव दोमणस्साइं वीतिवतित्ता सिवमचल-जाव चिट्ठंति।

प्रश्न:—जो आत्मा पाप का उपार्जन नहीं करता है उसका जीवन कैसा होता है?

उत्तर:—वरिसव कृष्ण अर्हतर्षि बोले-पाप से उपरत आत्मा प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से विरक्ति श्रोत्रेन्द्रिय विषय के निग्रह के द्वारा पाप का वर्जन करके हस्तच्छेदन पादच्छेदन यावत् दुर्मनता आदि दुःखसमूह को व्यतिक्रान्त करके शिव अचल रूप आत्म-स्थिति को प्राप्त करता है।

---

१ 'वज्ज' का दूसरा अर्थ है अवद्य पाप, अर्द्ध मागधी कोष भा० ४. पृ०३२५ वज्ज का यही अर्थ यहाँ पर अभिप्रेत है।

गुजराती भाषान्तर :—

પ્રશ્ન:-જે આત્મા પાપ કરતો જ નથી તેનું જીવન કેવું હોય છે?

જવાબ:-વરિસવ કૃષ્ણ અર્હતર્ષિ બોલ્યા-પાપથી વિરક્ત થએલા આત્મા કાન, નાક અને આંખના વિષયોનો ત્યાગ તેના નિગ્રહદ્વારા કરી શકે છે, અને તેથી હસ્તચ્છેદન પાદચ્છેદનથી લઈને માનસિક કલેશ સુધીના દુઃખ-સમૂહને ઓળંગી જઈ મુક્તિના સ્થાનને પ્રાપ્ત કરે છે.

पाप से विरक्त आत्मा दुःख का अन्त करता है। असत् विचार पाप की भूमि है। पुण्य का संबन्ध जैसे हृदय से है वैसे ही पाप का संबन्ध भी हृदय से ही है। असत्संकल्पों से दूर रहने वाला पाप और उसके प्रतिफल से बचता है।

टीका :—यः खलु भो जीवो वज्रं न समाददाति। कथमेतत्? अस्यास्तु पृच्छाया उत्तरादवियोजनीयत्वाद् ऋषिनाम अयत इत्यादि प्रथमवाक्यमनुसारयिष्यं। उत्तरं तु यथा प्राणातिपातादिविरमणेन श्रोत्रादीन्द्रियनिग्रहेण वज्रं असमर्ज्य हस्ताविच्छेदनानि व्यतिपत्य शिवं स्थानमभ्युपगतास्तिष्ठन्ति। गतार्थः।

सकुणी संकुप्पघातं च वेरत्तं रज्जुगं तहा।
वारिपत्तधरो च्चेव विभागम्मि विहावए॥ १॥

अर्थ :—जैसे शकुनी पक्षी वज्र-सी तीखी चोंच से फल को छेद देता है। वैर भाव राज्य को विभाजित कर देता है और वारिपत्रधर-कमल पानी को अपने से दूर कर देता है। उसी प्रकार प्रबुद्ध आत्मा कर्म और आत्मा को पृथक् कर देता है। अर्थात् पाप परिणति का परित्याग कर के आत्मा को शुद्ध में स्थित कर देता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જેમ શકુની પક્ષી વજ્ર જેવી તીક્ષ્ણ ચાંચથી ફળને છેદે છે, વેરભાવ રાજ્યના ભાગ પાડી દે છે અને પાણીમાં જન્મ પામેલ કમળ, પાણીને પોતાનાથી દૂર કરી દે છે. તેવી જ રીતે પ્રબુદ્ધ આત્મા કર્મ અને આત્માનું પૃથક્કરણ કરે છે. અર્થાત્ પાપના પરિણામનો ત્યાગ કરી આત્માની શુદ્ધ સ્થિતિમાં સ્થિર કરી દે છે.

पहले बताया गया है कि सावद्यवृत्ति आत्मा की विभाव दशा है और वह भव-परम्परा की हेतु भी है। उसका प्रत्याख्यान करने वाला साधक "पर" से हट कर "स्व" में स्थित हो जाता है। यहां तीन उदाहरण देकर उस विषय को स्पष्ट किया गया है। पक्षी अपनी तीक्ष्ण चंचु के द्वारा फल को छेद देता है और कभी कभी गुठली तक को भी भेद देता है। फिर वह उग नहीं सकती। राज्य-नायकों का आपसी वैर विरोध राज्य को टुकडे टुकडे कर देता है और जैसे कमल जल में पैदा होकर भी जल से अलग रहता है और अपने पत्र पर से जल बिन्दुओं को पृथक् कर देता है, उसी प्रकार प्रबुद्ध आत्मा अनादि कर्म पुद्गलों को आत्मा से पृथक् कर देता है। आचार्य कुमुदेन्दु इसके लिये सुन्दर रूपक देते हुए कहते हैं कि:—

अन्तः सदैव जिन! यस्य विभाव्यसे त्वं भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम्।
एतत् स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि, यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः॥

—कल्याणमंदिरस्तोत्र श्लोक १६

हे ज्योतिर्मय देव! जिस देह-मंदिर में आप विराजित हैं, फिर भव्यात्मा अपने देह का परित्याग क्यों करते हैं? इसके उत्तर में आचार्य स्वयं बोलते हैं-कि सज्जन पुरुषों का यह कार्य है कि जहां वे रहते हैं, जिनके मध्यस्थ बनते हैं उनका संघर्ष खतम कर देते हैं। अतः अंतःस्थित प्रभु भी आत्मा और शरीर के अनादि संघर्ष को खतम कर देते हैं।

साधक आत्मा शरीर और आत्मा का संघर्ष समाप्त कर के निज रूप में आ जाता है। यह निज रूप ही जिन रूप है।

टीका :—शकुनी चंचु(शंकु)प्रघातं तथा वारि-पात्रधरो वरत्रं रज्जुं च विभज्य विभावयेताम्। गतार्थः।

प्रोफेसर शुब्रिंग् कुछ भिन्न मत रखते हैं। उनका कहना है कि जैसे पक्षी अनुकूलता पा कर ही अपने चंचु का उपयोग करता है और पखाली पट्टे तथा रस्सी का उपयोग करता है, उसी प्रकार जो साधक अपने आप को वश में नहीं रखता है, उसे भी शान्ति के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना पड़ता है।

एवं से सिद्धे बुद्धे०। गतार्थः।

वरिसवणामज्झयणं॥

इति वरिसव-अर्हतर्षिप्रोक्तं अष्टादशाध्ययनम्

आरियायन अर्हतर्षिप्रोक्त

उन्नीसवाँ अध्ययन

आर्य कौन है ? । क्या जिसने आर्य जाति में जन्म लिया है वह आर्य है । यदि ऐसा है तो आर्यत्व केवल खून में ही रह जाएगा । आचार और विचार उससे शून्य रहेंगे ! । वस्तुतः जिसके विचारों में आर्यता है, जिसके आचार संस्कारी हैं, वही व्यक्ति 'आर्य' कहने लायक है । यदि आर्यत्व को पैत्रिक मान लिया गया तो साधन का कोई मूल्य न रह जाएगा ।

आचार की पवित्रता विचारों की पवित्रता पर अवलम्बित है और विचारों की पवित्रता महापुरुषों के सानिध्य से सुरक्षित रहती है । एक कहावत है 'जैसा है संग वैसा रंग' । मनुष्य जिसके साथ रहता है वैसा ही बन जाता है । एक पश्चिमी विचारक कहता है कि-

Tell me with whom thou art found
and I will tell thee where thou art — महाकवि गेटे

मुझे बताइए कि आप के संगी-साथी कौन हैं और मैं बता दूंगा कि आप कौन हैं । आर्यत्व की परिभाषा और उसकी रक्षा के उपाय बताना ही इस अध्याय का उद्देश्य है ।

सव्वमिणं पुराऽऽरियमासि आरियायणेणं अरहता इसिणा बुइतं ।
वज्जेज्ज अणारियं भावं, कम्मं चेव अणारियं ।
अणारियाणि य मित्ताणि आरियत्तमुवट्ठिए ॥ १ ॥

अर्थ :—पहले यहां आर्यत्व ही था; इस प्रकार आरियायण अर्हतर्षि बोले । साधक अनार्य विचार और अनार्य आचार का परित्याग करे । इसके लिए अनार्य मित्रों का भी साथ छोड़ दे और आर्यत्व में प्रवेश करने के लिए तैयार हो जाए ।

गुजराती भाषान्तर :—

જુના જમાનામાં અહીંયા આર્યત્વ જ હતું, આમ આરિયાયણ અર્હતર્ષિ બોલ્યા. સાધક અનાર્ય વિચાર અને અનાર્ય આચારનો ત્યાગ કરે. આ માટે અનાર્ય મિત્રોનો પણ સાથ છોડી દ્યો અને આર્યત્વમાં પ્રવેશ કરવ માટે તૈયારી કરો.

भारत पहले आर्य-भूमि थी । जिसके विचारों में आर्यत्व था, उसके आचार में आर्यत्व बोलता था । पर आज भारत से आर्यत्व विदा ले रहा है । भारतीय मानस में अनार्य विचार पनप रहे हैं । उसके कर्मों में अनार्यत्व की छाया है । आर्थिक और सामाजिक शान्ति के लिए मानव सब से पहले आर्य बने । अनार्य विचार और अनार्य कर्म का परित्याग करे । इसके लिए साधक अनार्य व्यक्तियों का साथ छोड़ दे । फिर चाहे वे उसके अभिन्न मित्र ही क्यों न हों । यदि साथी अनार्य है तो जीवन में अनार्य वृत्ति प्रवेश अवश्य करेगी । एक कॉलेजियन् स्टूडेन्ट यदि मांसाहारी मित्र के साथ क्लबों में घूमता है तो निश्चित ही कुछ दिनों में मुर्गी के अंडों को वेजिटेबल के रूप में उसकी बुद्धि स्वीकार कर लेगी । अतः अनार्यत्व के परिहार के लिए साथी का आर्य होना आवश्यक है ।

आयत्व की परिभाषा देते हुए अर्धमागधी कोश में शतावधानी रत्नचंद्रजी यह लिखते हैं कि: "आरात् सर्वहेय-धर्मेभ्यो यातः प्राप्तो गुणैरित्यार्यः" ।

सभी निन्दनीय और अहितकारी कार्यों को छोड कर व्यक्ति और समाज के लिए हित-प्रद गुण प्राप्त करना ही आर्यत्व है । जिसके द्वारा सामाजिक शान्ति-भंग न हो वे समस्त कार्य आर्यत्व की सीमा रेखा के अन्दर आ सकते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

जे जणा अणारिए णिच्चं कम्मं कुव्वंत अणारिया ।
अणारिएहि य मित्तेहि सीदंति भव-सागरे ॥ २ ॥

अर्थ :—जो अनार्य मानव हैं, वे अनार्य मित्रों के साथ मिल कर हमेशा ही अनार्य कर्म करते रहते हैं । वे अनार्य जन भव-सागर में दुःखों को प्राप्त करते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

જે અનાર્ય માનવી છે તેઓ અનાર્ય મિત્રોને મળીને હંમેશા અનાર્ય કર્મો જ કર્યા કરે છે તેઓ અનાર્ય જન ભવસાગરમાં દુઃખોને પ્રાપ્ત કરે છે.

जिनका जीवन अनार्य है और जिनके मित्र भी अनार्य ही हैं। अनार्य मित्र की प्रेरणा अनार्य कर्म की ही ओर ले जाएगी। किन्तु ये अनार्य कर्म उन्हें संसार कष्ट के सागर में डाल देते हैं।

संधिज्जा आरियं मग्गं, कम्मं जं वा वि आरियं।
आरियाणि य मित्ताणि, आरियत्तमुवट्ठिए॥ ३॥

अर्थ:—इसी लिए मानव आर्य मार्ग और आर्य कर्म को ग्रहण करे। आर्य साथी की खोज करे और आर्यत्व के लिए तत्पर रहे।

गुजराती भाषान्तर:—

માટે માનવ, આર્યમાર્ગ અને આર્યકર્મને ગ્રહણ કરે, આર્ય મિત્રના શોધમાંજ રહે અને આર્યત્વ માટે કોશીશ કરે.

आर्यत्व के लिए सर्व प्रथम आर्योपदिष्ट आर्यमार्ग की खोज करे। उसके आर्यत्व का परिरक्षण करे, अन्यथा आर्यत्व की ओर में यदि कहीं अनार्यत्व पनप रहा है तो वह ले डूबेगा।

महामुनि चित्त–चक्रवर्ती सम्राट ब्रह्मदत्त को कहते हैं कि ठीक है, निदानकृत तप के कारण तुम आर्य मुनिधर्म को नहीं अपना सकते तो आर्यधर्म तो स्वीकार कर सकते हो।

जइ तं सि भोगे चइउं असत्तो अज्जाइ कम्माइ करेहि रायं।
धम्मे ट्ठिओ सव्वपयाणुकंपी तो होहिसि देवो इओ विउव्वी।–उत्तरा. अ. १३ गा. ३२

सम्राट! यदि तूं भोगों को त्यागने में अपने आप को असमर्थ पा रहा है तो कम से कम आर्यकर्म तो अपना ही लो। धर्म में स्थित हो कर सर्व प्राणिमात्र पर करुणा की धारा बहाओ तो भी तुम देव तो बन ही सकते हो।

इसमें आर्य–कर्म की व्याख्या बहुत कुछ आ ही गई है। विश्व के प्राणिओं पर करुणा तथा प्रेम बरसाना उनके साथ आत्मीयता और बन्धुता जोड़ना 'आर्य कर्म' है।

जे जणा आरिया णिच्चं, कम्मं कुव्वंति आरियं।
आरिएहि य मित्तेहि, मुच्चंति भवसागरा॥ ४॥

अर्थ:—जो जन आर्य हैं और सदैव आर्य मित्रों के ही साथ रहते हैं, तथा आर्य–कर्म करते हैं, वे ही भव-सागर से मुक्त हो सकते हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

જે લોકો આર્ય છે અને હંમેશા આર્યમિત્રોના સમાગમમાં જ રહે છે તથા આર્યકર્મ કરે છે, તેઓ જ ભવ-સાગરથી મુક્ત થઈ શકે છે.

एक कहावत है कि "जैसा संग वैसा रंग"। इसी को किसी कवि ने कहा है: "कदली सींप भुजंग मुख, स्वाति एक गुन तीन। जैसी संगति बैठिए तैसाई गुन दीन"। स्वाति नक्षत्र का जल यदि केले का संग पाता है तो कपूर बनता है, यदि वह सींप में गिरता है ती मोती होता है और वही जल बिन्दु जब सर्प का साहचर्य पाता है तब विष का रूप पाकर प्राण घातक बन जाता है। कोयले के व्यापारी के हाथ काले हमेशा रहते हैं। इसके विपरीत अत्तारी के हाथ हमेशा खुशबू से महकते रहते हैं। पानी जब दूध का साथ करता है तो उसकी कीमत बढ जाती है। नदी की जल धारा से मिला हुआ तिनका सागर से जाकर मिल जाता है। इसी प्रकार महापुरुषों का साहचर्य पाने वाला परमात्मा से जा मिलता है।

हजारों शिक्षा की अपेक्षा एक दलील श्रेष्ठ है, हजारों दलील की अपेक्षा एक दृष्टान्त दिल में जा बैठता है, किन्तु महा पुरुषों का संग जीवन को बदलने के लिए हजारों दृष्टान्तों से भी अधिक सक्षम है।

आरियं णाणं साहू, आरियं साहु दंसणं।
आरियं चरणं साहू, तम्हा सेवय आरियं॥ ५॥

अर्थ:—आर्य का ज्ञान श्रेष्ठ है, आर्य का दर्शन श्रेष्ठ है और आर्य का चरित्र श्रेष्ठ है। अत एव सदैव आर्य की ही उपासना करनी चाहिए।

गुजराती भाषान्तर:—

આર્યનું જ્ઞાન શ્રેષ્ઠ છે આર્યનું દર્શન શ્રેષ્ઠ છે, અને આર્યનું ચારિત્ર શ્રેષ્ઠ છે, તેથી હંમેશા આર્યની જ ઉપાસના કરવી જોઈએ.

जिस ज्ञान में आर्यत्व है वही सम्यक् ज्ञान है, जिस दर्शन में आर्यत्व है वही सम्यक् दर्शन है और जिस आचरण में आर्यत्व है वही सम्यक् आचरण है।

'आर्य' शब्द के प्राकृत में दो रूप मिलते हैं। पहला 'अज्ज' और दूसरा है 'आरिय'। आगम में 'अज्ज' शब्द का बहुतायत से प्रयोग हुआ है। साधु के लिए भी 'अज्ज' शब्द का व्यवहार हुआ है।

अज्जो इ समणे भगवं महावीरे बहवे समणे निग्गंथे
निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी।–स्थानांग.; उपासक दशांग अ. २

महावीर श्रमण निर्ग्रन्थों को आर्य शब्दों से संबोधित करते हैं। आचार्य के लिए भी 'अज्ज' शब्द बहुतायत से प्रयुक्त हुआ है।

अज्ज सुहम्मे समोसढिए।–सुह. श्रु. २ अ. १।

बाद के आचार्यों के लिए भी 'अज्ज' शब्द काफी समय तक प्रयुक्त होता रहा है। अज्ज संडिल्ल, अज्ज महागिरी, अज्ज वईर आदि अनेक आचार्यों के नाम के आगे भी यही 'अज्ज' शब्द जुडा हुआ मिलता है। वही आर्यत्व यहां अपेक्षित है।

टीका :—किं रूपं तु तदार्यमिति आर्यं साधु ज्ञानादित्रयं तस्मादार्यं सेवस्व। गतार्थम्।

एवं से सिद्धे बुद्धे णो इच्चत्थं पुणरवि हव्वं
आगच्छति त्ति बेमि। गतार्थः।
आरियायणज्झयणं
ऋषिभाषितेषु आरियायण-अर्हतर्षिप्रोक्तं एकोनविंशतितममध्ययनम्

उत्कलवाद
अर्हतर्षि प्रोक्त

वीसवाँ अध्ययन

भारतीय दर्शन में कुछ दार्शनिक जडाद्वैतवादी हैं। जिनका विश्वास है कि विश्व में केवल जड तत्त्व ही काम कर रहा है। ये दर्शन कार प्रत्यक्ष-वादी होते जीवन और जगत् का रहस्य खोजने चले। स्थूल आँखें कह उठीं कि जो कुछ सामने है वही सब कुछ है। स्थूल देह ही काम कर रहा है। इसके अतिरिक्त कहीं भी आत्म तत्त्व अवभाषित नहीं हो रहा है। अतः वे देहात्म-वादी ही रह गए हैं। देह के अतिरिक्त कोई आत्म-तत्त्व है ऐसा उनकी बुद्धि स्वीकार ही न कर सकी है।

यह देहात्म-वाद आत्म-तत्त्व का उच्छेद करता है। उसके विभिन्न रूप हैं। कोई अल्प रूप में तो कोई संपूर्ण रूप में आत्म तत्त्व का स्वीकार करता है। यही उत्कट वाद है। प्रस्तुत अध्याय देहात्म-वादियों की कहानी कहता है।

सिद्धि। पंच उक्कला पन्नत्ता, तं जहा–१ दंडुक्कले २ रज्जुक्कले ३ तेणुक्कले ४ देसुक्कले ५ सव्वुक्कले।

अर्थ :—पांच प्रकार के उत्कल अर्थात् धर्म रहित चोर बतलाए गए हैं। दंड उत्कल, रज्जु उत्कल, स्तेन उत्कल, देश उत्कल और सर्व उत्कल।

गुजराती भाषान्तर :—

પાંચ પ્રકારના ઉત્કલ એટલે ધર્મ વગરના ચોર કહેવામાં આવ્યા છે. દંડ ઉત્કલ, રજ્જુ ઉત્કલ, સ્તેન ઉત્કલ દેશ ઉત્કલ, અને સર્વ ઉત્કલ.

स्थानांग सूत्र में पांच उत्कलों का निरूपण आता है। "पंच उक्कला पण्णत्ता तं जहा दंडुक्कले रज्जुक्कले०।
ठा० सू० अ० ५ उ० ३।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं कि यह संपूर्ण प्रकरण हेतुपूर्वक नहीं है। अतः असंगत लगता है। क्यों कि उसमें न तो ऋषि का नामोल्लेख है और न मुद्रालेख उद्देश्य ही बतलाया गया है। साथ ही जो भौतिक वाद यहां पर प्रतिपादित किए

गए हैं जब तक उनके परित्याग का सूचन नहीं किया जाता तब तक प्रस्तुत सूत्र में मूलभूत दृष्टि के साथ सामंजस्य नहीं बैठ सकता है। स्थानांग सूत्र में पंच उत्कलों का नामोल्लेख मिलता है। वहां पर उसका विस्तार नहीं है और न ऐसी परम्परा ही है। किन्तु टीकाकार मलयगिरि परम्परा के अभाव में उसके भावार्थ से इतना स्वल्प परिचय रखते हैं कि उत्कलति के साथ उत्कल को प्रस्तुत करते हैं। और बुद्धियति तथा रज्जु का रैय के साथ फिर से लिखते हैं। जो यथार्थतः कहा गया है वह निःसंदेह उत्कल है।

टीका :—उत्कटाः पंच प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-दंडोत्कटो रज्जूत्कटः स्तेनोत्कटः देसोत्कटः सर्वोत्कटः। गतार्थः।

से किं तं दंडुक्कले। दंडुक्कले नामं जेणं दंडदिट्ठं तेणं आदिलमज्झवसाणाणं पण्णवणाए समुदय मेत्ताभिधाणइं णत्थि सरीरातो परं जीवोत्ति भवगतिवोच्छेयं वदति, से तं दंडुक्कले।

अर्थ : —**प्रश्न :**—हे भगवन्! दंड उत्कट किसे कहते हैं[1]?।

उत्तर :— दंड-उत्कट उसे कहते हैं जिसके द्वारा आदि, मध्य और अन्त में रहे हुओं की प्ररूपणा अर्थात् निरूपण की जाती है। यह समुदय मात्र अभिधान है शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। इस प्रकार जो भव-परंपरा के उच्छेद की बात कहता है वह दंडोत्कट है।

પ્રશ્ન :—હે ભગવન્! દંડ ઉત્કલ કોને કહેવામાં આવે છે?

ઉત્તર :—દંડ ઉત્કલ તેને કહે છે જેનાથી પૂર્વ, મધ્ય અને અન્તમાં રહેલાનું નિરૂપણ કરવામાં આવે છે. આ સમુદાયાત્મક નામ છે. શરીરથી કોઈ બીજો આત્મા નથી. આ પ્રકારે જે ભવપરંપરાના નાશની વાતો કરે છે તે દંડોત્કલ છે.

देहात्म वादी दर्शनकार देह में ही आत्मा का अस्तित्व मानते हैं। उससे परे नहीं। जीवन क्या है? इसके उत्तर में वे यही कहते हैं कि मानव! तूं कुछ नहीं पंच भूतों का समुदाय मात्र है। विराट् सागर ने कुछ जल कण दिए, अग्नि तत्व ने तुझे ऊष्मा दी, वायु ने तुझे प्राण दिये, वनस्पति तेरा आहार है, आकाश तेरा वितान है और पृथ्वी तेरी शय्या है। यही सब मिल कर तूं है। इससे परे तेरा कुछ अस्तित्व नहीं है। देह के विकास के साथ तेरा विकास है और देह के विनाश के साथ तेरा विनाश है[1]। देह के भस्म होने के बाद कौन है? क्या है? इसे आज तक कोई बता नहीं पाया है। शास्त्रों के नाम से जो कुछ लिख दिया गया है वे रंगीन कल्पना के महल है। स्वप्न के सुनहरे महलों से अधिक उनमें सचाई नहीं है। और ताश के महल से अधिक उनमें स्थिरता नहीं है। खाओ पिओ और मौज करो।

चार्वाकदर्शनकार की वाणी बोलती है :

"यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" ॥

"जब तक जीओ तब तक सुख से जीओ" इस में किसी के दो मत नहीं हो सकते। कोई भी दर्शनकार यह नहीं कहता है कि रोते रोते जीवन बिताओ। किन्तु किसी ने चार्वाक दर्शनकार से यह पूछा, कि सब कोई सुख से ही जीना चाहता है, किन्तु यह कैसे संभव है? पेट में तो चूहे कूदे और सुख की छांह में लेटे रहें!। उसने कहा कि ऋण लाओ और घी पिओ।" यह भी ठीक है, पर ऋणदाता मांगने आएगा तो? "उसको उत्तर देगी तुम्हारी लाठी; घी खा पीकर पुष्ट बनो और जो पैसा मांगने आवे तो उससे लाठी से बात करो। दुबारा फिर कभी वह तुम्हारी तरफ देखेगा भी नहीं।" यह तो ठीक है, यहां पर तो लाठी फैसला कर देगी। पर एक दिन जीवन-लीला समाप्त होने पर जब हम रवाना होंगे तब कौन फैसला करने आएगा?।

चार्वाक आचार्य बोले कि बस, यही तो तुम्हारा अज्ञान है। कैसा परलोक और कैसी दूसरी दुनियां!। सब झूठे सपने हैं!। वास्तव में देह की राख बनने के साथ देही की भी राख बन जाती है। फिर कौन आता है और कौन जाता है?।

यह देहात्म-वाद ही है। जैन दर्शन इसे तज्जीव तच्छरीर वाद के नाम से पहचानता है। राजा प्रदेशी पूर्व जीवन में इसी वाद में विश्वास करता था।

यहां इसी देहात्म-वाद का निरूपण है। कुछ दार्शनिक दंड के दृष्टान्त से देहात्म-वाद से प्रतिपादित करते हैं।

---

१ **संति पंच महब्भूता इह मेगेसि आहिता। पुढवी आऊ य तेऊ य तहा वाउ आगासपंचमा। एए पंच महब्भूया तेब्भो एगोत्ति आहिया। अह तेसिं विणासेणं विणासो होइ देहिणो।** सूय. श्रु. १ अध्ययन १ गाथा १५।

जैसे दंड के आदि मध्य और अन्त हैं, इसी प्रकार शरीर की आदि है, मध्य है और अन्त है । अथवा दंड के आदि मध्य और अन्त में रही हुई ग्रन्थियाँ ही उसके विकास की हेतु हैं । इसी प्रकार शरीर के आदि मध्य और अन्त में रही हुई विशेष ग्रन्थियाँ ही उसके विकास की हेतु हैं । इसके अतिरिक्त और कोई तत्व नहीं है ।

इस प्रकार देह को ही सब कुछ मान लेने पर भव-परम्परा का स्वतः उच्छेद हो जाता है । क्योंकि देह हमारी आंखों-के सामने ही चिता में भस्म हो जाती है । उससे परे दूसरा कोई तत्व नहीं है । फिर शुभाशुभ कर्म जैसी कोई वस्तु नहीं रहेगी । आत्म-तत्व को अस्वीकार करते ही पुण्य, पाप और साधना आदि समस्त क्रिया एक बिना की शून्य हो जाती है । उसका कोई मूल्य ही नहीं रह जाता है । इसीलिये देहात्मवाद समस्त अदृष्ट तत्वों को मानने से इन्कार करता है ।

टीका:—दंडोत्कटो नाम यो दंडदृष्टान्तेनाद्य-मध्या-वसानानां प्रज्ञापनया समुदयमात्रं शरीरमित्येतान्यभिधानानि व्याहरन् नास्ति शरीरात् परंजीवेत्येतेन प्रवादेन च भवगतिव्यवच्छेदं वदति । गतार्थः ।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं कि जो लकडी का दृष्टान्त देता है, लकडी का आरम्भ मध्य और अन्त बतलाता है, वह केवल समुदय मात्र है वह शरीर में आत्मा को भिन्न नहीं मानता है । अतः नष्ट जन्म रूप में पुनर्जन्म के व्यवच्छेद का प्रतिपादन करता है ।

से किं तं रज्जुकले ? । रज्जुकले णामं जे णं रज्जुदिट्ठंतेणं समुदयमेत्तपण्णवणा ।
पंचमहब्भूत-खंडमेत्तभिधाणाइं; संसारसंसतीवोच्छेयं वदति, से तं रज्जुकले ॥ २ ॥

अर्थ:—प्रश्न: रज्जूत्कल क्या है ।

उत्तर:—रज्जूत्कल वह है जिसके द्वारा जो रज्जु के दृष्टान्त से समुदय मात्र की प्ररूपणा करता है । यह जीवन पंचमहाभूतों के स्कन्ध का समूह मात्र है । इस प्रकार जो संसार=संसृति परंपरा का उच्छेद करता है वह रज्जुत्कट है ।

પ્રશ્ન:—રજ્જૂત્કલ શું છે ?

ઉત્તર:—રજ્જૂત્કલ એ છે. જેના મારફત રજ્જૂના દૃષ્ટાન્તથી સમુદય માત્રની પ્રરૂપણાં કરે છે આ જીવન પાંચ મહાભૂતોના સ્કન્ધનો સમુહ છે. આ રીતે જે સંસાર પરંપરાનો ઉચ્છેદ કરે છે. તે રજ્જૂઉત્કલ છે.

कुछ दार्शनिक आत्मवाद के प्रतिपादन के लिए रज्जु का उपमान दिया करते हैं । रज्जु रस्सी क्या है ? धागों का समूह ही रज्जु है । इसके अतिरिक्त रस्सी का अस्तित्व ही कहां है ? । इसी प्रकार जीवन क्या है ? । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंच महाभूतों का समुदय (समूह) ही जीवन है । जब तक ये समवेत हैं तब तक ही जीवन है । घडी के छोटे बडे सभी पुर्जे मिल कर चलते हैं तभी तक कहा जाता है कि घडी चलती है । उसमें से एक नन्ही-सी खील भी निकल जाती है तो घडी बन्द हो जाती है । इस प्रकार यह उत्कट वादी संसार संसृति का उच्छेद करता है । किन्तु उसके सामने हमारा यह तर्क है कि पंच महाभूत हैं, तभी तक जीवन है । तो मृत शरीर में कौन-सा तत्त्व कम हो गया ? । वह क्यौं नहीं खाता, क्यौं नहीं बोलता ? आप कहेंगे कि वायु तत्व नहीं है, तो पंप से हवा भर दीजिए; वायु है फिर तो श्वास-प्रक्रिया चालू हो जानी चाहिए । यदि आप कहते हैं, कि तेज तत्व का अभाव हो गया है तो बिजली का करंट छोड दीजिए । फिर तो उसे चल देना चाहिए । बिजली के करंट से शव का चलना तो दूर रहा वह करवट भी नहीं बदलेगा । बिजली उसे जला भले ही डाले, पर उसमें जीवन नहीं डाल सकती है । फिर कौन मर गया ? कौन-सा तत्व निकल गया जिसके अभाव में आप उसे मृत घोषित करते हैं । शरीर के रूप में पृथ्वी तत्व उपस्थित है, पानी है ही, आकाश सर्वव्यापी है, फिर अभाव किस चीज का है ? आप कहेंगे कि वह सूक्ष्म प्राण वायु चला गया, जो कि समस्त जीवन शक्ति का केन्द्र था तो आप जिसे सूक्ष्म प्राण वायु मानते हैं वही हमारी दृष्टि से अतीन्द्रिय आत्मा है । जिसके अभाव में जीवन की क्रिया बन्द हो जाती है ।

पर देहात्म-वादी इस मध्यान्ह के सूर्य की भांति चमकते हुए सत्य को स्वीकारने से इन्कार कर देते हैं ।

टीका:—रज्जूत्कटो नाम रज्जुदृष्टान्तेन समुदयमात्रशरीरप्रज्ञपनया पंचमहाभूतस्कन्धमात्रं शरीरमित्येतान्यभि-धानानि व्याहरन् संसारसंसृतिव्यवच्छेदं वदति । गतार्थः ।

से किं तं तेणुकले ? । तेणुकले णामं जे णं अण्णसत्थदिट्ठंतगाहेहिं सपक्खुब्भावणाणिरए "मम ते एत"मिति परकरुणच्छेदं वदति, से तं तेणुकले ।

अर्थ:—प्रश्न: भगवन् ! तेणुकल=स्तेनोत्कट किसे कहते हैं ? ।

उत्तर :—स्तेनोत्कट उसे कहते हैं, कि जिसके द्वारा अन्य शास्त्रों की दृष्टान्त गाथाओं से जो अपने पक्ष की उद्भावना में निरत रहता है। ये शास्त्र मेरे हैं ऐसा कह कर दूसरे की करुणा को नष्ट करने वाली बात कहता है वह स्तेनोत्कट कहलाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

પ્રશ્ન :—ભગવન્! તેણુક્કલ=સ્તેનોત્કટ કોને કહે છે?

ઉત્તર :—સ્તેનોત્કટ તેને કહે છે કે જેનાથી બીજા શાસ્ત્રોની દ્રષ્ટાન્ત-ગાથાઓથી જે પોતાના પક્ષના પ્રતિપાદન-માં હંમેશા તત્પર રહે છે. આ શાસ્ત્ર મારાં છે આમ કહીને બીજાની કરુણાને, નાશ કરનારી વાત કહે છે તે સ્તેનોત્કટ કહેવાય છે.

दूसरे की वस्तु का अपहरण स्तेनवृत्ति अर्थात् चोरी है। चोरी वस्तु की ही नहीं विचारों की भी होती है। दूसरे के साहित्य को अपने नाम से प्रकाशित कर देना यदि साहित्यिक चोरी है तो दूसरे के विचारों को तोड-मरोड कर रखने, उसके वचनों का गलत आशय निकालना भी एक प्रकार की चोरी ही है।

कुछ देहात्म-वादी व्यक्ति दूसरों के सिद्धान्तों और गाथाओं को विकृत रूप में लेकर अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करना चाहते हैं। यह सब भोली जनता को भुलावे में डालने के तरीके हैं। तुम्हारे मुनि भी तो ऐसा कह कर विचारकों के विचारों को गलत रूप में रखते हैं। यह भी एक प्रकार की चोरी ही है।

जिन शास्त्रों से दूसरों के प्रति करुणा भाव समाप्त हो जाता है, हृदय से कोमलता के अंकुर मिट जाते हैं उन शास्त्रों को अपना कहना स्तेनोत्कट है। देहात्मवाद अपने मिथ्या सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए करुणा शील महापुरुषों के वचनों का उपयोग करता है। सैतान भी अपना काम बनाने के लिए शास्त्रों की दुहाई देता है। साथ ही देहात्मवाद कोमलता के अंकुर को समाप्त कर देता है। क्योंकि आत्मा के अस्तित्व के सद्भाव में अहिंसा और दया का सद्भाव है।

टीका :—स्तेनोत्कटो नाम यो अन्यशास्त्रदृष्टान्तग्राह्यस्वपक्षोद्भावनानिरतो मम्नैतदिति व्याहरन् करुणच्छेदम् वदति। गतार्थः।

प्रोफेसर शुब्रिंग् भिन्न मत रखते हैं: तीसरा उत्कट पैंसे व्याज से रखने वाला है। अपना दृष्टिबिन्दु दृष्टान्त के साथ भार पूर्वक प्रस्तुत करना उसे प्रिय लगता है। दूसरे के मूल ग्रन्थों में से कुछ लेता है उसके लिए गर्वोक्ति कर सम भाव का उच्छेद करता है।

प्रश्न :—से किं तं देसुक्कले?।

उत्तरः—देसुक्कले णामं जे णं अत्थिन्न एस इति सिद्धे जीवस्स अकत्तादिएहिं गाहेहिं देसुच्छेयं वदति, से तं देसुक्कले।

अर्थ :—प्रश्नः —प्रभो! देशोत्कट क्या है?

उत्तर :—देशोत्कट वह कहा जाता है जो आत्मा के अस्तित्व को मान कर भी आत्मा को अकर्ता आदि बताता है। वह आत्मा के एक देश का उच्छेद करता है, वह देशोत्कट है।

गुजराती भाषान्तर :—

પ્રશ્ન :—ભગવન્! દેશોત્કટ શું છે?

ઉત્તર :—દેશોત્કટ તેને કહે છે જે આત્માના અસ્તિત્વને માનીને આત્માને અકર્તા માને છે તે આત્માના એક દેશનો નાશ કરે છે તે દેશોત્કટ છે.

कुछ दार्शनिक आत्मा का अस्तित्व तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके स्वरूप के संबन्ध में मतभेद रखते हैं। आत्मा को मानते हुए भी सांख्य दर्शन उसे कर्ता नहीं मानता है। वह आत्मा को नहीं प्रकृति को कर्ता मानता है[1]। यद्यपि जैनदर्शन भी शुद्ध निश्चय दृष्टि के अनुसार आत्मा को पुद्गलादि का कर्ता नहीं मानता है। फिर निश्चय दृष्टि भी स्वभाव परिणति का तो कर्ता मानती है। सांख्य दर्शन आत्मा के भोक्तृत्व रूप को तो स्वीकार करता है किन्तु उसके कर्तृत्व रूप को अस्वीकार करता है। यह देशोत्कट कहलाता है।

---

१ अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः। अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कपिलदर्शने।

टीका :—देशोत्कटो नाम यो अस्ति न्वेष जीवेति सिद्धे सत्यकर्त्रादिकैर्ग्राहैर्जीवस्य देशोच्छेदमपूर्णच्छेदं वा वदति। गतार्थः ।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं, कि चतुर्थ उत्कट उधार ली हुई दलीलों से आत्मा के अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है। शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर भी उसके समस्त गुणों को स्वीकार नहीं करता है।

प्रश्न :—से किं तं सव्वुक्कले ? ।

उत्तर :—सव्वुक्कले णामं जेणं सव्वतो सव्वसंभवाभावा णो तच्चं सव्वतो सव्वहा सव्वकालं च णत्थित्ति सव्वच्छेदं वदति; से तं सव्वुक्कले ।

अर्थ :—प्रश्न :-भगवन्! सर्वोत्कट क्या है?

उत्तर :— सर्वोत्कट उसे कहते हैं जो समस्त पदार्थ सार्थ को सर्वथा ही असत्य मानता है । सर्वथा सर्वकाल में पदार्थ सार्थ का अभाव है। इस प्रकार सर्व विच्छेद की बात करता है वह सर्वोत्कट है।

गुजराती भाषान्तर :—

પ્રશ્ન:— ભગવન્! સર્વોત્કટ શું છે?

ઉત્તર:—સર્વોત્કટ તેને કહે છે કે જે બધા પદાર્થોને હંમેશા અસત્ય માને છે. હંમેશ સર્વકાલમાં પદાર્થોનો અભાવ છે. આ રીતે બધી વિચ્છેદની વાતો કરે છે તે સર્વોત્કટ છે.

कुछ दार्शनिक सर्वोच्छेद-वादी होते हैं। वे आत्मा के गुण धर्मों में से एक को भी नहीं स्वीकार करते। जिस व्यक्ति को आत्मा पर विश्वास नहीं है वह परमात्मा पर भी विश्वास नहीं कर सकता है, क्योंकि आध्यात्मिक साधना का प्रथम सोपान आत्म-तत्त्व की स्वीकृति है। जिसे यह भी पता नहीं कि मैं कौन हूं, मेरा स्वरूप क्या है, वह साधना के क्षेत्र में क्या गति करेगा[1]। पर सर्वोच्छेद-वादी आत्मा और उसके समस्त पर्यायों के अस्तित्व से इन्कार करता है।

उड्ढं पायतला अहे केसग्गमत्थका एस आता-पज्जवे कसिणे तय परियंते जीवे, एस जीवे जीवति। एतं तं जीवितं भवति, से जहा णामते दड्ढेसु बीएसु ण पुणो अंकुरुप्पत्ती भवति एवमेव दड्ढे सरीरे ण पुणो सरीरुप्पत्ती भवति ।

अर्थ :—ऊपर से पद तल तक और नीचे से मस्तक के केशाग्र तक आत्मा के पर्याय है। शरीर की त्वचा पर्यन्त जीव है। यह जीव का जीवन है। उस को जीवित कहा जाता है। जैसे जले हुए बीजों में फिर से अंकुर नहीं निकल सकते; इसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

गुजराती भाषान्तर :—

ઉપરથી પગસુધી અને નીચેથી માથાના કેશાગ્ર સુધી આત્માનાં પર્યાય છે. શરીરની ત્વચા (ચામડી) સુધી જીવ છે, આ જીવનું જીવન છે. તેને જીવિત (ચેતન) કહેવામાં આવે છે. જેમ બળેલાં બીજોમાં ફરીથી અંકુરો નથી નીકળી શકતા, તેવીજ રીતે શરીરનો નાશ થઈ જવાથી ફરીથી શરીરની ઉત્પત્તી નથી થઈ શકતી.

इसी नास्तिक-वाद की विशेष व्याख्या दी गई है। अनात्मवादी दार्शनिक स्थूलग्राही होता है। वह यह कहता है कि पद तल से केशाग्र तक आत्मा है यही जीव है। देह के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई दूसरी स्वतंत्र वस्तु भी है ऐसा वह नहीं स्वीकार करता है। देहात्मवादियों के अनुसार भव-परम्परा संभव नहीं है। इसका हेतु वे इस रूप में देते हैं। बीज से वृक्ष पैदा होता है यह निश्चित सिद्धान्त है, किन्तु जब बीज ही जल गया तो अंकुर कैसे फूटेंगे? इसी प्रकार अगले जन्म का बीज शरीर है। जब शरीर ही जल गया तो अगला जन्म कैसे संभव है?।

देह को बीज मानने वाले कुछ दार्शनिक ऐसा भी मानते हैं कि पुरुष मर कर पुरुष होता है और स्त्री मर कर स्त्री होती है। 'जैसा बीज वैसा फल' यह ध्रुव सिद्धान्त है। पंचम गणधर सुधर्म स्वामी भगवान् महावीर के परिचय में आने के पूर्व इसी फिलॉसॉफी में विश्वास रखते थे। भगवान् महावीर ने उनका समाधान करते हुए कहा था कि यह निश्चित है कि जैसा बीज होगा वैसा ही फल होगा। किन्तु बीज की व्याख्या में अन्तर है। स्थूल देह बीज नहीं है। बीज तो है देह में रहे हुए आत्मा के शुभाशुभ अध्यवसाय। वे ही बीज हैं और उन्हीं के अनुरूप आत्मा अगला जन्म पाता है।

---

१. जो जीवे वि म याणई अजीवे याणइ। जीवाजीवे अयाणंतो कहं सोणाहिइ संजम। -दशवै० अ० ४.
इह मेगेसिं णो सण्णा भवइ के अहं आसी के वा इओ चुओ इह पेच्च भविस्सामि। -आचारांग सूत्र।

देहात्म-वादी स्थूल देह को ही बीज मानते हैं। परन्तु देह तो चिता में भस्म हो जाता है अतः आत्मा बीज के अभाव में नया जीवन पा नहीं सकता।

टीका :—एतं नास्तिकवादमुदाहरति यथा-ऊर्ध्वं पादतलेऽधः केशाग्रमस्तकैषात्मपर्यायः कृत्स्नस्त्वक्पर्यन्तो जीवः। एष जीवो जीवति, एतज्जीवितं भवति यथा दग्धेषु बीजेषु न पुनरंकुरोत्पत्तिर्भवति, एवमेव दग्धे शरीरे न पुनः शरीरोत्पत्तिर्भवति। गतार्थः।

तम्हा इणमेव जीवितं; णत्थि परलोए, णत्थि सुक्कड-दुक्कडाणं कम्माणं फलवित्तिविसेसे णो पच्चायंति जीवा, णो फुसंति पुण्ण-पावा, अफले कल्लाण पावए, तम्हा एतं सम्मं ति बेमि। उड्ढं पायतला अहे केसग्गमत्थगा एस आया प(ज्जवे) क(सिने) तया परितं ते एस जीवे, एसा मडे णो एतं तं से जहा णामते दड्ढेसु बीएसु ण पुणो अंकुरोत्पत्ति भवति एवमेव दड्ढे सरीरे णो पुणो सरीरुप्पत्ती भवति। तम्हा पुण्ण पावग्गहणा सुह-दुक्खसंभवाभावा शरीरं दहेत्ता पावकम्माभावा शरीरं डहेत्ता णो पुणो सरीरुप्पत्ती भवति।

अर्थ :—अतः यही जीवन है। पर लोक जैसी कोई वस्तु नहीं है। सुकृत और दुष्कृत कर्मों का कोई फल भी नहीं है। आत्मा पुनः आता भी नहीं है। पुण्य और पाप आत्मा को स्पर्श नहीं करते। पुण्य और पाप वस्तुतः निष्फल ही है। इस लिए मैं ठीक कहता हूं कि ऊर्ध्व पाद तल से मस्तक के केशाग्र तक यही आत्मा है। यही त्वचा पर्यन्त जीव है। यह हस्तामलकवत् ज्ञात है। जैसे दग्ध (जली हुए) में पुनः अंकुरोत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार दग्ध शरीर से पुनः शरीरोत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः पुण्य पाप के ग्रहण करने से सुख-दुःख का अभाव है और शरीर को जला देने पर पाप कर्म का अभाव है। अतः शरीरी और आत्मा को जला देने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति संभवित नहीं है।

गुजराती भाषान्तर :—

માટે આ જ જીવન છે, પરલોક જેવી કોઈ વસ્તુ નથી. સુકૃત (સુકાર્ય) અને અકૃત (ખરાબ કરેલ) કર્મોનું કંઈ પણ ફળ નથી. આત્મા અહિંયા ફરીથી આવતો પણ નથી. પુણ્ય અને પાપ આત્માને સ્પર્શ (અડકતાં) પણ નથી. પુણ્ય અને પાપ વસ્તુતઃ નીષ્ફળ જ છે. આથી હું ઠીક કહું છું કે ઉર્ધ્વ પગના તલીયાથી માથાના કેશાગ્ર (વાળના આગળના છેડા) સુધી આ આત્મા છે, આ ત્વચા (ચામડી) સુધી જીવ છે, આ હસ્તામલકવત્ (હાથમાં રાખેલા આંવળાની માફક) જોવાય છે જેમ બળેલા બીજોમાં ફરીથી અંકુરની ઉત્પત્તિ નથી થતી તેજ પ્રમાણે બળી ગયેલ શરીરથી ફરી શરીરની ઉત્પત્તિ થતી નથી. અતઃ પુણ્ય-પાપના ગ્રહણ કરવાથી સુખદુઃખનો અભાવ છે. અને શરીરને બાળી નાખવાથી કર્મોનો નાશ થાય છે. અતઃ શરીર અને આત્માને બાળી નાખવાથી ફરીથી શરીરની ઉત્પત્તિ થતી જ નથી.

देहात्म-वाद स्वीकार कर लेने के बाद पुण्य और पाप जैसी कोई वस्तु नहीं रहती है। क्योंकि पुण्य-पापादि कर्म चैतन्य से संबन्धित रहते हैं। क्योंकि आत्मा के शुभाशुभ अध्यवसाय ही पुण्य पाप के मूल हेतु हैं। देहात्म-वाद के सिद्धान्त में देह के भस्म हो जाने पर सब कुछ भस्म हो जाता है। फिर दूसरे तत्त्वों की संभावना ही कैसे होगी?।

टीका :—तस्मादिदमेव जीवितं नास्ति परलोको नास्ति सुकृतदुष्कृतकर्मणां फलवृत्तिविशेषः। न प्रत्यायान्ति जीवा न स्पृशन्ति पुण्यपापे अफलं कल्याणपापकं। तस्मादेतत् सम्यग् इति ब्रवीमि यथोर्ध्वमित्यादि यावत् त्वक्पर्यन्तो जीवः। एष मृतो नैतज्जीवितं भवति। यथा नाम दग्धेषु बीजेष्वन्यांकुरोत्पत्तिर्भवति। एवमेवाऽदग्धे शरीरेऽन्यांकुरोत्पत्तिर्भवति। तस्मात्तपःसंयमाभ्यां मूले शरीरं दग्ध्वा न पुनः शरीरोत्पत्तिर्भवतीति। ||चिह्नितपुस्तकानुसारेणाध्याहार्यम्। नास्तिकं प्रयुक्तं तस्मात् पुण्य-पापग्रहणात् कर्मलब्धसुखदुःखसंभवाभावाच्छरीरदाहं पापकर्माभावाच्च शरीरं दग्ध्वा न पुनः शरीरोत्पत्तिर्भवति। उत्कटाध्ययनम्।

यही जीवन है। परलोक सुकृत, दुष्कृत और कर्म फल जैसा कोई तत्त्व नहीं है। आत्मा पुनः लौट कर नहीं आता है। पुण्य पाप आदि कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते हैं। अतः कल्याण अर्थात् पुण्य और पाप निष्फल हैं। इसी लिए मैं सम्यक् प्रकार से कहता हूं कि त्वचा पर्यन्त ही जीव है। ऋषि देहात्मवाद का खंडन करते हैं कि, यह शरीर तो मृत है। अतः यह व्याख्या गलत है। ऐसा जीवन नहीं हो सकता। जिस प्रकार विना जले हुए बीजों से दूसरे अंकुर फूट पडते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के नहीं जलने से दूसरे शरीर की उत्पत्ति हो जाती है। अतः तप और संयम के द्वारा मूल शरीर को जला देने पर पुनः दूसरे शरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकती। दूसरी चिन्हित प्रति के अनुसार यहां यह पाठ अध्याहार्य

है। इस प्रकार नास्तिकवाद का खंडन किया गया है। अतः पुण्य पाप के ग्रहण से होने वाले कर्मजन्य सुख-दुःख का अभाव होता है और शरीर के जलने पर पाप कर्म का अभाव होता है, तभी दग्ध देही अतः पुनः शरीर को नहीं उत्पन्न करता है।

प्रस्तुत अध्ययन में देहात्मवाद का ही निरुपण है। सूत्र के शैली के अनुरूप ही अर्हतर्षि का नाम भी नहीं है। अतः सूत्र की शैली से इस अध्ययन की शैली भिन्न पड जाती है। साथ ही संपूर्ण अध्ययन देहात्मवाद चार्वाक-दर्शन के ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर के रह जाता है। उसका प्रतिवाद नहीं करता है। प्रोफेसर शुब्रिंग् भी प्रस्तुत अध्याय की इन कमियों की ओर लक्ष्य खींचते हैं।

टीकाकार प्रस्तुत अध्ययन के अन्त में अन्य पुस्तकों का आधार लेकर देहात्म-वाद का खंडन करते हैं। उनका कहना है कि स्थूल देह तो चिता में राख की ढेर हो जाता है। किन्तु सूक्ष्म देह आत्मा के साथ रहता है। जैन दर्शन के अनुसार कार्मण्य शरीर भवस्थ आत्मा के साथ सदैव रहता है। स्थूल आग उसे जला भी नहीं सकती है। और वही शरीर अन्य शरीर की उत्पत्ति का हेतु है। साधक तप और संयम के द्वारा सूक्ष्म देह को भस्म कर देता है, तो पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती।

एवं से बुद्धे० । गतार्थः ।
उत्कल-वाद नामकं विंशतितममध्ययनम्

गाहावती-पुत्र तरुण अर्हतर्षि प्रोक्त

इक्कीसवां अध्ययन

एक आगम का वाक्य है कि "जावंति अविज्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा"-भगवान महावीर। जब तक अज्ञान है तब तक दुःख रहेगा ही। साधक जीवन का लक्ष्य है अन्धकार से। प्रकाश की ओर आए अज्ञान से ज्ञान की ओर आना ही हमारी साधना का लक्ष्य है। ज्ञान जलती हुई मशाल है, उसके प्रकाश में हम प्रशस्त पथ की ओर आगे बढते हैं। ज्ञान अनुभव की बेटी है। किसी अंग्रेजी विचारक ने ठीक कहा है कि Wisdom is to the soul what health is to the body आत्मा के लिए ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना शरीर के लिए स्वास्थ्य। गीता में कर्मयोगी श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि :-

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥ —श्रीकृष्ण-गीता।

हे अर्जुन! जिस प्रकार जलती हुई अग्नि इंधन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार से ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है। ज्ञान का ध्येय सत्य है और सत्य ही आत्मा की भूख है।

The aim of knowledge is truth, and truth is need of soul–लेसिंग्।

अज्ञान जीवन की वह अंधेरी रात है जिसमें न चांद है, न तारा। कन्फ्यूसस कहते हैं:—

Ignorance is night of the mind but a night without moon or stars.

प्रस्तुत अध्याय में तरुण अर्हतर्षि "गाथापतिपुत्र" अज्ञान से मुक्त होने की प्रेरणा देते हैं।

सिद्धि। णाहं पुरा किंचि जाणामि सव्वलोकंसि गाहावतिपुत्तेण तरुणेण अरहता इसिणा बुइतं।

अर्थ :—मैं पहले समस्त लोक में कुछ भी नहीं जानता था। इसप्रकार "गाथापतिपुत्र" तरुण अर्हतर्षि बोले।

गुजराती भाषान्तर :—

હું પહેલા આ વિશાલ દુનિયામાં કંઇ જ જાણતો ન હતો. આ પ્રમાણે "ગાથાપતિપુત્ર" તરુણ અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

प्रस्तुत अर्हतर्षि के संबन्ध में तरुण विशेष महत्त्वपूर्ण संकेत देता है। उठता हुआ तारुण्य में युवक 'गाथापतिपुत्र' ने अपने जीवन को भोग से योग की ओर मोड दिया। यौवन के निर्बन्ध प्रवाह में हजारों युवक बह जाते हैं। जब गाथा-

पति पुत्र वह कुशल इंजिनियर था कि जिसने उस प्रवाह की गति को दूसरी ओर मोड दिया। 'गाथापति-पुत्र' शब्द पारिवारिक संपन्नता का ध्वनि रखता है। यौवन के प्रांगण में प्रवेश करते हुए लक्ष्मी के पायलों की झंकार उसकी आत्मा को वासना से बांधने के लिए पर्याप्त थी। किन्तु साधना की लहरों ने उन्हें बंधने नहीं दिया। इसीलिए आगमकार ने तरुण विशेषण के साथ अर्हतर्षि का स्मरण किया है।

अण्णाणमूलकं खलु भो पुव्वं न जाणामि न पासामि नोऽभिसमावेमि नोऽभिसंबुज्झामि, नाणमूलकं खलु भो इयाणिं जाणामि पासामि अभिसमावेमि अहिसंवुज्झामि।

अर्थ :—पहले मेरा जीवन अज्ञान के अन्धकार में था, अतः पहले मैं नहीं जानता था, न देखता ही था, न मैं सम्यक् प्रकार से जानता ही था, न मुझे उसका अवबोध ही था। अब ज्ञान के प्रकाश से मेरी आत्मा आलोकित है। अतः मैं अभी जानता हूं, देखता हूं, पदार्थ सम्यक् अवबोध रखता हूं, और उसका यथार्थ ज्ञान भी मैं रखता हूं।

गुजराती भाषान्तर :—

હમણા સુધી મારૂં જીવન અજ્ઞાનના અંધકારમાં હતું, આથી પહેલાં હું જાણતો ન હતો, જોતો ન હતો, ન હું સારી રીતથી જાણતો હતો, ન મને સમજાણુ હતી. પણ હવે જ્ઞાનના પ્રકાશથી મારો આત્મા પ્રકાશિત થયો છે. હવે હું જાણું છું, જોઉં છું, પદાર્થોનું સમ્યક્=સારીરીતે જાણું છું અને તેનું યથાર્થ જ્ઞાન પણ મને થયું છે.

अज्ञान वह अंधेरी रात है जिसकी कालिमा में हीरे की चमक और कंकर की बदरूपता एक समान हो जाती है। अन्धकार में पत्थर भी हीरा है और हीरा भी पत्थर है। दोनों का एक मोल है, एक तोल है। उजाले में परख संभव है। असली और बनावट हीरे का भेद प्रकाश ही बताता है; इसी लिए जहां अज्ञान है, वहां अन्धकार है और अन्धकार अपने आप में एक विपदा है।

टीका :—नाहं पुरा किंचिज्जानामि सर्वलोके-अज्ञानमूलं अज्ञानं कारणं यथा तथा खलु भो पूर्वं न जानामि न पश्यामि नाभिसमवैमि नाभिसंबोधामि। ज्ञानमूलं खलु भो इदानीं जानामि यावदभिसंबोधामि। गतार्थः।

अण्णाणमूलयं खलु मम कामेहिं किच्चं करणिज्जं, णाणमूलयं खलु मम कामेहिं अकिच्चमकरणिज्जं। अण्णाणमूलयं जीवा चाउरंतं संसारं जाव परियट्टंति, णाणमूलयं जीवा चाउरंतं जाव वीयीवयंति, तम्हा अण्णाणं परिवज्ज णाणमूलकं सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्सामि, सव्वदुक्खाणमंतं किच्चा शिवमचल जाव सासतं चिट्ठिस्सासि।

अर्थ :—ज्ञानविहीन अवस्था में मैं ने काम के वश में होकर कार्य किए हैं। ज्ञानमूलक अवस्था में मेरे लिये काम से प्रेरित होकर कोई भी काम अकरणीय है। उस ज्ञान विहीन आत्माएँ चातुरन्त संसार अरण्य में परिभ्रमण करते हैं। ज्ञानमूलक आत्माएँ चातुरन्त संसार की कंटीली राह को पार करते हैं। अतः अज्ञान का परित्याग करके मैं ज्ञान द्वारा समस्त दुःखों की परिसमाप्ति करूंगा और समस्त दुःखों का अन्त कर के शिव अचल यावत् शाश्वत स्थान को प्राप्त करूंगा।

गुजराती भाषान्तर :—

અજ્ઞાનાવસ્થામાં મેં કામને વશ થઇને ઘણા કાર્યો કર્યાં છે. જ્ઞાનયુક્ત અવસ્થામાં મારે માટે કામથી પ્રેરિત થઇને કોઇ પણ કાર્ય અકરણીય (નકરવા યોગ્ય) છે. જ્ઞાન વગર આત્માઓ ચાતુરન્ત સંસારરૂપી અરણ્ય (ગહન રણ) માં ફરે છે. જ્ઞાનમૂલક આત્માઓ ચાતુરન્ત સંસારના કાંટાવાળા રસ્તાને પાર કરે છે. અજ્ઞાનનો ત્યાગ કરીને હું જ્ઞાનદ્વારા બધાં દુઃખોની સમાપ્તિ કરીશ અને બધા દુઃખોનો અંત (નાશ) કરીને શિવ (કલ્યાણ) અચલ શાશ્વત સ્થાનને મેળવીશ.

जहां अज्ञान है वहां वासना है। ज्ञान विहीन आत्मा काम के इशारों पर नाचता है। जब कि ज्ञानी की इच्छाएँ उसके इशारों पर चलती हैं। दोनों में इतना ही अन्तर है। एक वासना का गुलाम है, दूसरे के लिए वासना सेविका है। यही कारण है, कि वासना के संकेत पर कदम उठाने वाला आत्मा अपने हर कदम के साथ अशान्ति को निमन्त्रण देता है। उसका प्रत्येक कार्य भव-परम्परा की विषैली लता का एक बीज है। जहां ज्ञान है, वहां वासना का अभाव है, दुःखों का उपशमन है। ज्ञानी आत्मा के शाश्वत सुख का वह सम्राट् है और वह समस्त दुःख-परम्परा का मूलोच्छेद करके शिव शाश्वत आत्मस्थिति को प्राप्त करता है।

टीका :—अज्ञानमूलं खलु मम कामैः कृत्यं कारणीयम्, ज्ञानमूलं खलु मम कामैरकृत्यं अकारणीयम्। अज्ञानमूलं जीवाश्चातुरंतसंसारं परिवर्तन्ते, ज्ञानमूलं जीवास्तं व्यतिपतन्ति, तस्मादज्ञानं परिवर्ज्यं ज्ञानमूलं सर्वदुःखानामन्तं करिष्यामि, कृत्वा शिवमचलं यावच्छाश्वतं स्थानमभ्युपगतः स्थास्यामि। गतार्थः।

अण्णाणं परमं दुक्खं, अण्णाणा जायते भयं ।
अण्णाणमूलो संसारो, विविहो सव्वदेहिणं ॥ १ ॥

अर्थ:—अज्ञान ही बहुत बड़ा दुःख है। अज्ञान से ही भय का जन्म होता है। समस्त देहधारियों के लिए भव-परम्परा का मूल विविध रूप में व्याप्त यह अज्ञान ही है।

गुजराती भाषान्तर:—

અજ્ઞાન જ મોટું દુઃખ છે, કેમકે અજ્ઞાનથીજ ભયનો જન્મ થાય છે; બધા માનવોને માટે ભવપરંપરાનું મૂળ જુદા જુદા રૂપમાં વ્યાપી રહેલ આ અજ્ઞાન જ છે.

अज्ञान ही यथार्थ दुःख है। स्वप्न में एक व्यक्ति-सर्प देखता है और भयभीत हो कर भागता है। किन्तु तभी उसकी निद्रा भंग हो जाती है, उसका भय समाप्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक अज्ञान की निद्रा है तब तक दुःख और भय अवश्य ही रहेगा।

मिगा बज्झंति पासेहिं, विहंगा मत्तवारणा ।
मच्छा गलेहिं सासंति, अण्णाणं सुमहब्भयं ॥ २ ॥

अर्थ:—अज्ञान के द्वारा ही हरिण, पक्षी और मत्त गजेन्द्र पाश में बंधते हैं, और मत्स्यों के कंठ विंधे जाते हैं, अज्ञान ही संसार का सब से बड़ा भय है।

गुजराती भाषान्तर:—

અજ્ઞાનને લીધે જ હરણ, પક્ષી અને મદોન્મત્ત હાથી પાશમાં બંધાય છે અને માછળીના કંઠ વિંધવામાં આવે છે. સંસારમાં અજ્ઞાન જ સૌથી મોટો ભય છે.

पूर्व गाथा में अज्ञान को ही दुःख का आद्य हेतु बतलाया गया है। प्रस्तुत गाथा उसी की सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत करती है। एक शिकारी जब बंशी की मीठी तान छेडता है तब हिरण दौडता हुआ उसके पास चला आता है। संगीत की स्वर-लहरी में वह मुग्ध हो जाता है। और शिकारी के बाण संगीत में लीन हरिण के शरीर को विंध देते हैं। उस भोले हरिण को क्या पता था कि वह स्वर-लहरी उससे प्राण को ले बैठेगी!। आकाश में स्वच्छन्द उड्डान करने वाला पक्षी दाने को देख कर धरती पर लौट आता है। आने के साथ ही वह जाल में फंस जाता है। दूसरी ओर विशाल-काय गजराज उस कल्पित हस्तिनी के मोह में दौडता है और गहरे गर्त में गिर जाता है, जहां पर सात दिन तक भूखा रहने पर उसके सुदृढ दंतशूल जिसके बल पर वह अपने यूथ का आधिपत्य करता था और मानव जिसे देख कर कांप उठता था वे ही दंत क्रूर मानव द्वारा उखाड लिए जाते हैं। दूसरी ओर भोली मछली आटे की गोली खाने के लिए आती है। पर उसमें छिपा हुआ कांटा उसके कंठ को विंध देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा का यह अज्ञान ही समस्त विडंबना का मूल है।

टीका:—अज्ञानवशान्मृगविहंगाः पक्षिणो मत्तवारणाश्च पाशैर्बध्यन्ते। मत्स्या आमिषेभ्यः संसन्ति, अज्ञानं सुमहद् भयं भवति। गतार्थः।

जम्मं जरा य मच्चू य, सोको माणोवमाणणा ।
अण्णाणमूलं जीवाणं, संसारस्स य संतती ॥ ३ ॥

अर्थ:—जन्म, जरा और मृत्यु, शोक, मान और अपमान सभी आत्मा के अज्ञान से ही पैदा हुए हैं। संसार की विष-वेल अज्ञान के जल से ही सींची गई है।

गुजराती भाषान्तर:—

જીવને જન્મ, ઘડપણ, મરણ, શોક, માન અને અપમાન એ બધું આત્માના અજ્ઞાનને લીધે જ જન્મ પામ્યું છે. સંસારની ઝેરી વેલ અજ્ઞાનના જળથી જ સીંચવામાં આવી છે.

संसारी जीवों के लिए अनिवार्य जन्म, जरा और मौत के दुःख अज्ञान के ही कारण पैदा होते हैं। अपने ही अज्ञान के कारण मानव ऐसी समस्या पैदा कर लेता है, फिर उसे शोक, मान और अपमान के जहरीले घूंट पीने पड़ते हैं। अज्ञान

का अर्थ ज्ञान का अभाव ही नहीं है, बल्कि अयथार्थ ज्ञान ही अज्ञान है। आत्मा परवस्तु में अपनी आत्मीयता का विस्तार करता है। जब उसका वियोग होता है तब शोक के सागर में डूबता है। 'पर' वस्तु में 'स्व' का अवबोध ही अज्ञान हैं, अन्यथा-ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, वह कभी भी उससे पृथक् नहीं हो सकता है। किन्तु आत्मा की राग-द्वेषात्मक परिणतियाँ ही ज्ञान को अज्ञान में परिणत करती हैं।

अण्णाणेण अहं पुव्वं, दीहं संसारसागरं।
जम्म-जोणि-भयावत्तं, सरंतो दुक्खजालकं॥ ४॥

अर्थः-प्रश्न:—अज्ञान के द्वारा ही मैं ने दुःख-जाल में फंस कर जन्म योनि के भय रूप आवर्तशील दीर्घ संसार में भ्रमण किया।

गुजराती भाषान्तरः—

અજ્ઞાનના કારણે જ હું દુ:ખરૂપી જાળમાં ફસાઈને જન્મ-યોનીના ભય રૂપ ભમરાવાળા દીર્ઘ (લાંબા) સંસાર-સાગરમાં ભમતો રહ્યો છું.

आत्मा का स्वरूप मुक्त और बंधनातीत है। फिर प्रश्न होगा कि शुद्ध स्वरूप युक्त आत्मा संसार में परिभ्रमण क्यों करता है? इसका उत्तर है अज्ञान। सिंह का बच्चा सिंह का वीरत्व ले कर जन्म लेता है। किन्तु भेड के साथ रह कर वह अपने आप को भेड मान बैठता है और दिन रात भेडों के साथ घूमता है। गडरिया भेडों के साथ उसे घुमाता है। भेडों को जब पीटता है तो कभी कभी दो चार डंडे सिंह शावक पर भी जमा देता है। वह चीखता है और आगे जाने वाले भेडों में जा मिलता है। सिंह शावक को ये डंडे इस लिए खाने पडे कि उसे अपने निज रूप का पता नहीं है। सिंह जब तक अपने आप को भेड मानता रहेगा, गडरिए के डंडे उस पर पडते ही रहेंगे। पर जिस क्षण उसको अपने निज रूप का भान हो जाता है, कि "मैं इधर उधर भटकने वाला और गडरिये के डंडे से चलने वाला भेड नहीं हूं; मैं वन का राजा हूं"। इतना समझ लेने के बाद वह एक ही दहाड़ मारेगा तो सभी भेडें भाग खडीं होंगीं। गडरिए के हाथ से डंडा छूट कर गिर जाएगा और वह भाग कर घर का रास्ता लेगा।

आत्मा जब तक अपने आप को कूकर शूकर के रूप में देखता रहता है तब तक उसके ऊपर दुःख और दारिद्र्य के डंडे पडते ही रहते हैं। जब तक वह अपने आप को गुलाम मानता रहेगा तब तक कठोर शासक का डंडा उसके मस्तक पर पड़ता ही रहेगा। किन्तु जिस क्षण आत्मा अपने वास्तविक रूप को जान लेता है कि कूकर-शूकर रूप मेरा नहीं है। देह भी मैं नहीं हूं। मौत देह को मार सकती है मुझे नहीं। मेरा स्वरूप शुद्ध बुद्ध है। इस एक ही दहाड से समस्त विकारी परिणतियों की भेडें भाग खडी होंगीं और वह स्वतंत्रचेता होकर स्वभाव परिणति का भोक्ता हो जायगा।

दीवे पातो पयंगस्स, कोसियारस्स बंधणं।
किंपाकभक्खणं चेव अण्णाणस्स णिदंसणं॥ ५॥

अर्थः-उत्तरः—पतंग का दीपक पर गिरना, और कोशिकार[1] रेशमी कीडे का बंधन और किंपाक फल का भक्षण अज्ञान को ही प्रकट करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

પતંગિયાનું દિવાપર પડવું, અને કોશિકાર=કોશેટા નામનું રેશમી કીડાનું બંધન અને કિંપાક (ઝેરી) ફળનું ભક્ષણ એ બધાં કાર્યો કર્તા પ્રકટ કરેછે.

जलती हुई दीप-शिखा पर पतंग गिरता है और निष्ठुर दीपक उसकी राख बना देता है। रेशमी कीडा अपने ही रेशमी तारों से बंधता है और फिर उससे मुक्त होने के लिए छटपटाता है। भोला मानव जीभ को मीठे लगने वाले किंपाक फल को प्रेम से खाता है। किन्तु वेही मीठे फल चार घंटे के अन्दर उसके रग रग में जहर फैला देते हैं और कुछ क्षण में ही उसका जीवन-दीप बुझ जाता है। ये कहानियां आत्मा के अज्ञान को ही अभिव्यक्त करती है।

---

१ टीकाकार कोशिकार को पक्षीविशेष मानते हैं। पर यह कोशिकार=कोशार अर्थात् रेशमी किडा है। प्रस्तुत सूत्र के आठवें अध्ययन में भी यह पद आता है। "कोसारकीडेव कीडेव जहाइ बंधणं" आठवां अध्ययन।

टीका :—दीपे पातः पतंगस्य कौशिकारः पक्षिणो बन्धनं किंपाकफलभक्षणं च त्रीण्येतान्यज्ञानस्य निबन्धनानि भवन्ति । गतार्थः ।

बितियं जरो दुपाणत्थं, दिट्ठो अण्णाणमोहितो ।
संभग्गगातलट्ठीउ, मिगारी णिधणं गओ ॥ ६ ॥

अर्थ :—अज्ञान में मोहित सिंह पानी में दूसरे सिंह को देख कर कूप में कूद पडता है। परिणामतः देह के भग्न होने पर मृत्यु को प्राप्त करता है ! ।

गुजराती भाषान्तरः—

અજ્ઞાનથી મોહાન્ધ થએલો સિંહ પાણીમાં બીજા સિંહને (પોતાનોજ પડછાયો) જોઈને કુવામાં કુદી પડે છે. પરિણામે શરીર ભાંગવાથી મરણ પામે છે.

अज्ञान के कटु परिणाम के रूप में पूर्व गाथा में कुछ उदाहरण दिए गए हैं। यहां पर भी अर्हतर्षि एक लोक प्रसिद्ध उदाहरण देते हैं। जो कि हितोपदेश में भी आया है। संक्षेप में वह इस प्रकार है :-

एक वार एक वृद्ध सिंह समस्त वन के हिरण और शृगाल वृन्द का संहार करने लगा। पशुओं की सभा ने एक दिन यह प्रस्ताव वनराज के सामने पेश किया कि उनके लिए प्रति दिन एक पशु भेज दिया जाएगा। ताकि पशुसृष्टि शीघ्र ही समाप्त न हो सके। एक दिन एक शृगाल (सियार) की बारी आयी। उसने सोचा कि पीडा की जड़ को ही समाप्त कर देना चाहिए। वह जानबूझ कर ही कुछ देर से पहुंचा। वृद्ध सिंह ने क्रोधाक्रान्त हो तीव्र स्वर में पूछा, कि 'देर क्यों हो गई ?' चालाक शृगाल बोला कि 'मैं तो शीघ्र ही आरहा था, किन्तु राह में एक दूसरा सिंह मिल गया। उसने मुझे रोकते हुए पूछा कि कहां जा रहा है ?' मैं ने कहा कि 'मैं वनराज के यहां जा रहा हूं।' वह बोला कि 'वह तो बूढा हो गया। वनराज तो मैं हूं।' सिंह इन शब्दों को सुनते ही आगबबूला हो गया। उसने कर्कश शब्दों में कहा कि 'कौन नया वनराज प्रकटा है ? चलो, मुझे दिखलाओ। मैं एक क्षण में ही उसका संहार कर डालूंगा।'

चतुर शृगाल आगे हो लिया। पीछे पीछे वनराज महोदय उमडते, फड़कते और एक ही ग्रास में अपने प्रतिद्वन्द्वी को उतार जाने का स्वप्न देखते हुए चले जा रहे थे। शृगाल ने कुछ दूर जाकर झाडियों में झांका और पूँछ हिला कर कहा कि 'यहां पर तो नहीं है। गया कहां ? मैं अभी देख कर बात कर के गया हूं।' ऐसा लगता है कि हमारे आने की भनक उसके कानों में पड़ गई और वह कहीं छिप गया है। आप के नाम को सुन कर ही सब के प्राण कांपते हैं।' सिंह के अहंकार में नया वट आगया। बोला कि 'शेखी तो खूब वधारी पर अप दुम दबा कर निकल गया। इस बूढे के पंजों में कितना बल है इसका बच्चू को पता नहीं है ! । एक ही पंजे से चीर दूंगा।'

झाडियां में इधर उधर घूम कर शृगाल लौट आया। वापस आकर खुशामद के शब्दों में बोला कि 'आप के डर से ऐसा छिप गया है, कहीं पता ही नहीं लग रहा है। पर आज उसे छोड़ना नहीं है।'

उसी समय पास के कुए के निकट जाकर सफलता के आवेग में चिल्लाया '"मिल गया, मिल गया"। जाता कहां ? देखिए, इस कुएं में जा कर छिप गया है। आखिर जान सब को ही प्यारी होती है ! ।'

सिंह एक ही छलांग में कुएं के निकट आ गया। कुएं में झांका तो शेर की-सी आकृति दिखाई दी। वह गर्जा कि 'कायर कहीं का, निकल बाहर, क्या कहा कि नहीं निकलूँगा ? पर आज तुम को मैं पाताल तक भी नहीं छोड़ूंगा। ले अभी आया' ऐसा कह कर वनराज ने कुएं में छलांग मार ही दी। शृगाल मुस्करा दिया और कहा कि अपनी छाया को मिटाने चला और वनराज स्वयं ही मिट गया।

टीका :—अज्ञानमोहितो वृद्धसिंहः कथाप्रसिद्धो द्वितीयसिंहं उदपानस्थं दृष्टवान् संभग्नगात्रयष्टिर्निधनं गतो मृतः । गतार्थः ।

मिगारी य भुयंगो य, अण्णाणेण विमोहितो ।
गाहादंसाणिवातेणं, विणासं दो वि ते गता ॥ ७ ॥

अर्थ :—अज्ञान से विमोहित सिंह और सर्प पंजे की पकड और दंश के प्रहार से नष्ट हो गये।

गुजराती भाषान्तर :—

અજ્ઞાનથી મોહિત સિંહ અને સાપ પંજાની પકડ અને એકબીજાના દંશથી બન્નેનો નાશ થયો.

अर्हतर्षि एक के बाद एक अज्ञान की विनाशकता के चित्र दे रहे हैं। पूर्व गाथा में अज्ञानी सिंह की कथा का संकेत किया था। यहां पर भी सिंह और सर्प का उदाहरण दिया गया है।

सर्प के बिल के निकट सिंह सो रहा था। अचानक बिल में से सर्प निकला और उसने सिंह को डस लिया। इधर पीडा से उत्तेजित हो कर सिंह ने भी अपने नुकीले पंजों से सर्प को नोंच डाला। सर्प समाप्त हो गया। इधर सिंह के शरीर में विष फैलने लगा। कुछ देर के बाद ही उसने दम तोड दिया। मन का अज्ञान ही दोनों को ले बैठा। अज्ञानी आत्माएँ हिंसा और प्रतिहिंसा के द्वारा दोनों ही विनाश को प्राप्त करते हैं।

टीका :—सिंहश्च भुजंगश्चाज्ञानविमोहितौ ग्राहदंशनिपातेन द्वावपि विनाशं गताविति। का कथेति न ज्ञायते।

अज्ञान से विमोहित सिंह और सर्प ग्राह और दंश के निपात से दोनों ही विनाश को प्राप्त हुए। किन्तु यह कथा अज्ञात है।

सुप्पियं तणयं भद्दा, अण्णाणेण विमोहिता।
माता तस्सेव सोगेण, कुद्धा तं चेव खादति ॥ ८ ॥

अर्थ :—वह सुप्रिय की माता भद्रा अज्ञान से विमोहित बनती है। माता उसी शोक से क्रुद्ध होकर उसका भक्षण करती है।

गुजराती भाषान्तर :—

તે સુપ્રિયની માતા ભદ્રા અજ્ઞાનથી મોહ પામે છે. માતા તેનાજ શોકથી ક્રુદ્ધ બનીને તેનુંજ ભક્ષણ કરે છે.

अज्ञान के अन्धकार में भटकती हुई आत्मा किस क्षण क्यों कर डालती है, इस के लिए कुछ भी कहा नहीं जा सकता है। एक क्षण पहले जिसके अभाव से शोक में आकुल हो रहा था जब वही वस्तु सामने आ जाती है वह उससे नफरत करने लगता है। अब उसकी उपस्थिति ही उसके लिए असह्य हो जाती है! कितने हलके हैं मानव के सुख और दुःख। इंग्लिश का विचारक बोलता हैः—

When you are sorrowful, look again in your heart, and you shall see that in truth you are weeping for that which has been your delight. -खलील जिब्रान।

जब तुम शोक में डूबे हुए हो तो अपने अन्तर में झांको, तब तुम को ज्ञात होगा कि तुम उसी के लिए रो रहे हो जो एक दिन तुम्हारे प्रसन्नता का हेतु बनी हुई थी।

इससे बढ कर अज्ञान क्या होगा? जिसके अभाव में रो रहे थे उसके सद्भाव में भी रोने लगे। पार्थिव पदार्थों का आकर्षण ही अजीब होता है। मनुष्य उसके अभाव में आकुल रहता है, उसके प्राप्ति को तडप रहता है। पर जब वह वस्तु मिल जाती है तब वह आकर्षण उसमें नहीं रह जाता है। कभी कभी तो मनुष्य उससे घृणा भी करने लगता है। अर्हतर्षि मानव मन की इसी वृत्ति को कहानी द्वारा समझाते हैं।

माता भद्रा अपने प्रिय पुत्र के वियोग में इतनी विह्वल हो जाती है कि आत्म-हत्या कर लेती है। और वह अगले जन्म में सिंहिनी बनती है। जब उसी का पुत्र उसके सामने आता है तब कुपित हो कर पंजे से चीर कर उसका भक्षण कर जाती है।

यह अज्ञान की ही विडंबना है कि एक दिन भी जिसका वियोग नहीं सहन कर सकी थी, आज उसी का खून पीने में एक रोम में भी नहीं कंपकंपी छूटती है।

यह भद्रा कौन है और उसका पुत्र कौन है, इसका पता नहीं चलता है। किन्तु इसी रूप में सुकोशल और उसकी माता सहदेवी की कथा प्रसिद्ध है। नाम परिवर्तन के साथ यह वही कहानी है। कह नहीं जा सकती है।

टीका :—सुप्रियं तनुजं माता भद्रा नामाऽज्ञानविमोहितात् प्रतिबोधशोवे.नात्मघातं कृत्वा व्याघ्री भूता। क्रुद्धा सत्यभिद्रुत्याऽखादीदिति। सुकोशलमातृसहदेवीकथा, सा तु किमिहाधिक्रियते न वेति शंक्यते। गतार्थः।

विण्णासो ओसहीणं तु, संजोगाणं व जोयणं।
साहणं वा वि विज्ञाणं, अण्णाणेण ण सिज्झति ॥ ९ ॥

अर्थ :—औषधियों की रचना, संयोग मिलाना और विद्याओं की साधना, अज्ञान के द्वारा इन सभी कार्यों में सफलता नहीं मिल सकती है।

गुजराती भाषान्तर :—

દવાની યોજના, દર્દીની હાલતનો પરિચય કરી લેવો અને વિદ્યાની સાધના કે બીજું ગમે તે કામ હોય (પણ તે વસ્તુનું જ્ઞાન ન હોય તો) અજ્ઞાનથી આ કોઈપણ કાર્યમાં સફળતા નથી મળી શકતી.

एक बीमारी के लिए सौ दवाएं होती हैं। कौन-सी औषधि किस रोगी को शीघ्र लाभ पहुंचा सकती है, इसका ज्ञान हुए बिना चिकित्सक की चिकित्सा सफल नहीं हो सकती।

संयोगों की संयोजना में भी ज्ञान की आवश्यकता रहती है। विश्व की प्रत्येक वनस्पति औषधि के लिये उपयोगी है। वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर मंत्र-मय है। किन्तु उसकी संयोजना का ज्ञान न होने के कारण अमृत भी विष बन सकता है। स्वर और व्यंजनों के उन्हीं अक्षरों से कमनीय कविता की सृष्टि हो सकती है। जब कि किसी के अपमान और तिरस्कार में भी वे ही अक्षर प्रयुक्त होते हैं। संयोजना में ही तो चमत्कार है। विद्याएँ सब कुछ उपलब्ध हैं, किन्तु साधना के परिज्ञान के अभाव में कभी सिद्धि नहीं मिल सकती। सफलता को असफलता में बदल देने वाला अज्ञान ही है।

टीका :—औषधानां विन्यासः, संयोगानां योजनं, भेषजानां मिश्रणं, विद्यानां च साधनं अज्ञानेन न सिध्यति, सिध्यति तु ज्ञानयोगेन।

विण्णासो ओसहीणं तु, संजोगाणं व जोयणं।
साहणं वा वि विज्जाणं, णाणाजोगेण सिज्झति ॥ १० ॥

अर्थ :—औषधियों का निर्माण तथा औषधियों की व्यवस्था, संयोगों की संयोजना, और विधाओं की साधना ज्ञान के द्वारा ही संभवित है।

गुजराती भाषान्तर :—

દવાનું નિર્માણ તથા દવા આપવાની યોજના, સંયોગનો ખ્યાલ કરી તેનો ઉપયોગ અને વિદ્યાની સાધના જ્ઞાન દ્વારા જ સંભવિત છે.

सफलता का द्वार ज्ञान है। साध्य की ओर कदम बढाना है, किन्तु साधन का परिज्ञान नहीं है, तो वह साध्य तक पहुंच नहीं सकता है। जिसे गांव का नाम याद रह जाए परन्तु उसका रास्ता भूल जाए तो वह अपने लक्ष्य तक पहुंच नहीं सकता।

एवं से सिद्धे बुद्धे०। गतार्थम्।
गाहावइज्जं नामज्झयणं समत्तं
गाथापति अर्हतर्षि प्रोक्त एकविंशतितमं अध्ययनं
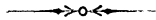
दगभाली-अर्हतर्षि-प्रोक्त

बाइसवां अध्ययन

मुक्ति का लक्ष्य बनाने वाला साधक बंधन को पहचाने। जो वासना से बंधा है वह पाश में बद्ध है। वासना से हटने के लिए प्रथमतः मन को अनुशासित करना होगा।

वासना से बचने के लिए साधकों ने नारी की भर्त्सना की है। कोई कवि तो उसे नागिन बता गए हैं। प्राचीन कवि का एक पद्य है कि "नागिनी-सी नार जानी। पुरुष कवि नारी को नागिन" बना सकता है तो नारी कवियित्री पुरुष को नाग बना सकती है। वास्तव में न तो नारी नागिन है, न पुरुष नाग है। किन्तु मन में जो वासना पैठी है वही नागिन है। उसका डसा हुआ व्यक्ति कभी उठ नहीं सकता है।

नारी को नागिन बताना भारत की पवित्र सतियों का अपमान करना है!। मल्लिनाथ भी तो नारी थे। नारी को नागिन कहनेवाले क्या तीर्थंकरदेव का अपमान नहीं करते? नारी ने पुरुष को पतन के गड्ढे में डाला है, तो क्या पुरुष नारी को कभी पतन की ओर प्रेरित नहीं किया है?। सीता-सी सतियों की कहानी क्या कह रही है?। इतिहास उठाइए तो नारी के चरित्रों से चमकते हुए चित्र आप को प्राप्त होंगे। नारी ने साधना से गिरते हुए साधक को ऊपर उठाया है। पुरुष को प्रतारण दे कर संयम के पथ पर स्थित करने वाली नारी ही है। राजमती का इतिहास इस बात का प्रमाण प्रस्तुत कर रहा है। हिन्दी के महाकवि बोल रहे हैं:—

नारी! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पद तल में।
पीयूष स्रोत-सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में॥ —जयशंकरप्रसाद कामायनी

पुरुष विजय का भूखा है, तो नारी समर्पण की; पुरुष लूटना चाहता है तो नारी लुट जाना चाहती है। जीवन के क्षेत्र में नारी पुरुष का साथ देना चाहती है, वह पुरुष की प्रेरणा है, किन्तु इस दौड़ में वह अपनी मातृत्व को न भुल सकती है। क्यों कि ममता समता और करुणा की त्रिवेणी में नारित्व वहता है। वह सत्ता और संपत्ति की प्यासी बनती है तो उसमें उसका मातृत्व लुट जाता है। प्रस्तुत अध्ययन में नारी के दोनों चित्र दिए गए हैं।

सिद्धि। परिसाडी कम्मे, अपरिसाडिणो बुद्धा, तम्हा खलु अपरिसाडिणो बुद्धा णोवलिप्पंति रएणं पुक्खरपत्तं व वारिणा, दगभालेण अरहता इसिणा बुइतं।

अर्थ :—साधक कर्मों को पृथक् करे। कर्मों का परिशाटन न करने वाले अबुद्ध होते हैं। कर्मों को पृथक् करने वाली प्रबुद्ध आत्माएँ कर्म रज से वैसे ही अलिप्त रहती है जैसे कि कमल पानी से। इस प्रकार दगभाल अर्हतर्षि बोले।

गुजराती भाषान्तर:—

સાધકોએ કર્મોનું પૃથક્કરણ કરવું. કર્મોનું પૃથક્કરણ ન કરનારાઓ બુદ્ધિવગરનાં હોય છે. કર્મોને પૃથક્ કરવા વાળા પ્રબુદ્ધ આત્માઓ કર્મ-રજથી તેવીજ રીતે અલિપ્ત રહે છે જેમ કે કમળ પાણીથી. આ પ્રમાણે દગભાલ અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

टीका :—परिशाति हिंसकं कर्म अपरिशातिनो बुद्धाः, तस्मात् खलु परिशातिनो बुद्धा नो वा लिप्यन्ते रजसा पुष्करपत्रमिव वारिणा।

कर्मों का परिशोधन और परिशातन करना हर एक साधक का जीवन लक्ष्य है। जिसने कर्मों का परिशातन किया वह आत्मा संसार में रह कर भी संसार मुक्त है। कमल-पत्रवत् अलिप्त रहता है।

पुरिसादीया धम्मा, पुरिसप्पवरा पुरिसजेट्ठा, पुरिसकप्पिया पुरिसपज्जोविता पुरिससमण्णागता पुरिसमेव अभिउंजियाणं चिट्ठंति। से जहा णामते अरती सिया सरीरंसि जाता सरीरंसि वड्ढिया सरीरसमण्णागता सरीरं चेव अभिउंजियाण चिट्ठति। एवमेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव चिट्ठंति।

अर्थ :—पुरुषादि का धर्म है वह पुरुष प्रवर पुरुष ज्येष्ठ, पुरुषकल्पिक पुरुष प्रद्योतित पुरुष समन्वागत पुरुषों को आकर्षित करके रहता है। जैसे कि अलसिये अथवा ग्रंथि विशेष शरीर में पैदा होता है, शरीर से वृद्धि पाते हैं, शरीर में समन्वागत और शरीर में आकर्षित हो करके रहते हैं। इसी प्रकार धर्म आदि पुरुषादि को घेरे रहते हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

પુરુષાદિનો ધર્મ છે તે પુરુષપ્રવર, પુરુષજ્યેષ્ઠ, પુરુષકલ્પિક, પુરુષપ્રદ્યોતિત, સમન્વાગત પુરુષોને આકર્ષિને જ રહે છે. જેવી રીતે કે અલસિયા અથવા ગ્રંથિવિશેષ (ગાંઠ) શરીરમાં પૈદા થાય છે, શરીરને સાથે વૃદ્ધિ પામે છે, શરીરમાં સમન્વાગત અને શરીરમાં આકર્ષિત થઇને જ રહે છે. તે જ પ્રમાણે ધર્મ આદિ પણ પુરુષત્વાદિને ઘેરીને રહે છે.

दगभाल अर्हतर्षि महाराज पार्श्वनाथ की परंपरा के प्रत्येक बुद्ध हैं। अतः पुरुषादानी महाराज पार्श्वनाथ के धर्म की प्रस्तावना कर रहे हैं। जिस प्रकार से महाराज महावीर के लिए श्रमण विशेषण आता है उसी प्रकार महाराज पार्श्वनाथ के लिए पुरुषादानी विशेषण आता है। भगवान पार्श्वनाथ के लिए पुरुषप्रवर आदि विशेषण दिए गये हैं।

टीका :—धर्मा इति ग्रामधर्मा मैथुनाभिलाषाः ग्रामधर्माः पुरुषादिकाः पुरुषप्रवराः पुरुषज्येष्ठाः पुरुषमेवाधिकृत्य कल्पिताः प्रद्योतिताश्च पुरुषं समन्वागता भवन्ति । पुरुषमेवाभियुज्य पुरुषमवेक्ष्यमाणास्तिष्ठंति, यथा नामारती ति गंडविशेषः स्याच्छरीरे जाता शरीरे वृद्धाः शरीरं समन्वागता शरीरमेवाभियुज्य तिष्ठंति ।

धर्म अर्थात् ग्रामधर्म विषयाभिलाषा पुरुषादिक पुरुषप्रवर पुरुषज्येष्ठ ऐसे पुरुष को लक्षित करके वे ग्रामधर्म कहे गए हैं । वे पुरुष के निकटवर्ती कहे गए हैं । वे ग्रामधर्म पुरुष को नियोजित कर के उसकी अपेक्षा करते हैं । जैसे अरति· ग्रंथि विशेष शरीर में पैदा होती है और शरीर में ही वृद्धि पाती है ।

टीकाकार का मत भिन्न है, वे धर्म से यहां पर ग्रामधर्म अर्थात् विषय की अभिलाषा लेते हैं ।

एवं गंडे वम्मीके थूमे रुक्खे वणसंडे पुक्खरिणी णवरं पुढवीय जाता भाणियव्वा, उदगपुक्खले उदगं णेतव्वं ।

अर्थ :—इसी प्रकार गांठ=ग्रंथि वाल्मिक स्तूप वृक्ष वन खंड पृथ्वी में पैदा होते हैं, पृथ्वी में रक्षण पाते हैं और पृथ्वी से वृद्धि पाते हैं । पुष्करणी कुवाँ आदि पानी से संबंध रखते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

એ જ પ્રમાણે ગાંઠ (ગ્રન્થિ) વાલ્મિક, સ્તૂપ વૃક્ષ, વન–ખંડ પૃથ્વીમાં પૈદા થાય છે, પૃથ્વીમાં જ રક્ષણ પામે છે ને પૃથ્વીમાં જ વૃદ્ધિ પામે છે. પુષ્કરણ વાવડી આદિ પાણી સાથે સંબંધ રાખે છે.

टीका :—एवं गंडं स्फोटो शरीरे जात इत्यादि वाल्मीकः स्तूपो, **वृक्षो वनखंडपृथ्वीकां जातः पुष्करिणी पृथिव्यां जाता पुष्करोदके जातः ।**

से जहा णमते अगणिकाए सिया अरणीय जाते जाव अरणिं चेव अहिभूय चिट्ठति एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया तं चेव ।

अर्थ :—जैसे अग्नि अरणी में पैदा होती है और अरणी का सहारा लेकर रहती है । इसी प्रकार धर्म पुरुषादि के आश्रित रहता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

જેવી રીતે અગ્નિ અરણીમાં પેદા થાય છે અને અરણીને આશ્રય કરીને જ રહે છે, તે જ પ્રમાણે ધર્મ પુરુષત્વાદિને આશ્રિત થઈ રહે છે.

जैसे आग अरणी के काष्ठ में व्यापक रूप में रहती है, इसी प्रकार धर्मपुरुषादानी महाराज पार्श्वनाथ के आश्रित रहता है ।

अथवा जैसे बीज में विराट वृक्ष समाया रहता है और अग्नि अरणी में समाई हुई रहती है इसी प्रकार मानव मन में वासना छुपी रहती है । कहा जाता है कि बालक निष्पाप रहता है । यह ठीक है, क्योंकि उसके मन में उस समय किसी प्रकार की वासना नहीं रहती है, फिर भी वासना के बीज तो वहां मौजूद ही रहते हैं । वे ही बीज समय पाकर विशाल रूप लेते हैं । वह वयस्क होता है तब सब प्रकार के छल प्रपंच सीख जाता है । उसकी वृत्तियाँ स्पष्ट हो जाती हैं । वृत्तियाँ मानव मन में सुप्त रहती हैं । अनुकूल संयोग को पाकर जागृत हो जाती हैं ।

टीका :—अग्निकायो अरण्याज्जातो अरणिमेवाभिभूय तिष्ठति एवमेव धर्मास्तिष्ठन्ति ।

धित्तेसिं गामणगराणं, जेसिं महिला पणायि ।
ते यावि भिक्किया पुरिसा, जे इत्थिणं वसं गता ॥ १ ॥

अर्थ :—वे ग्राम और नगर धिक्कार के पात्र हैं, जहां पर नारी शासिका है । वे पुरुष भी धिक्कार के पात्र हैं, जो नारी के वश में हैं ।

जो देश स्त्रियों का गुलाम है, सुरा और सुन्दरी ही जहां का जीवन-लक्ष्य है वह देश निश्चय ही पतन के कगारे पर है । जहां के जन-जीवन में वासना के दौर चलते हैं, जन-मानस पर स्त्रियों का शासन है, जहां के निवासी वासना के गुलाम बन चुके हैं, फिर उन्हें दूसरी गुलामियों को निमन्त्रण-पत्र भेजने की आवश्यकता नहीं रहेगी । यहां पर अर्हतर्षि

जिस नारी के शासन की ओर संकेत करते हैं, वह वासना का शासन है। इतिहास के अध्ययन से यह मालूम होता है कि एक बार रोम में इतनी वासना बढ गई थी कि वहाँ का भक्त कलाकार प्रभु की मूर्ति बनाता था तब भी उसके लिए छबि वहां की सर्व श्रेष्ठ नर्तकी या वेश्या की रहती थी। इसी लिए रोम जैसा देश इतनी जल्दी पतन के गर्त में गिर गया।

स्त्री भी शासन कर सकती है, यदि उसमें योग्यता है। राज्य-व्यवस्था का उत्तरदायित्व निभाना भी एक कला है। अर्हतर्षि का उससे विरोध नहीं है। विरोध जनता के दिल और दिमाग में स्त्री और वासना के एकाधिपत्य से है। क्यों कि जो देश वासना का गुलाम है वह सारे विश्व का सचमुच गुलाम है।

टीका :—धिक् तेषां ग्राम-नगराणां येषां स्त्रियः प्रणायिकाः, ते चापि धिक्कृताः पुरुषा ये स्त्रीणां वशंगताः। गतार्थः ॥ १ ॥

गाहाकुला सुदिव्वा व, भावका मधुरोदका।
फुल्ला व पउमिणि रम्मा वालक्कंता व मालवी ॥ २ ॥
हेमा गुहा ससीहा वा, माला वा वज्झकप्पिता।
सविसा गंधजुत्ती वा, अंतोदुट्ठा व वाहिणी ॥ ३ ॥
गरन्ता मदिरा वा वि, जोगकण्णा व सालिणी।
णारी लोगम्मि विण्णेया, जा होज्जा सगुणोदया ॥ ४ ॥

अर्थ :—नारी सुदिव्य कुल के गाथा के सदृश है, वह सुवासित मधुर जल के सदृश है, विकसित रम्य पद्मिनी के सदृश है और व्यालाक्रान्त मालती के सदृश है।

वह स्वर्ण की गुफा है, पर उसमें सिंह बैठा हुआ है। वह फूलों की माला है, पर विष पुष्प की बनी हुई है। दूसरों के संहार के लिए वह विष मिश्रित गंध-पुटिका है। वह नदी की निर्मल जलधारा है, किन्तु उसके बीच में भयंकर भंवर है, जो प्राणापहारक है। वह मत्त बना देने वाली मदिरा है। सुन्दर योगकन्या के सदृश है। यह नारी है, स्वगुण के प्रकाश में यथार्थ नारी है।

गुजराती भाषान्तर :—

નારી સુદિવ્ય કુલની કીર્તિ જેવી છે; સુગંધયુક્ત મધુર જળ જેવી છે, વિકસિત રમ્ય પદ્મિનીની જેવી છે આમ છતાં તે સાપથી વિંટાયેલ માલતી વેલડી જેવી છે.

તે સ્વર્ણની ગુફા છે, પરંતુ તેમાં સિંહ બેઠો છે. તે ફૂલોની માળા છે, પરંતુ તે ઝેરી પુષ્પોની બનેલી છે. બીજાઓના સંહાર માટે તે ઝેરમિશ્રિત ગંધપુટિકા છે. તે નદીની નિર્મળ જળધારા છે. પરંતુ તેની વચમાં ભયંકર ભમરો છે, જે પ્રાણઘાતક છે. તે ઉન્મત્ત બનાવી દેનાર મદિરા છે. સુન્દર યોગકન્યા સમાન છે, જેને નારી કહેવાય છે. સ્વગુણના પ્રકાશમાં યથાર્થ નારી છે.

टीका :—सुदिव्या भावका प्रेक्षणीया मधुरोदका पुष्पिता रम्येव पद्मिनी ग्राहाकुला मालतीव, व्यालाक्रान्ता, हैम-गुहेव ससिंहा, मालेव वध्यकल्पिता, गन्धयुक्तिरिव सविषा, वाहिनीव नदी सेना वान्तर्दुष्टा, मदिरेव गरान्ता, योगकन्या स्त्रीरिव योगपरा शालिनी गृहिणी, एवं नारी लोके विज्ञेया भवेत् स्वगुणोदया प्रकटीकृता स्त्रीदोषाः ॥ २-४ ॥

नारी कठोरता और कोमलता का समन्वय है। अर्हतर्षि नारी के विविध रूपों का चित्रण करते हैं। नारी का बाहरी सौन्दर्य निरुपम है। वह सुवासित जल-धारा खिलती हुई पद्मिनी है। वह मालती भी है किन्तु उस पर सर्प लिपटा हुआ है। वह स्वर्ण गुफा-सी है उसका बाहरी आकर्षण बहुत ज्यादा है, किन्तु उसमें सिंह बैठा हुआ है।

यहां स्त्री के दोनों रूप बताए गए हैं। नारी पद्मिनी और मालती की माला के समान है। वह गुफा-सी है, जिसमें क्रूरता का साक्षात् रूप सिंह दहाड रहा है। सुशिक्षित और सदाचारिणी नारी सुवासित पद्मिनी के समान है। उसके जीवन और स्वभाव से शील की सौरभ फैल रही है। वह माता मातृभूमि-सी पवित्र है। वह पृथ्वी की भांति सर्वसहा है। पृथ्वी पर कोई गंदगी कर रहा है, कोई उसको खोद रहा है, कोई उसपर अणुबम के धड़ाके कर रहा है, फिर भी वह मौन हो कर सब कुछ सहन कर रही है। इतना ही नहीं, मनुष्य उसको खाद के बदले में गंदे पदार्थ देता है। किन्तु धरित्री उसके बदले में जीवन-दायी खाद्य पदार्थ देती है। यही माता का कार्य है। वह तिरस्कार और अपमान सहती है तथा उसके बदले में सेवा और प्यार करती है।

यदि नारी के हृदय में वासना है और वह असदाचार की ओर कदम रखती है तो वह सर्पको लिपटती हुई मालती है। वह असंस्कारी और अशिक्षित है तो वह उसी प्रकार भयंकर होगी जिस प्रकार स्वर्ण की गुफा में भीषण गर्जना करता हुआ सिंह।

उच्छायणं कुलाणं तु, दव्वहीणाण लाघवो।
पतिट्ठा सव्वदुक्खाणं, णिट्ठाणं अज्जियाण य ॥ ५ ॥
गेहं वेराण गंभीरं, विग्घो सद्धम्मचारिणं।
दुट्ठासो अखलीणं व, लोके सूता किमंगणा ॥ ६ ॥

अर्थ :—असंस्कारी नारी कुल का नाश करती है, उसकी प्रतिष्ठा समाप्त करती है और दीन दुर्बलों का अनादर करती है। वह सब प्रकार के दुःखों की प्रतिष्ठा रूप है। अर्थात् समस्त दुःखों की जड है। वह आर्यत्व को भी समाप्त कर देती है। वह गंभीर वैसे की घर है। स्त्री सद्धर्मचारियों के लिए विघ्नभूत है।

गुजराती भाषान्तर :—

સંસ્કારહીન નારી કુલનો નાશ કરે છે, તેની પ્રતિષ્ઠાનો નાશ કરે છે અને દીન-દુબળાઓનો અનાદર કરે છે. તે બધા પ્રકારના દુઃખોની પ્રતિષ્ઠારૂપ છે. અર્થાત્ સમસ્ત દુઃખોનું મૂળ છે. તે આર્યત્વને પણ નષ્ટ કરે છે. તે ગંભીર વૈરોનું ઘર છે. સંસ્કારરહિત સ્ત્રી સદ્ધર્મનું આચરણ કરનારાઓ માટે વિઘ્ન સમાન છે.

दुष्ट स्वभाव की नारी का यहां पर चित्रण दिया है। जिस नारी के स्वभाव में स्वार्थ, कठोरता और दुराचार है तो वह समाज और देश दोनों को ही नष्ट कर देती है। सुन्दर स्वभाव को नारी-कुल की इज्जत बढाती है। वहां कुत्सित स्वभाव की नारी कुल की प्रतिष्ठा को समाप्त कर देता है। चेटक और कोशिक की महायुद्ध की ज्वाला में चिनगारी का काम करने वाली कौणिक की रानी पद्मा थी। उसी के स्वार्थी हृदय ने दोनों कुलों को युद्ध की ज्वाला में ढकेला था।

स्वार्थिनी नारी पैसे को सम्मान देती है। अपने पारिवारिक जनों को भी वह पैसे के ही गज से नापती है। जो पैसेदार होता है उसका अधिक सम्मान करती है। उसका निकटतम पारिवारिक जन उसके आंगन में आया हो, पर यदि दुर्भाग्य से उसके पास संपत्ति नहीं है तो वह उसको आदर नहीं देगी। उसके स्वागत में भी भेदभाव करेगी। जिस नारी का स्वभाव क्षुद्र है उसके घर की शान्ति को वह नष्ट करेगी। सुन्दर स्वभाव की नारी घर को स्वर्ग बना देती है। सुंदर स्त्री स्वभाव की नारी स्वर्ग को भी नरक का रूप दे देती है। वह घर की आर्यता और पवित्रता को नष्ट कर देती है। कभी कभी वह परिवार के ही बीज गंभीर वैर की खाई खोद देती है। धर्मरत आत्माओं की शांति में वह विघ्नभूत भी बनती है। जब उसके हृदय में प्रतिहिंसा की भावना जागृत हो जाती है तो वह दुष्ट अश्व की भांति बलवती हो कर बदला लेने पर उतारू हो जाती है।

पर यदि नारी अपने स्वभाव की सहज कोमलता और करुणा लिए रहती है तो वह देवी बनती। इसीलिए आगम में स्त्री के लिए 'देवी' शब्द भी आया है। स्वभाव की दुर्जनता नारी में ही हो पुरुष में न हो ऐसी बात नहीं है। पुरुष तो कभी नारी से भी अधिक क्रूर बन सकता है और इसी लिए सातवीं नरक के द्वार को खटखटाता है। किन्तु यहां नारी का ही स्वभाव का वर्णन चल रहा है, इसलिए उसी के बुरे स्वभाव का चित्रण दिया गया है।

टीका :—कुलानां तूत्सादनं, द्रव्यहीनानां लाघवमनादरः सर्वदुःखाणां प्रतिष्ठा निष्ठा निधनं चार्यिकाणां वैराणां गंभीरं गुप्तं ग्रहं सद्धर्मचारिणां विघ्नो दुष्टाश्वो मुक्तखलिनः एवंश्रुता लोके किमंगना कुस्त्री, लाघओ अखलीणं बलवं ति पंचमषष्ठश्लोकयोः पदेषु लिंगविपर्ययः। गतार्थः ॥ ५-६ ॥

विशेषतः पांचवे और छठ्ठे श्लोकों में लिंग विपर्यय है।

इत्थिउ बलवं जत्थ, गामे सु णगरेसु वा।
अणस्सवस्सं हेसं तं अप्पव्वेसुय मुंडणं ॥ ७ ॥
घित्तेसिं गामणगराणं सिलोगो ॥ ८ ॥

अर्थ:—जिस ग्राम या नगर में स्त्रियाँ ही बलवती हैं बेलगाम घोडे की हिनहिनाहट या अपर्व दिनों में मुंडन के समान है। जहां पर स्त्रियों का शासन है वह ग्राम धिक्कार का पात्र है। प्रस्तुत अध्ययन का प्रथम श्लोक यहां भी वाच्य है।

जिस ग्राम और नगर में स्त्रियों का शासन है, जहां का विलासी पुरुष स्त्रियों का गुलाम है वह छोटा ग्राम हो या बडा नगर कभी भी प्रगति के पथ पर नहीं चल सकता है। वह नगर पौरुषहीन हो जाता है। वह बेलगाम के घोडे की हिनहिनाहट की भांति शब्द करता है। पर उसकी वाणी में पौरुष का तेज नहीं है। वह अपनी दिशा को बदल नहीं सकता उसके कार्य-कलाप वैसे ही होते हैं। जिस प्रकार से बिना पर्व का मुंडन।

स्त्रियां अपने स्वाभिमान और सदाचार की रक्षा में बलवती हों यह किसी भी देश के अपमान या कलंक की बात नहीं है। अपि तु कलंक की कहानी तब होगी जहां पर्दे में गुडियाँ-सी बनी नारियां अपने शील की रक्षा में असमर्थ होती हैं गुंडे और मव्वालियों के भय से घर के बाहर न निकल सकती हों। अपनी रक्षा के लिए जिनके पास आंसू की दो बडी बूंदों के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन न रह गया हों और जिस के देश कवि के लिए यह कहना पडे किः—

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आंखों में पानी ॥" —यशोधरा-मैथिलीशरण गुप्त।

देश की यह हालत गौरव की नहीं, अपि तु रौरव की होगी। देश की नारियां शेरनी हों, उनकी आंखों में इतना तेज हो कि मव्वाली उनको देखकर ही कांप उठे। जिस दिन से भारत की रमणियों का यह तेज गया, उसी दिन यह देश गुलामी की जंजीरों में जकडा गया!। क्योंकि कायर माता की संतान चूहों से भी डरती है। शेरनी का पुत्र ही शेर से खेल सकता है!।

पर यहां पर अर्हतर्षि द्वारा किया गया स्त्रियों का विरोध यही अभिप्राय रखता है कि जहां का पुरुष-समाज वासना के दल दल में फंस कर स्त्रियों का गुलाम बन गया है वह देश कभी भी उन्नति नहीं कर सकता है।

टीका:—**यत्र तु ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्री बलवती तदनश्वस्य शुनादेर्हेषाशब्देव पर्वरहितेषु वा दिनेषु मुंडनमिव भवति। गतार्थः ॥ ७-८ ॥**

धितेसिं वाला प्रथम श्लोक यहां भी वाच्य है।

डाहो भयं हुता सातो विसातो मरणं भयं।
छेदो भयं च सत्थातो, वालातो दसणं भयं ॥ ९ ॥

अर्थ:—अग्नि से जलने का भय है। विष से मरने का भय है। शस्त्र से छेदन का भय है। और सर्प से डसने का भय है।

गुजराती भाषान्तरः—

અગ્નિથી બળવાનો ભય છે, ઝેરથી મરવાનો ભય છે, શસ્ત્રથી કાપવાનો ભય છે અને સર્પથી કરડવાનો ભય છે.

टीका:—**हुताशात् भयं दाहो, विषान्मरणं शस्त्राच्छेदो व्यालाद् दशनं। गतार्थः ॥ ९ ॥**

चारों वस्तुएँ भयप्रद हैं। आग जलाती है, विष मारता है, शस्त्र छेदन करता है और सर्प डस लेता है। जो इन भयों पर विजय पाता है वही अभय हो सकता है। जिसने आत्मा की अमरता को यथार्थरूप से समझ लिया है वह शरीर की मृत्यु से कभी भी नहीं डर सकता और वह दुनियां की किसी भी शक्ति से नहीं डर सकना है।

संकीणीयं जं वत्थु, अपडिक्कारमेव य।
तं वत्थुं सुट्ठु जाणेज्जा, जुज्जंते जे णु जोइता ॥ १० ॥

अर्थ:—जो वस्तु शंकास्पद है और साथ ही उसका प्रतिकार में भी शक्य नहीं है, उस वस्तु के उपभोक्ता को उसका ठीक ठीक परिज्ञान होना चाहिए।

गुजराती भाषान्तरः—

જે વસ્તુ શંકાસ્પદ છે, અને સાથે સાથ તેનો પ્રતિકાર પણ અશક્ય છે, તે વસ્તુનો ઉપભોગ લેનારને તેનું ઠીક ઠીક ભાન હોવું જોઈએ.

जीवन में ऐसे भी प्रसंग आते हैं जब कि संदेहास्पद वस्तु का उपयोग भी अनिवार्य हो जाता है। किन्तु उसके सेवन के समय बड़ी सतर्कता की आवश्यकता रहती है। सबसे पहले उस वस्तु को जानना होगा और साथही उसका परिणाम भी जानना आवश्यक होगा। यदि यह न जाना तो वह वस्तु विघात भी कर सकती है।

जब आवश्यकता देखता है तो वैद्य रोगी को सोमल भी देता है। किन्तु उसके परिणाम का परिज्ञान सर्वप्रथम आवश्यक है। यदि परिणाम का ज्ञान है तो विष भी अमृत होगा और यदि परिणाम नहीं जाना तो अमृत भी विष का काम कर देता है। अतः उसके उपभोक्ता को सावधानी के साथ उसका उपयोग करना चाहिए।

टीका :—शंकनीयं च यद्वस्तु यच्चाप्रतीकारं तत् सुष्ठु त्यक्तं जानीयात् यो युज्यमानानि युज्यमानानां वस्तूनां अनुयोजयिता भवति। गतार्थः ॥ १० ॥

जत्थत्थि जे समारंभा, जेवा जे साणुबंधिणो।
ते वत्थु सुट्टु जाणेज्जा, णेय सव्वविणिच्छए ॥ ११ ॥

अर्थ :—जहां पर जो समारंभ और जो सानुबंध है उस वस्तु को ठीक ठीक जाने वही परिज्ञान सभी पदार्थों के निश्चय में सहायक हो सकता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જ્યાં જે સમારંભ (એટલે હિંસારૂપી કોશીશ) અને સાનુબન્ધ (અનુસરણ કર્તા) છે તે વસ્તુને જે ઠીક ઠીક પ્રમાણમાં જાણે તેનુંજ પૂર્ણ જ્ઞાન બધા પદાર્થોના નિશ્ચયમાં મદદગાર થઈ શકે છે.

जो समारंभ और अनुबन्धक कारण है सम्यग्-दर्शन-संपन्न आत्मा उस समारंभ और अनुबन्ध का यथार्थ ज्ञान करे। श्रावक समारंभ करता नहीं है, किन्तु उसे करना पड़ता है। किन्तु कटु औषधि की भांति उसका सेवन करता है। जो कि उचित प्रमाण में होने से उसके लिए प्रगाढ बंध का हेतु नहीं होता है। श्रावक को जब आरम्भ के पथ से गुजरना पडता है तब वह महारंभ से न जाकर अल्पारम्भ का मार्ग चुनता है। वह महापथ से न जाकर गोपथ चुनता है।

टीका :—यत्र ये समारंभा ये वैतेषां सानुबन्धा भवन्ति। तानि वस्तूनि सुष्ठु जानीयात्। नैतत् सर्वविनिश्चये नैतद्धिताहिते अनादृत्य निश्चयनीयम् ॥ ११ ॥

जहां ये आरम्भ हैं और जहां उसके सानुबन्ध होते हैं; साधक उन समस्त वस्तुओं को ठीक ठीक जाने। जिसे वस्तु स्वरूप का ज्ञान नहीं है, वह संवर के स्थान पर आश्रव उपार्जित करेगा। किसी भी प्रकार को निश्चय करने के पूर्व साधक अपनी विवेक दृष्टि खुली रखे। जब उसकी बुद्धि पूर्वग्रहों से मुक्त नहीं है और उसकी बुद्धि का स्वार्थ और ममत्व ने घेर रखा है तब किसी भी प्रकार का निश्चय किया जाएगा वह दूषित निश्चय होगा।

जेसिं जहिं सुहुप्पत्ती, जेवा जे साणुगामिणो।
विणासी अविणासी वा, जाणेज्जा कालवेयवी ॥ १२ ॥

अर्थ :—जिसके लिए जहां पर सुखोत्पत्ति है और जो जिसके अनुगामी है, कालविद् उसके विनाशी और अविनाशी रूप को अवश्य ही देखे।

गुजराती भाषान्तर :—

જેને માટે જ્યાં સુખની ઉત્પત્તિ થાય છે, અને જે જેના અનુગામી છે કાલવિદે તેના વિનાશી અને અમર રૂપને અવશ્ય જોવું જોઈએ.

मानव के मन में सुख के लिए बहुत बड़ी प्यास है। अनन्त युग से ही वह सुख का अनुगामी है। कुछ वस्तुओं में वह सुख की उत्पत्ति देखता है और उस वस्तु का अनुगामी हो जाता है। विचारक देखेगा कि वह वस्तुजन्य सुख कितना स्थिरत्व लेकर आया है। पदार्थों में सुख की एक क्षणिक किरण आती है और उस सुख के पीछे विशाल दुःख की परम्परा खड़ी रहती है। सुख कुछ मिनटों के लिए आया किन्तु कितना विकराल है उसका क्षणिक रूप!। अतः समयज्ञ शाश्वत सुख का शोधक बने।

टीका :—यत्र येषां समारंभाणां सुखोत्पत्तिर्भवति, ये वैतेषां सानुगामिनोऽनुगमसहिता विनाशिनो वा विपरीतं वा भवन्ति तान् जानीयात् कालवेदविद्। वेदेतीह लौकिकं ज्ञानं ॥ १२ ॥

अर्थ :—जहां जिन समारंभों अर्थात् हिंसात्मक प्रयत्नों द्वारा सुख खोजा जाता है और जो उसके अनुगमनकर्ता होते हैं वे विनाश के पथिक हैं। अथवा वे विपथ-गामी हैं। समयज्ञ तथा वेदज्ञ ऐसा जाने। यहां पर वेद से लौकिक ज्ञान अभिप्रेत है।

गुजराती भाषान्तर :—

જ્યાં જે સમારંભો અર્થાત્ હિંસાત્મક પ્રયત્નો દ્વારા સુખ શોધવામાં આવે છે અને જે તેના અનુગમનકર્તા હોય છે, તે વિનાશના માર્ગના મુસાફીર છે. અથવા તે વિપથગામી છે. સમ્યક્ તથા વેદજ્ઞે એવું જાણવું અહીંયા વેદથી લૌકિક જ્ઞાન અભિપ્રેત છે.

सीसच्छेदे धुवो मच्चु, मूलच्छेदे हतो दुमो।
मूलं फलं च सव्वं च, जाणेज्जा सव्ववत्थुसु ॥ १३ ॥

अर्थ :—शीस के छेदन से मृत्यु निश्चित है। मूल के छेदन से वृक्ष का विनाश निश्चित है। इसी प्रकार सभी वस्तुओं में विचारक मूल और उसके फल का विचार करे।

गुजराती भाषान्तर :—

માથું કાપી નાખવાથી મૃત્યુ નિશ્ચિત છે. જડ-મૂળથી જ ઝાડ કાપી નાખવાથી તેનો વિનાશ નિશ્ચિત છે. તે જ પ્રમાણે બધી વસ્તુઓમાં બુદ્ધિમાન્ મનુષ્યે મૂળ અને તેના ફળનો વિચાર કરવો જોઈયે.

किसी भी वस्तु के दो रूप होते हैं। एक उसकी जड़ और दूसरी उसकी शाखा। यदि किसी वस्तु को नष्ट करना है तो उसकी शाखा प्रशाखाओं नहीं बल्कि उसके मूल पर प्रहार करना होगा। यदि किसी वस्तु का विकास करना है तो भी उसके मूल का ही अभिसिंचन करना होगा। यदि दुःख को नष्ट करना है तो उसके लिए उसके निमित्त पर नहीं, उसके उपादान पर प्रहार करना होगा। दुःख की जड अशुभ भाव कर्म को ही समाप्त करना चाहिए।

सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते ॥ १४ ॥

अर्थ :—जो स्थान शरीर में मस्तक का है और वृक्ष के लिए मूल का है, वही स्थान समस्त मुनि धर्मों के लिए ध्यान का है।

गुजराती भाषान्तरः —

દેહમાં માથાનું જેટલું મહત્ત્વ છે અને વૃક્ષને મૂળનું મહત્ત્વ છે, તેટલું જ સ્થાન સમસ્ત મુનિ-ધર્મોને માટે ધ્યાનનું છે.

शरीर में मस्तक का स्थान सर्वोच्च है और वृक्ष के लिए उसकी जड महत्त्व रखती है। साधना में वही स्थान ध्यान का है। चित्तवृत्तियों का निरोध ध्यान है। योगशास्त्र इसी ध्यान की धुरी पर केन्द्रित है। उमास्वाति भी तत्वार्थसूत्र में ध्यान की परिभाषा देते है—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।—तत्त्वार्थ सूत्र अ० ९ सू० २७।

मन की बिखरी हुई किरणें जब किसी एक तत्त्व पर केन्द्रित हो जाती हैं तो उसकी शक्ति में प्रखरता आ जाती है। जब यह मन की संग्रहित शक्ति शुभ की तरफ अग्रसर होती है तभी वह आत्म-साधना का द्वार खोलती है। शुभ अध्यवसाय ही श्रमण साधना का मूल है।

टीका :—नवमश्लोकादारभ्य परिसादिकम्मेत्यादृषिभाषितं पुष्करपत्रोपमान्तमनुबध्यतेति व्यक्तं। दगभालाध्ययनम्। गर्दभालीयेत्यपरनामकम्।

नवम श्लोक से लेकर परिसाडि कम्म पर्यन्त ऋषि भाषित है। वह पुष्कर पर्यन्त अनुबध्य है जो कि व्यक्त है। इस प्रकार दगभालाध्ययन जिसका अपर नाम गर्दभालीय भी है समाप्त हुआ।

एवं से सिद्धे बुद्धे०। गतार्थम्।

ऋषिभाषितेषु दगभाली-गर्दभीयं द्वाविंशत्यध्ययनम्।

रामपुत्र अर्हतर्षि प्रोक्त

तेबीसवाँ अध्ययन

मानव अपने जीवन के लिए सौ सौ विचार रखता है । वकील बनना है उसके बाद यह करना है वहां जाना है। किन्तु कभी भी अपने मृत्यु के विषय में नहीं सोचता है । जोकि सृष्टि का अनिवार्य नियम है । मृत्यु से सब डरते किन्तु मृत्यु डरने की बदलने की वस्तु नहीं है । उससे हम अपना जीवन बदल सकते हैं । भारत के प्रधान मंत्री कहते हैं कि मृत्यु से नया जीवन मिलता है। जो व्यक्ति या राष्ट्र मरना नहीं जानते हैं वे जीना भी नहीं जानते हैं।—जवाहरलाल नेहरू।

जो मरना जानता है उसके लिए मौत भयंकर भी नहीं होती है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने जीवनदर्शन में ठीक ही कहा है:—

Death's stamp gives value to the coin of life,
making it possible to buy with life what is truly precious -विश्वकवि रवीन्द्रनाथ.

जीवन के सिक्के को मौत की छाप मूल्यवान बना देती है । इसी लिए जीवन देकर वास्तव में मूल्यवान वस्तु खरीदना संभव हो जाता है । मृत्यु का तत्वदर्शन ही प्रस्तुत अध्ययन का विषय है ।

सिद्धि ॥ दुवे मरणा अस्सिं लोए एवमाहिज्जंति तं जहा-सुहमतं चेव दुहमतं चेव । रामपुत्तेण अरहता इसिणा बुइतं ।

अर्थ :—इस लोक में दो प्रकार की मृत्यु बताई गई है । जैसे कि सुख रूप मृत्यु और दुःख रूप मृत्यु । राम पुत्र अर्हतर्षि इस प्रकार बोले ।

गुजराती भाषान्तर :—

આ લોકમાં મરણના બે પ્રકાર માનવામાં આવે છેઃ સુખરૂપી મૃત્યુ અને દુઃખરૂપી મૃત્યુ, રામપુત્ર અર્હતર્ષિ આમ બોલ્યા.

जन्म लिया हुआ प्राणी मरता है । सिद्धान्तों में मतभेद हो सकते हैं, परन्तु मौत में दो मत नहीं होते हैं । किन्तु मृत्यु की भी कला होती है । एक की मृत्यु दुनियां के लिए आशीर्वाद रूप बनती है जब कि दूसरे का जीवन भी अभिशाप होता है । जिसके जीवन में खुशबू है, वह जब मरता है तो कोटि कोटि हृदय रो पडते हैं । दूसरे भी एक प्रकार का व्यक्ति है जो कि जब अपनी जीवन लीला समाप्त करता है तब जनता के मुंह से सहसा निकल पडता है कि 'अच्छा हुआ, गांव की उपाधि दूर हो गई ।।'

यहां पर जिन दो प्रकार की मृत्यु का निरूपण किया गया है एक सुख रूप मृत्यु और दूसरी दुःख रूप मृत्यु है। जिसका जीवन सुखमय रहा है जिसने अपने जीवन में शान्तिमय कार्य किया होगा, दूसरों के पथ में भी जिसने शान्ति के फूल बिछाए होंगे उसकी मौत भी सुखरूप होगी । इसके विपरीत जिसने दूसरे के जीवन में आग लगाई होगी और स्वयं भी जीवन भर उसी आग में जलता रहा होगा, अतः उसका जीवन दुःखमय है और उसकी मृत्यु भी कभी सुखमय नहीं होगी । आगम की परिभाषा में इसको 'पंडित मरण' और 'बाल मरण' का नाम दिया गया है ।

संतिमे य दुवे ठाणा अक्खाया मरणंतिया ।
अकाममरणं चेव सकाममरणं तहा । —उत्तरा० अ० ५ गाथा २

संसार में दो प्रकार के मानव होते हैं । एक तो वे हैं जो मौत को देख कर रोए, चिल्लाए और मर गए । दूसरे वे हैं, जिन्होंने मौत को देखते ही वीरता के साथ उसका स्वागत किया और अभय की प्रतिमा बन कर मौत की गोद में सो गए । स्थूलभाषा में दोनों ही मरे हैं । किन्तु चिन्तक की आंखों में एक को मौत ने मारा है और दूसरे ने मौत को मारा है । संसार के महापुरुष इसी अर्थ में मृत्युजेता हैं ।

टीका :—**द्वे मरणे अस्मिंल्लोके एवमाख्यायते, तद् यथा-सुखमृतं चैव दुःखमृतं चैवात्र विज्ञप्तिं व्याख्यानं ब्रवीमि। गतार्थः ।**

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं कि मत और मृत में शब्द की क्रीडा है । जो कि जान बूझ कर ही रखे गए हैं ।

इमस्स खलु ममाइस्स असमाहियलेसस्स गंडपलिघाइयस्स गंडबंधणपलियस्स गंडबंधण-पडिघातं करेस्सामि, अलं पुरेमएणं। तम्हा गंड-बंधण-पडिघातं करेत्ता णाणदंसणचरित्ताइं पडिसेविस्सामि।

अर्थ :—मैं असमाधित लेश्या वाला हूं। अर्थात् मेरी लेश्या शुभ नहीं है। राग द्वेष की ग्रन्थि ने मुझे पराजित कर रक्खा है। उस ग्रन्थि से मेरी आत्मा बद्ध है। अब मैं ग्रन्थि बन्धन को तोड फेकूंगा। पहले मैं दुःख-मृत्यु अर्थात् अकाम मृत्यु से मरा वही बहुत है। अब मैं ग्रन्थिच्छेद कर के ज्ञान दर्शन चारित्र की आराधना करूंगा।

गुजराती भाषान्तर :—

હું અનુચિત લેશ્યાવાળો છું. એટલે મારી લેશ્યા શુભ નથી. રાગ–દ્વેષની ગ્રન્થિએ મને પરાજિત બનાવ્યો છે. તે જ ગ્રન્થિથી મારો આત્મા બંધાયેલો છે. હવે હું ગ્રન્થિ બંધનને તોડીને ફેંકી દઇશ. પહેલા હું દુઃખ મૃત્યુ અર્થાત્ અકામ મૃત્યુથી મર્યો તે જ ઘણું છે. હવે હું ગ્રન્થિચ્છેદ કરીને જ્ઞાન દર્શન ચારિત્રની આરાધના કરીશ.

अप्रशस्त लेश्या और राग द्वेष की परिणति ही दुःख मूलक मृत्यु के मूल हेतु हैं। एक कहावत है कि 'जैसी मति वैसी गति'। जिसने अपने जीवन में जिसने अशुभ कर्म ही किए हैं, दूसरों की शान्ति भंग की है, अपनी शान्ति के लिए दूसरों को रुलाया है वह आत्मा कभी भी शान्ति पूर्वक नहीं मर सकती है। मृत्यु जीवन की परीक्षा का परीक्षा-फल है। अध्ययन और उत्तर पुस्तिका के ही आधार पर परीक्षा-फल आता है। जिसके जीवन की उत्तर कापियां गलत हैं उसका परीक्षा-फल कभी भी अच्छा नहीं आ सकता है।

राग और द्वेष की ग्रन्थियां प्रगाढ़ हैं। आत्मा राग–द्वेषाग्नि में झुलस रहा है। मृत्यु की घडियों में भी मन के उद्गार शान्त नहीं हुए हैं, इस अवस्था में मृत्यु सुन्दर नहीं हो सकती है। जिसका मन निर्वैर है वह मृत्यु की गोद में इस प्रकार सोएगा मानो निद्रा की गोद में सोया है। जिसका मन अन्तर की अग्नि से झुलस रहा है वह शान्त निद्रा भी नहीं पा सकता है। इस अवस्था में शान्त-मृत्यु उसके नसीब में कहां! मृत्यु भी एक प्रकार की निद्रा है। उस निद्रा से आदमी जाग सकता है जब कि इस महानिद्रा में सोनेवाला पुनः नहीं उठ सकता है। इतना ही तो अन्तर है दोनों में।

मृत्यु के क्षणों में स्मृति स्वच्छ हो जाती है। सारा जीवन फिल्म की तरह उसके सामने आ जाता है। यदि जीवन का इतिहास भलाई का इतिहास है तो मृत्यु के मुँह मे पहुंचते हुए भी उसके मुख पर सन्तोष की रेखा रहेगी। उसके लिए मौत मानो मां की गोद रहेगी। मौत उसके लिए वॉरन्ट नहीं, मान पत्र ले कर आएगी!। पर जिसके जीवन के इतिहास के पन्नों पर बुराई के काले निशान पडे हैं उसके लिए मौत मानो वॉरन्ट लेकर आई है। उसको देखते ही वह कांप उठता है।

शान्तिपूर्ण नींद पाने के लिए चिन्ताओं को कोट की भांति उतार कर खूंटी पर टांग देना चाहिए। इसी प्रकार शान्तिपूर्ण नींद पाने के लिए वैर की गठरी को दूर करनी चाहिए। केवल निर्वैर मन ही शान्ति पा सकता है। इसीलिए ऋषि बोलते हैं कि मैं आज तक अशुभ लेश्या और राग द्वेष की गठरी को सिर पर लेकर घूमता रहा हूं। वह गठरी मौत के समय भी मेरी छाती पर शिला की भाँति पड़ी है और मैं शान्ति पूर्वक मर भी नहीं सकता। अतः अब मैं उसको एक ओर पटक कर मेरे निज-भाव, ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करूंगा।

टीकाः—इमस्स खलु ममीकारिणो असमाहितलेश्या असमाहितमनोवृत्तिकस्य गंड इति ग्रन्थ्यार्थे तेन परिघातितस्य बाधितस्य बंधनपरिघातस्येति पाठः शंकनीयैव गंडबंधनप्रतिघातं करिष्यामि। अलं पुरोमतेन दुःखं मरणमिति तस्मात् तं पूर्वोक्तं कृत्वा ज्ञान-दर्शनचारित्राणि प्रतिसेविष्ये। गतार्थः।

गंड शब्द ग्रंथी के अर्थ में आया है। तथा बंधन परिघात का पाठ शंकास्पद है।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं किः—

'इमस्स करेस्सामि' बतलाता है कि वह सभी कठिनाइयों से दूर रहना चाहता है। आत्मा के बंधनों से भी दूर रहना चाहता है और ऐसा लगता है कि दूसरा गंड शब्द निकाल देना चाहिए। गंड शब्द उत्तराध्ययन की टीका में ग्रन्थि अर्थ में आया है। आचारांग सूत्र में भी यह शब्द आया है। किन्तु उसका अर्थ यहां ठीक नहीं लगता है। पलिघाएइ शब्द यहां पर विशेष रूप से जोड़ने में आया है।

णाणेणं जाणिय दंसणेणं पासित्ता संजमेणं संजमिय तवेण अट्ठविहकम्मरयमलं विधुणित विसोहिय अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीतिवत्तित्ता सिवमयल-मरुय-मक्खय-मव्वा-बाह-मपुणरावत्तियं, सिद्धिगतिणामधिज्जं ठाणं संपत्ते अणागतद्धं सासतं कालं चिट्ठिस्सामित्ति ।

अर्थ :—ज्ञान से जान कर, दर्शन से देखकर और संयम से संयमित होकर तप से अष्टविध कर्मरज रूप मल को त्याग कर आत्मा को विशुद्ध बना कर अनादि अनन्त दीर्घ मार्गवाले चातुरन्त संसार की वन वीथि को पार कर शिव अचल अरु-ज=रोगरहित अक्षय व्याबाध पुनरागमन निरपेक्ष, सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त करूंगा और भविष्य में शाश्वत काल तक रहूंगा ।

गुजराती भाषान्तर :—

જ્ઞાનથી જાણીને, દર્શનથી જોઈએ અને સંયમથી સંયમિત થઈને તપથી અષ્ટવિધ કર્મ રજ રૂપી મળને ત્યજીને આત્માને વિશુદ્ધ બનાવીને, અનાદિ અનન્ત દીર્ઘ માર્ગ વાળા ચાતુરન્ત સંસારની વન માર્ગને પાર કરીને શિવ, અચલ, અરુજ=રોગરહિત અક્ષય, અવ્યાબાધ પુનરાગમન નિરપેક્ષ, સિદ્ધિગતિ નામના સ્થાનને પહોંચીશ અને ભવિષ્યમાં અનંત કાળ સુધી રહીશ.

टीका :—ज्ञानेन ज्ञात्वा दर्शनेन दृष्ट्वा संयमेन संयम्य तपसाऽष्टविधकर्मरजोमलं विधूय विशोध्यानादिकं अनव-दग्रं दीर्घाध्वानं चातुरन्तसंसारकान्तारं व्यतिपत्य शिवमित्यादिविशेषितं सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तो अनागतध्वानं शाश्वतं कालं स्थास्यामीति प्रतिबोधितस्य कस्यचिदध्यवसायः ।

आत्मा वासना को मन में लिए अनन्त बार मरा है किन्तु सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र को लेकर यदि देह का त्याग करता है तो भव परम्परा की शृंखला को तोड देता है और शाश्वत शान्ति का पथिक हो जाता है ।

एवं से सिद्धे बुद्धे० । गतार्थः ।

रामपुत्तीयज्झयणं

रामपुत्र-अर्हतर्षिप्रोक्तं त्रयोविंशतितमं अध्ययनं
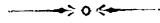
हरिगिरिअर्हतर्षि प्रोक्त-

चौबीसवां अध्ययन

विश्वरूपी रंग मंच पर आत्मा नए नए अभिनय लेकर आता है । यद्यपि उसका स्वभाव ज्ञाता और द्रष्टा है, किन्तु वह स्वयं ही अभिनेता बन गया है और अभिनेता भी ऐसा जो रंग भूमि को निज भूमि मान बैठा है । यही मिथ्या विचार उसकी मंजिल को दूर ढकेलता जाता है और उसका हर कदम पथ को बढाता जाता है ।

जिस क्षण उसकी तंद्रा भंग होती है तब वह समझ लेता है कि मैं विश्व रंगमंच का अभिनेता नहीं, द्रष्टा मात्र हूं । कषाय और वासना की गठरी सिरपर ले कर द्वार भटकना मेरा स्वभाव नहीं है । यह सारा नाटक ही गलत रूप से खेला जा रहा है । जिस क्षण आत्मा स्वरूप का बोध कर लेता है । उसी क्षण सारा दृश्य बदल जाता है । यही सब कुछ प्रस्तुत अध्ययन का विषय है ।

सव्वमिणं पुरा भव्वं इदाणिं पुण अभव्वं । हरिगिरिणा अरहता इसिणा बुइतं ॥

अर्थ :—पहले यह सब कुछ भवितव्यतापेक्ष था । अब भवितव्य भावी भाव से अनपेक्षित है । हरगिरि अर्हतर्षि इस प्रकार बोले ।

---

१ नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे । चरित्तेण य गिण्हाइ तवेण परिसुज्झई । उत्तर. अध्यय. २८ गाथा ३५ ।

गुजराती भाषान्तर :—

પહેલા આ બધાનો ભવિષ્યકાલ ઉપર જ આધાર હતો. હવે ભવિતવ્ય ભાવી ભાવથી અનપેક્ષિત છે· હરગિરિ અર્હતર્ષિ એમ બોલ્યા.

आत्मा अनादि का यात्री है । यात्रा के पथ में इसने कहां कहां विश्राम किया है । कितने रूप बदले हैं यह कौन कह सकता है ? । पहले जो रूप था वह रूप आज नहीं है और आज जो रूप है वह रूप कल रहेगा या नहीं कह नहीं सकते । कभी यही आत्मा देव बन कर स्वर्ग के सिंहासन पर बैठा है, तो कभी नरक की काल कोठरी में कैद भी रहा है । कभी इत्र में नहाया है तो कभी गन्दी नाले का कीड़ा बन कर कुलकुलाया है । जैनदर्शन आस्तिक दर्शन है । वह यह स्वीकार करता है कि आत्मा अपने पिछले जन्म में अनन्त रूप बदल कर आया है । अनन्त अनन्त जन्म और अनन्त बार की मौत को देख कर वह आया है । फिर किसका सौन्दर्य शाश्वत रहा ! ।

टीका :—सर्वमिदं पुरा भाव्यं भवितव्यापेक्षमिदानीं पुनरभव्यं भवितव्यानपेक्षं भवति ।

पहले भवितव्य के अनुरूप ही प्रवाह था । अब भवितव्य से अनपेक्षित होता है । अतीत में जो कुछ हुआ वह हमारे भवितव्य के अरूप था । अब वर्तमान हमारे भवितव्य के अनुरूप नहीं है । इसका अर्थ यह हुआ कि पहले हम नियतिवाद के अधीन थे । अब नियतिवाद से मुक्त है । यह भाव ठीक नहीं लगता है । तथ्य यह हो सकता है कि हम वर्तमान में जो कुछ भी है वह हमारे पूर्व कृत कर्म के अनुरूप है । अतीत में हमने जो कुछ किया है वर्तमान उसी के अनुरूप है । किन्तु भविष्य हमारे पुरुषार्थ पर अवलम्बित है । यदि अतीत हमारा निर्माता है तो भविष्य के निर्माता हम हैं । अतः हम जैसा बनना चाहते हैं वैसा बन सकते हैं ।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं कि, 'इसके पहले भी दुनियां थी, किन्तु मैं इसका क्षण-स्थायी रूप नहीं जानता था. किन्तु अब मेरे लिए इस के प्रति अल्प भी आकर्षण नहीं है । संसार स्वभाव का ज्ञान मुझे है । फिर भी मेरी आत्मा ज्ञान आदि में रमण करती है । संसार की प्रियता सुख लेकर आती है किन्तु साथही उसकी विरुद्ध दिशा भी मेरे सामने रहेगी । क्योंकि उसका सुख शाश्वत नहीं है । दुनियां उसके हानि और लाभ के साथ संसार की निस्सीमता को प्रकट करेगी । गद्यांश के विश्लेषण के लिए इतना विवरण पर्याप्त है । यदि इसको सही रूप से समझना है तो आगे आनेवाले पद अनिर्व्यष्टि अथवा निर्व्यष्टि को भी समझने का प्रयास करना चाहिए' ।

चयंति खलु भो य णेरइया णेरतियत्ता, तिरिक्खा तिरिक्खत्ता, मणुस्सा मणुस्सत्ता देवा देवत्ता, अणुपरियट्टंति जीवा चाउरंतं संसारकंतारं कम्माणुगामिणो तधा वि मे जीवे इधलोके सुहुप्पायके परलोके दुहुप्पादए अणिए अधुवे अणितिए अणिच्चे असासते सज्जति रज्जति गिज्झति मुज्झति अज्झोववज्जति विणिघातमावज्जति ।

अर्थ :—नारक नारकत्व को, तिर्यग्योनिक तिर्यक् योनि को, मनुष्य मनुष्यत्व को, देव देवत्व को छोड़ते हैं । कर्मानुगामी जीव चातुरन्त संसार वन में परिभ्रमण करते हैं । तथापि मेरी आत्मा इस लोक में सुख का उत्पादक है । परलोक में दुःखोत्पादन करता है । अनियत, अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत लोक में यह आत्मा आसक्त और अनुरक्त होता है, गृद्ध होता है, विषयासक्त बनता है और व्याघात प्राप्त करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

નારક નારકત્વને, તિર્યગ્યોનિક તિર્યક્ યોનિને, મનુષ્ય મનુષ્યત્વને, દેવ દેવત્વને છોડે છે. કર્માનુગામી જીવ ચાતુરન્ત સંસાર વનમાં ભમતો રહે છે. તથાપિ મારો આત્મા આ લોકના સુખનું ઉત્પાદન કરનાર છે. પરલોકમાં પણ દુઃખ સર્જે છે. અનિયત, અધ્રુવ, અનિત્ય અને અશાશ્વત લોકમાં આ આત્મા આસક્ત થએલા અને અનુરક્ત હોય છે, લોભી હોય છે, વિષયાસક્ત બને છે અને વ્યાઘાત પ્રાપ્ત કરે છે.

नारक नारकत्व को छोडकर कभी पशु योनि पाता है । पशु कभी पशु योनि को छोड कर मनुष्य और कभी देव भी बनता है । किन्तु परिवर्तन का यह नर्तन कभी भी समाप्त नहीं हो सकता है । देव बन कर देवों का वैभव पाया, सागरों तक वहां का सुख लिया, परन्तु एक दिन वहां से भी धक्का मार कर निकाल दिया गया । किन्तु यह भुलक्कड पथिक आत्मा जहां कहीं जाता है वहीं अपना डेरा डाल कर रहने लगता है, मानो वहां से उसको कभी हटना ही नहीं है ! । इतना ही नहीं वह

अशाश्वत को शाश्वत बनाने के लिए हजारों प्रयत्न करता है। परिणाम में उसके वे प्रयत्न वर्तमान क्षणतक ही सीमित रह जाते हैं। वह वर्तमान के सुख को लक्ष्य में रख कर चलता है, किन्तु सुख के वे अल्प क्षण परलोक के अनन्त दुःखों को जन्म देते हैं। फिर आत्मा वहां रहता है। उसमें आसक्त होता है किन्तु एक दिन उसके सुख का महल ताश के पत्तों का महल हो जाता है। और वह सब कुछ वहीं छोड कर आगे चलने के लिए बाध्य हो जाता है।

टीका:—च्यवन्ते खलु भो नैरयिका नैरयिकत्वात् तिर्यग्योनयस्तिर्यग्योनित्वात् मनुष्या मनुष्यत्वात्, देवा देवत्वादनुपरिवर्तन्ते जीवाश्चातुरंतं-संसारकंतारं कर्मानुगामिनः, तथापि मम जीव इहलोके सुखोत्पादकः, परलोके दुःखोत्पादकोऽनिजोऽध्रुवोऽनित्यः, अणितिए अणिचेत्ति पदे समव्युत्पत्ती,' सज्जति यावन् मुह्यत्यध्युपपद्यते विनिघातमापद्यते। गतार्थः।

इमं च णं पुण सडण-पडण-विकिरण-विद्धंसणधम्मं अणेगजोगक्खेमसमायुत्तं जीवस्स अतारेलुकेकिं संसारनिघेढिं करेति, संसारणिव्वेढिं करेता शिवमचल० चिट्ठिस्सामित्ति।

अर्थ:—यह सडन पडन, विकीर्ण और विध्वंस धर्मयुक्त-संसार अनेक योग क्षेम और समत्व से रहित जीव के लिए दुस्तरणीय है। वह संसार की वृद्धि करता है। संसार प्रपंच में फंस कर यह दावा करता है कि शिव अचल स्थान को प्राप्त करूंगा।

गुजराती भाषान्तर:—

આ સડન પડન, વિકીર્ણ અને વિધ્વંસ ધર્મયુક્ત સંસાર અનેક યોગ ક્ષેમ અને સમત્વથી રહિત જીવને માટે દુસ્તરણીય છે. તે આ સંસારની વૃદ્ધિ કરે છે. સંસાર પ્રપંચમાં ફસાઈને આ દાવો કરે છે કે શિવ અચલ સ્થાન પ્રાપ્ત કરીશ.

जब तक संसार की आसक्ति नहीं समाप्त हो जाएगी तब तक भव-परंपरा भी नहीं समाप्त होगी। जो तप और साधना करता है और बोलता है कि मैं भव-समाप्ति के निकट हूं वह भ्रान्ति में है। जब तक जिसने योग और क्षेम को नहीं पहचाना है और समता का पाठ नहीं पढा है तब तक उसकी साधना भव-परम्परा को समाप्त करने में सहायक नहीं हो सकती है। समता साधना का अन्तःप्राण है। साधना चलती रही, और कषाय की मात्रा बढती रही उस साधना का कोई मूल्य नहीं है। एक आचार्य ने ठीक ही कहा है पंथ और वेष में मुक्ति नहीं है तत्व के उलझन और तर्क के छिलटे निकालने में भी मुक्ति-नहीं है, अपि तु कषाय मुक्ति-ही यथार्थ मुक्ति है।

नाशम्बरत्वे न सितम्बरत्वे न तत्ववादे न च तर्कवादे। न पक्षसेवाश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल एव मुक्तिः।

टीका:—**इमां च पुनः शटन, पटन, विकिरण, विध्वंसन, धर्ममनेक, योगक्षेम, समायुक्तजीवस्यातीर्यां संसारनिर्व्यष्टिं करोति लोकप्रपंचं सेवते, इमां च संसारनिर्व्यष्टिं कृत्वा संसारकांतारमनुपरिवर्तते, तन्त्वनुवृत्य संवेगनिर्वेदौ गता इत्यर्थपूर्णार्थमध्याहार्यं परन्तु शिवमित्यादि यावत् चिट्ठिस्सामित्ति अपास्यं मिथ्येह निवेशितत्वात्।**

योग, क्षेम और समभाव से रहित आत्मा के लिए दुस्तीर्य शडन, पडन, विकिरण और विध्वंसन गुण युक्त संसार निर्वयष्टि अर्थात् उलझी हुई गुत्थी है। समभाव रहित साधक संसार की छोर रहित गुत्थी को सुलझाने के लिए विश्व में भटकता रहता है। उस गुत्थी में उलझा हुआ आत्मा संवेग निर्वेद को प्राप्त करता है। यह अपूर्ण अर्थ वाली बात है। किन्तु शिव इत्यादि विशेषण युक्त स्थान में ठहरूंगा यह खंडित हो जाता है। अतः यह पाठ मिथ्या रूप में यहां आगया है।

प्रोफेसर शुब्रिंग् भी लिखते हैं कि मोक्ष में परिवर्तन संभव नहीं है। अतः ऐसा लगता है कि वे शब्द गलत ढंग से बिठा दिए गए हैं।

तुम्हा अधुवं असासतमिणं संसारे सव्वजीवाणं संसतीकरणमिति णच्चा णाणदंसणचरित्ताणि सेविस्सामि, णाण-दंसण-चरित्ताणि सेवित्ता अणदीयं जाव कंतारं वितिवतित्ता सिवमचल जाव ठाणं अब्भुवगते चिट्ठिस्सामि।

अर्थ:—अतः अध्रुव अशाश्वत संसार में सभी आत्माओं के लिए संसक्ति और दुःख ही है। यह जान कर मैं ज्ञान दर्शन चरित्र स्वीकार करूंगा और इस प्रकार अनादि यावत् भव-वीथिका का अतिक्रमण कर शिव शाश्वत स्थान को प्राप्त करूंगा।

गुजराती भाषान्तर :—

અતઃ અધ્રુવ, અશાશ્વત સંસારમાં બધા આત્માઓને માટે સંસક્તિ અને દુઃખ જ છે. તે જાણીને હું જ્ઞાન, દર્શન, ચારિત્ર સ્વીકાર કરીશ અને આ પ્રકારે અનાદિ યાવત્ ભવમાર્ગનું ઉલ્લંઘન કરીને શિવ, શાશ્વત સ્થાનને પ્રાપ્ત કરીશ.

टीका :—तस्मादध्रुवमशाश्वतमिदं संसारे सर्वजीवानां संसृतिकारणमिति ज्ञात्वा ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि सेविष्ये। तानि सेवित्वा संसारकांतारं व्यतिपत्य शिवस्थानमभ्युपगतः स्थास्यामीत्यत्र निश्चयः ।

कंतारे वारिमज्झे वा, दित्ते वा अग्गिसंभमे ।
तमंसि वाडधाणे वा सया धम्मो जिणाहितो ॥ १ ॥

अर्थ :—वन में, पानी में या अग्नि की ज्वाला में अंधकार में या छोटे गांव में सर्वत्र सर्वज्ञ कथित धर्म साथ होना चाहिए ।

गुजराती भाषान्तर :—

વનમાં, પાણીમાં કે અગ્નિની જ્વાળામાં, અંધકારમાં કે નાના ગામમાં સર્વત્ર સર્વજ્ઞકથિત ધર્મ સાથે હોવો જોઈએ.

साधना की धारा सर्वत्र एक रूप से ही वहनी चाहिए । साधक गांव में हो या नगर में । उसके जीवन में एकरूपता होनी ही चाहिए । ऐसा नहीं है कि गांव की साधना कुछ दूसरी हो और शहर की कुछ दूसरी; तथा वन की साधना इससे भी निराली हो । शहर के चतुर श्रावकों के सामने हमारी साधना का स्वर तीव्र हो उठे । गांवों में ग्रामीणों की अबोधता का लाभ उठा कर अपने साधना को नीचे स्तर पर ले आए और वन की सूनी वीथिका में स्वतंत्र हो जाए ।

भगवान् महावीर दशवैकालिक में साधक जीवन में एकरूपता लाने के लिए निर्देश करते हुए कह रहे हैं कि:—

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा गामे वा नगरे वा रण्णे वा अरण्णे वा एगओ वा परिसागओ वा सुते वा जागरमाणे वा।

साधक या साधिका गांव में हो या नगर में अथवा जंगल के वीरान प्रदेशों में हो, अथवा वह विशाल परिषद में ही क्यों न बैठा हो, वह सुषुप्ति में हो या जागरण में उसकी आत्म-साधना की धारा एक रूप से ही प्रवाहित रहे ।

अथवा प्रस्तुत गाथा का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि साधक सूने जंगल में हो, सागर की जल धारा में फेंक दिया गया हो अथवा आग की लपटों में ही उसे फेंक दिया गया हों तब भी सर्वज्ञ कथित धर्म से वह विमुख हो जाना कदापि स्वीकार नहीं करेगा ।

टीका :—वाडधाणेत्ति पदस्यार्थो न ज्ञायते । "वाडधान" इस पद का अर्थ अज्ञात है ।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं कि "तमंसि पाठ के आधार पर तम्भि होना चाहिए ।" परन्तु तंमंसि पद भी व्याकरणसम्मत है ।

"वटधन" शब्द यहां विशेष नाम के रूप में आया है, जब कि प्रस्तुत गाथा में वह विशेष नाम योग्य नहीं लगता है। साथ ही कान्तार वारि अग्गि और तमो शब्द केवल सामान्य विचार को लेकर आए हैं । ऐसी स्थिति में उसका अर्थ बाडे की जगह के रूप में होना चाहिए । कहीं वटघन का चन्द्राल अर्थ लिया गया है । परन्तु वह अर्थ कहीं भी व्यवहृत नहीं है ।

धारणी सुसहा चेव, गुरू भेसज्जमेव वा ।
सद्धम्मो सव्वजीवाणं, णिच्चं लोए हितंकरो ॥ २ ॥

अर्थ :—सर्वसहा पृथ्वी और महान् औषधियां प्राणिमात्र के लिए हितकर हैं । इसी प्रकार सद्धर्म भी समस्त प्राणियों के लिए सदैव हितप्रद है ।

प्रोफेसर जेकोबी ने अपनी पसंद की हुई कहानियों की अनुक्रमणिका में संशोधन भी किया है ।

गुजराती भाषान्तरः —

સર્વસહા પૃથ્વી અને મહાન ઔષધિઓ પ્રાણીમાત્રને માટે હિતકર છે. એ જ પ્રમાણે સારો ધર્મ પણ સમસ્ત પ્રાણીઓ માટે સદૈવ હિતપ્રદ છે.

१. चारपेन्टियर की प्रत्येक बुद्ध कहानियां । ५. १५१ ।

रोग ग्रस्त-मानव के लिए औषधि प्रिय है, एक किसान के लिए खेत की मिट्टी प्रिय है। क्योंकि वही तो उसे जीवन का आधार है। इसी प्रकार जीवन में प्रकाश की प्रेरणा देने वाला धर्म मानव के लिए हितावह है। क्योंकि आत्मा का स्वभाव ही धर्म है। आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "वत्थु सहावो धम्मं।" पर आज धर्म धर्मस्थानकों में है। मन्दिर और मस्जिदों में है, किन्तु वह आत्मा में नहीं है!। जोकि उसका अपना स्थान है। इसीलिए धर्म की विडंबना है।

सिग्घवट्टिसमायुत्ता, रथचक्के जहा अरा।
फडंता वल्लिच्छेया वा सुहदुक्खे सरीरिणो॥ ३॥

अर्थ :—जैसे रथ-चक्र में रहा हुआ शीघ्र घूमने वाला आरा सारे रथ को गति देता है अथवा जिस प्रकार से लता के छेद नष्ट होते हैं, इस प्रकार देहधारियों के सुख दुःख भी होते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જેવી રીતે રથના ચક્રમાં રહેલો ઝડપથી ઘુમાવતો આરો આખા રથને ઝડપથી લઈ જાય છે, અથવા જેવી રીતે લતાનો છેદ નષ્ટ થાય છે, તે જ પ્રમાણે પ્રાણિયોંમાં સુખ-દુ:ખ પણ હોય છે.

सुख एक ऐसा शब्द है जिसको समस्त देहधारी चाहते हैं। दुःख से सब कोई भागना चाहते हैं; सुख के पीछे प्राणी दौड़ता है और प्राणी के पीछे दुःख दौडता है। सुख की छाया में दुःख विश्राम करता है। भौतिक दुनियां में सुख अकेला ही नहीं आता है वह अपने साथी दुःख को भी अपने साथ छिपा कर ले आता है। मनुष्य सुख का स्वागत करता है, किन्तु उसके पीछे छिपे हुए दुःख की ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती है। अर्हतर्षि इसी तथ्य को रूपक द्वारा प्रकट करते हैं। रथचक्र में आरा लकडी के खंड लगे रहते हैं। जब रथ चक्र वेग से घूमता है तो आरा भी एक के बाद एक आता रहता है। इसी प्रकार जीवन के चक्र में सुख और दुःख आरा है। जीवन रथ चलता है और सुख दुःख का आरा भी घूमता रहता है। लता के छेद से संबन्धित अर्थ समझ में नहीं आता है। सुखदुःखे शब्द संस्कृत में द्वि वचन के अनुरूप है।

टीका :—वृत्तित्ति वृत्तिः-परिवर्तः, शीघ्रया तया समायुक्ता रथचक्रे यथाऽराः स्फटन्तो वा भंगुरा वल्लिच्छेदास्तथा शारीरिणः पुरुषस्य " सुहदुःखे " त्ति द्विवचनं संस्कृतकल्पं। गतार्थः।

संसारे सव्वजीवाणं, गेही संपरियत्तते।
उदुम्बकतरूणं वा, वसणुस्सवकारणं॥ ४॥

अर्थ :—संसार की समस्त आत्माएँ आसक्ति-को लेकर परिभ्रमण करती हैं। जैसे कि उदुम्बर वृक्षों का प्रसव दोहद व्यसनोत्सव का हेतु बनता है।

गुजराती भाषान्तर :—

संसारना બધાં પ્રાણી આસક્તિના કારણે ભવપરંપરામાં ફરે છે. જેવી રીતે ઉદુમ્બર વૃક્ષોના પ્રસવના દોહદ આફતને નોતરું આપવાને કારણ બને છે.

आसक्ति-भव-परम्परा का मूल है। जैसे सूत्रधार समस्त पात्रों को नचाता रहता है वैसे ही आसक्ति-समस्त आत्माओं को परिभ्रमण कराती है। संसार की व्याख्या करते हुए एक संत ने लिखा है कि "कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्तितः।" हृदय में कामनाओं का वास ही संसार है। जैसे उदुम्बर वृक्षों का प्रसव-दोहद व्यसनोत्सव का कारण बनता है अर्थात् उदुम्बर को पुष्पित होने पर मदनोत्सव मनाया जाता है। उसका पुष्पित होना विकारोत्तेजक है। इसी प्रकार आसक्ति-भव-परम्परा का मूल कारण है।

संसारे सर्वजीवानां गृद्धिः संपरिवर्तते। उदुम्बरतरूणां प्रसवदोहदो यथा व्यसनोत्सवकारणं रूपंगचेष्टादीनां हेतोः। गतार्थः।

वण्हिं रविं ससंकं च, सागरं सरियं तहा।
इंदज्झयं अणीयं च, सज्जमेहं च चिंतए॥ ५॥

अर्थ :—अग्नि, सूर्य, चन्द्र, सागर और सरिता इन्द्रध्वज सेना और नए मेघ का चिन्तन करना चाहिए।

गुजराती भाषान्तर :—

અગ્નિ, સૂર્ય, ચન્દ્ર, સાગર અને સરિતા, ઇન્દ્રધ્વજ સેના અને નવા મેઘનું ચિન્તન કરવું જોઈએ.

साधक चिन्तन के क्षणों में संसार की प्रमुख वस्तुओं के स्वरूप को अपने सामने रखे तो उसको प्रेरणा मिलती रहेगी। अग्नि तेजस्वी है, तेज और प्रकाश उसका गुण और धर्म हैं। उसको राज–महलों में जलाया जाय तब भी प्रकाश देगी और यदि गरीब के झोंपड़े में जलाया जाय तब भी प्रकाश ही देगी। साधक को चाहिए कि वह प्रकाशत्व और तेजस्विता अग्नि से ग्रहण करे, सूर्य और चन्द्र से क्रमशः तेजस्विता और शीतलता को ग्रहण करे, साथ ही कर्तव्य में नियमितता का पाठ सीखे। सागर और सरिता से गंभीरता और जीवन का कण कण लुटा देने का स्वभाव ग्रहण करे। इन्द्रध्वज और सेना से प्रेरणा और पुरुषार्थ पाये और नए मेघ से क्षणिक आभा और परहित में संपत्ति व्यय करने की प्रेरणा पाये। यदि साधक के पास खुली दृष्टी है और उसका मस्तिष्क चिन्तनशील है तो दुनियां का हर एक पदार्थ उसे कर्तव्य की प्रेरणा दे जाएगा।

टीका :—वह्निमित्यादि सद्यो मेघमिव चिन्तयेदकाण्डागमनगमनशीलम्। टीकाकार का कथन है कि साधक वह्नि आदि सभी को सद्य मेघ की भांति समझे। क्यों कि ये सब अकारण ही आने और जाने वाले हैं।

जोव्वणं रूवसंपत्तिं, सोभाग्गं धणसंपदं।
जीवितं वा वि जीवाणं, जलबुब्बुयसंनिभं॥ ६॥

अर्थ :—यौवन, रूप सौन्दर्य, सौभाग्य, धन, संपत्ति और प्राणियों का जीवन जल बुद्बुद के सदृश है।

गुजराती भाषान्तर :—

યૌવન, રૂપનું સૌંદર્ય, સૌભાગ્ય, ધન, સંપત્તિ અને જીવોની જીંદગી પાણીના પરપોટા જેવી છે.

यौवन और सौन्दर्य, सौभाग्य और सम्पत्ति मानव मन में छुपे हुए अहंकार के बीज हैं। यह दर्प का सर्प मानव मन को डसता भी है। किन्तु रूप का अहंकार क्यों?। जरा रूप और यौवन सब को एक ही सांस में समेट ले जाएगी। जीवन पानी का बुलबुला है, फिर इतना अहंकार क्यों?।

विकसता मुर्झा–ने को फूल, उदय होता छिपने को चन्द।
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मन्द।
यहां किसका स्थिर यौवन, अरे! अस्थिर छोटे जीवन। —महादेवी वर्मा।

देविंदा समहिड्ढीया, दाणविंदा य विस्सुता।
णरिंदा जे य विक्कंता, संखयं विवसा गता॥ ७॥

अर्थ :—दिव्य महर्द्धि से युक्त–देवेन्द्र, प्रख्यात दानवेन्द्र और महान् बलशाली नरेन्द्र एक दिन विवश होकर समाप्त हो गए।

गुजराती भाषान्तर :—

સ્વર્ગીય વૈભવથી (કાલશક્તિને) યુકત દેવેન્દ્રો, પ્રખ્યાત દાનવેન્દ્રો અને મહાન બળી નરેન્દ્રો એક દિવસ વિવશ થઈ લુપ્ત થઈ ગયા.

देवेन्द्र, दानवेन्द्र और एक मानवेन्द्र सत्ता और शक्ति के प्रतीक हैं, एक दिन जो सिंहासन पर बैठकर सिंह की भांति गर्जते थे, सम्पत्ति और वैभव जिनके आंगन में नाचा करते थे उन देवेन्द्रों को भी अपना सिंहासन त्याग कर एक दिन चल देना पडा। काल की कराल शक्ति ने शस्त्रों की छाया में बसने वाले सम्राटों को भी चल पडने के लिए विवश कर दिया। कौन अमर बन कर आया है और किसका यौवन अनन्त काल तक स्थिर रहा है!।

सव्वत्थ णिरणुक्कोसा, णिव्विसेसप्पहारिणो।
सुत्त–मत्त–पमत्ताणं, एका जगति ऽणिच्चता॥ ८॥

अर्थ :—अनित्यता जगत् में सर्वत्र निरुत्कृष्ट और निर्विशेष रूप से सुप्रमत्त सुप्त मत्त–और प्रमत्तों पर प्रहार करती है

गुजराती भाषान्तर :—

નશ્વરપણું જગત્માં સર્વત્ર નિરુત્કૃષ્ટ અને નિર્વિશેષ રૂપથી સુપ્રમત્ત, સુપ્ત અને પ્રમત્તપર ફટકો મારે છે.

अनित्यता सर्वत्र समान रूप से प्रहार करती है। निद्रा मद और प्रमाद जीवन की तीन कैंचियां हैं, जो कि मानव के सद्गुणों को काटती रहती हैं। अनित्यता सब के लिए समान है। जो निद्रा की गोद में खुर्राटे भर रहे हैं, जो मदिरा के प्यालों में ही जीवन की वास्तविक मस्ती देख रहे हैं और जो वासना की लहरों में बह रहे हैं उनके ऊपर मौत अट्टहास करती है। साधक! सावधान रह और जीवन की लडाई में विजय प्राप्त कर। विजय सदैव अप्रमत्त का ही साथ देती है।

देविंदा दाणविंदा य, णरिंदा जे य विस्सुता।
पुण्णकम्मोदयब्भूतं, पीतिं पावंति पीवरं ॥ ९ ॥

अर्थ:—देवेन्द्र, दानवेन्द्र और मानवेन्द्र पुण्य कर्म के उदय से जनता का प्रचुर प्रेम प्राप्त करते हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

દેવેન્દ્ર, દાનવેન્દ્ર અને માનવેન્દ્ર પુણ્ય કર્મના ઉદયથી જનતાનો પૂરો પ્રેમ પ્રાપ્ત કરે છે.

देवेन्द्रों के रत्न सिंहासन और नरेन्द्रों के स्वर्णसिंहासनों पर बैठनेवाला अपने आप को कभी भी न भूले। शक्ति के मद में वह यह न बोल उठे कि मेरी तलवार ने सिंहासन को स्थिर रखा है। यदि उसको पुण्य तत्व पर विश्वास है तो वह कभी भी अहंकार की भाषा में बात नहीं करेगा। पुण्य तत्व उसको मिथ्या अहंकार से दूर रखेगा और दूसरों के प्रति कोमल बनाएगा।

आऊ धणं बलं रूवं, सोभागं सरलत्तणं।
णिरामयं च कंतं च, दिस्सते विविहं जगे ॥ १० ॥

अर्थ:—आयु, धन, बल, रूप, सौभाग्य, सरलता और नीरोगता और प्रियता विश्व में विविध रूपों में दिखाई देती है।

गुजराती भाषान्तर:—

આયુષ્ય, ધન, બળ, રૂપ, સૌભાગ્ય, સરળતા, તંદુરસ્તી અને પ્રિયતા વિશ્વમાં વિવિધ રૂપોમાં જોવામાં આવેછે.

आयु, धन, बल, सौभाग्य, सरलता, नीरोगता और लोकप्रियता ये सभी एक साथ एक ही स्थल पर प्राप्त नहीं हो सकते। किसी का जीवन लम्बा है तो उसके पास धन का अभाव है। कहीं बल है तो रूप का अभाव है। यदि सभी वस्तुएँ एक साथ ही मिल जायँ तो मानव कर्म जैसी वस्तु को मानने के लिए तैयार न होगा। जहां पर विशाल सम्पत्ति है वहां पर चार पैसे भी खर्च करने का दिल नहीं है और जिसका दिल उदार है, समाज के विकास के लिए जिसके पास उत्साह है, कार्य करने की क्षमता है, तो उसकी स्थिति इतनी गिरी हुई है कि उसके लिए अपना निर्वाह भी एक समस्या बन गई है।

सदेवोरगगंधव्वे, सतिरिक्खे समाणुसे।
णिब्भया णिव्विसेसा, य जगे वत्तेय अणिच्चता ॥ ११ ॥

अर्थ:—देवसृष्टि, गंधर्व, तिर्यंच और मनुष्यसृष्टि इनमें अनित्यता सर्वत्र समरूप से निर्भय हो कर घूमती है।

गुजराती भाषान्तर:—

દેવસૃષ્ટિ, ગંધર્વ, તિર્યંચ અને મનુષ્યસૃષ્ટિમાં અનિત્યતા સર્વત્ર સમરૂપથી નિર્ભય બનીને ફરે છે.

देवसृष्टि हो या दानवसृष्टि, मानव-जगत् हो या पशु-जगत् अनित्यता सर्वत्र निर्भय संचरण करती है। स्वर्ण-भवनों में रहने वाले यह सोचते हैं कि हम अमर हैं। किन्तु देव-कुमारों का भी यौवन शाश्वत नहीं है। अमुक काल तक दिव्य भवनों में रहने के बाद एक दिन उनको भी वहां से चल देना पडता है।

पर्याय नय की दृष्टि से विश्व की कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है। वह प्रतिक्षण बदलती रहती है। अनित्यता की धुरी पर परिवर्तन का नर्तन चल रहा है। विश्व की कोई भी ताकत सृष्टि के इस नियम में परिवर्तन नहीं ला सकती है। एक सूक्ष्म अणु भी अपने पर्यायों में प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है और विराट् सुमेरु भी अपने पर्याय में परिवर्तित हो रहा है।

दाणमाणोवयारेहिं, सामभेयक्रियाहि य।
ण सक्का संणिवारेउं, तेलोकेणाविऽणिच्चता ॥ १२ ॥

अर्थ :—दान, मान, उपचार, साम और भेद आदि क्रियाएँ तो क्या तीनों लोक की शक्ति मिल कर भी अनित्यता को रोकने में सक्षम नहीं हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

દાન, માન, ઉપચાર, સામ અને ભેદ આદિ ક્રિયાઓ તો શું ત્રણે લોકની શક્તિ ભેગી થઈ જાય તો પણ અનિત્યતાને રોકવામાં સમર્થ થશે નહીં.

विशालकाय बांध जल की तीव्र धारा को रोक सकते हैं । किन्तु दुनिया में आज तक कोई भी ऐसा बांध नहीं बनाया जा सका है जो समय की धारा को रोक सके । पैसा देकर आप मान खरीद सकते हैं, मान देकर उपकार कर सकते हैं । किन्तु समय शक्ति और सम्मान देकर भी आप समय को नहीं खरीद सकते ! । साम और भेद की नीति विश्व के नक्शे को बदल सकती है, किन्तु अनित्यता के नक्शे को बदल देने की ताकत उनमें भी नहीं है । क्योंकि समय देकर आप पैसा पा सकते हैं, किन्तु पैसा देकर आप समय नहीं पा सकते ।

उच्चं वा जति वा णीयं, देहिणं वा णमस्सितं ।
जागरंतं पमत्तं वा, सव्वत्था णाभिलुप्पति ॥ १३ ॥

अर्थ :—उच्च हो या नीच जागृत, हो या प्रमत्त अनित्यता सर्वत्र सबको समाप्त करती है ।

गुजराती भाषान्तर :—

ઉચ્ચ હોય કે નીચ, સાવધાન અથવા મોહ પામેલો હોય અનિત્યતા સર્વત્ર બધાનો નાશ કરે છે.

आरा लकडीको काटता है, किन्तु उसके विषय में एक सिद्धान्त है कि आरा जब जाता है तब काटता है, आता है तब नहीं, किन्तु मानव के हर श्वास और प्रश्वास उसकी आयु काटते ही जाते हैं । प्रतिक्षण मानव की आयु कम हो रही है चाहे प्रमत्त हो अथवा अप्रमत्त, अनित्यता सब पर होती है ।

"एवमेतं करिस्सामि, ततो एवं भविस्सती" ।
संकप्पो देहिणं जो य, णं तं कालो पडिच्छती ॥ १४ ॥

अर्थ :—"मैं यह इस प्रकार करूंगा, उससे यह होगा" । मनुष्य के मन में इस प्रकार के अनेकों संकल्प चलते रहते हैं । किन्तु कराल काल उसके संकल्पों को स्वीकार नहीं करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

"હું આ રીતે કરીશ, તેથી આ થશે". એ પ્રકારના અનંત સંકલ્પ મનુષ્યના મનમાં ચાલ્યા જ કરે છે. પણ ભયાનક કાળ તેના અરમાનોનો જરા પણ વિચાર કરતો નથી.

मानव के मन में नए नए संकल्प पैदा होते रहते हैं । यह कार्य यदि इस ढंग से किया जाय तो इससे यह होगा । यह करेंगे फिर यह करेंगे किन्तु काल मानव के इन संकल्पों को उसी प्रकार से विध्वंस कर देता है जिस प्रकार से उत्तरी हवा उपवनों को नष्ट भ्रष्ट कर डालती है ।

भगवान् महावीर स्वामी मानव मन की इसी स्थिति का चित्रण पावा-पुरी के अन्तिम प्रवचन में देते हैं—

इमं च मे अत्थि इमं च णत्थि, इमं मे किच्चं इममकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए ॥—उत्तरा. अ० १४ गाथा १५ ।

इतना मुझे प्राप्त है और इतना मुझे और प्राप्त करना है, यह मैं कर चुका हूं और इतना करना शेष रह गया है । ये ही वे विकल्प हैं-जो मानव को मोह पाश में बांधे रहते हैं, पर अनित्यता उसके रंगीन स्वप्नों को चूर चूर कर देती है ।

जा जया सहजा जा वा, सव्वत्थेवाऽणुगामिणी ।
छाय व्व देहिणो गूढा, सव्वमण्णेतिऽणिच्चता ॥ १५ ॥

अर्थ :—प्राणी कहीं भी जाए अनित्यता छाया की भांति सर्वत्र साथ रहती है । छाया पृथक् परिलक्षित भी हो सकती है । किन्तु यह अनित्यता तो कभी दिखाई भी नहीं पडती है ।

गुजराती भाषान्तर :—

પ્રાણી કયાંય પણ જાય અનિત્યતા પડછાયાની માફક બધે ઠેકાણે તેના સાથે જ ફરે છે. પડછાયો તો જુદો પણ જોઈ શકાય છે. પરંતુ આ અનિત્યતા તો કયારે દેખાતી પણ નથી.

मानव जब सुख के क्षणों में रहता है तब वह समझ बैठता है कि मैं अमर हूं । जब कोई मकान खरीदता है तब वह रजिस्ट्री में लिखवाता है कि जब तक चन्द्र और सूर्य है तब तक इस मकान पर मेरा अधिकार रहेगा । पर ओ भोले इन्सान ! जब तक चन्द्र और सूर्य रहेंगे तब तक तूं रहेगा या नहीं ? ।

झूठी अमरता के स्वप्न उसे हजार हजार पाप करने के लिए प्रेरित करते हैं । दस पीढी आराम से रहे इतनी विशाल सम्पत्ति होने पर भी मानव का लोभी मन ग्यारहवीं पीढी के लिए चिन्तित रहता है ।

अर्हतर्षि बार बार अनित्यता का प्रतिपादन करते हैं । उसका तात्पर्य यह नहीं है कि संसार में नित्यता पदार्थ ही नहीं है । जैन दर्शन अनेकान्त वादी दर्शन है । उसकी एक आंख पदार्थ की अस्थिरता पर रहती है तो दूसरी आंख उसकी स्थिरता पर जमी रहती है । आचार्य सिद्धसेन दिवाकर पदार्थ की नित्यानित्यता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि:-

उप्पज्जंति वियंतिय भावा णियमेण पज्जवणयस्स ।

दवट्टियस्स सव्वं सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥ —सन्मति प्रकरण अध्याय १ गाथा ११ ।

पर्यायास्तिक की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी होता है । द्रव्यास्तिक नय की दृष्टि से पदार्थ अनुत्पन्न और अविनष्ट है । दूसरे शब्दों में वह ध्रुव है । अतः प्रत्येक पदार्थ नित्यानित्यात्मक है । फिर भी यहां पर अर्हतर्षि बार बार जो अनित्यता को ही सामने ला रहे हैं उसका कारण यह है कि अनित्यता मानव के मस्तिष्क में रही तो वह बुराई से बचेगा । वह उन नाजुक क्षणों में भी बुराई से बचेगा, जब कि सम्पत्ति की चमक उसको अपनी ओर खींच रही होगी । वह सोचेगा कि छोटीसी जिन्दगी के लिए पाप की इतनी बडी गठरी क्योंकर बांधी जाय ? ।

कम्मभावेऽणुवत्तंती, दीसंति य तधा तधा ।
देहिणं पकतिं चेव, लीणा वत्तेय अनिच्चता ॥ १६ ॥

अर्थ :—कर्म के सद्भाव में हो जो (अनित्यता) आत्मा के साथ रहती है और अनेक रूपों में परिलक्षित होती है । इस प्रकार देहधारियों की प्रकृतियों को अनित्यता ने लीन कर रखा है ।

गुजराती भाषान्तर :—

કર્મના અસ્તિત્વમાં જે જે અનિત્યતા આત્માની સાથે રહે છે અને અનેક રૂપોમાં પરિલક્ષિત થાય છે. આજ પ્રમાણે પ્રાણિઓના પ્રકૃતિને નશ્વરતાએ લીન કરી રાખી છે.

माना कि जो वृत्तियां हैं और जो प्रवृत्तियां हैं वे सभी कर्म के सद्भाव में ही रह सकती हैं । मानव की विविध रूपता और संसार की विचित्रता जो कुछ भी दिखाई दे रही है वे सभी कर्मजन्य हैं । कोई डॉक्टर बनने का स्वप्न देखता है, तो कोई वकील बनना चाहता है, कोई इंजिनियर बनने के लिए अमेरिका पहुंच जाता है, तो कोई मिनिस्टर बनने की साध रखता है । किन्तु यह अनित्यता सबको अपने में लीन कर लेती है । एक ही प्रहार में सब आशाओं का चूर करती हुई कहती है तुम्हारे सभी सपने झूठे होंगे ।

जं कडं देहिणा जेणं, णाणावण्णं सुहासुहं ।
णाणावत्थंतरोवेतं, सव्वमण्णेति तं तहा ॥ १७ ॥

अर्थ :—देहधारी नानाविध जो शुभाशुभ कृत्य करते हैं और मनुष्य नाना प्रकार के वस्त्रों से युक्त होता है और वह उसी को पूर्ण मान बैठता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

પ્રાણિઓ જે અનેક શુભાશુભ કૃત્યો કરે છે અને તે મનુષ્ય નાના પ્રકારના વસ્ત્રોથી યુક્ત થાય છે અને તેને જ તે સંપૂર્ણ માની બેસે છે.

मानव की अच्छाई और बुराई उसके शुभ और अशुभ आचरण पर ही निर्भर रहती है। किन्तु स्थूल द्रष्टा केवल बाहरी वस्त्रों को अच्छाई और बुराई नापने का गज बना लेता है। श्रेष्ठ वस्त्रधारियों को पवित्र आत्मा मानने को तैयार हो जाता है। किन्तु ऐसा मानने वाला यह क्यों भूल जाता है कि बुराई भी अच्छाई के वस्त्रों को पहन कर दूसरे को धोखा दे सकती है। और कभी अच्छाई भी बाहरी दुनियां से तिरस्कृत होकर बुराई के गंदे वस्त्र पहन सकती है, तो क्या गंदे वस्त्रों में लिपटी हुई अच्छाई से प्रेम नहीं करेंगे?

हां; तो सफेद कपडों के नीचे कभी काले दिल ढके रहते हैं। वस्त्रों से ही अच्छाई और बुराई नापने चलने वाला अभी जीवन की राहों में आंखें मूद कर चल रहा है। अनुभव की ठोकर उसकी पलकों को खोल भी सकती है।

अथवा कोषकार 'वत्थं' का एक दूसरा ही अर्थ देते हैं "पृथक् भिन्न" (पाइअ सद्दमहाण्णओ) इस अर्थ को मान्य करने पर गाथा का अर्थ दूसरा होगा। आत्मा शुभाशुभ जो भी कार्य करता है उसीसे वह अच्छा या बुरा बनता है। मनुष्य विविध रूपता युक्त है। समस्त मानव सृष्टि को हमें इसी प्रकार स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि मानव की श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता शुभाशुभ कार्यों पर निर्भर है।

कंती जे वा वयोऽवत्था, जुज्जंते जेण कम्मुणा।
णिव्वत्ती तारिसे तीसे, वायाए व पडिंसुका॥ १८॥

अर्थ :—जिस वय और अवस्था में जिस कर्म से क्रान्ति प्राप्त होती है उसकी वैसी ही रचना हो सकती है और वाणी से ऐसा ही सुना जाता है।

गुजराती भाषान्तर:—

જે ઉમર અને હાલતમાં જે કર્મની ક્રાન્તિ પ્રાપ્ત થાય છે, તેની તેવી જ રચના થઇ શકે છે અને વાણીથી તેવું જ સાંભળવામાં આવે છે.

मनुष्य के जीवन में एक अवस्था ऐसी भी आती है जिसमें गर्म खून कुछ नया सर्जन करता है। वह पुरानी निष्प्राण परम्पराओं को तोड कर नई दृष्टि प्राप्त करना चाहता है। उसका नया जोश सृष्टि में नया परिवर्तन लाने के लिए अकुलाता है। समाज में नया आदर्श स्थापित न करके उसको नया मोड देना ही नये खून का काम है। वृद्धावस्था में होश तो रहता है, किन्तु नया कुछ काम करने के लिए जोश नहीं रहता है। कोरा होश यदि कुछ नहीं कर सकता है तो कोरा जोश भी कुछ नहीं कर सकता। कोई नया काम करने के लिए होश और जोश दोनों चाहिए। साथ ही वाणी में बल भी चाहिए कि वह अपने विचारों को दूसरों के हृदय में बैठा सके। यदि विचारों के अन्दर क्रान्ति नहीं है तो आचार क्रान्ति कभी संभव नहीं है। क्रान्ति का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम विचारों में होता है। जिनके विचारों की दुनियां सोलहवीं सदी में रहती हो, जिन्हें नया कुछ भी करने में चिढ हो और जो अपने दिमाग पर नये विचारों के लिये 'प्रवेश नहीं' का बोर्ड लगाए घूमते रहते हैं उनके पास विचार क्रान्ति के बीज ही नहीं हैं। वे नए युग की नई चेतना को समझ नहीं सकते हैं। पर भूलना नहीं होगा जिसने युग की आवाज को ठुकराया है युग उनका साथ कभी नहीं दे सकता। युग भी उसी के सामने सिर झुकाता है जो दुनियां के अपमानों का विष पी कर भी अमृत बरसाते हैं।

टीका : —या कान्तिवयोऽवस्था वा येन कर्मणा युज्यते तादृशी तस्या निर्वृत्तिर्भवति वाचः प्रतिश्रुदिव। गतार्थः।

ता हं कडोदयुब्भूया, णाणागोयविकप्पिया।
भंगोदयाणुवत्तंते, संसारे सव्वदेहिणं॥ १९॥

अर्थ : —नानाविध गोत्रों के विकल्प आत्मा के कार्यों से बनते हैं। संसार के समस्त देहधारी भङ्गियों से उनमें रहते हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

નાનાવિધ ગોત્રોના વિકલ્પ આત્માના કાર્યોથી થાય છે. સંસારના સમસ્ત મનુષ્ય વિકલ્પથી તેમાં રહે છે.

उच्च और नीच गोत्र की सृष्टि आत्मा ही करता है। उसके शुभ और अशुभ आचार और विचार उच्च और नीच गोत्र के हेतु है। गोत्र कर्म के संबन्ध में जैन संसार पर वैदिक दर्शन की छाया है, इसी लिए वैदिक दर्शन की जन्मजात उच्चता और नीचता को उसने स्वीकार कर लिया है। उसके आधार के लिए गोत्र कर्म को आगे कर दिया जाता है। किन्तु जैन

१ 'गाय'.

दर्शन ने हमेशा जन्मज पवित्रता का निषेध किया है। उसका विश्वास कर्म में है। अतः मानव की श्रेष्ठता का उसने जन्म से नहीं कर्म से स्वीकार की है। यदि जन्म से ही किसी व्यक्ति में पवित्रता आ जाती है तो कर्म की फिलासफी ही समाप्त हो जाती है। साथ ही जीवन की साधना के लिए सारी बातें व्यर्थ होंगी।

'गोय' का पाठान्तर गाय मिलता है, यदि हम गाय को अनुलक्षित करेंगे तो गाथार्थ ही भिन्न होगा। कान्ति और वय के द्वारा ही आत्मा शरीरों की सृष्टि करता है और विकल्प से रहता है। अतः संसार में यह अनित्यता सर्वव्यापी है।

टीका :—ताहं तासां इह संबन्धे तु ताभ्यां कान्तिवयोभ्यां कृतोनोदयोद्भूता नानागात्रविकल्पिता अनेकगात्रेषु कृता भंग्योदयाः संसारे सर्वदेहिनामनुपरिवर्तन्ते ताभ्यामनित्यत्वात् ।

टीकाकार गात्र पाठ को अनुलक्षित करके गाथा का अर्थ प्रस्तुत करते हैं। ताहं यहां कान्ति और वय से सम्बन्ध रखता है। वय और कान्ति के द्वारा जो कुछ भी कर्म करता है, उसके अनुरूप ही शरीर का निर्माण करता है। शुभ अध्यवसायों से वह शुभ देह प्राप्त करता है और अशुभ से अशुभ देह। किन्तु इतना निश्चित है कि वह दोनों में एक साथ नहीं रह सकता।

कंदमूला जहा वल्ली, वल्लीमूला जहा फलं।
मोहमूलं तहा कम्मं, कम्ममूला अणिच्चया ॥ २० ॥

अर्थ :—कन्द से लता पैदा होती है और लता से जिस प्रकार से फल पैदा होते हैं इसी प्रकार मोहमूल से कर्म आते हैं और कर्म से अनित्यता।

गुजराती भाषान्तर :—

કન્દથી વેલ ઉત્પન્ન થાય છે અને લતાથી જે પ્રકારે ફલ ઉત્પન્ન થાય છે, તે જ પ્રકારે કર્મ મોહથી ઉત્પન્ન થાય છે અને અનિત્યતા કર્મથી ઉત્પન્ન થાય છે.

कन्द से लता और लता से फल पैदा होता है इसी प्रकार मोह से कर्म पैदा होता है और ये कर्म ही अनित्यता को जन्म देते हैं।

बुज्झंते बुज्झए चेव, हेउज्जुत्तं सुभासुभं।
कंदसंदाण-संबद्धं, वल्लीणं व फला-फलं ॥ २१ ॥

अर्थ :—बोध देने पर साधक शुभ और अशुभ का विवेक करने का बोध प्राप्त करे। जिस प्रकार से लता के फल और अफल (बुरे फल) कन्द की परम्परा से संबद्ध हैं, अर्थात् जैसा कन्द होगा वैसी ही लता होगी और वैसे ही अच्छे या बुरे उसके फल भी होंगे।

गुजराती भाषान्तर :—

બોધ આપ્યા પછી સાધકે શુભ અને અશુભનો વિવેક કરવાનો બોધ પ્રાપ્ત કરવો. જે પ્રકારથી લતાનું ફળ અને અફળ કંદની પરંપરાથી સંબંધ છે અર્થાત્ જેવો કંદ એવી જ લતા હશે અને એવા જ સારા અથવા ખરાબ તેના ફળો પણ હશે.

तत्त्वदर्शी उपदेश करते हैं। साधक शुभ और अशुभ में परित्याग का विवेक प्राप्त करे। साधक अशुभ का परित्याग करे और शुभ की ओर आए। इतना ही नहीं शुद्ध को प्राप्त कर के शुभ को भी छोड दे। लता के अच्छे या बुरे फल कन्द की अच्छाई या बुराई पर निर्भर करते हैं।

टीका :—अथ कर्मोच्यते बुध्यते चैव कर्महेतुयुक्तं शुभाशुभं यथा वल्लीनां फलाफलं पर्याप्तफलान्यपर्याप्तफलानि च बुध्यन्ते।

आत्मा कर्म का बन्ध कैसा करता यह जानना है तो उसका मूल हेतु जानना होगा। यदि उसका मूल शुद्ध अध्यवसाय है तो कर्म भी शुभ ही होगा। और यदि हेतु ही अशुभ है तो कर्म अशुभ होगा ही। यदि कर्म को हम फल कहें तो हम अध्यवसाय को हम बीज कह सकते हैं। कर्म का हेतु ही अशुभ नींव पर खडा है। ऐसी अवस्था में कर्म कभी शुभ नहीं

हो सकता है। एक कार्य बाहर से शुभ दिखाई पडता हो, परन्तु यदि उसका उद्देश्य बुरा है तो सारा कार्य ही बुरा होगा। दूसरी ओर एक कार्य बाहर से देखने में तो अशुभ लगता है, किन्तु उसका हेतु शुभ है तो वह कार्य शुभ होगा।

फल की मधुरता और कटुता उसके कन्द पर आधारित है। कन्द यदि मधुर है तो लता भी सुन्दर होगी और उसके फल भी रसप्रद होंगे। यदि कन्द ही बुरा है, तो लता फल विहीन होगी या कटु फल से युक्त होगी।

छिण्णादाणं सयं कम्मं, भुञ्जए तं न वज्जए।
छिन्नमूलं व वल्लीणं, पुव्वुप्पण्णं फलाफलं ॥ २२ ॥

अर्थ :—स्वकृत कर्मों के आदान अर्थात् द्वार को छेदन करके प्राप्त कर्मों को भोगे। प्राप्त का त्याग शक्य नहीं है, लता का मूल नष्ट कर दिया है, किन्तु पूर्व के उत्पन्न हुए फलाफल का उपभोग तो करना ही होगा।

गुजराती भाषान्तर :—

પોતે કરેલા કર્મોનું આદાન અર્થાત્ ગ્રહણનો જ રસ્તો નષ્ટ કરીને પ્રાપ્ત કર્મોને ભોગવે. કેમકે પ્રાપ્તને છોડવું શક્ય નથી. વેલના મૂળનો નાશ કર્યો છે, પરંતુ પૂર્વના ઉત્પન્ન થયેલા ફળાફળનો ઉપભોગ તો કરવો જ જોઈએ.

साधक कर्माश्रव का द्वार बन्द करे और जो उदयावलि का प्राप्त कर्म हैं उनको भोग कर क्षय करे। क्योंकि आश्रव द्वार का निरोध हो जाने से भविष्यकालीन कर्म-परम्परा समाप्त हो सकती है, किन्तु पूर्वबद्ध को तो भोगना ही होगा। लता का मूल काट देने से उसमें नए फल नहीं आसकते हैं, किन्तु पूर्वोत्पन्न शुभाशुभ फलों का उपभोग करना ही होगा।

टीका :—स्वयमात्मप्रयत्नेन छिन्नदानमप्युपादानं छिन्नं यस्य तत्कर्म भुज्यते न तद् वर्ज्यते अवश्यं वेदनीयं भवति यथा वल्लीनां फलाफलमिति पूर्ववत् पूर्वोत्पन्नछिन्नमूलमपि भुज्यते। गतार्थः ॥

छिन्नमूला जहा वल्ली, सुक्कमूलो जहा दुमो।
नट्ठमोहं तहा कम्मं, सिण्णं वा हयणायकं ॥ २३ ॥

अर्थ :—जिसकी जड छिन्न हो चुकी है ऐसी लता और जिसका मूल सूख गया है ऐसा वृक्ष दोनों ही नष्ट होने वाले हैं। इसी प्रकार मोह के नष्ट होने से आठों कर्म नष्ट हो जाते हैं। जैसे सेनापति के हटते ही सारी सेना के पैर उखड़ जाते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જેનું મૂળ કપાઈ ગયું છે એવી લતા અને જેનું મૂળ સૂકાઈ ગયું છે એવું ઝાડ બંનેનો નાશ નિશ્ચિત જ છે. જેવી રીતે સેનાપતિની પીછેહઠથી સારી સેના લડાઈનું મેદાન છોડી નાસી જાય છે, તેજ પ્રમાણે મોહ નાશ પામતાં આઠે આઠ કર્મ નાશ પામે છે.

जबतक मोह कर्म की २८ प्रकृतियां समाप्त नहीं होती हैं तब तक एक भी कर्म आत्मा से पृथक् नहीं हो सकता है। जिस प्रकार से सेनापति के हटते ही सेना मैदान को छोड कर भाग जाती है उसी प्रकार मोह के हटते ही समस्त कर्म समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि कर्म बन्ध का मूल हेतु राग चेतना और द्वेष चेतना है। और ये चेतना ही अन्य कर्मों के बन्धन में हेतु-भूत बनती हैं। अतः कर्म-परम्परा की समाप्ति के लिए मोह की जड पर ही प्रहार करना होगा। पहले दर्शन-मोह और बाद में चारित्र-मोह क्षय होगा। इनके क्षय हो चुकने पर शेष तीन घनघाती कर्मों को क्षय करने में अन्त मुहूर्त से अधिक समय की आवश्यकता भी नहीं रहेगी।

अप्पारोही जहा बीयं, धूमहीणो जहाऽनलो।
छिन्नमूलं तहा कम्मं, नट्ठसण्णोवदेसओ ॥ २४ ॥

अर्थ :—विनष्ट बीज और धूमहीन अग्नि जिस प्रकार शीघ्र समाप्त हो जाते हैं, इसी प्रकार मूल के नष्ट होते ही कर्म भी विनष्ट हो जाते हैं। जैसे नष्ट संज्ञा वाला उपदेशक समाप्त हो जाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

નાશ પામેલું બીજ અને ધુંવાડાવગરનો અગ્નિ જેવી રીતે તુરંત નાશ પામે છે. અને જેવી રીતે નષ્ટ સંજ્ઞાવાળો (એટલે આગમનું જ્ઞાન ભૂલી ગયેલ) ઉપદેશક પોતાના કામમાં અસમર્થ બની જાય છે તેજ પ્રમાણે મૂળ નાશ પામતાં જ કર્મો નાશ પામે છે,

जिसकी जड नष्ट हो गई उसका सब कुछ नष्ट है। पूर्वगाथा में इसके बहुत उदाहरण दिये गये हैं। उसी के अनुरूप यहां भी है। जो बीज नष्ट हो गया है फिर उसको चाहे कितना भी खाद और पानी प्राप्त हो वह ऊग नहीं सकता और धूमरहित अग्नि शीघ्र ही बुझ जाती है। यद्यपि यह उपमा सार्वत्रिक नहीं है जैसे कि लोहपिंड में अग्नि होने पर भी उसमें धुवां नहीं होता। फिर भी अन्य अग्निओं के लिए यह ठीक हो सकती है, साथ ही जिस उपदेशक की संज्ञा नष्ट हो चुकी है अर्थात् जो अपना अनुभव आगम सब कुछ भूल चुका है वह भी विद्यार्थियों की ज्ञान-पिपासा शान्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिस कर्म का मूल नष्ट हो चुका है वह आगे भवपरंपरा के रूप में फलित नहीं हो सकता।

टीका :—अप्ररोही यथा बीजं धूमहीन इवानलो नष्टसंज्ञो भ्रष्टोपदेश इव देशको गुरुस्तथा कर्म छिन्नमूलम्। गतार्थः।

जुज्जए कम्मुणा जेणं, वेसं धारेइ तारिसं।
वित्तकंतिसमत्था वा, रंगमज्झे जहा नडो ॥ २५ ॥

अर्थ :—जैसे कर्म होंगे वैसा ही वेष धारण करना उपयुक्त होगा और उसी के अनुरूप आत्मा सम्पत्ति सौन्दर्य और सामर्थ्य पाता है। जैसे रंगमंच पर नट विविध वेष धारण कर लेता है, अर्थात् जिस पात्र का जैसा कार्य होता है वैसा ही उसे वेषधारण करना पडता है।

गुजराती भाषान्तर :—

પોતાનાં કર્મોને શોભે તેવો જ વેશ ધારણ કરવો યોગ્ય છે અને તેને જ અનુરૂપ આત્મા સંપત્તિ, સૌંદર્ય અને સામર્થ્ય પ્રાપ્ત કરે છે. જેવી રીતે રંગભૂમિ પર નટ વિવિધ વેષ લઈ પોતપોતાનો ભાગ ભજવે છે, અર્થાત્ જે પાત્રનું જેવું કાર્ય હોય છે તેને તેવોજ વેષ ધારણ કરવો પડે છે.

सूत्रधार के संकेत पर विविध वेष में अभिनेता जिस प्रकार से रंगमंच पर उपस्थित होता है उसी प्रकार से आत्मा कर्म के संकेत पर विविध शरीर को धारण कर लेता है। सम्पत्ति, शक्ति और सौन्दर्य की न्यूनाधिकता कर्मों पर निर्भर करती है।

नाटक के पात्र की जैसी योग्यता है अथवा जैसा अभिनय उसको करना है वैसी ही वेष-भूषा उसको सजानी पड़ती है। नाट्यशाला में कार्य के अनुरूप पात्र को वेष आदि प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार आत्मा को भी कर्म के अनुरूप वस्त्र, संपत्ति, कान्ति और शक्ति प्राप्त होती है। कर्म के अनुरूप आत्मा को वस्त्र मिलते हैं, वस्त्र का एक अर्थ शरीर भी हो सकता है, क्योंकि भारतीय दर्शन शरीर को वस्त्र मानते हैं।

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।" —गीता अध्याय २ श्लोक २२ ॥

एक वर्ष के बाद मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए वस्त्र ग्रहण करता है, ऐसे ही आत्मा पुराने शरीर को छोड कर नए शरीर धारण करता है। अतः आत्मा कर्मानुरूप शरीर, वस्त्र, कान्ति और शक्ति को प्राप्त करता है।

टीका :— येन कर्मणा युज्यते पुरुषः तादृशं वेषं धारयति नटो यथा रंगमध्ये वृत्तकान्तिसमर्थः। गतार्थः।

संसारसंतई चित्ता, देहिणं विविहोदया।
सव्वा दुमालया चेव, सव्वपुप्फफलोदया ॥ २६ ॥

अर्थ :—विश्व संतति की विचित्रता देहधारियों को विविध रूप में उपलब्ध होती है। समस्त वृक्ष और लता विविध पुष्प और फलों से युक्त होते हैं, क्योंकि उसके बीज विभिन्न हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

આ ભવના અનેક પ્રાણિઓ બહુરંગી અનેક પ્રકારના વિવિધ રૂપોમાં મેવામાં આવે છે. સમસ્ત વૃક્ષ અને લતા તરહતરહના પુષ્પ અને ફળોથી યુક્ત છે; કારણકે તેના બીજ તદ્દન જુદા છે.

सृष्टि में विविधतासे भरा सौन्दर्य है। हर आत्मा के स्वकृत शुभाशुभ कर्म ही इस विश्व विचित्रता के मूल हैं। वृक्ष और लता के पुष्प और फल विविध होते हैं। विविधता का हेतु उनकी जड़ों की विभिन्नता है। बीज की विविधता फूल और फलों की विविधता का हेतु है।

टीका :—चित्रा नाना प्रकारा विविधोदया च देहिनां संसारसंततिसर्वद्रुमालया वनानीव भवन्ति सर्वपुष्पफलोदया । गतार्थः ।

पावं परस्स कुव्वंतो, हसए मोह-मोहिओ ।
मच्छं गलं गसंतो वा, विणिग्घायं न पस्सई ॥ २७ ॥

अर्थ :—मोह मोहित आत्मा दूसरों के लिए पाप करके हंसता है । मच्छ आटे की गोली को निगलता है, परन्तु उसके पीछे छिपे विनिघात (घातक कांटे) को वह नहीं देखता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

લોભથી મોહિત થએલો જીવ પોતાના લાભ માટે બીજાનું નુકસાન કરીને હસે છે. જેમ માછલી લોટની ગોળીને ગળે છે પરંતુ તેની પાછળ છૂપાયેલા વિનિઘાતકને (પ્રાણઘાતક કાંટા) ને તે જોતી નથી.

मोहित व्यक्ति दूसरों के लिए पाप के प्रसाधनों का निर्माण करता है । परिवार के संकुचित प्रेम के लिए दूसरे के हरे-भरे जीवन को उजाड़ देता है । दूसरे के मुँह का कवल छीन कर हंसता है । अपने नन्हे मुन्ने को हंसते देखने के लिए दूसरे के नन्हे मुन्ने को रुलाता है । किन्तु यह मच्छ की मूढता है जो आटे की गोली को ही देखता है, पर उसके पीछे छिपे हुए कांटे को नहीं देखता है । स्थूल द्रष्टा केवल वर्तमान के ही सुखों को देखता है । पर उसके पीछे छिपे हुए कांटे को नहीं देखता ।

परोवघायतल्लिच्छो, दप्प-मोह-बलुद्धुरो ।
सीहो जरो दुपाणे वा, गुणदोसं न विंदई ॥ २८ ॥

अर्थ : —दूसरे के विनिघात में तन्मय होने वाला व्यक्ति दर्प, मोह और बल का प्रयोग करता है । वृद्ध सिंह दुष्प्राण दुर्बल जीवों की हिंसा करता है । उसी प्रकार स्वार्थी मनुष्य वृद्ध सिंह की भांति दुर्बल प्राणिओं का शिकार करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

બીજાના વિનિઘાતમાં તન્મય થયેલ આત્મા દર્પ, મોહ અને બળના પ્રયોગ કરે છે. જેમ વૃદ્ધ સિંહ દુષ્પ્રાણ દુબળા જીવોની હિંસા કરે છે, તે જ પ્રમાણે સ્વાર્થી મનુષ્ય વૃદ્ધ સિંહની જેમ દુર્બળ પ્રાણીઓના શિકાર કરે છે.

अहंकारी मानव अपने बल का उपयोग दुर्बलों की रक्षा में नहीं, अपितु शक्तिहीनों को कुचलने में करता है और उसे देख उसका अहंकार हंसता है । आसुरी तत्व का सिद्धान्त है Might is right शक्ति ही सत्य है । सभी क्षेत्रों में यही हो रहा है । शक्तिशाली राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों को दबोचता है । उनके शक्तिस्रोतों को अपने हाथ में लेकर उनके साथ मनमाना खिलवाड़ करता है । उसकी अपनी राष्ट्रीय संपत्ति पर ही उस (छोटे राष्ट्रों)का अधिकार नहीं रह गया है । यह उपनिवेश वाद है । एक दबता रहे, कुचलता रहे और दूसरा उसे कुचलता रहे । यह मानवता का सिद्धान्त नहीं है । प्रत्येक मानव को स्वतंत्रता से जीने का अधिकार है । अपनी शक्ति के सही विकास का सबको सुअवसर प्राप्त होना चाहिए । बूट के नीचे दूसरे के प्राणों को दबोचे रहना दानवता का नियम है ।

सबल ने सदैव ही निर्बल को दबोचा है, पर उन्हें कुचल कर आप दानव बन जाते हैं । तो निर्बलों की रक्षा में अपनी शक्ति समर्पित कर आप देव बन जाते हैं । परन्तु मानव मानवता के सिद्धान्त को भूल चुका है । अर्हतर्षि सिंह के उदाहरण द्वारा उसे पुष्ट करते हैं । अर्हतर्षि वृद्ध सिंह द्वारा दुष्प्राण दुर्बल प्राणी की हिंसा का संकेत करते हैं । ऐसी ही भेड और भेडिये की कहानी भी प्रसिद्ध है ।

नदी के ढलाव की ओर एक भेड का बच्चा पानी पी रहा था । उपर की ओर भेड़िया पानी पीने आया । भेड के बच्चे को देखा तो उसके मुंह में पानी भर आया । परन्तु सोचा कि बिना अभियोग के किसी को मार देना इस बीसवीं सदी की सभ्यता के प्रतिकूल होगा । उसने अभियोग के स्वर में कहा "क्यों जी ! क्या तुम को पता नहीं है कि मैं पानी पी रहा हूं ? । तुम मेरा पानी जूठा कर रहे हो ।" "चचा ! जूठा पानी तो मैं पी रहा हूं, क्योंकि मैं ढलाव की ओर हूं !" । भेड ने नम्रता से जबाब दिया ।

"अच्छा, तो एक साल पहले तुमने मुझे गाली क्यों दी थी?"। अपना पहला निशाना खाली जाते देख कर ये भेडिये ने दूसरा तीर छोडा।

"चचा! मैं सात महीने का हूँ, फिर साल भर पहले मैं ने तुम को गाली कैसे दी?।" भेड के प्राण सुख रहे थे, फिर भी उसने कोमल शब्दों में उत्तर दिया।

"अच्छा, तो तुम्हारी मां कल हमारे सामने गुर्रा रही थी उसका ठीक जवाब मैं तुमको दूंगा।" भेडिया गुर्राते हुए बोला।

"पर साहब! मेरी अम्मा को मरे आज तीन महीनों हो गये, कल कहीं ख्वाब में तो नहीं देखी थी?।"

सब तीर खाली जाते देखकर भेड़िया झल्लाया और बोला, कि "कल के छोकरे! मेरे सामने जबान चलाता है?।" इतना कहकर एक ही छलांग में भेडिए ने उस मासूम भेड के बच्चे को धर दबोचा!।

सभ्य दुनियां की यही कहानी है!। बडी मछली छोटी मछली को निगल जाती है!।

पच्चुप्पण्णरसे गिद्धो, मोहमल्लपणोल्लिओ।
दित्तं पावइ उक्कंठं, वारिमज्झे व वारणो॥ २९॥

अर्थः—मोह मल्ल से प्रेरित आत्मा मात्र वर्तमान के रस में आसक्त होता है। मोह की प्रदीप्त ज्वाला से उद्दीप्त आत्मा मोह का तीव्र बन्धन करता है। जैसे कि पानी के बीच रहा हुआ हस्ति तीव्र उत्तेजना प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तरः—

મોહરૂપી મલ્લથી પ્રેરણા પામેલા આત્મા માત્ર ઐહિક સુખમાં આસક્ત થાય છે. જેવી રીતે પાણીની વચ્ચે રહેલો હાથી ઘણો ઉત્તેજીત થાય છે તેવી રીતે મોહની પ્રદીપ્ત જ્વાળાથી ઉદ્દીપ્ત આત્મા મોહના મજબૂત બંધનથી બંધાય છે.

मोह की मदिरा से मत्त बना आत्मा केवल वर्तमान के सुख को ही देखता है। वर्तमान को ही पूर्ण मान लेना सबसे बडी नास्तिकता है। "इहैकपरो नास्तिकः" वर्तमान क्षण को ही जो पूर्ण मान लेता है, आत्मा की अनन्त अनन्त अतीत और अनागत पर्यायों से इन्कार करता है, वह बहुत बडे अन्धकार में है।

सवसो पावं पुरा किच्चा, दुक्खं वेएइ दुम्मई।
आसत्तकंठपासो वा, मुक्कघाओ दुहट्टिओ॥ ३०॥

अर्थ:—दुर्बुद्धि आत्मा पहले स्ववश रूप में पाप करता है और बाद में दुःख का संवेदन करता है। जिस प्रकार मनुष्य आवेश में आकर गले में फांसी लगा कर मृत्यु को निमन्त्रण देता है और बाद में वेदना के कारण उससे बचना चाहता है।

गुजराती भाषान्तर:—

દુષ્ટ બુદ્ધિવાળો આત્મા પહેલાં પોતાને હાથે પાપો કરીને પછી દુઃખ અનુભવે છે. જે પ્રમાણે મનુષ્ય આવેશમાં આવીને ગળામાં ફાંસો નાંખી મૃત્યુને નિમંત્રણ આપે છે, અને પછી તેની વેદનાથી બચવા ચાહે છે.

आत्मा क्रिया करने में स्वतंत्र है किन्तु उसके फल भोगने में स्वतंत्र नहीं है। अमुक कर्म करें या न करें यह हमारी इच्छा पर निर्भर है, किन्तु एक बार जो कार्य कर लिया है उसके प्रतिफल से इन्कार नहीं कर सकते हैं। एक किसान अपने खेत में बीज बोने के लिए स्वतंत्र है, वह गेहूं या बाजरा जो चाहे बो सकता है, किन्तु एकबार गेहूं बो देने के बाद वह बाजरा नहीं पा सकता है। आत्मा मन के खेत में शुभ या अशुभ कर्म के बीज डालने में स्वतंत्र है, किन्तु एक बार जो बीज पड़ चुके हैं उनकी फसल तो तैयार हो कर ही रहेगी।

परम्परारूप से कर्म अनादि है। परन्तु व्यक्ति रूप से वे अनादि नहीं हैं। एक कर्म अपनी अमुक काल सीमा को लेकर आता है और प्रतिफल देकर आत्मा से पृथक् भी हो जाता है। बन्ध के पूर्व आत्मा स्ववश है। रागात्मक परिणति को रोक कर बन्ध को समाप्त भी कर सकता है, किन्तु बन्ध के बाद फिर कर्म की शृंखला से बंध कर दुःख का वेदन ही करता है।

टीकाः—१५ वे अध्याय में ११ से १४ श्लोक के रूप में आ चुका है।

चंचलं सुहमादाय, सत्ता मोहम्मि माणवा।
आइच्चरस्सितत्तं वा, मच्छा झिज्जंतपाणियं॥ ३१॥

अर्थ :—चंचल सुख को प्राप्त करके मानव मोह में आसक्त हो जाता है। किन्तु सूर्य की किरणों से तप्त पानी के क्षय होने पर मछली कि भांति तड़पते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

નાશવંત સુખને પ્રાપ્ત કરીને માનવ મોહમાં આસક્ત બની જાય છે, પરંતુ સૂર્યના કિરણોથી ગરમ થયેલ પાણીનો ક્ષય થતાં માછલીની માફક તે પોતે તડફડે છે.

पार्थिव सुख छाया की ही भांति चंचल है। सूर्य घूमता है तो छाया भी बदल जाती है। मानव मोह की मदिरा पी कर बोलता है कि मेरा सुख शाश्वत है, किन्तु पुण्य के सूर्य के ढलते ही सुख की छाया भी ढल जायेगी। सोने के सिंहासनों को भी हिलने देर नहीं लगती। जिनके घर में इत्र की दीपदानियां जला करती थीं उनकी किस्मत ऐसी रूठ गई कि उन बेचारों को मिट्टी का भी तेल नसीब नहीं होता है, शुभ पुण्य का सरोवर भरा है तब तक ठीक है। परन्तु जिस क्षण अशुभ की तेज धूप लगेगी, पुण्य का जल सूख जाएगा और उस अहंकारी की स्थिति ठीक वैसी ही होगी जैसे जल के सूख जाने पर तडपती हुई मछली की।

टीका :—चंचलं सुखमादाय सक्ता मोहे मानवा भवन्त्यादित्यरश्मितप्ता इव मत्स्याः क्षीयमाणपानीयाः। गतार्थः।

अध्रुवं संसिया रज्जं, अवसा पावंति संखयं।
छिज्जं व तरुमारूढा, फलत्थीव जहा नरा॥ ३२॥

अर्थ :—अध्रुव राज्य में आश्रित रहा व्यक्ति विवश हो कर एक दिन अवश्य ही क्षय होता है। फलेच्छु मानव यदि कटे हुए वृक्ष पर आरूढ होता है तो परिणाम में दुःख ही पाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

અસ્થિર રાજ્યમાં આશ્રિત થયેલી વ્યક્તિ વિવશ થઇને એક દિવસ અવશ્ય ક્ષય પામે છે. ફળની ઇચ્છા કરનાર માણસ કપાયેલા વૃક્ષની ડાળીને પકડનાર માણસની જેમ અંતમાં દુઃખ જ પામે છે.

मानव क्षणिक राज्य के शरण में जाता है, किन्तु एक दिन ऐसा आता है जब कि उसे विवश हो कर विशाल साम्राज्य को छोड देना पडता है। मानव अनन्त काल तक सत्ता से चिपटा रहना चाहता है। किन्तु परिस्थितियां अलग हटने के लिए उसे विवश कर देती हैं। फलार्थी मानव वृक्ष पर चढता है और कटी हुई डाल को पकडता है फल तो जरूर हाथ लगता है किन्तु दूसरे ही क्षण वह अधकटी शाखा टूट जाती है और उसको भूमि पर आ जाना पडता है।

टीका :—अध्रुवं राज्यं संश्रिता नरा अवशाः संक्षयं प्राप्नुवन्ति फलार्थिन इव च्छेद्यं तरुमारूढाः। गतार्थः।

मोहोदए सयं जंतू, मोहंतं चेव खिंसई।
छिण्णकण्णो जहा कोई, हसिज्जा छिन्ननासियं॥ ३३॥

अर्थ :—मोहोदय में आत्मा वृथा ही एक दूसरे से द्वेष करता है। जैसे कटे कान वाला व्यक्ति कटी नाकवाले व्यक्ति को देख कर हंसता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જ્યારે મોહ ઉત્પન્ન થાય છે ત્યારે માણસ એક બીજાને સાથે વૈર કરે છે. જેવી રીતે કપાયેલા કાનવાળા કપાયેલ નાકવાળી વ્યક્તિને જોઇને હસે છે.

मोह की तीव्र परिणति में मानव एक दूसरे पर द्वेष करता है। मोह की जिस ज्वाला में स्वयं जल रहा है मोह के उस क्षेत्र में दूसरा प्रवेश करता है तो भीषण प्रतिशोध की ज्वाला उसके अन्तर में जल उठती है। लेकिन यह विद्वेष की आग व्यर्थ है। क्योंकि वह स्वयं भी उसी की लपटों में है। जिस प्रकार कटेकान वाला कटी नाकवाले व्यक्ति को देख कर हंसता है। किन्तु अपनी ओर देखने की वह चेष्टा ही नहीं करता है। किन्तु दोनों ही एक समान हैं।

मोहोदई सयं जंतू, मंद-मोहं तु खिंसई।
हेम-भूषणधारी व्व, जहा लक्खविभूषणं॥ ३४॥

अर्थ :—मोहोदयी आत्मा मन्द मोह शील व्यक्ति का उपहास करता है जैसे सोने के आभूषण पहनने वाला लाक्षा (लाख) के आभूषण पहनने वाले की मजाक करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

અતિ મોહથી અંધ બનેલો પ્રાણી મન્દ મોહશીલ વ્યક્તિની મશ્કરી કરે છે. જેવી રીતે સોનાના ઘરેણાં પહેરેલા મનુષ્ય લાખના ઘરેણા પહેરનારની મશ્કરી કરે છે.

मोह की तीव्र परिणति में रहा हुआ आत्मा अल्प मोह वाले व्यक्ति का उपहास करता है। जैसे सोने के गहने पहनने वाला मानव दूसरे के लाख के आभूषणों का उपहास करता है। वह समझता है कि ये बेचारे इन बातों को क्या जाने!। किन्तु तथ्य यह होता है कि जिनका उपहास किया जारहा है वे उन बातों से कितनी मंजिल आगे पहुंच चुके हैं।

मोही मोहीण मज्झंमि, कीलए मोहमोहिओ।
गहीणं व गहीमज्झे, जहत्थं गहमोहिओ ॥ ३५ ॥

अर्थ :—मोह-मुग्ध आत्मा मोह वाले व्यक्तिओं के बीच ही क्रीडा करता है। जैसे ग्रह मोहित व्यक्ति घर में ही मुग्ध रहता है।

गुजराती भाषान्तर :—

મોહમુગ્ધ આત્મા મોહવાળી વ્યક્તિઓ વચ્ચે જ મશ્કરી કરે છે. જેવી રીતે પોતાનાં ગ્રહોથી મોહિત બનેલો માણસ ઘરમાં જ મુગ્ધ રહે છે.

गुबरेला गोबर का एक कीड़ा होता है। वह गोबर में पनपता है और उसी में जीता है। गुलाब की सुवास में उसका दम घुट जाता है और यदि उसे गुलाब में छोड दिया जाय तो वह समाप्त भी हो जाता है। ऐसे ही वासना के दूषित वातावरण में रहने वाले को यदि त्याग की स्वच्छ भूमि में आने की प्रेरणा दी जाय तो वह उसे बन्धन समझता है। मोह के संकरे घेरे में बसनेवाले को यदि वीतरागता के शान्त मुक्त वायु में आनन्द नहीं मिलता है।

टीका :—मोहमोहितो मोहिनां मध्ये क्रीडति यथा ग्रहीणां ग्रहवतां ग्रहगृहीतानां मध्ये ग्रही यथार्थं ग्रहमोहितः ।

मोह युक्त आत्मा मोह शील आत्माओं में आनन्द पाता है। जैसे ग्रह से गृहीत मनुष्य ग्रह गृहीतों के बीच आनन्द पाता है।

जो जिन संस्कारों में पला है उसे उन्हीं संस्कारों में रहना पसन्द आता है। एक व्यक्ति कृपणता के संस्कार में रहता है तो उसको उदार वृत्ति वाले व्यक्तियों के साथ रहना रुचिकर नहीं होता है। कृपण कृपण के साथ रहना चाहता है। क्योंकि उसके साथ ही उसके विचार मेल खाते हैं। हर एक व्यक्ति अपने सम-विचार के साथियों में ही रहना पसन्द करता है।

बंधंता निज्जरंता य, कम्मं नाऽण्णंति देहिणो।
वारिग्गाह घडीउ व्व, घडिज्जंत निबंधणा ॥ ३६ ॥

अर्थ :—देहधारी आत्मा कर्म बांधता है और निर्जरा भी करता है, किन्तु केवल इस प्रक्रिया से ही कर्म परम्परा समाप्त नहीं हो सकती। पानी की घडी के सदृश उसका क्रम चलता रहता है।

गुजराती भाषान्तर :—

દેહધારી પ્રાણી કર્મનો સંચય કરે છે અને નિર્જરા પણ કરે છે. પરંતુ કેવળ આ પ્રક્રિયાથી જ કર્મપરંપરા સમાપ્ત થઇ શક્તી નથી. પાણીની ઘડીની જેમ તેનો ક્રમ ચાલતો જ રહે છે.

आत्मा प्रतिक्षण अनन्त अनन्त नए कर्मों का बन्ध करता है और उसी क्षण अनन्त अनन्त कर्म पुद्गलों की निर्जरा भी। किन्तु यह निर्जरा उसकी भवपरम्परा को समाप्त करने में समर्थ नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा विपाकोदय में प्राप्त जितने कर्मों को भोग कर क्षय करता है किन्तु निमित्त पर राग और द्वेष परिणति लाकर उससे अनन्त गुण अधिक कर्मों को पुनः बांध लेता है। इस अनादि क्रम के लिए अर्हतर्षि एक सुन्दर रूपक देते हैं। जिस प्रकार जल-घटिका में पुराना पानी समाप्त होते ही नया पानी आता रहता है और वह कटोरी कभी भी खाली नहीं होती इसी प्रकार आत्मा के साथ कर्मों की परम्परा चालू रहती है।

टीका :—नान्यत् कर्म नान्येषां देहिनां कर्म बध्नंतो निर्जरयन्तश्च भवन्ति देहिनः किन्तु स्वकीयमेव यथा वारि-ग्राहा घटीतो घट्यमाननिबन्धना भवन्ति, गृहीतं वारिमात्रं घटीमात्राधीनं भवतीति भावः ।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं संसार के प्राणियों में एक का कर्म दूसरा नहीं बांधता है और निर्जरा भी नहीं करता है। किन्तु आत्मा स्वकीय कर्म को बांधता है और स्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी करता है। जो आत्मा शुभाशुभ परिणति में रहता है वह अपनी परिणति के अनुसार कर्म बांधता है। स्वयं ही उनसे मुक्त हो सकता है जैसे कि पानी की घडी से समय का निबन्धन होता है। अर्थात् घड़ी से पानी का माप होना है और पानी से घड़ी का और उस रूप में समय का परिज्ञान होता है। सम्पूर्ण पानी घडी में प्रवेश करता है और पुनः रिक्त होता है। यही क्रम सदैव चलता रहता है। यही क्रम आत्मा और कर्म का भी है। जब तक संसार स्थिति है तब तक यही क्रम चालू रहता है।

बज्झए मुच्चए चेव, जीवो चित्तेण कम्मुणा।
बद्धो वा रज्जुपासेहिं, ईरियंतो पओगसो ॥ ३७ ॥

अर्थ :—आत्मा विचित्र कर्मों के द्वारा बद्ध होता है और मुक्त भी होता है। अथवा रस्सी के पाश में बंधा हुआ प्रयोग से प्रेरित होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

પ્રાણી જુદા જુદા પ્રકારના કર્મોના વડે બંધન પામે છે અને મુક્ત પણ થાય છે. અથવા રસ્સીના પાશમાં બંધાયેલો પ્રાણી કોઈ પ્રયોગથી ચલિત થાય છે.

कर्म तो पुद्गल द्रव्य है। किन्तु जब आत्मा में राग द्वेष के स्पन्दन होते हैं तब कर्म परमाणु आत्मा से चिपक जाते हैं। पुद्गल द्रव्य आत्मा के स्वभाव से बिलकुल भिन्न स्वभाव रखता है। अतः वह आत्मा की शक्ति का अवरोध करता है। आत्मा से संबद्ध होने के बाद कर्म के परमाणुओं में ऐसी शक्ति होती है कि आत्मा भिन्न भिन्न गुणों को रोक सकते हैं। कोई चेतना को अवरुद्ध करते हैं, तो कोई उसकी विशुद्ध दृष्टि को ही मलिन करते हैं और शुद्ध प्रवृत्ति को रोकते हैं। पुद्गलों का स्वभाव भेद अनुभव सिद्ध है। घी स्निग्ध तत्त्व वाला है तो मिर्च तीखास तत्त्व वाली है। ऐसे कर्म परमाणु विभिन्न स्वभाव के होते हैं।

प्रस्तुत गाथा में एक और तथ्य बताया गया है कि जबतक कर्म आत्मा से पृथक् होते हैं तब तक दोनों स्वतंत्र हैं। किन्तु जब वे आत्मा से बद्ध हो जाते हैं तब आत्मा की स्वतंत्र शक्ति अवरुद्ध हो जाती है। फिर कर्म द्रव्य उन्हें अपनी शक्ति के अनुरूप परिभ्रमण कराता है। जैसे रस्सी से बंध जाने पर आदमी को उसी की दिशा में गति करनी पड़ती है।

टीका :—बध्यते मुच्यते चैव जीवश्चित्रेण नाना प्रकारेण कर्मणा। यथा रज्जुपाशैर्बद्धाः कश्चिदन्यस्य प्रयोगेण ईर्यते चाल्यते। गतार्थः।

कम्मस्स संतइं चित्तं, सम्मं नच्चा जिइंदिए।
कम्मसंताणमोक्खाय, समाहिमभिसंधए ॥ ३८ ॥

अर्थ :—जितेन्द्रिय आत्मा कर्म संतति की विचित्रता को सम्यक् प्रकार से जाने और कर्म सन्तान से मुक्त होने के लिए समाधि को प्राप्त करे।

गुजराती भाषान्तर :—

જીતેન્દ્રિય આત્મા કર્મ-સંતતિની વિચિત્રતાને સમ્યક પ્રકારથી જાણે અને કર્મસંતાનથી મુક્ત થવા માટે સમાધિને પ્રાપ્ત કરે.

कर्म संतति की चित्रविचित्रता का साधक सम्यक् प्रकार से परिज्ञान करे। कर्म संतति से मुक्ति के लिए साधक समाधि को प्राप्त करे। क्योंकि समाधिस्थ साधक विभाव दशा प्रवृत्त आत्मशक्ति को रोकता है और कर्मपरम्परा को तोडता है।

दव्वओ खेतओ चेव, कालओ भावओ तहा।
निच्चानिच्चं तु विण्णाय, संसारे सव्वदेहिणं ॥ ३९ ॥

अर्थ :—विश्व के समस्त देह धारियों को द्रव्यक्षेत्र काल और भाव से नित्य और अनित्य रूप से जाने ।

गुजराती भाषान्तर :—

વિશ્વના સમસ્ત જીવોને દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર કાળ અને ભાવથી નિત્ય અને અનિત્ય રૂપથી જાણવા.

प्रत्येक पदार्थ द्रव्य और पर्यायात्मक है । वस्तु का एकत्व प्रतीतिरूप सामान्य धर्म द्रव्यास्तिकता है । जब वस्तु को पूर्ण और अखण्ड रूप में देखते हैं, तब हमारी दृष्टि अभेदगामिनी होती है और वह दृष्टि द्रव्यास्तिक दृष्टि कहलाती है । किन्तु जब हम वस्तु के भेद रूप अंश में प्रवेश करते हैं और भेद के रूप में उसकी विशेषताओं से परिचय करते हैं, तब वह भेदगामीदृष्टि पर्यायास्तिक दृष्टि कहलाती है । वस्तु की गहराई में जितना ही प्रवेश मिलता जाएगा वस्तु तत्त्व उतना ही निखरता जाएगा ।

द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में वस्तु एक अविभाज्य और नित्य है, जब कि पर्यायनय की दृष्टि में शाश्वतता जैसी कोई वस्तु ही नहीं है । पर्यायनय की दृष्टि में पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न हो रहा है तो विनष्ट भी । जब कि द्रव्यार्थिक नय पदार्थ को अनुत्पन्न और अविनष्ट मानता है । समस्त देहधारी आत्माएँ भी द्रव्य क्षेत्र काल और भाव पर्याय के अनुरूप परिवर्तन गामी हैं तो द्रव्य रूप से शाश्वत भी है ।

निच्चलं कयमारोग्गं, थाणं तेल्लोक्कसक्कयं ।
स व्वण्णुमग्गाणुगया, जीवा पावंति उत्तमं ॥ ४० ॥

अर्थ :—सर्वज्ञ मार्ग के अनुगामी जीव त्रैलोक्य से संस्कृत आरोग्यकृत अचल उत्तम स्थान को प्राप्त करते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

સર્વજ્ઞ માર્ગના અનુયાયી જીવ ત્રણલોકથી સંસ્કૃત, આરોગ્યકૃત, અચલ, ઉત્તમ સ્થાનને પ્રાપ્ત કરે છે.

वीतरागता का पथिक एक दिन वीतरागत्व प्राप्त करता है । साधना के क्षणों में वीतरागत्व ही हमारा लक्ष्यबिन्दु होना चाहिए । मन की रागात्मक दशाओं पर अधिक से अधिक वीतराग स्थिति प्राप्त करना ही हमारी साधना है । सम्पूर्ण वीतरागता ही निश्चल आरोग्य है और वही त्रिलोक का संस्कृत स्थान है ।

टीका :—निश्चलं कृतारोग्यं त्रैलोक्यसंस्कृतं स्थानमुत्तमं प्राप्नुवन्ति जीवाः सर्वज्ञमार्गानुगताः । गतार्थः ।

एवं से सिद्धे बुद्धे० । गतार्थः ।

इति हरगिरिअर्हतर्षिप्रोक्त चौबीसवां अध्ययन समाप्त ।
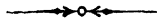
अम्बड अर्हतर्षि प्रोक्त

पच्चीसवां अध्ययन

आत्मा का शुद्ध स्वरूप देहातीत है । फिर वह क्यों पुनः पुनः संसार में आता है ? और यह चक्र कबसे चल रहा है, क्यों चला और कब तक चलता रहेगा ? । इन प्रश्नों का समाधान ही प्रस्तुत अध्यन का प्रमुख विषय है ।

अर्हतर्षि अम्बड और अर्हतर्षि योगन्धरायण की विचार-चर्चा के रूप में यह अध्यन प्रारम्भ होता है । महर्षि योगन्धरायण कौन थे ? उनके परिचय के विषय में आगम मौन है । किन्तु हाँ, अम्बड अर्हतर्षि जैन संसार के परिचित व्यक्तियों में हैं । प्रथम उपांग औपपातिक सूत्र में अंबड परिव्राजक के नाम से एक संन्यासी का विशद वर्णन आता है । अंबड भगवान महावीर के वैदिक उपासकों में से थे । उनकी वेष-भूषा संन्यासियों जैसी थी और उनके व्रत नियमों का भी वे दृढता से पालन करते थे । किन्तु अन्तर से वे प्रभु महावीर के अन्य उपासक थे । अपने नियमों को इस कठोरता से पालन करते हैं कि वे और उनका शिष्य परिवार उसके लिये जीवन को उत्सर्ग कर देते हैं ।

जीवन की संध्या में वे विचार और व्यवहार दोनों से ही प्रभु महावीर के सर्वव्रती शिष्य बन गए । उसके पूर्व उनकी वैक्रिय लब्धि विविध रूप प्राप्त करने वाली शक्ति-के संबन्ध में गौतम गणधर देव भी प्रभु से प्रश्न करते हैं ।

पर अम्बड परिव्राजक ही अर्हतर्षि अम्बड है या दूसरे कोई अम्बड है? यह विचार का प्रश्न अवश्य है। प्रस्तुत सूत्र की संग्रहिणी गाथा के अनुरूप अम्बड प्रभु महावीर के नहीं प्रभु पार्श्वनाथ की परम्परा के होने चाहिए। संग्रहिणी के अनुसार बीस अर्हतर्षि भगवान नेमिनाथ के शासन काल के हैं। पंद्रह प्रभु पार्श्वनाथ के शासन काल के हैं और शेष दश प्रभु महावीर के शासन काल के हैं। क्रम के अनुसार ये पच्चीसवें अर्हतर्षि हैं। अतः भगवान पार्श्वनाथ की ही परम्परा के होने चाहिए। साथ ही ये चतुर्थ और पंचम महाव्रत का एक साथ निरूपण करते हैं। अतः यह परम्परा भी उन्हें भगवान महावीर के शासन से अलग करती है।

तए णं अंबडे परिव्वायए जोगंधरायणं एवं वयासी :—
मणे मे विरई भो देवाणुप्पिओ। गब्भवासाहि कहं न तुमं बंभयारी?।

अर्थ :—अंबड परिव्राजक योगन्धरायण को इस प्रकार बोलते हैं कि मुझे-गर्भवास से विरक्ति है। हे ब्रह्मचारी! तुम्हें विरक्ति क्यों नहीं है?

गुजराती भाषान्तर :—

અંબડ પરિવ્રાજક યોગન્ધરાયણને આ પ્રમાણે કહે છે કે હું ગર્ભવાસથી કંટાળી ગયો છું, હે બ્રહ્મચારી! તને સંસારના ભોગવટાથી વિરક્તિ શા માટે થતી નથી?

टीका :—ततश्चाम्बटः परिव्राजको योगन्धरायणमेवमवादीद् यथा देवानुप्रिय! मनसि मे गर्भवर्षाभ्यो मैथुनाद् विरतिः कथं न त्वं ब्रह्मचारी भवसीति।

बाद में अम्बड परिव्राजक योगन्धरायण से ऐसा बोले कि मुझे गर्भवास से विरक्ति है। गर्भ-वास से यहां-पुनः पुनः संसार में परिभ्रमण करना गृहीत है। टीकाकार गर्भवास से विरक्ति का अर्थ लेते हैं। गर्भ वर्षा अर्थात् मैथुन से विरक्ति और इसी अनुसंधान में वे बोलते हैं कि तुम भी ब्रह्मचारी क्यों नहीं होते हो?।

टीकार्थ से ऐसा ध्वनित होता है कि योगन्धरायण सन्त नहीं है। इसलिए अम्बड परिव्राजक उनको प्रेरणा देते हैं।

प्रोफेसर शुब्रिंग् प्रस्तुत अध्ययन के विषय में भिन्न मत रखते हैं। पच्चीसवां प्रकरण भी वीसवें प्रकरण की ही भांति मौलिक नहीं है। बल्कि उधार लिया हुआ लगता है, किन्तु उसके प्रसिद्ध, व्यक्ति वीसवें अध्ययन की अपेक्षा ज्यादा निर्णयात्मक है। किन्तु ऐसा लगता है कि प्रस्तुत अध्ययन किसी बड़े ग्रन्थ का एक अंश है। किन्तु उसका पूर्वापर संबन्ध विच्छिन्न है। क्योंकि उसका प्रारम्भ तएणं से होता है। जोकि बताता है कि इसके पूर्व कुछ चला गया है। अम्बड से हम उववाइय सूत्र में परिचित है। किन्तु वहां परिव्राजक के रूप में प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। उनके हिस्सेदार योगन्धरायण हैं। वस्तुतः प्रस्तुत अध्यायन उन्हीं के नाम के साथ होना चाहिए था। क्योंकि प्रस्तुत अध्याय के प्रमुख वक्ता वे ही हैं।

ये योगन्धरायण उदयन के समकक्ष लगते हैं। ये मंत्री हैं। ब्राह्मण हैं। पर यहां जैन साधक की भांति बोलते हैं। अभिधाम राजेन्द्र के अनुसार आवश्यक निर्युक्ति की कथाओं में उनका उल्लेख आता है। अम्बड उन्हे पूछते हैं कि वे भी उनके ही तरह ब्रह्मचारी के रूप में क्यों नहीं रहते हैं?। क्योंकि उन्होंने भी वासनाजन्य आनन्द को छोड़ दिया है।

तए णं जोगंधरायणे अंबडं परिवायगं एवं वयासी-हारिया एहि या एहि ता आयाणेहि, जे खलु हारिता पावेहिं कम्मेहिं अविप्पमुक्का ते खलु भो गब्भवासाहिं सज्जंति ते सयमेव पाणे अतिवातेंति। अण्णे वि पाणे अतिवातेंति।

अर्थ :—तब योगन्धरायण अम्बड परिव्राजक को ऐसा बोले कि हारित पाप कर्म से बद्ध पुरुष इन कर्म के द्वारों से पाप कर्म एकत्रित करते हैं। वे पाप कर्मों में अविप्रमुक्त बद्ध आत्मा गर्भवास में जाते हैं। वे स्वयं प्राणियों की हिंसा करते हैं और दूसरों के प्राणों की हिंसा करवाते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

ત્યારે યોગન્ધરાયણ અમ્બડ પરિવ્રાજકને એવું કહ્યું કે હારિત અર્થાત્ પાપકર્મથી બદ્ધ પુરુષ આ કર્મો દ્વારા પાપ કર્મ ભેગું કરે છે. પાપ કર્મોથી વીંટાળેલો પ્રાણી ફરી ગર્ભવાસનો સ્વીકાર કરે છે. તે સ્વયં પ્રાણિયોની હિંસા કરે છે. અને બીજાના પ્રાણોની હિંસા કરાવે છે.

गर्भ में पुनरागमन के कारण मा नव की हिंसात्मक प्रवृत्ति है। पाप वृत्तियां के द्वारा जिनका मन पराजित रहता है, अथवा जो वासना के प्रवाह में बह जाते हैं तथा अपने ऊपर अंकुश नहीं रख सकते हैं। इन्द्रियां अपने विषय की ओर दौड़ती हैं। उनकी दौड पर विवेक का अंकुश न रहा तो वे स्वच्छंद हो जाएगी। अंकुश का अर्थ यह नहीं है कि उनको बल-पूर्वक दबाए रखना। वासना को दबाने का अर्थ यह हुआ कि बाहरी वातावरण या सामाजिक भय मन की वासना को बाहर नहीं आने देते हैं, किन्तु वह भीतर ही भीतर दबी रहती है और यह दबाव कभी कभी अनुचित परिणाम ला देता है। वासना का प्रवाह कभी कभी बांध तोड देता है और उसमें साधक तथा उसकी साधना डूबती उतराती-सी जान पडती है। किन्तु तथ्य यह है कि वासना की बाढ नई नहीं है। पहले वह दबी हुई थी और अब वह खुले रूप में आगई है और दबाव ने उसके वेग को विद्रोह करने के लिए प्रेरित कर दिया है। अतः दमन का अर्थ दबाना नहीं, विवेक पूर्वक वासना की जल राशि क्षय करना है।

आगम की भाषा में पहला तरीका उपशमन का है। जो साधक वासना को दबाता गया और ग्यारहवाँ गुण श्रेणी तक पहुंच गया, किन्तु वहां पहुंचने के बाद दबी हुई वासना विद्रोह कर उठती है और संयम का बांध ढह जाता है, इसीलिए कहा जाता है कि इतना बड़ा साधक भी पतन की गहरी खाई में पहुंच गया। उसके बांध के सीमेन्ट और कॉंक्रीट के बांध के प्लास्टर के नीचे कोरी माटी थी!। अतः टक्कर लगते ही बांध ढह गया।

दूसरा तरीका है क्षय का। वासना का संपूर्ण क्षय करके साधक मुक्त होता है किन्तु जो उसे क्षय न करके उसके प्रवाह में वह जाता है वह अपनी वासना के पोषण के लिए प्राणियों की हिंसा भी करता है।

टीका :—ततो योगन्धरायणो अंबटं परिव्राजकमेवमवादीद् यथा हारिताः पुरुषा एभिरेभिश्च तावदादानैः कर्मो-पादानैः। ये खलु हारिताः पापैः कर्मभिरविमुक्तास्ते खलु गर्भवर्षासु सजन्ति। ते स्वयमेव प्राणिनो अतिपतन्त्यन्यानपि जनान् प्राणिनो अतिपातयन्ति। गतार्थः।

अण्णे वि पाणे अतिवातावेंते वा सतिज्जंति समणुजाणंति, ते सयमेव मुसंते भासंति सतिज्जंति समणुज्जाणंति अविरता उप्पडिहता पच्चक्खातपावकम्मा मणुजा अदत्तं आदियंति···सातिज्जंति समणु-ज्जाणंति सयमेव अबंभपरिग्गहं गिण्हंति मीसयं भणियव्वं जाव समणुजाणंति।

अर्थ :—जो दूसरे प्राणियोंका वध करते हैं उसके लिये प्रेरणा देते हैं। उसका अनुमोदन करते हैं। वे स्वयं मृषा-वाद बोलते हैं। दूसरे को उसके लिए प्रेरित करते हैं जो अविरत हैं साथ ही पाप परिणति को रोकने के लिए प्रत्याख्यान नहीं करते हैं अदत्तादान का भी सेवन करते हैं। दूसरों को उसके लिये प्रेरणा देते हैं और उसका अनुमोदन भी करते हैं। इसी प्रकार स्वयं परिग्रह और अब्रह्मचर्य का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार मैथुन और परिग्रह का मिश्रित वक्तव्य है। यावत् वे उसकी प्रेरणा भी देते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

અને જે બીજા પ્રાણીઓનો વધ કરે છે અગર તે કામમાટે પ્રેરણા આપે છે અગર તેનું અનુમોદન કરે છે, તે સ્વયં મૃષાવાદ બોલે છે. બીજાને તે કામ માટે પ્રેરિત કરે છે, જે અવિરત છે. સાથે સાથે પાપના પરિણામને રોકવા માટે મનાઇ કરતા નથી, અદત્તાદાન જે આપ્યું નથી તેનો સ્વીકાર કરવો તેને પણ સેવે છે. બીજાઓને તે કામ કરવા સારુ પ્રવૃત્ત કરે છે અને એનું અનુમોદન પણ કરે છે. એજ પ્રમાણે પોતે પરિગ્રહ અને અબ્રહ્મચર્ય સાંસારિક ભોગનું સેવન કરે છે. એ પ્રમાણે મૈથુન અને પરિગ્રહનું મિશ્રિત વક્તવ્ય છે. જ્યાં સુધી તેઓ તેની પ્રેરણા પણ આપે છે.

टीका :—अन्यानपि जनान् प्राणिनोऽतिपातयत्यतोऽनुमोदयन्ति समनुजानंति एवमेव मृषा भाषन्त इत्यादि कारण-त्रिकम्। अविरताऽप्रतिहताऽप्रत्याख्यातपापकर्मणो मनुजा इत्येतल्लक्षणात् पठितव्यत्वादिहापास्यम्। ते स्वयमेवादत्तमाददते अब्रह्मपरिग्रहौ गृह्णन्तीत्यालापकः पूर्ववत्। गतार्थः।

विशेष :—अब्रह्मचर्य और परिग्रह का संयुक्त निर्देश भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का ध्वनित कर रहा है।

गर्भवास के दूसरे हेतु हैं मृषावाद, अशुभ से अविरति। साथ ही जिसने प्रत्याख्यान के द्वारा अपनी वृत्ति को अशुभ की ओर जाने से रोका नहीं है और जो चौर्यकर्म में प्रवृत्त होता है, वासना और परिग्रह में लिप्त होता है और इसके लिए दूसरे को भी प्रवृत्त करता है वह भव-परम्परा की वृद्धि करता है।

एवमेव ते अस्संजता अविरता अप्पडिहता पच्चक्खाता पावकम्मा सकिरिया असंवुत्ता एकंतदंडा एकंतबाला बहुपावं कम्मं कलिकलुसं समज्जिणित्ता इतो चुता दुग्गतिगामिणो भवंति । एहि हारिता आयाणेहि ।

अर्थ :—इस प्रकार वे असंयत अविरत अप्रतिहत प्रत्याख्यात पाप कर्मशील सक्रिय असंवृत आत्माएँ जो एकान्त निश्चित दंड वाली होती हैं और एकान्ततः अज्ञानशील होते हैं विपुल पाप कर्म के लिए कलुष में डूबता है और यहां से मरने के बाद दुर्गतिगामी होता है। यही आत्मा की सबसे बडी पराजय है। अथवा ये आत्माएँ आत्मा की शुद्ध परिणतिओं की अपहारक वृत्तियों से हारित है चुराई हुई है। अर्थात् ये अशुभ वृत्तियों में लीन हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

એ પ્રકારે તેઓ સંયમરહિત, અવિરત અપ્રતિહત અપ્રત્યાખ્યાત પાપકર્મશીલ સક્રિય અસંવૃત આત્માઓ પણ જે એકાન્ત નિશ્ચિત દંડવાળા હોય છે અને એકાન્તતઃ અજ્ઞાની હોય છે. વિપુલ પાપકર્મના કલિ કલુષની અંદર રહે છે. અને અહીંથી મરીને દુર્ગતિમાં જાય છે. એ જ આત્માનો સૌથી મોટો પરાજય છે. અથવા આ પ્રાણીઓ આત્માની શુદ્ધ પરિણામોની અપહારક વૃત્તિઓથી હારિત છે, ચોરાયેલી છે. અર્થાત્ તેઓ અશુભ વૃત્તિઓમાં ડૂબી ગયેલ છે.

'आत्मा गर्भ में पुनः क्यों आता है ?' इस प्रश्न के उत्तर में योगन्धरायण इस तथ्य को सामने रख रहे हैं। जो आत्म-वासना से विमुक्त नहीं है वह हिंसा आदि पाँचों पाप कर्म करती है, वही उसके सद्गुणों को अपहरण करने वाले चोर है। वे पाणी दुराचरण में रत रहते हैं और उसके लिए दूसरे को प्रेरित भी करते हैं और उसकी प्रशंसा भी करते हैं।

पाप का हो जाना एक चीज है और पाप का करना दूसरी चीज है। होने और करने में उतना ही अन्तर है जितना कि ट्रस्टीशिप और स्वामित्व में। एक में कर्तव्य निभाना है जब कि दूसरे में आसक्ति हैं। यह आसक्ति ही समस्त पाप परिणतियों की जड़ है।

प्रोफेसर शुब्रिंग् अम्बड परिव्राजक के प्रश्न के उत्तर में बोलते हैं कि मनुष्य प्राप्त वस्तुओं से ही आकर्षित होता है। ये अशुभ कृत्य और वासना आत्मा की स्वतंत्रता का अभाव दिखाते हैं। इस रूप में वे अम्बड को यह सूचित करना चाहते हैं कि केवल व्रत ही; जिनके लिए कि आप गौरव ले रहे हैं वे ही पर्याप्त नहीं है। किन्तु वासना विमुक्ति के लिए आश्रम के आचार शास्त्र का अध्ययन और चिन्तन भी आवश्यक है।

सकिरिया जैन परिभाषा में क्रिया वह वृत्ति कहलाती है जिसके द्वारा आत्मा कर्मों का बन्ध करता है। सावद्य व्यापार किया है।—भगवती सूत्र श० १७, ३, १.

कायिकी शरीर संभवित, अधिकरण की शस्त्र संभवित, प्राद्वेषिकी अर्थात् द्वेष के द्वारा होने वाली परितापिनिकी दूसरों को संत्रस्त करने से आने वाली क्रिया। प्राणातिपातिकी आदि क्रिया के २५ प्रभेद हैं। ये क्रियाएँ और असंवर हैं। दंड है। क्रिया से प्रेरित आत्मा दंड और अज्ञान में निरत रहती है। पाप की कलुषितता में निमग्न रहकर दुर्गति के पथिक होते हैं और यही जीवन की सब से बडी पराजय है।

दंड भी एक जैन पारिभाषिक शब्द है, आत्मा की वह अशुभ परिणति जिसके द्वारा वह दंडित होता है 'दंड' कहलाता है। उसकी स्वार्थ और कषाय जन्य प्रवृत्ति दूसरे के लिए दंड प्रयुक्त करती है। किन्तु उसको वह अशुभ ही उसे दंडित करती है।

टीका :—एवमेव ते असंयता अविरता अप्रतिहताऽप्रत्याख्यातपापकर्मणः क्रियावन्तोऽसंवृता एकांतदंडा एकांतबाला बहुपापं कर्म कलिकलुषं समर्ज्येताश्च्युता दुर्गतिगामिनो भवन्त्येभिर्हारितादानैः। गतार्थः।

जे खलु आरिया पावेहिं कम्मेहिं विप्पमुक्का ते खलु गब्भवासाहि णो सज्जंति ते णो सयमेव पाणे अतिवार्तिति एवं तधेव विपरीतं जाव अकिरिया संवुदा, एकंतपंडिता, ववगतरागदोसा तिगुत्तिगुत्ता तिदंडोवरता णीसल्ला आयरक्खी ववगयचउकसाया, चउविकहविवज्जिता पंच महाव्वया तिगुत्ता पंचिंदियसंवुडा छज्जीवनिकायसुट्ठुणिरता, सत्तभयविप्पमुक्का, अट्ठमयट्ठाणजढा, णवबंभचेरजुत्ता, दस समाहिट्ठाणपयुत्ता, बहुं पावं कम्मं कलिकलुसं खवइत्ता इतो चुया सोग्गतिगामिणो भवंति।

अर्थ :—जो आर्य आत्माएँ पाप कर्म से विमुक्त हैं, वे गर्भ वास में नहीं आती हैं। वे स्वयं प्राणों को परिताप नहीं देते हैं। पूर्वोक्त वर्णन के ठीक विपरीत उनका जीवन होता है। यावत् क्रिया रहित होते हैं, वे एकान्ततः पंडित होते हैं। राग द्वेष से उपरत रहते हैं। त्रिगुप्तियों से गुप्त होते हैं। मनादि त्रिदंडों से गुप्त रहते हैं। आगम में वर्णित माया निदान और मिथ्यादर्शन के शल्य से विरत होते हैं। वे आत्म स्वभाव के रक्षक होते हैं। जिन्होंने चारों कषायों पर विजय पाई है, वे चारों विकथाओं से विवर्जित, महाव्रतों से युक्त, पंच इन्द्रियों को सुसंवृत रखने वाले षट्-जीव-निकाय की सुरक्षा में श्रेष्ठ रूप से निरत हैं। सप्त भयों से रहित और अभयदर्शी है। आठ मद स्थान से विवर्जित ब्रह्मचर्य के नौ प्रकारों से जिनका जीवन सुरक्षित है साथ ही दश प्रकार के समाधि स्थानों के द्वारा जिनका मन समाधिस्थ है, ऐसी आत्माएँ पापकर्मों को और कलिकालुष्य को क्षय करके यहां से च्युत होकर सद्गति के गामी होते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જે આર્ય આત્માઓ પાપકર્મવગરના છે તે ગર્ભવાસમાં ફરી આવતા નથી. તે સ્વયં પ્રાણોને પરિતાપ દેતા નથી. પૂર્વોક્ત વર્ણનથી ઉલટુંજ વિપરીત તેમનું જીવન હોય છે. યાવત્ ક્રિયારહિત હોય છે, તે એકાન્તતઃ પંડિત હોય છે રાગદ્વેષથી પર હોય છે. ત્રિગુપ્તિઓથી ગુપ્ત હોય છે. મનાદિ ત્રિદંડોથી ગુપ્ત રહે છે, આગમમાં વર્ણન કરેલા માયા નિદાન અને મિથ્યા-દર્શનના શલ્યથી રહિત હોય છે. તે આત્મા પોતેજ સ્વભાવના રક્ષક હોય છે. જેઓએ ચારે કષાય પર વિજય મેળવ્યો છે, તે ચારે વિકથાઓથી રહિત, મહાવ્રતોથી યુક્ત, પાંચ ઇન્દ્રિયોને સુસંવૃત રાખવાવાળા, છકાય જીવની સુરક્ષામાં શ્રેષ્ઠ રૂપથી નિરત છે સાત ભયોથી રહિત અભયદર્શી છે. આઠ મદ સ્થાનથી રહિત અને, બ્રહ્મચર્યના નવ પ્રકારથી જેવું જીવન સુરક્ષિત છે; સાથે દશ પ્રકારની સમાધિ-સ્થાનો દ્વારા જેનું મન સમાધિસ્થ છે, એવા આત્માઓ પાપકર્મોને અને કલિયુગના દોષોનો નાશ કરીને આ લોકથી મુક્ત થઈ સદ્ગતિ મેળવે છે.

'संसार चक्र का अन्त कौन करता है?' इस प्रश्न का उत्तर यहां दिया गया है। जिसने विकारों पर विजय पाई है, छोटी छोटी भूलों पर भी जो बारीकी से दृष्टि रखता है, जिसके मन वाणी और कर्म में एकरूपता है, जिसकी इन्द्रियां विपथ-गामिनी नहीं हैं, जिसने कषायों पर विजय पाई है, ब्रह्मचर्य की प्रभा से जिसका मुख आलोकित हो रहा है और जिसका मन समाधि में लीन है वही साधक भव-परम्परा को समाप्त कर सकता है।

जिसका अन्तःकरण पवित्र है वही परमात्म-पद प्राप्त कर सकता है। साधना की भूमि मन्दिर और उपाश्रय नहीं है अपि तु मानव का अन्तःकरण है। एक इंग्लिश विचारक ने ठीक ही कहा है कि Man's conscience is the oral of God. मानव का अन्तःकरण ही ईश्वर की वाणी है। हमारे कदम ठीक राह पर हैं या गलत राह पर। इसका निर्णय हमारा अन्तर्मन देता है। शुद्ध अन्तःकरण से जो आवाज आए उसी पर चल पड़ो वही आत्मा की आवाज होगी। जिसमें केवल तुम्हारा ही हित हो और तुम्हारे पडोसी का अहित छिपा हुआ हो वह आवाज आत्मा की नहीं, शरीर की है; उसमें देहाध्यास की छाया है। यही कारण है कि कभी कभी हमारी चेतना में द्वन्द्व होता है। हम शीघ्र निर्णय पर नहीं आ सकते। इसका कारण शरीर और मन की आवाज भिन्न भिन्न होती है और दोनों में संघर्ष होता है। एक विचारक कहता है—

Conscience is the voice of the soul as the passions are the voice of the body. No wonder they often contradict cach other.

अन्तःकरण आत्मा की आवाज है जैसे वासना शरीर की। इसमें आश्चर्य ही क्या है? यदि वे एक दूसरे का खंडन करती है।

जिसने आत्मा की आवाज को पहचाना है वह बहिरात्मा से हट कर अन्तरात्मा की ओर आएगा और अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर कदम बढाएगा। यहां पर उन वृत्तियों को गिनाया गया है जो आत्मा की शुद्ध स्थिति में पहुंचने से रोकते हैं। उन पर विजय पाए बिना साधक परमात्म-स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता है।

त्रिगुप्ति :—मन वचन और काया की प्रवृत्ति को अशुभ की ओर जाने से रोकना 'गुप्ति' है[1]।

---

१ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ती। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ सूत्र ४।

त्रिदंड :—मन वाणी देह स्व तथा पर के उत्पीड़क बनते हैं तब 'दंड' कहे जाते हैं।

शल्य :—शुद्ध स्थिति में जो वृत्ति कांटे-सी चुभती है उसे 'शल्य' कहा जाता है।

विकथा :—ईर्ष्या और कलह प्रेरित कथाएँ 'विकथा' या व्यर्थ कथाएं हैं। जो राज्य देश, भक्त भोजन और स्त्री संबन्धित हो कर चार प्रकार की है।

महाव्रत :—हिंसा, असत्य, स्तेय, वासना और परिग्रह से सम्पूर्ण रूप से विरत होना ही महाव्रत है[1]।

कषाय :—भव परिभ्रमण की वृद्धि करने वाली आत्मा की वैभाविक दशा। क्रोध, मान, माया और लोभ जिसके ये चार भेद हैं।

भय :—भयजन्य वृत्ति; इस लोक से संबन्धित, परलोक का डर, आदान लेने का डर अकस्मात् आजीविका अपयश और मृत्यु के रूप में भय के सात प्रकार हैं।

मद :—आत्मा की गलत अहंवृत्ति। उसके आठ रूप हैं:-जाति, कुल, बल, रूप, लाभ, तप, सूत्रज्ञान और सत्ता।

इन सब पर विजय पाने वाला ही ब्रह्मचर्य की साधना कर सकता है। वही समाधि-भाव में रह सकता है। इस जीवन के बाद सुगति को प्राप्त कर सकता है।

टीका :—ये खल्वार्याः पापैः कर्मभिर्विमुक्ता भवन्ति ते खलु गर्भावर्षासु न सजन्ति; ते न स्वयमेव प्राणिनोऽतिपतन्ति इत्यादि विपरीतं पूर्वं यावदक्रियावन्तः संवृता एकान्तपंडिता, व्यपगतरागद्वेषाः, त्रिगुप्तिगुप्ताः, त्रिदंडोपरता निःशल्याऽऽत्मरक्षिणो, व्यपगतचतुःकषायाश्चतुर्विकथाविवर्जिताः, पंचमहाव्रतधरा धरत्ति अपरित्याज्यं, पुस्तकेषु तु न दृश्यते। तिगुत्तत्ति त्रिगुप्ता न यथासंख्यं पंचेन्द्रियसंवृताः षड्जीवनिकायसुष्ठुनिरताः सप्तभयविप्रमुक्ताः अष्टमदस्थानहीना, नवब्रह्मचर्ययुक्तादशसमाधिस्थानसंप्रयुक्ता बहु पापं कर्म कलिकलुषं क्षपयित्वेतश्च्युताः सुगतिगामिन्यो भवन्ति। गतार्थः।

विशेष पंच महाव्रत के साथ धरा पाठ यद्यपि पुस्तक में नहीं है। तथापि आवश्यक है।

ते णं भगवं सुत्तमग्गाणुसारी खीणकसाया दंतेंदिया सरीरसाधारणट्ठा जोगसंधाणताए णवकोडी-परिसुद्धं दसदोसविप्पमुक्कं उग्गमुप्पायणासुद्धं इतराइतरेहिं कुलेहिं परकडं परिणिट्ठितं विगतिंगालं विगतधूमं पिंडं सेज्जं उवधिं च गवेसमाणा संगतविणयोवगारसालिणीयो कल-मधुररिभितभासिणीओ संगत-गत-हसित-भणित-सुंदर-थण-जहण-पडिरूवाओ इत्थियाओ पासित्ताणो मणसा वि पाउब्भावं गच्छंति।

अर्थ :—*हे भगवान् अम्बड ! सूत्रमार्ग* का अनुसरण करने वाले वे साधक क्षीण कषायी और दान्तेन्द्रिय होते हैं। शरीर धारण के लिये योग-साधन के लिए नव कोटि परिशुद्ध आहार ग्रहण करते हैं। साथ ही वह आहार भिक्षाचरी के दस दोषों से रहित होता है। सोलह उद्गमन और सोलह उत्पाद के दोषों से विवर्जित है। अन्यान्य कुलों में पर-कृत परिनिष्ठित (दुसरों के लिए निर्मित) है। जिसमें अग्नि बुझ चुकी है और धुवाँ भी उपशान्त है, ऐसे ही निर्दोष आहार, शय्या और उपधि को खोजने वाले मुनिगण सुन्दर नारियों में आसक्त नहीं होते हैं। जोकि समुचित विनयोपचार में कुशल हैं, सुन्दर, मधुर और रिभित अर्थात् स्वर के माधुर्य से युक्त संभाषण करने वाली, सुन्दर स्तन और जंघाओं से सुशोभित निरुपम रूपशालिनी अवसर पर हास्य और संभाषण करने वाली नारियों को देख कर उनके मन के एक कोने में भी वासना का उद्भव नहीं होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

હે ભગવાન્ અમ્બડ! સૂત્રમાર્ગનું અનુસરણ કરનાર સાધક ક્ષીણ કષાયી અને દાન્તેન્દ્રિય (ઇન્દ્રિયોંપર કાબુ રાખનાર) હોય છે. શરીરનો વ્યવહાર ચાલુ રહે તે માટે, યોગસાધન માટે નવ કોટિ પરિશુદ્ધ આહાર ગ્રહણ કરે છે. તે આહાર ભિક્ષાચરીના દશ દોષોથી રહિત હોય છે. સોળ ઉદ્ગમન અને સોળ ઉત્પાદના દોષોથી રહિત છે. જુદા જુદા કુળોમાં પર કૃતપરિનિષ્ઠિત (બીજાઓ માટે નિર્મિત છે), જેમાં અગ્નિ ઠરી ગયો છે. અને ધુવાડો પણ નાશ પામ્યો છે. એવી રીતે જ નિર્દોષ આહાર શય્યા અને ઉપધિને શોધવા વાળા મુનિગણ સુંદર નારીમાં આસક્ત થતા નથી.

---

१ हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। अ० ७-१। देश सर्वतोऽणु महती-तत्वार्थ. अ० ७ १-२।

જો કે ઉચિત નમ્રતાપૂર્ણ વ્યવહારથી કુશળ છે. સુન્દર, મધુર અને રિમિત અર્થાત્ સ્વરના માધુર્યથી યુક્ત સંભાષણ કરવાવાળા, સુન્દર સ્તન અને જાંગથી સુશોભિત ને અનુપમ રૂપથી શોભા પામેલ, અમુક સમય જોઇને હાસ્ય અને સંભાષણ કાર્ય કરવાવાળી એવી સ્ત્રીઓને પણ જોઇને તેઓના મનન એક ખૂણામાં જરા પણ વાસના ઉત્પન્ન થતી નથી.

जो साधक काम विजेता है उसका आहार-विहार नियमित होता है। वह आहार लेता है, क्योंकि शरीर को टिकाए रखना है। पर वह आहार भी तभी लेता है जब वह उसके नियमों के अनुकूल हो। उसके लिए बनाया गया भोजन वह ग्रहण नहीं करता है। भोजन दूसरों के लिए बनाया गया हो वह भी अग्नि और धूम रहित हो।

ऐसा निर्दोष आहार शय्या और स्थान तथा वस्त्रादि के ग्राहक साधक मधुरभाषिणी और सौन्दर्यशालिनी नारियों के नेत्र कटाक्ष से घायल नहीं होते हैं।

नव कोटि परिशुद्ध-मन, वाणी और कर्म से अशुद्ध आहार का न ग्रहण करना न करवाना और न अनुमोदन करना यह नव कोटि परिशुद्ध कहलाता है।

टीका :—हे भगवन्नम्बट ! ते सूत्रमार्गानुसारिणः क्षीणकषाया दान्तेन्द्रियाः शरीरसंधारणार्थं योगसंधानाय नवकोटिपरिशुद्धेत्यादि प्रसिद्धलक्षणं पिंडं तादर्शीं भिक्षां शय्यां चोपधिं च गवेषमाणाः साधवः संगत-गत-हसित-भणितैः सुन्दरस्तनजघनैश्च प्रतिरूपा रूपवत्यः स्त्रियो दृष्ट्वा न तेषां मनसापि प्रादुर्भावं गच्छन्ति मैथुनार्था ग्रामधर्माः। गतार्थः। एतावदेव ऋषिभाषितमित्यंबटस्य संबोधितत्वादनुमेयम्। शेषाणां ऋषिभाषितानां वाग्वृत्तिं त्वनुसृत्य हारितेत्यादि लघुवाक्यं यौगन्धरायणभाषितमिति।

अम्बड के संबोधन से ऐसा अनुमान होता है कि इतना ही ऋषिभाषित है। शेष ऋषिभाषित की वाग्वृत्ति का अनुसरण करने पर ज्ञात होता है कि हारित आदि लघुवाक्य योगन्धरायण द्वारा कह गये हैं।

से कधमेतं ? विगतरागता सरागस्स वियणं अविक्ख हतमोहस्स, तत्थ तत्थ इतराइतरेसु कुलेसु परकडं जाव पडिरूवाओ पासित्ता णो माणसा वि पादुब्भावो भवति, तं कहमिति ?।

मूलघाते हतो रुक्खो, पुप्फघाते हतं फलं।
छिण्णाए मुद्धसूईए, कतो तालस्स रोहणं ? ॥ १ ॥

अर्थ :—यह वीतरागता कैसे हुई ? क्योंकि बहुत से सराग आत्मा ऐसे भी होते हैं जिन्होंने मोह को पराजित कर दिया है, मोह को उपशान्त कर दिया है। वे यहां वहां अन्यान्य कुलों से परकृत आहार आदि का उपभोग करते हैं। और रूपवती सुन्दर नारियों को देख कर भी जिनके मन में पाप का उद्भव नहीं होता है।

प्रश्न :—हे भगवन् ! ऐसा क्यों होता है ?।

उत्तर :—जैसे जड नष्ट कर देने पर वृक्ष नष्ट हो जाता है और फूल के समाप्त कर देने पर फल स्वयं नष्ट हो जाते हैं। यदि ताड के मूर्द्धन्य भाग को सूई से छेद दिया जाय फिर उसकी वृद्धि कभी संभवित है ?

जिसने वासना की जड़ को नष्ट कर दिया है उसके मन में वासना के अंकुर फूट नहीं सकते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

આ વીતરાગતા (વિષયોપભોગ માટે તિરસ્કાર) કેવી રીતે થઈ ? કારણકે ઘણા વિષયાસક્ત જીવ એવા પણ હોય છે કે જેઓએ મોહને પરાજીત કરી દીધો છે કે મોહનું શમન કરી દીધું છે. તેઓ અહીંયાં ત્યાં અન્યાન્ય કુલોથી બીજાઓએ કરેલા આહારાદિકનો સ્વીકાર કરે છે. અને રૂપવતી સુંદરીઓને જોઇ જેના મનમાં ખરાબ ખ્યાલ આવતોજ નથી.

પ્રશ્ન:—હે ભગવન્! એવું શામાટે થાય છે ?

ઉત્તર:—જેવી રીતે મૂળ કાપી નાખતાં વૃક્ષ નષ્ટ થઇ જાય છે અને ફૂલને કચડાવી દેતાં ફળ પોતે નાશ પામે છે. જો તાડના ઉપરના ભાગને સોયથી છેદી દેવામાં આવે તો પછી તેની વૃદ્ધિ કેવી રીતે થઇ શકે ?

જેણે વાસનાને જડમૂળથી નષ્ટ કરી છે તેના મનમાં વાસનાના અંકૂર ફૂટી શકતા નથી.

टीका :—कथमेतदिति कथं सा क्षीणकषायता दान्तेन्द्रियतेत्युच्यते? सा भवति विगतरागता। सरागस्याप्यपेक्ष्येति केवले स्त्रीविषये न तु सर्वथा हतमोहस्येत्यर्थेव दृश्यते तत्र तत्रेतरेषु कुलेषु पिंडं गवेषमाणेत्यादि पूर्ववत् सा प्रादुर्भावः कथमिति मूलघातेत्यादि पंचदशाध्ययनवत्।

टीकाकार का भिन्न मत इस प्रकार है—

प्रश्न :—वह क्षीण कषायता और दान्तेन्द्रियता कैसे संभव है?।

उत्तर :—वह विगतरागता सराग आत्मा में भी होती है। केवल सर्वदा मोह विजेता में ही यह नहीं होती है। यही अर्थ यहां देखा जाता है।

प्रश्न :—तत् तत् विशिष्ट कुलों में पिंड-भोजन की गवेषणा-खोज करने वाले साधक के मन को वासना क्यों नहीं स्पर्श करती है?।

उत्तर :—मूल के नष्ट होने पर फलादि नहीं होते हैं। पन्द्रहवें अध्ययन में प्रस्तुत श्लोक आ चुका है।

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधक वीतरागता का पथिक है। सम्पूर्ण मोह विजेता ही काम विजेता होता है। किन्तु सराग आत्माएँ भी इस प्रकार काम पर विजय पाते हैं कि नारी का अनिन्द्य सौन्दर्य उनके मन के एक अणु को आकर्षित नहीं करता है। साधना का सही उद्देश्य भी यही है कि वह वृत्तियों पर विजय पाए।

से कथमेतं? हत्थि महारुक्खणिदरिसणं तेल्लापाउधम्मं किंपागफलणिदरिसणं से जथा णाम ते साकडिए अक्खमक्खेज्जा एस मे णो भज्जिस्सति भारं च मे वहिस्सति एवमेओवमाए समणे निग्गंथे छहिंठाणेहिं आहारं आहारेमाणे वा णो अतिक्कमेति, वेदणा वेयावच्चे० तं चेव।

अर्थ :—प्रश्नः—वह साधना कैसे संभव है?

उत्तर :—जिस प्रकार से हस्ति महावृक्ष को गिरा सकता है उसी प्रकार काम साधनारूप वृक्ष को नष्ट कर सकता है। अतः साधक उससे बच कर तेलपात्र धारक की भांति अप्रमत्त हो कर घूमता है। और भौतिक सुखों में किंपाक फल की छाया देखता है। जैसे कि एक सारथी धुरा के लिए बोलता है कि यदि यह नहीं टूटेगा तो मेरा बोझ भी ढो सकेगा। इसी रूपक से मुनि का आहार उपमित है। श्रमण निर्ग्रन्थ छः स्थानों से छः कारणों से भोजन करते तो वे अपने मुनि धर्म की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते हैं। वे ये हैं वेदना, वैयावृत्य, ईरियासमिति, संयम, प्राणनिर्वाह और धर्म चिन्तन।

गुजराती भाषान्तरः—

પ્રશ્ન:—એ સાધના કેવી રીતે થઇ શકે છે?

ઉત્તર:—જેવી રીતે હાથી મોટા ઝાડને પાડી શકે છે તે જ પ્રમાણે કામ સાધનારૂપ વૃક્ષને નષ્ટ કરી શકે છે. માટે સાધક જેના હાથમાં તેલથી ભરેલું વાસણ હોય તેવા માણસમુજબ સંભાળીને સાવધાનથી ચાલે છે. અને ભૌતિક સુખોમાં કિંપાક (જહરી) ફળની છાયા જુએ છે. જેવી રીતે એક સારથી ધુરા માટે કહે છે કે જો આ તૂટશે નહીં તો મારો ભાર પણ ઉપાડી શકશે આ રૂપકથી મુનિના આહારનો દાખલો આપ્યો છે. શ્રમણ નિર્ગ્રંથ છ સ્થાનોથી છ કારણોથી ભોજન કરે છે. તો તેઓ પોતાના મુનિધર્મનું ઉલ્લંઘન કરતા નથી. તે આ પ્રમાણે છે. (૧) વેદના, (૨) વૈયાવૃત્ય, (૩) ઇરિયાસમિતિ (૪) સંયમ, (૫) પ્રાણનિર્વાહ અને (૬) ધર્મ-ચિન્તન.

साधक ग्राम और नगरों में घूमता है। आंखों का स्वभाव देखने का है। सौन्दर्य उसके सामने आता है। तब भी वह देखता है और कुरूपता पर भी उसकी दृष्टि जाती है। फिर भी साधक अपने मन पर विवेक का अंकुश रखे। वासना के कटु विपाक उसकी आंखों के सामने रहेंगे, तो वह अपने मन को साधने में सफल हो सकेगा। जिसप्रकार मत्त गज एक ही प्रहार में विशाल वृक्ष को उखाड़ देता है, इसी प्रकार काम भी साधना को उखेड़ सकता है। इस ध्रुव सत्य को साधक अपनी आंखों के सामने रखे। तेल पात्र धारक जिसकी कहानी इसी सूत्र के पैंतालीसवें अध्ययन में आती है उसकी भाँति अप्रमत्त रहे। मीठे लगने वाले भोगों में वह किंपाक फल की छाया देखता रहे। इस प्रकार वह मन को साध सकेगा। किन्तु मन के साथ ही तन की भी कुछ समस्या है। साधना का यह तो अर्थ नहीं होता कि चारित्र लेते ही वह संथारा करके मृत्यु की उपासना करे। अतः उसके पास तन है तो उसकी समस्या को भी हल करता रहे।

वह आहार भी ग्रहण करे किन्तु उसके भोजन में भी विवेक ही आगे रहे। उसका भोजन इस लिए नहीं है कि शरीर पुष्ट बने और वृत्तियां खुल कर खेलें। वह भोजन इसलिए करता है कि शरीर से उसको काम लेना है। शरीर एक रथ है, आत्मा उसका सारथी है। सारथी का कर्तव्य हो जाता है कि रथ को सुरक्षित रखे। क्योंकि शान्त शरीर में ही शान्त दिमाग रह सकता है Sound mind found in a sound body.

अतः साधक जीवन रथ को चलाने के लिए आहार ग्रहण करता है। जिस प्रकार शकट वाहक सारथी यह सोचता है कि रथ यदि सुरक्षित है तो मेरा बोझ यथा स्थान पहुंच सकता है। इसी भावना से अनुप्राणित हो कर साधक भोजन करता है। आगम में इसके वेदनादि छः कारण दिए गये हैं।

टीका :—स शुद्धपिंडः कथमिति हस्तिमहावृक्षनिदर्शनं पाउत्ति पात्रं तैलपात्रधर्ममप्रमादगुणवर्णनगर्भपंचत्वारिंश-दध्ययनस्य द्वाविंशे श्लोके सूचितं किंपाकफलैर्निदर्शनमूढात्वप्रकाशकं च। अपरं च यथा नामैकः शाकतिकोऽक्षं म्रक्षेदेष मम न भंक्ष्यति भारं च मे वाहिष्यति चिन्तयन्नेतयोपमया श्रमणो निर्ग्रन्थः षट्सु स्थानेष्वाहारं आहारयन्नातिक्रामति तद्यथा—वेदनावैयावृत्यैर्या प्राणवृत्तिधर्मचिन्त्येत्येतेषामर्थाय। गतार्थः।

से जधा णामते जतुकारए इंगालेसु अगणिकायं णिसिरेज्जा एस मे अगणिकाए णो विज्झाहिति जतुं च ताविस्सामि, एवमेवोवमाए समणे निग्गंथे छहिं ठाणेहिं आहारं आहारेमाणे णो अतिक्कमेति वेदणा वेयावच्चे तं चेव।

अर्थ :—जैसे एक लाक्षाकार अर्थात् लाख का काम करने वाला कोयलों में अग्नि प्रज्वलित करता है और विचार करता है कि यह अग्नि बुझ न जाए उसके पहले ही मैं लाख को तपा लूंगा। इसी उपमा से मुनि को आहार उपमित किया गया है। श्रमण निर्ग्रन्थ छः स्थानों से आहार करते हुए मुनिधर्म का अतिक्रमण नहीं करते हैं। वे कारण है वेदना वैयावृत्य आदि।

वेयण-वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमाए। तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥

—उत्तरा० अध्ययन २६ गाथा ३३॥

गुजराती भाषान्तर :—

જેવી રીતે લાક્ષાકાર એટલે કે લાખનું કામ કરનાર કોળસાનો અગ્નિ પ્રજ્વલિત કરે છે, અને વિચાર કરે છે, કે આ અગ્નિ ઠરી જાય એ પહેલાં જ આ લાખને તપાવી લઈશ. એ જ ઉપમાથી મુનિનો આહાર ઉપમિત કરવામાં આવ્યો છે. નિર્ગ્રંથ, શ્રમણ છ સ્થાનોથી આહાર કરતાં મુનિધર્મનું અતિક્રમણ કરતા નથી, તે કારણો છે-વેદના, વૈયાવૃત્ય વગેરે.

मुनि आहार ग्रहण करता है। उसका लक्ष्य शरीर पोषण का न रह कर शरीर निर्वाह का रहता है। जैसे लाक्षाकार इंधन को प्रज्वलित करता है और सोचता है कि यह इंधन न बुझ जाय उसके पहले मैं अपना कार्य सम्पन्न कर लूं। इसी प्रकार साधक भी यह सोचता है कि जब तक यह शरीर है मुझे अपनी आत्मसाधना कर लेनी है।

टीका :—अपरं च यथा नामैको जतुकारकोऽनगारेष्वग्निकायं निःसृजेदेष मेऽग्निकायो न विध्यापयिष्यति जतुं च तापयिष्यामीति चिन्तयन्नेतयोपमयेत्यादि पूर्ववत्। अन्यच्च गतार्थम्।

से जथा णामते उसुकारए तुसेहिं अगणिकायं णिसिरेज्जा एस मे अगणिकाए णो विज्झातिस्सति उसुं च तावेस्सामि एवमेवोवमाए समणे निग्गंथे० सेवं तं चेव।

अर्थ :—जैसे कि एक इक्षुकार तुस के द्वारा अग्नि प्रज्वलित करता है और सोचता है कि यह आग बुझ न जाए तब तक इक्षुरस को गर्म करूंगा। इसी प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थ आहार का सेवन करते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જેવી રીતે એક ઇક્ષુકાર અનાજનું ભૂસું મૂકી અગ્નિને પ્રજ્વલિત કરે છે અને વિચાર કરે છે કે આ આગ ઠરી ન જાય તે પહેલા ઇક્ષુ-રસને ગરમ કરીશ. એ જ પ્રમાણે શ્રમણ નિર્ગ્રંથ આહારનું સેવન કરે છે.

मुनि आहार करता है। उसके लिए आहार का विधान है। सारथी अक्ष के द्वारा निज स्थान पर पहुंचना चाहता है। लाक्षाकार और इक्षुकार (को लहू पीलने वाले) आग के द्वारा अपना लक्ष्य सिद्ध करना चाहते हैं। इसी प्रकार मुनि भी साधना करना चाहता है। उसके लिए शरीर का सहयोग आवश्यक है। जब तक शरीर स्वस्थ है मुनि साधना में स्थित रहेगा। आहार के द्वारा शरीर समाधिस्थ रहता है। यदि तन की समाधि समाप्त हुई तो मन की समाधि उसके पहले ही समाप्त हो जाएगी। समाधि के अभाव में साधक आर्त ध्यान करेगा। अतः मुनि योग्य कारणों के उस्थित होने पर आहार अवश्य ही करे।

टीका :—यथा नामीको इषुकारकः तुषेष्वग्निकायं शेषं तदेव। केवलमिषुं तापयिष्यामीति। गतार्थः। अम्बटाध्ययनस्य यौगन्धरायणअध्ययनमिति युक्ततरं नामं भवेत्।

अम्बड अध्ययन का यौगन्धरायण अध्ययन नाम योग्य होगा।

एवं से सिद्धे बुद्धे विरए विपाके० ॥
इति पंचविंशतितमं अंबडाध्ययनम्।

मातंग अर्हतर्षि प्रोक्त

छब्बीसवां अध्ययन

मानव को अशुभ से शुभ की ओर मोड़नेवाली एक वृत्ति है उसका नाम है धर्म। धर्म क्या है, उसका स्वरूप क्या है? क्या अमुक प्रकार के क्रियाकांड का लेना धर्म है? नहीं, वह धर्म नहीं, धर्म का शरीर है। आत्मा का स्वभाव ही धर्म है। आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म की परिभाषा दी है-"वत्थु सहाओ धम्मो"। वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। यहां पर एक प्रश्न होगा कि चोर का स्वभाव चोरी करना है, तो क्या चोरी करना भी धर्म है? यह गलत है, क्योंकि चोरी स्वभाव नहीं विभाव है। अन्यथा कोई भी चोर चोरी करके भागता नहीं।

आत्मा अपने स्वभाव में आए, अपने सहज गुणों को विकसित करे वही धर्म है। धर्म आत्मा में रहता है; मन्दिर मस्जिद और उपाश्रयों की दीवारों में नहीं। धर्म का असली मन्दिर हृदय है। यदि वह हृदय में स्थित है तो साधनाओं द्वारा उसका विकास होगा और साधनाओं में उसका प्रकाश होगा तथा जीवन की प्रत्येक क्रिया उससे आलोकित रहेगी। आचार और व्यवहार शुद्ध बनेंगे। बिना विचार शुद्धि का धर्म भी अधूरा रहेगा। एक विचारक ने कहा है कि:—

A religion without reality is tree without root,
and a reality without religion is root without tree. —शेक्सपीयर

नीति बिना धर्म का बिना जड़ का वृक्ष है और धर्म बिना की नीति वृक्ष बिना की जड़ है। दोनों ही अधूरे हैं। धर्म के साथ जीवन का संबन्ध स्थापित करना ही प्रस्तुत अध्ययन का विषय है।

कतरे धम्मे पण्णत्ते, सव्वा महाउसो! सुणेह मे।
किणा बंभणवण्णाभा, युद्धं सिक्खंति माहणा ॥ १ ॥

अर्थ :—उस महामुनि ने कितने प्रकार के धर्म बतलाए हैं? हे आयुष्मानो! तुम लोग मुझसे सुनो। ब्राह्मण वर्णवाले माहण श्रावक क्यों युद्ध सीखते हैं?।

गुजराती भाषान्तर :—

એ મહાન મુનિએ કેટલા પ્રકારના ધર્મ બતાવ્યા છે? હે આયુષ્યમાન! તમે મને સાંભળો, બ્રાહ્મણ વર્ણવાળા માહણ શ્રાવક શા માટે યુદ્ધ શીખે છે?

जो साधक धर्म-साधना करते हैं उनके मन में एक सहज प्रश्न उठता है कि धर्म क्या है और उसके कितने प्रकार हैं ? । इसके उत्तर में ऋषि बोलते हैं कि हे आयुष्यमान साधकों ! धर्म के उन सभी प्रकारों को मेरे से सुनो । अर्हतर्षि धर्म की व्याख्या और उसका प्रकार बताते हुए सीधा एक प्रश्न कर देते हैं कि ब्राह्मण वर्णवाले ब्राह्मण युद्ध क्यों सीखते हैं ? उनका अध्ययन अध्यापन और तत्वचिन्तन करना और मनन का मक्खन जगत को देना उनका कार्यक्षेत्र है फिर वे युद्ध कार्य क्यों सीखते हैं ?

टीका :—कतरो धर्मः प्रज्ञप्तः ? धर्मं न सम्यग् जानीथेति भावः । हे आयुष्यमंतः ! सर्वं धर्मं यदि वा हे सर्वा-युष्यमन्तो धर्मं मम मत्तो वा शृणुत । केनार्थेन ब्राह्मणवर्णाभा न ब्राह्मणाः सन्तो महाणत्ति मा हंतेति श्लोकाद् युद्धं शिक्षन्ते हिंसां प्रकुर्वन्ति ? ।

अर्थात् कितने धर्म कहे गए हैं ? । इससे यह ध्वनित होता है कि प्रश्नकर्ता धर्म के मर्म को समझता नहीं है । हे दीर्घजीवियों ! सभी धर्मों को अथवा सभी आयुष्यमानों धर्म को मेरे द्वारा सुनो । ब्राह्मण वर्ण की आभा वाले अर्थात् ब्राह्मण जैसा दिखाई देने वाले किन्तु यथार्थ में जो ब्राह्मण नहीं है अर्थात् शरीर से जो ब्राह्मण हैं और प्रकृति से क्षत्रिय हैं वे हिंसा क्यों करते हैं । इस तरह श्लेष रूप से युद्ध की शिक्षा देते हैं अर्थात् हिंसा का प्रसार करते हैं ।

रायणो वणिया जागे, माहणा सत्थजीविणो ।
अंधेण जुगणद्धे वि-पलुत्थे उत्तराधरे ॥ २ ॥

अर्थ :—राजा गण और वणिक लोग यदि यज्ञ याग में प्रवृत्त हों और ब्राह्मण शास्त्र जीवी हो तो ऐसा होगा मानो अंधे से जुड़े हुए हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

રાજાગણ અને વણિક જો યજ્ઞ-યાગાદિ ક્રિયાઓમાં પ્રવૃત્તિ રાખે અને બ્રાહ્મણ લોકો સમરાંગણમાં ઉતરે તો એવું થશે જાણે કે આંધળાઓ ભેગા જોડાયેલા છે.

जिसकी जो वृत्ति है उस वृत्ति के अनुसार वह काम करता है तो वह उसमें सफल हो सकता है और यही उसका धर्म है । राजा क्षात्रवृत्तिशील होता है उसमें वीरत्व और तेज होता है उसका कार्य है देश की रक्षा करना । वैश्य का कार्य है विनिमय राष्ट्र की संपत्ति की आवश्यकतानुरूप वितरित करने का दायित्व वैश्य के ऊपर है और शास्त्र का अध्ययन अध्यापन करना ब्राह्मण का कार्य है । यह समाज में चक्षु का स्थान रखता है पर यह एक स्थूल व्यवस्था है । हर एक मनुष्य की अपनी अपनी वृत्ति होती है । उसी के अनुरूप उसे कार्य करना चाहिए । ब्राह्मण वृत्तिवाला ही ब्राह्मण है । परशुराम ब्राह्मण कुल में जन्म ले कर भी क्षत्रिय थे । जब कि भगवान् महावीर क्षत्रिय हो कर भी ज्ञान-साधक थे । अतः वर्णव्यवस्था का यह तो मतलब नहीं होता है कि उस वर्ण में जन्म लिया हुआ व्यक्ति उसी वृत्ति के अनुरूप हो । अपनी वृत्ति के अनुरूप वर्ण चुनने में स्वतंत्र है ।

फिर भी जो व्यक्ति में जो वृत्ति है उससे विपरीत वृत्ति कार्य करता है तो वह कार्य उसके लिए शान्तिदायक नहीं हो सकता । ब्राह्मण यदि पठन-पाठन त्याग कर शस्त्र हाथ में लेता है और क्षत्रिय तथा वैश्य यज्ञ याग में आते हैं तो यह कार्य उनकी वृत्ति के विपरीत होगा । अतः उसमें उनको लाभ नहीं अपितु हानि ही होगी ।

टीका :—शास्त्रजीविनो हि यागे भवन्ति ब्राह्मणाः, लौकिकव्यापारेषु तु राजानः क्षत्रियवणिजो वैश्यांश्च स्वधामानि स्वगृहाणि स्वात्मनो वा पिनिदधति निरुंधन्ति विवेकात् ब्रह्मपालनाच्चेति तृतीयश्लोकस्योत्तरार्धं द्वितीयस्य पूर्वार्धेन संबन्धनीयम् ।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं । ब्राह्मण यज्ञ में शास्त्रजीवी होते हैं । क्षत्रिय गण लौकिक व्यापार में रत रहते हैं । विवेक के साथ ब्राह्मण के पालन अर्थात् ब्रह्मचर्य के पालन के लिए अपने घरों को बन्द रखते हैं । यहां तीसरे श्लोक का उत्तरार्ध दूसरे श्लोक के पूर्वार्ध से सम्बन्धित है ।

आरूढा रायरहं, अडणीए युद्धमारभे ।
सधामाइं पणिद्धंति, विवेता बंभपालने ॥ ३ ॥

अर्थः—कुछ ब्राह्मण राजरथ पर आरूढ हो कर सेना के साथ युद्ध आरंभ करते हैं। किन्तु ब्रह्मवृत्ति के पालक विवेक साथ अपने गृहों को बन्द कर लेते हैं।

गुजराती भाषान्तरः—

કેટલાક બ્રાહ્મણો રાજરથ પર આરૂઢ થઈને સેના સાથે યુદ્ધ આરંભ કરે છે. પરંતુ બ્રહ્મવૃત્તિના પાલક વિવેકથી પોતાના ઘરો બંધ કરે છે.

कुछ ब्राह्मण विप्रवंश में जन्म लेकर भी क्षत्रिय वृत्ति लेकर आते हैं इसीलिए वे युद्ध के मैदान में उतर आते हैं। किन्तु जो ब्रह्मवृत्ति वाले हैं उनमें ज्ञान की ज्योति जगमगाती रहती है। अतः हिंसात्मकवृत्ति के लिए अपने द्वार बंद कर लेते हैं।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं कि जो ब्राह्मण और वैश्य की भांति एक रक्तरंजित धार्मिक क्रिया करता है वे सदसद् का विवेक को बैठते हैं। यहां तीसरी पंक्ति-आवश्यकतानुरूप पहली से जोड़ी गई है। क्योंकि दोनों पंक्तियाँ बहु वचन में हैं। अंधी जोड़ी के संबन्ध में यहां "अंधो संबंधं पहं निन्ते" की असर दिखाई देती है। फिरभी दोनों पंक्तियों में अस्पष्टता शेष रह जाती है।

टीकाः—अन्धेन युगेनाचक्षुष्मता वाहयुग्मेन विपर्यस्तोत्तराधरस्खिन्नध्वनि राजपथमारूढेव आदानैत्ति मार्गे युद्धमारभते नतु युद्धभूमौ सो ब्रह्मणो यद् यद्धिंसनं कर्म प्रकरोति तत्सर्वं सर्वथा हतबुद्धेरिव निरर्थकमिति भावः।

टीकाकार का मत भिन्न है। वे लिखते हैं कि जैसे दो अंध युगल मार्ग में मिलते हैं और यदि वे विरोधी हैं तो वहीं राजपथ में लड़ पडते हैं। यह युद्ध राज पथ में होता है, युद्ध भूमि में नहीं। इसी प्रकार जो ब्राह्मण हिंसा कर्म में प्रवृत्त होते हैं उनका कार्य हतबुद्धि व्यक्ति की भांति निरर्थक है।

दो विपरीत दिशा से आने वाले अंधों में टक्कर हो सकती है और वे राजमार्ग को युद्ध भूमि बना सकते हैं। किन्तु जिनकी दोनों आंखें खुली हैं वे भी यदि टकराने लगें तो उनको क्या कहा जाय? यही कि स्थूल आंखें खुली हैं परन्तु अन्तर्चक्षु अभी नहीं प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार तत्व को न जानने वाला हिंसा करता है। वह अज्ञानी है पर शास्त्रों को रटनेवाले और तत्वज्ञान का दावा रखने वाले भी यदि हिंसा के क्षेत्र में उतरने लगें तो समझना होगा कि शास्त्रों को रटा है, पर समझा नहीं है। रटन तो एक पोपट भी कर सकता है किन्तु उसको कोई ज्ञानी नहीं कह सकता है। रट लेना अलग चीज है, पर उसका तत्व समझ लेना अलग चीज है। यदि सही विश्वास के साथ समझा है तो गलत कदम उठ ही नहीं सकता। इसीलिए भगवान् महावीर कहते हैं कि 'णाणस्स फलं विरतिः'। ज्ञान का फल विरक्ति है। प्रसिद्ध विद्वान् कनफ्-यूशस् ज्ञान और आचरण का साहचर्य बताते हुए कहता है कि-

The essence of knowledge is having it, to apply it not having it to confess ignorance—कन्फ्यूशस।

ज्ञान का सार यह है कि ज्ञान रहते उसका प्रयोग करना चाहिए। और उसके अभाव में अपनी अज्ञानता स्वीकार लेनी चाहिए।

दूसरा विचारक सेनका कहता है कि Wisdom teaches us to do as well ss talk to make our words and actions all of a colour ज्ञान हम को करना और बोलना सिखाता है। हमारे शब्दों और कार्यों को एक रंग में रंग देता है। संत विनोबा भी कहते हैं कि मनुष्य जितना ही ज्ञान के रंग में घुल गया हो उतना ही वह कर्म आचरण के रंग में रंग जाता है।

ण माहणे धणुरहे, सत्थपाणी ण माहणे।
ण माहणे मुसं बूया, चोज्जं कुज्जा ण माहणे ॥ ४ ॥

अर्थः—धनुष और रथ से युक्त-ब्राह्मण नहीं हो सकता। ब्राह्मण शस्त्रधारी भी नहीं हो सकता। ब्राह्मण मृषावाद भी न बोले और चौर्य कर्म भी न करे।

गुजराती भाषान्तरः—

ધનુષ અને રથથી યુક્ત બ્રાહ્મણ હોઈ શકે નહીં. બ્રાહ્મણ શસ્ત્રધારી પણ થઇ શકતા નથી. બ્રાહ્મણ મૃષાવાદ (જૂઠું) પણ બોલે નહીં અને ચોરી (ન આપેલાનું ગ્રહણ) પણ કરે નહીં.

ब्राह्मण के हाथ में धनुष बाण शोभ नहीं सकते हैं। उसकी जीभ पर मृषावाद शोभित नहीं होता और उसके आचरण में चौर कर्म शोभा नहीं पा सकते। सर्वहितंकर साहित्य उसके हाथ में शोभित होता है। सब के लिए हितप्रद और मधुर वाणी उसके मुख को शोभित करती है।

जयघोष मुनि ब्राह्मण कर्म का परिचय देते हुए कहते हैं कि:—

जो क्रोध में या हंसी में, लोभ से अथवा भय से कभी भी असत्य भाषण नहीं करता उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूं। सजीव या निर्जीव, अल्प या अधिक किसी भी रूप में बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करता है उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूं[१]।

टीका :—यथार्थनामा ब्राह्मणो न धन्वी न रथी न शस्त्रपाणिः स्यान्न मृषा ब्रूयान्न चौर्यं कुर्यात्। गतार्थः।

मेहुणं तु ण गच्छेज्जा णेव गेण्हे परिग्गहं।
धम्मंगेहिं णिजुत्तेहिं, झाणज्झयणपरायणो ॥ ५ ॥

अर्थ :—ब्राह्मण अब्रह्मचर्य का सेवन न करे। और परिग्रह को भी ग्रहण न करे। धर्म के विविध अंगों में नियुक्त हो ध्यान और अध्ययन में सदैव परायण बने।

गुजराती भाषान्तर :—

બ્રાહ્મણ બ્રહ્મત્વને વિરોધક કામ કરે નહીં; અને પરિગ્રહ(દાન)ને પણ ગ્રહણ કરે નહીં. ધર્મના વિવિધ અંગોમાં નિયુક્ત બને અને ધ્યાન અને અધ્યયનમાં સતત વ્યાસંગ કરે.

कोहा वा जइ वा हासा लोहा वा जइ वा भया।
मूसं न वयई जोउ तं वयं बूम माहणं।
चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गिण्हइ अदत्तं जे तं वयं बूम माहणं ॥

—उत्तराध्ययन २५ गाथा २४, २५

ब्राह्मण के वैभाविक कर्मों में मैथुन और परिग्रह का भी समावेश है। जो कि ब्रह्म वृत्ति के अनुकूल नहीं रहते। अत उसके लिए यह भी त्याज्य है। दया, करुणा, तेज, क्षमा और निर्लोभता आदि जो गुण धर्मांग हैं वे ही उसे शोभते हैं। अतः वह धर्मांगों में प्रवृत्त हो कर ध्यान और अध्ययन में परायण बने।

टीका :—न मैथुनं गच्छेन्न परिग्रहं गृह्णीयात्, स्यात्तु नियुक्तानामाज्ञापितानां दशानामपि धर्मांगानां ध्यानाध्ययनपरायणः।

ब्रह्मवृत्तिशील साधक वासना और परिग्रह से दूर रहे। तथा उसके लिए निर्दिष्ट दशों धर्मों में वह प्रवृत्त रहे। इन दश धर्मों के नाम इस प्रकार हैं—

क्षमा, मृदुता, सरलता, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचनता और ब्रह्मचर्य[१]।

सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं, सच्चप्पेही स माहणे।
सीलंगेहिं णिउत्तेहिं, सीलप्पेईही स माहणे ॥ ६ ॥

अर्थ :—जिसकी इन्द्रियाँ निग्रहीत हैं और जो सत्यप्रेक्षी हैं वही ब्राह्मण है। शील के विविध अंगों में जिसने अपने मन को नियुक्त कर रखा है वह शील द्रष्टा ही ब्राह्मण है।

गुजराती भाषान्तर :—

જે ઇન્દ્રિયોંપર પૂર્ણ સંયમ (કાબુ) રાખે છે અને જે સત્યપ્રેક્ષી છે તે જ બ્રાહ્મણ છે. શીલના જાણકાર તે જ બ્રાહ્મણ છે. શીલના વિવિધ અંગોમાં જેણે પોતાના મનને નિયુક્ત કરી રાખ્યું છે, શીલનો જાણકાર તેજ બ્રાહ્મણ છે.

जिस पर इन्द्रियों का शासन नहीं है, जिसकी इन्द्रियां दुर्वासना की ओर नहीं जाती हैं वह सत्य-द्रष्टा ब्राह्मण है। साथ ही सदाचार के अंगों को जिसने आत्मसात् किया है वह सदाचार शील व्यक्ति ब्राह्मण है। पांच शीलांग बताए गए है। दया, सत्य, प्रामाणिकता, सन्तोष और मद्य वस्तु का परित्याग।

---

१ उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः। —तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ सूत्र ६

टीका :—गुप्तैः सर्वेन्द्रियैः सत्यप्रेक्षी स्याच्छीलप्रेक्षी च सप्तस्वपि शीलांगेषु नियुक्तेषु । गतार्थः ।

छज्जीवकायहितए, सव्वसत्तदयावरे ।
स माहणेत्ति वत्तव्वे, आता जस्स विसुज्झती ॥ ७ ॥

अर्थ :—षट्-जीव-निकाय के प्रति जिसके मन में कल्याण कामना है, प्राणी मात्र पर जो दया की धारा बहाता है और जिसकी आत्मा विशुद्ध है वही ब्राह्मण कहलाता है।

गुजराती भाषान्तरः —

छ काय जीव प्रत्ये जेना मनमां कल्याणनी कामना छे. प्राणी मात्र पर जे दयानी धारा वहावे छे अने जेनो आत्मा विशुद्ध छे ते ज ब्राह्मण कहेवाय छे.

प्रस्तुत गाथा सप्तक के द्वारा ब्राह्मणत्व का परिचय दिया गया है। क्योंकि ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति की धारा हजारों वर्षों से साथ साथ बही है। अतः एक दूसरे के साहित्य में या संस्कृति में उसकी छाया उतरना सहज है। यह तो संभव ही नहीं है कि हजारों वर्षों से साथ में बहने वाली संस्कृति की दो धाराएँ सदा दूर रहे। या साहित्य में एक दूसरे का नाम ही न मिले। आगम में जहां जहां श्रमण संस्कृति का नाम आया है उतने ही गौरव के साथ ब्राह्मण संस्कृति का भी स्मरण किया गया है। आगम की पाठावली देखे तो स्पष्ट अनुभूति होगी। "तहा रूवं समणं वा माहणं," ।-स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र, सुखविपाक।

जैन-दर्शन ने ब्राह्मण संस्कृति का विरोध नहीं किया है। किन्तु ब्राह्मणत्व की ओट में पनपने वाले जातिवाद, पंथवाद और पूजावाद का उसने डट कर विरोध किया है। तमाम सड़ी गली निष्प्राण रूढियों की विकृत स्नायुओं का ऑपरेशन करके उसने शुद्ध ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा की है।

उत्तराध्ययन सूत्र के पचीसवें अध्याय में इसी शुद्ध ब्राह्मणत्व का परिचय दिया गया है। जैन दर्शन व्यक्ति-पूजक नहीं, अपि तु गुणपूजक है । इसने एक दिन आघोष किया था कि-"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः।" गुणपूजक संस्कृति ने शुद्ध ब्राह्मणत्व को आदर दिया हो तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं होगा।

स्थूल क्रियाकांडों में श्रमणत्व और ब्राह्मणत्व को सीमित माननेवाली विचारधारा का जैन दर्शन ने विरोध किया है। उसने कहा है कि द्रव्यसाधना शरीर है जब कि भावसाधना उसका प्राण है। अतः केवल स्थूल गज से न मापों, फिर वह श्रमणत्व हो या ब्राह्मणत्व। उसका प्रखर आघोष निम्न विचार में सुना जाता है। केवल सिर मुंडा लेने से ही कोई श्रमण नहीं हो जाता है। केवल ॐकार का जाप मात्र ही किसी के ब्राह्मणत्व के लिए पर्याप्त नहीं है। केवल अरण्य वास ही किसी को मुनि नहीं बना सकता है। (अन्यथा तमाम वनवासी पशु पक्षी मुनि होते और केवल वल्कल वस्त्र ही किसी को तपस्वी नहीं बना सकता। तात्पर्य यह है कि इन सभी क्रियाओं के साथ अन्तःसाधना चाहिए। समत्व का साधक ही श्रमण हो सकता है। और ब्रह्मचर्य का धारक ब्राह्मण हो सकता है। ज्ञान से ही कोई मुनि कहला सकता है। और तप का साधक ही तपस्वी कहला सकता है[1]।

टीका :—षड्जीवनिकायहितः सर्वसत्वदयापरः स ब्राह्मण इति वक्तव्यो यस्यात्मा विशुद्ध्यति । गतार्थः ।

दिव्वं सो किसिं किसेज्जा, णेवप्पिणेज्जा, मातंगेण अरहता इसिणा बुइतं ।

अर्थ :—ब्राह्मण दिव्य खेती करे, किन्तु पानी की क्यारियां न बनाए या उसे छोडे नहीं। मातंग अर्हतर्षि इस प्रकार बोले।

गुजराती भाषान्तर :—

ब्राह्मण दिव्य (श्रद्धा, प्रेम, दया अने ज्ञानरूपी) खेती करे, परंतु पाणीनी क्यारीओ बनावे नहीं अथवा तेने छोडे नहीं. मातंग अर्हतर्षि आ प्रमाणे बोल्या.

---

१ नवि मुंडिएण समणो न ॐकारेण बंभणो। न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण तावसो। समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो। णाणेण य मुणी होइ तवेण होइ तावसी।

प्राचीन युग में ब्राह्मण खेती करता था। प्रस्तुत पाठ यह अभिव्यक्त करता है जनता की पूजा और प्रतिफल पाने वाले ब्राह्मण ने जब अपने आप को उच्च धरातल से नीचे ला पटका हो और जनता की ओर से मिलने वाली पूजा प्रतिष्ठा के स्रोत सूखने लगे, तब विवश हो कर उसने कृषिकर्म अपनाया होगा। अर्हतर्षि मातंग ने ब्राह्मण संस्कृति को पुनः उद्बोधन दिया है। खेती करना है तो करुणा और दया की खेती की ओर बढो। यह पानी की खेती है, यदि इसमें श्रद्धा और ज्ञान का अभाव है तो तुम्हारी खेती तुम्हें धान्य का उपहार नहीं देगी। आत्मा की खेती करो और उसमें प्रेम का बीज डालो, दया के जल से सींचो फिर आनन्द की फसल काटो। निम्न गाथाओं में इसी दिव्य खेती की प्रेरणा दीगई है।

टीका :—दिव्यां स कृषिं कृषेन्नार्पयेन्न तां मुञ्चेत्। गतार्थः।

आता छेत्तं तवो बीयं,[1] संजमो जुअणंगलं।
झाणं, फालो निसित्तो य, [2]संवरो य बीयं दढं॥ ८॥

अर्थ :—आत्मा क्षेत्र है, तप बीज और संयम रूप हल से युक्त है। ध्यान रूप फलक लेकर संवर रूप बीज बोए।

गुजराती भाषान्तर :—

આત્મા ખેતર છે, તપ બીજ અને સંયમ રૂપ હળથી યુક્ત છે. ધ્યાનરૂપી પાટિયું લઈને તેમાં સંવરરૂપ બીજ વાવવું.

आत्मिक खेती का सुन्दर रूपक यहां पर दिया गया है। आत्मा ही क्षेत्र है, उसमें संवर रूप बीज बोना है। उस खेत को साफ करने के लिए संयम रूप हल है। ध्यान फलक है। बीज के विकास के लिए धूप चाहिए। मुनि की तपःसाधना तेज है। जो कि फसल को परिपक्व बनाता है।

टीका :—'आत्मा क्षेत्रं तपो बीजं संयमो युगलांगले। ध्यानं च फालो निशितः संयमश्च दृढं बीज'मिति पाटः संदिग्धपाठः पौनरुक्त्याच्छन्दसोऽशुद्धत्वाच्च।

आत्मा क्षेत्र है, तप बीज है, संयम युग लांगल है, ध्यान फलक है और संयम दृढ बीज है। किन्तु यह पाठ अशुद्ध ज्ञात होता है। इसके दो कारण हैं। प्रथम तो इसमें बीज की पुनरुक्ति है। दूसरा छन्द भी अशुद्ध है।

'तपो बीयं' पाठ टीकाकार तथा प्रोफेसर शुब्रिंग् को मान्य है। इसीलिए इसमें पुनरुक्ति दोष आता है। जब कि अन्य हस्तलिखित प्रतियों में तथा रतलाम से प्रकाशित प्रति में "तपो पीतं" पाठ है। पीत का अर्थ तेज होगा। खेती के लिए धूप भी तो आवश्यक होगा। अतः पीतं पाठ लेने पर द्विरुक्ति हट जाती है।

अकुडत्तं व कूडे सुं, विणए णियमेण ठिते।
तितिक्खा य हलीसा तु, दयागुत्तीपग्गहा॥ ९॥

अर्थ :—मायाशीलों में माया रहित होकर रहना और नियमतः जो विनय में स्थित है तितिक्षा जिनके लिए हलीसा है। दया और गुप्ति प्रग्रह अर्थात् रस्सी है।

गुजराती भाषान्तर :—

માયાશીલોમાં માયારહિત થઈને રહેવું અને નિયમથી જે નમ્રતાયુક્ત રહે છે તિતિક્ષા જેમની હલીસા છે. દયા અને ગુપ્તિ પ્રગ્રહ અર્થાત્ દોરડી છે.

आध्यात्मिक खेती का सांग रूपक देते हुए अर्हतर्षि साधक की स्थिति और उसके प्रसाधन बता रहे हैं। आध्यात्मिक खेती करने की प्रथम शर्त है जीवन में सरलता होनी चाहिए। सरलता आध्यात्मिक क्रान्ति का प्रथम सोपान है। हृदय सरल और स्वच्छ होना चाहिए। जिसके वाणी विचार और बर्ताव में द्वैत (मेल नहीं) है वह साधना के उच्च शिखर पर पहुंच नहीं सकता है।

एक विचारक बोलता है कि:-A good face is a letter of recommendation, a good heart is a letter of credit यदि सुन्दर मुख सिफारिश का प्रमाण है तो सुन्दर हृदय विश्वास पत्र।

---

१ पीतं. २ संजमो.

महर्षि वेदव्यास भी कहते हैं कि: "तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः ॥" तीर्थों में सर्वश्रेष्ठ तीर्थ हृदय है और पवित्रताओं में विशुद्ध हृदय पवित्रतम है। जब तक हृदय में सरलता और पवित्रता नहीं आती तब तक साधना जलधारा पर चित्र का आलेखन है। वाचक मुख्य उमास्वाति साधक की परिभाषा देते हुए कहते हैं "निःशल्यो व्रती"—तत्वार्थसूत्र गाथा १३ अ० ७

व्रती कौन है, कितने व्रत लिए हो, कितनी तपःसाधना कर चुका हो, उसे व्रती कहना चाहिए। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यह सब बाद की वस्तुएँ हैं। व्रती वही है जिसके अन्तर और बाहर में द्वैत की खाई मिट चुकी हो।

जीवन के मैदान में सरलता सर्वत्र विजय पाती है। उसके सामने कूटनीति को भी पराजित होना पड़ता है। एक विचारक ने ठीक ही कहा है:—

Nothing more completely baffles who is full of trick and duplicity than stright reward and simple integrity in another. चालाक और दुहरी नीति रखने वाले की इससे ज्यादा पूर्ण पराजय अन्यत्र न होगी। जैसी कि सीधे और सादगी पूर्ण आदमी के सामने।

अतः साधक सरल आत्माओं के साथ ही सरलता का व्यवहार सीमित न रखें, अपि तु जो चालाक और कूटनीति वाले हैं उनके साथ भी सरलता की नीति रखे। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' यह पुरानी कहावत है अब तो 'शठं प्रति सत्यं समाचरेत्' होना चाहिए। साधक विनय शील हो। हृदय सरल होगा तो आचरण में विनम्रता अवश्य ही आएगी। सहन शीलता हलेषा है। दया और गुप्ति–मनादि को अशुभ से रोकना, प्रग्गह अर्थात् रस्सी है जो कि खेती के आवश्यक उपकरण है।

टीका :—कूटेषु वंचकेषु पुरुषेष्वकूटत्वं सरलत्वमंगीकरोति, अस्मिंस्तु पादे कृष्युपमा न दृश्यते। विनये नियमनमिव स्थितः तितिक्षा च हलेषा दया गुप्ती च प्रग्रहौ। गतार्थः।

विशेषः छली व्यक्तियों में सरलत्व धारण करना चाहिए। किन्तु यहां पर कृषि उपमा नहीं दिखाई देती है।

समत्तं गोच्छणवो, समिती उ समिला तहा।
धितिजोत्त सुसंबद्धा, सव्वण्णुवयणे रया ॥ १० ॥

अर्थ :—सम्यक्त्व का गोच्छणव है और समिति शमिला समोल है। धृति की जोत वह रस्सी जो बैल या घोडे को वाहन में जोतने के उपयोग में आती है उस से सुसंबद्ध है। और सर्वज्ञ के बचनों में अनुरक्त है।

गुजराती भाषान्तर :—

સમ્યક્ત્વનું ગોચ્છણવ (છાણ) છે અને સમિતિ શમિલા–સમોલ છે. ધૃતિની જીત તે દોરી કે જે બળદ અથવા ઘોડાના વાહનમાં જોડવાના ઉપયોગમાં આવે છે, તે થી સુસંબદ્ધ છે અને સર્વજ્ઞના વચનોમાં અનુરક્ત છે.

खेती के लिए खाद आवश्यक है। अच्छी खाद अच्छी फसल पैदा करती है। आध्यात्मिक शान्ति की फसल प्राप्त करने के लिए सम्यक्त्व रूप खाद की आवश्यकता है। समस्त आध्यात्मिक शान्ति का मूल है सम्यक्त्व। एक आचार्य बोलते हैं कि:—

सम्मं च मोक्खबीयं तं पुणभूयत्थ सद्दहणारूवं।
पसमाइ लिंग-गम्मं सुहाय परिणामं रूवं तु ॥

—आचार्य देवगुप्त, नव-तत्त्व-भाष्य।

सम्यक्त्व मोक्ष का बीज है। उसका स्वरूप है तत्व श्रद्धा और वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अवबोध। प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और श्रद्धा उसके बाह्य चिन्ह हैं जिसके द्वारा वह जाना जाता है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही नैश्चयिक सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व की परिभाषा तीन प्रकार से की जाती है। १ व्यावहारिक २ दार्शनिक ३ नैश्चयिक।

१ सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर विश्वास रखना 'व्यावहारिक सम्यक्त्व' है। प्राथमिक कक्षा के साधकों के लिए यह सुगम व्याख्या दी गई है।

२ तत्वार्थ श्रद्धा ही सम्यक्त्व है[1]। यह 'दार्शनिक' और आध्यात्मिक व्याख्या है जोकि तत्वज्ञ जिज्ञासु साधकों के लिए है। अथवा यह व्याख्या उन विराट् पुरुषों के लिए भी है जोकि ज्ञान की अन्तिम किरण तक पा चुके हैं। उन तीर्थंकर देवों के लिए देव कौन गुरु, कौन और धर्म क्या ?। वे स्वयं ही देव हैं और स्वयं ही गुरु हैं, उनकी वाणी ही धर्म है। अतः प्रथम व्याख्या उनके लिए उपयुक्त नहीं हो सकती है। अतः तत्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व वहां घटित होती है।

३ तीसरी व्याख्या के अनुरूप आत्मा की शुद्ध परिणति ही सम्यक्त्व है, क्योंकि प्रथम दोनों प्रकार की व्याख्याएँ वहां घटित नहीं होती हैं। साथ ही वहां शम, संवेगादि सम्यक्त्व के बाह्य चिन्ह भी नहीं मिलते हैं। फिर भी सिद्ध प्रभु में क्षायिक सम्यक्त्व है। वहां निज रूप में रमणता रूप सम्यक्त्व के अतिरिक्त और कोई भी परिभाषा नहीं घटित होती है। शुद्ध निश्चयनय के अनुसार आत्मा का शुद्ध स्वरूप सम्यक्त्व है और वही खाद के रूप में गृहीत किया है।

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप और परिस्थापन रूप पंचविध समितियां शमिला है[2]। योगों की शुभ में प्रवृत्ति समिति है। धृति रूप रस्सी से जो सुसम्बद्ध है और जो वीतराग के वचनों में अनुरक्त है वही साधक श्रेष्ठ खेती कर सकता है।

टीका :— सम्यक्त्वं गोच्छणवोऽत्यज्ञातार्थः। समितिस्तु शमिला, धृतियोक्त्रसुसंबद्धास्ते ये सर्वज्ञवचने रताः। गतार्थः।

विशेष गोच्छणवो पद का अर्थ अज्ञात है।

पंचेव इंदियाणि तु, खंता दंता य णिज्जित्ता।
माहणेसु तु ते गोणा, गंभीरं कसते किसिं ॥ ११ ॥

अर्थ :—क्षान्त, दान्त और इन्द्रिय जेता ब्राह्मणों के लिए दमन की गई उसकी पांचों इन्द्रियां ही उसके लिए गो-वत्स हैं। जिनके द्वारा वह गंभीर दिव्य खेती करता है।

ब्राह्मण का पुत्र खेती करता है। किन्तु उसकी खेती अपार्थिव होती है क्षमा और इन्द्रिय-जय उसके वृषभ हैं। जिनके द्वारा वह दिव्य खेती करता है।

साधना क्षमा और इन्द्रिय जय उतने ही आवश्यक हैं जितने कि खेती के लिए बैल। क्षमा हृदय को निर्वैर बनाती है। वर्षों का वैमनस्य और कालुष्य क्षमा का स्पर्श पाते ही धुल जाता है। क्षमा हृदय की देन है। जब हृदय शुद्ध होता है तब क्षमा का जन्म होता है, केवल हाथ जोड़ना ही उसके लिए पर्याप्त नहीं है। हाथ तो एक कैदी भी जोड़ता है। जब तक मन नहीं जुड़ता है तब तक क्षमा का मूल्य नहीं चूकता। जिसमें हृदय जुड़ता है वही क्षमा मन के मैल को धो सकती है। ऐसी क्षमा और इन्द्रिय-जय साधक के दो वृषभ हैं जिनके द्वारा वह खेती करता है।

यह रूपक प्राचीन भारतीय कृषि पद्धति को बताता है। साथ ही उसके आवश्यक अंग बैल को भी बता रहा है। आज की बीसवीं सदी में ट्रैक्टर आ चुके हैं, फिर भी आज भारतीय किसान के सखा हलधर ही हैं। किन्तु जब वे ही अन्नदाता हलधर वृद्ध हो जाते हैं तो उन्हें कसाई के हाथों बेच दिया जाता है जहां कि क्रूर कसाई का विकराल छुरा उनको मौत के घाट उतार देता है। यह कैसा अपराध है!। वर्षों तक जिसका सेवा ली जब सेवा देने का प्रसंग आया तो उसे चंद चांदी के टुकडों के लिए कसाई के हाथ बेच दिया यह कैसा कठोर पाप है!।

पर इस अपराध की पृष्ठभूमि में दरिद्रता और अभाव की भी छाया है, जिसके चंगुल में भारत का अन्नदाता कृषक समाज आज भी फंसा हुआ है। गरीबी पापों की जननी है!।

गरीबी के पापों में एक यह भी है तो इसका हिस्सा अमीरी के पल्ले बिलकुल ही नहीं पडता ऐसा नहीं मान सकते। गरीबों का शोषण करने वाली अमीरी ही सब पापों की जड है, जिससे छली जाकर भोलीभाली गरीबी जघन्य कर्म करने पर उतारू हो जाती है। अहिंसा का उत्तराधिकारी बननेवाला समाज जब परिग्रह में गले गले तक डूबता है तो वह अप्रत्यक्ष रूप से अहिंसा के मौत के वॉरन्ट पर हस्ताक्षर करता है। क्योंकि परिग्रह और हिंसा भाई-बहन है। अहिंसक समाज क्या इस तथ्य को समझने की कोशिश करेगा?

टीका :— पंचेन्द्रियाणि तु क्षान्तानि दान्तानि निर्जितानि च यानि ब्राह्मणेषु तानि गोरूपाणि गंभीरं कृषिं कृषन्ति।

---

१ तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग् दर्शनम्।—तत्वार्थसूत्र अध्याय १ सूत्र २। २ बैलों के कन्धों पर रहने वाले युग जुआ की कील।

टीकाकार का अभिप्राय कुछ भिन्न है। क्षान्त दान्त ब्राह्मण, पाँचों इन्द्रियों पर जिन्होंने विजय पाई है उनके लिए वे ही इन्द्रियां गोरूप हैं। अर्थात् इन्द्रियां यदि अनिगृहीन हैं तो वे बाघनसी हैं, किन्तु जब उन पर ज्ञान का अंकुश है आत्मा का शासन है तो वे गौवत्स के सदृश हैं और खेती के लिए सर्वप्रथम गौ-वत्स की ही आवश्यकता है।

तवो बीयं अवंझं से, अहिंसा णिहणं परं।
ववसातो धणं तस्स, जुत्ता गोणा य संगहो ॥ १२ ॥

अर्थ :—तप ही उस खेती का अवन्ध्य तथा निष्फल न जाने वाला बीज है और दूसरे के हितों को हनन न करने वाला अहिंसामय व्यवसाय आचरण ही उसका धन है। अहिंसा की साधना में जुते हुए (लगे हुए) बैल ही उसका संग्रह है।

गुजराती भाषान्तर :—

તપ જ તે ખેતીનું અવન્ધ્ય એટલે નિષ્ફળ ન જાય એવું બીજ છે. અને બીજાના હિતોનું હનન (નાશ) ન કરવાવાળા અહિંસામય વ્યવસાયનું આચરણ જ તેનું ધન (મુડી) છે. અહિંસાની સાધનામાં લાગેલો બળદ જ તેનો સંગ્રહ (સાધનસંપત્તિ) છે.

इस अपार्थिव खेती का बीज तप है जो कभी भी निष्फल नहीं जाता है। प्राणिमात्र के लिए अभयदात्री अहिंसा ही उसका धन है। जिसमें सभी जीवों की रक्षा का आश्वासन है। किन्तु इस व्यवसाय के लिये क्षमा और दमन के वृषभ तथा धैर्य की जोत-(रस्सी) की सर्व प्रथम आवश्यकना है। क्योंकि क्षमा और धैर्य की भूमि इन्द्रिय-दमन है।

टीका :—तपस्तस्य निर्व्याजस्य ब्राह्मणस्यावंध्यं बीजमहिंसा परमं निधनं गोत्रं, व्यवसायस्तस्य धनं संग्रहं संयम-युक्तौ बलीवर्दौ।

अर्थात् उस निष्काम साधक के लिए तप ही अवन्ध्य बीज है। अहिंसा ही उस का परम श्रेष्ठ गोत्र है। उसका व्यवसाय है अपार्थिव धन का संग्रह। संयम में जुडे हुए विचार और व्यवहार ही दो बैल हैं। टीकाकार का मत कुछ भिन्न है।

धिती वलंवसुहिका, सद्धा मेढी य णिच्चला।
भावणा उ वती तस्स, इरियादारं सुसंवुडं ॥ १३ ॥

अर्थ :—अवलम्बन के लिए धैर्य हिका के सदृश है। निश्चल श्रद्धा मेढी है। भावनाओं से ईर्यापथ का द्वार भी सुसंवृत है।

गुजराती भाषान्तर :—

અવલમ્બન માટે ધૈર્ય હિક્કાની જેવી છે, નિશ્ચલ શ્રદ્ધા થાંભલા જેવી છે. ભાવનાઓથી ઈર્યાપથનું બારણું પણ ઢાંકેલું છે.

साधक की अहिंसा की फसल पक चुकी है। फसल कट जाने के बाद वह खलिहान में आती है। ऊपर का छिलका साफ करना होता है, इसके लिए हिक्के का अवलम्बन लिया जाता है। धैर्य ही वह हिक्का है। बाद में खलिहान में स्तंभ गाडा जाता है। जिसके चारों ओर बैल घूमते हैं और अनाज का छिलका दूर होता जाता है। साधक की निश्चल श्रद्धा ही मेढी अर्थात् स्तंभ है। श्रद्धा साधना की रीढ है। यदि श्रद्धा की भूमि ठोस है तो अध्यात्म के आकाश में उड़ान भरी जा सकती है, क्योंकि पक्षी को उडने के लिए रुई का नरम ढिग नहीं; कठोर भूमि चाहिए। ऐसे ही साधना के लिए श्रद्धा की ठोस भूमि चाहिए। चंचल श्रद्धावाला व्यक्ति किसी भी कार्य में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता।

अहिंसा की मधुर फसल उसके जीवन में पवित्र भावनाओं का संचार करती है मन की गति शुभ की ओर बढती है और एक दिन वह भी आता है जब कि वह पूर्ण शुद्ध स्थिति में पहुंच कर ईर्यापथ की क्रिया को भी रोक देता है। आत्मा जब विकास की ग्यारहवीं श्रेणी पर पहुंचता है तब सभी क्रियाएं समाप्त हो जाती हैं। केवल ऐर्यापथिक क्रियाशेष रह जाती है जोकि योग प्रवृत्ति की देन है। जब तक मन वाणी और कर्म की प्रवृत्ति रहती है वहां तक क्रिया चालू रहती है। किन्तु उससे कषाय भाव चला जाता है तो कर्मों की बन्धशक्ति समाप्त हो जाती है। योग के कारण कर्म आते अवश्य हैं, किन्तु वे प्रथम समय में आते हैं द्वितीय समय में भोगे जाते हैं और तीसरे समय में निर्जरित हो जाते हैं[1]। निश्चल नय की दृष्टि

१—जाव सजोगी भवइ ताव ईरियावहियं कम्मं निबंधइ। सुहफरिसं दुसमयठिइयं। तं पढमसमये बद्धं बिइयसमये वेइयं तइय-समये निज्जिण्णं। -उत्तरा. अ० २९ सूत्र ७१।

से तो स्थिति का कोई अलग समय नहीं है। कर्म आते हैं और चले जाते हैं। क्योंकि स्थिति और रस बन्ध कषाय सापेक्ष हैं[२]। किन्तु जब आत्मा आयोगी अवस्था में पहुंच जाता है तब ऐर्यापथिक क्रिया भी समाप्त हो जाती है। अर्हतर्षि चौदहवें गुण-स्थान प्राप्त आत्मा की अयौगिक स्थिति का वर्णन कर रहे हैं।

टीका :— धृतिर्बलं वसुधैका श्रद्धा च निश्चला च मेथिर्धुरोवष्टंभः भावनां तु तस्य वृत्तिर्या सुसंवृतं द्वारं। गतार्थः।

कषाया मलणं तस्स, कित्तिवातो य तक्खमा।
णिज्जरा तुल वामीसा, इति दुक्खाण णिक्खति ॥ १४ ॥

अर्थः — कषायों का मर्दन ही उसके धान्य का मर्दन है। उसकी क्षमा ही कीर्तिवाद है। निर्जरा ही उसका (खेती का) काटना है। इस प्रकार साधक दुःखों से मुक्त होता है।

गुजराती भाषान्तरः—

કષાયોનું મર્દન એજ તેના ધાન્યનું મર્દન છે. તેની ક્ષમાજ કીર્તિવાદ છે. નિર્જરા જ તેની ખેતીનું કાપવું છે. આ પ્રમાણે (સમજી વર્તનારા) સાધક દુઃખોથી મુક્ત થાય છે.

अनाज के खलिहान में आने के बाद उसका मर्दन किया जाता है। ताकि धान्य से उसके छिलके पृथक् हो जाय। साधना में कषाय का मर्दन अपेक्षित है। उसके बिना कर्म के छिलके आत्मा से पृथक् नहीं हो सकते। क्षमा ही उसका कीर्तिवाद है। किन्तु कीर्तिवाद खलिहान से असंबद्ध लगता है। हाँ, उसे उफनने के लिए हवा की अवश्य ही आवश्यकता होती है। क्षमा ही ऐसी वायु हो सकती है जोकि कर्म के छिलके को दूर कर सकती है। निर्जरा कटाई है, किन्तु यह भी अप्रासंगिक लगता है। क्योंकि कटाई तो मर्दन के भी पहले की क्रिया है। अतः छिलके का एक दम दूर हो जाना निर्जरा है जो सप्रसंग भी रहता है। ऐसी खेती करने वाला साधक समस्त दुःखों का अन्त करता है।

टीका :— कषायास्तस्य मर्दनं कीर्तिवादश्च तत्क्षमा, निर्जरा तु ईषां लुनामि एवं दुःखानां निष्कृतिर्भाविष्यतीति तदभिप्रायः। गतार्थः।

एतं किसिं किसित्ताणं, सव्वसत्तदयावहं।
माहणे खत्तिए वेस्से, सुद्दे वा पि विसुज्झति ॥ १५ ॥

अर्थ :— प्राणिमात्र पर दया का झरना बहाते हुए जो इस प्रकार की खेती करता है वह ब्राह्मणकुलोत्पन्न हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो तो भी विशुद्ध होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

પ્રાણિમાત્ર પર દયાનું ઝરણું વહાવતા જે આ પ્રમાણે ખેતી કરે છે, તે બ્રાહ્મણ કુલમાં જન્મેલો હોય, ક્ષત્રિય વંશમાં જન્મેલો હોય કે વૈશ્ય (વાણીયા) નાં કુલમાં જન્મેલો હોય કે પછી શૂદ્ર વંશમાં જન્મ પામેલો હોય તો પણ વિશુદ્ધ થાય છે.

टीका :— एतां कृषिं कृष्ट्वा सर्व-सत्वदयावहां ब्राह्मणा क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽपि विशुध्यति। गतार्थः।

जिसमें दया का झरना वह रहा हो अनन्त अनन्त प्राणियों के प्रति दया की गंगा बह रही हो ऐसी आत्मिक खेती ही आत्मविशुद्धि कर सकती है। अहिंसा की गंगा सबको पवित्र बनाती है। फिर वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र वह सभी के जीवन को उज्ज्वल और समुज्वल बनाती है।

प्रोफेसर वॉल्टर शुब्रिंग् लिखते हैं कि श्लोक ८ से लेकर १५ तक सांगरूपक संपूर्ण और रूप में प्रस्तुत किया गया है। आत्मा को खेत बना गया है और अनित्यता से उसे बोना है। फिर भी बहुत सी उपमाएँ स्पष्ट नहीं हैं। "कुदे शुम कुत" हल का एक भाग बताया गया है। गोच्छनवो अपरिचित है, फिर भी महत्त्व पूर्ण है। बारहवें श्लोक का अर्थ शंकास्पद है। १३ वे श्लोक में हलेश अवलंब के स्थान पर विलंब की संभावना की जा सकती है। निर्जरा उखेड डालने को खराब स्थिति

२—जोगापयडीपएसा, ठिइ-अणु-भागा कसायदो होन्ति। -द्रव्य संग्रह।

को दूर करने के साथ उपमित किया है। पन्द्रहवे श्लोक में इस" शब्द दूसरी विभक्ति में होना चाहिए । अर्हतर्षि नैतिक जीवन को ही दिव्य खेती कहते हैं।

एवं से सिद्धे बुद्धे० । गतार्थः ।

इति मायंगिज्झयणं ।

इति मातंग अर्हर्षि प्रोक्त षड्विंशति अध्ययन समाप्त ।

वारत्तक अर्हतर्षि प्रोक्त

सत्ताईसवां अध्ययन

साधक निवृत्ति का पथिक है। अतः उसके जीवन में अनासक्ति योग आना चाहिए। वह अपने जीवन को इस प्रकार बनाए कि मोह अपनी सारी शक्ति के साथ भी उसे न बाँध सके। निवृत्ति का अर्थ निष्क्रियता नहीं है । निवृत्ति और निष्क्रियता स्थूल दृष्टि में भले ही समानार्थक लगते हो परन्तु दोनों में उतना ही अन्तर है जितना कि जीवित और मृत में। निवृत्ति साधना का पथ है, जिसमें साधक अनासक्त हो कर क्रिया करता है। जब कि निष्क्रियता जड़ता है। जड़ता जीवन की मौत है। निवृत्ति का पथिक यदि यह सोचता है कि मुझे अपना ही सब कुछ देखना है, समाज और संघ से मेरा कोई वास्ता नहीं है, तो वह निवृत्ति शब्द के साथ न्याय नहीं करता है। अपनी रोटी दाल की क्रिया में उलझे रहने की विचारधारा निवृत्ति की नहीं, स्वार्थी वृत्ति की देन है। साधक एकान्ततः निवृत्तिवादी है ऐसा भी नहीं कहा जासकता है। आगम वाणी बोलती है कि:—

एगओ निव्वत्तिं कुज्जा एगओ य पव्वत्तणं ।

साधक एक ओर से निवृत्त हो कर दूसरी ओर प्रवृत्त हो। अर्थात् अशुभ मे निवृत्त हो कर शुभ में प्रवृत्त हो। क्योंकि एकान्ततः निवृत्ति जड़ता है और वह जड़ता चैतन्य के स्वभाव से विरुद्ध है। इसी लिए स्वयं सिद्ध प्रभु एकान्ततः निवृत्ति नहीं है, वे भी शुद्धोपयोग और अपने निजगुणों में रमणशील है अर्थात् प्रवृत्त है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति दो पथ हैं। साधक का लक्ष्य हैं आत्मशुद्धि। यदि वह लक्ष्य भुला दिया गया तो एकान्ततः निवृत्ति निष्क्रियता में परिणत हो जायगी या बाहर से निवृत्ति का ढोंग रख कर भीतर से भयंकर प्रवृत्तिशील बन जायेगी। दूसरी ओर प्रवृत्ति में भी विवेक न रह जाएगा तो वह भी पतन के गड्ढे में ढकेल देगी। चोगा तो सेवा का रहेगा पर सत्ता स्थान हथियाने लगेगी, संग्रह की वह भूख जागेगी कि त्याग पिछले दरवाजे से भाग खड़ा होगा। यों उसका चोगा वहीं छोड़ जाएगा। अतः साधक सावधानी के साथ कदम रखे। एक संस्कृत कवि ने ठीक ही कहा है कि:—

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहं तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते, निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

चित्त की राग दशा समाप्त नहीं हुई है तो वन में भी दोष पैदा हो सकते हैं। दूसरी और इन्द्रियनिग्रह की तपः-साधना घर में भी संभव है। उसमें जो सफल हो चुका है और जो कर्म में प्रवृत्त है उस वीतराग-स्थिति-प्राप्त साधक के लिए घर भी तपोवन है।

युगद्रष्टा आचार्य विनोबा लिखते हैं कि संन्यास लिया पर संन्यास की वृत्ति नहीं आई तो वह वन में दूना घर जमाने की कोशिश करेगा। अतः मूल वस्तु अनासक्ति-है उसके बिना पतन के सौ सौ द्वार खुले रहेंगे। एक और संस्कृत कवि कहता है कि: —

निःसंगता मुक्तिपदं यतीनां, संगादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः ।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः, संगेन योगी किमुताल्पसिद्धिः ।

साधक के लिए निःसंगता ही मुक्ति का द्वार है । क्योंकि संग से अनेक दोष पैदा हो सकते हैं । बड़े बड़े अध्यात्म-योगी भी संग के द्वारा पतन के गर्त में गिर गए हैं, फिर साधारण साधक की बात ही क्या ! । प्रस्तुत अध्याय अनासक्ति योग की ओर प्रेरित करता है ।

सिद्धि । साधु सुचरितं अव्वाहता समणसंपया वारत्तएणं अरहता इसिणा बुइतं ।

अर्थ :—साधु की सम्पत्ति उसका चरित्र है । और जो साधक उस सम्पत्ति से युक्त है उसकी गति अव्याबाध रहती है । ऐसा वारत्रयक अर्हतर्षि बोले ।

गुजराती भाषान्तरः —

સાધુની સાચી સમ્પત્તિ તેનું પવિત્ર ચરિત્ર છે અને જે સાધક તે સંપત્તિથી યુક્ત છે, તેની ગતિ નિર્બાધરહિત રહે છે એવું વારત્રયક અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

चरित्र ही साधक की सबसे बड़ी सम्पत्ति है । इंग्लिश विचारक फ्रेडरिक सान्डर्स कहते हैं कि Character is the governing element of life and is above genious चरित्र जीवन में शासन करनेवाला तत्त्व है और वह प्रतिभा से उच्च है । क्योंकि चरित्र समस्त गुणों की प्राथमिक भूमिका है । उसकी उपस्थिति में ही सभी सद्गुण ठहर सकते हैं । चरित्र की शक्ति दुनियां की समस्त शक्तियों पर विजय पाती है । एक विचारक कहता है There is no substitute for beauty of mind and strength of character — जे एलन.
मन के सौन्दर्य और चरित्र बल की समानता करने वाली कोई दूसरी वस्तु नहीं है ।

टीका :—साधु साधोः साधु वा सुचरितमव्याहतऽबाधिताश्रमणसंपच्छ्रमणैः सह संवासः ।

साधु का चरित्र अव्याबाध है । श्रमणों का सहवास ही उसकी सम्पत्ति है ।

न चिरं जणे संवसे मुणी, संवासेण सिणेहु वद्धती ।
भिक्खुस्स अणिच्चचारिणो, अत्तट्ठे कम्मा दुहायती ॥ १ ॥

अर्थ :—मुनि गृहस्थों के बीच अधिक समय तक न रहे । क्योंकि अधिक परिचय से स्नेह बढता है, जो कि अनित्यचारी भिक्षु की आत्मा के लिए कर्म का रूप लेकर दुःख की सृष्टि करता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

ગૃહસ્થોના સહવાસમાં મુનિએ ઝાઝા સમય સુધી રહેવું ન જોઇએ. કારણકે વધારે પરિચયથી બન્ને વચ્ચે સ્નેહ વધે છે, જે અનિત્યચારી ભિક્ષુના આત્મા માટે કર્મરૂપ થઈને દુઃખની ઉત્પત્તિ કરે છે.

जनता का अधिक परिचय स्नेह बन्धन करता है । परिणाम में रागात्मक वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है । गृहस्थ अपने स्वार्थ के लिए मुनि को उचित अनुचित सभी वृत्तियों में डाल सकता है और स्नेह बन्धन में बद्ध मुनि भी प्रलोभनों को ठुकरा नहीं सकता, नील गगन में स्वतंत्र उड़ान भरने वाले पक्षी की भांति अप्रतिबद्ध विहारी मुनि जब परिचय के पास में बंध जाता है तो उसकी स्वतंत्रता की पांखें कट जाती हैं और मोह की वह धारा अपने पीछे असंख्य कष्टों की परम्परा को लेकर आती है । इसी लिए आगम में मुनि के लिए नौ कल्पी विहार का विधान है ।

टीका :—न चिरं लौकिकजनेन संवसेन्मुनिः । संवासेन हि स्नेहो वर्धते । अनित्यचारिणो भिक्षोः कर्मणो हेतो-रात्मार्थो दुःखायते दुःखमापद्यते ।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं । उनका कहना है कि मुनि संसारी आदमियों में अधिक न रहे, क्योंकि उनके साहचर्य से स्नेह की वृद्धि होती है । जोकि साधक के लिए कर्म का हेतु बन कर दुःख को निमन्त्रण देता है ।

पयहित्तू सिणेहबंधणं, झाणज्झयणपरायणे मुणी ।
णिद्धत्तेण सया वि चेतसा, णिव्वाणाय मतिं तु संदधे ॥ २ ॥

अर्थ :—ध्यान और अध्ययन में लीन मुनि स्नेह बन्धन का परित्याग करे। मन के विकारों को धोकर मति को निर्वाण के पथ में जोडे।

गुजराती भाषान्तर :—

ध्यान અને અધ્યયનમાં લીન થયેલા મુનિએ સ્નેહબંધનનો પરિત્યાગ કરવો જોઈએ. મનના વિકારોને ધોઈ નાખી મતિને નિર્વાણના રસ્તે સ્થિર કરવી.

ध्यान मन की शक्तियों को केन्द्रित करता है। उसके केन्द्रीयकरण में एक बहुत बड़ी शक्ति आ जाती है। शीसे के द्वारा सूर्य की किरणें केन्द्रित होती हैं। उनमें तेज और प्रकाश के साथ ज्वाला फूट पड़ती है। यही बात मन की किरणों के संबन्ध में भी है। वे केन्द्रित होती हैं तो उसकी ज्वाला में मन की वासना और विकार भस्म हो जाते हैं।

निर्जन के एकान्त कोने में साधना में लीन हुवा मुनि जब स्नेह के पाश में बंधता है तो सचमुच ही उसकी साधना में बाधा आ जाती है। उसके ध्यान, निदिध्यास, चिन्तन, मनन और अनुशीलन तभी संभव है जब कि वह स्नेह-बन्धन से उपरत हो कर चले। इसीलिये प्राचीन युग का सन्त शहरों के जीवन को पसन्द नहीं करता था। शहरों से दूर वन में वह रहता था। भिक्षा के लिये गांव में आता और पुनः वन की शान्त भूमि में आत्मसाधना के लिए चल पड़ता था। प्रकृति का स्वच्छ वायुमंडल उसकी चित्तवृत्तियों का शुद्ध रखने में सहायक बनता। साथ ही यह अल्पकालीन परिचय गृहस्थ के हृदय में सन्त के प्रति श्रद्धा के दीप जलाता। हृदय की सच्ची जिज्ञासा को लेकर वहां पहुंचता। और यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है, जो वस्तु जितनी दूर है उसका आकर्षण भी उतना ही अधिक रहता है। यदि वह हमारे समीप हो जाती है तो उसका खिंचाव भी कम हो जाता है।

निर्वाण का पथिक अपनी बुद्धि को निर्वाण के पथ में तभी स्थिर रख सकता है जब कि वह गृहस्थ के स्नेह बन्धन से दूर रहे।

टीका :—स्नेहबन्धनं प्रजहाय ध्यानाध्ययनपरायणो भवति। निहितेन वशीकृतेन सदा अपि चेतसा निर्वाणाय मतिं समदध्यते।

साधक स्नेहबन्धन को छोड़ कर ही ध्यानाध्ययन में लीन हो सकता है, क्योंकि स्नेह साधना तथा अध्ययन के लिए सबसे बड़ा विघ्न है। यदि एक विद्यार्थी भी किसी के प्रेम-प्राश में बंध जाता है तो वह ठीक ढंग से अध्ययन नहीं कर सकता। क्यों कि उसकी मनःशक्ति अध्ययन में केन्द्रित नहीं हो सकती है। चित्त का निरोध करने पर ही बुद्धि निर्वाण की ओर अभिमुख हो सकती है।

जे भिक्खु सखेयमागते, वयणं कण्णसुहं परस्स बूया।
सेऽणुप्पियभासाए, हु मुद्धे आतट्ठे णियमा तु हायती॥ ३॥

अर्थ :—जो भिक्षु मित्रता के बन्धन में आकर दूसरे कर्ण के लिए सुखप्रद-मीठे वचन कहता है और वह गृहस्थ भी प्रिय भाषी में मुग्ध हो जाता है, किन्तु आत्मा के अर्थ को वे दोनों ही खो बैठते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જે ભિક્ષુ મિત્રત્વના બંધનમાં આવીને બીજાના કાનમાં સુખપ્રદ (મીઠી) વાતો કરેછે અને તે ગૃહસ્થ પણ પ્રિયભાષાથી મુગ્ધ થઈ જાય છે; પરંતુ આત્માના અર્થને તે બંનેને ખોઈ બેસે છે.

अति परिचय से संभावित दोषों का निरूपण करते हुए अर्हतर्षि कहते हैं कि परिचय प्रेम में बदलता है और मैत्री के पाश में बंध कर भिक्षु गृहस्थ को मीठी लगने वाली बात कहता है। नग्न सत्य कहने की शक्ति उसमें नहीं रहती और वह गृहस्थ भी प्रियभाषी मुनि की मीठी बातों में मुग्ध बनता है। जब उसके मतलब की बातें मिलेंगी तो अवश्य ही मुनि उसके लिए प्रिय बन जायगा। किन्तु यह रागात्मक श्रद्धा मुनि और श्रावक दोनों के आत्महित को ठेस पहुंचाता है।

मोह सत्य का प्रतिद्वन्द्वी है। मोहपाश में बद्ध व्यक्ति कभी भी नग्नसत्य नहीं बोल सकता; क्योंकि वह जानता है कि नग्नसत्य सुनते ही भक्त-गण वैसे ही उठ जाएंगे, जिस प्रकार फटाकों के धड़ाकों से पक्षीगण। वे मोह विजेता भगवान् महावीर थे जो कि अनन्य उपासक कोणिक जैसे सम्राट को भी कह सके, कि कौणिक! तूं मर कर नरक की ज्वाला में

पहुंचेगा । सत्य के प्रखर वक्ता ने उत्तर देते समय मगध के साम्राज्य को बीच में न आने दिया, न उसकी उपासना और भक्ति को ही सत्य के लिए व्यवधान बनने दिया । "यह मेरा भक्त है और मगध का सम्राट है यदि यह रूठ गया तो!" मन की दुर्बलता के ये विचार भगवान् महावीर को सत्य का उद्घोष करने से रोक न सके ।

उन्होंने अपने साधक शिष्यों से कहा, तुम्हारे भीतर सात्विक तेज प्रकट होना चाहिए कि तुम्हारे सामने दर दर भटकने वाला भिक्षुक आये या लक्ष्मीपति आए अथवा सम्राट भी क्यों न आए, सत्य प्रकट करते समय तुम्हारे मन का एक अणु भी कांपना नहीं चाहिए[1] ।" नग्न सत्य कहने के लिए बहुत बड़े साहस की अपेक्षा रहती है । क्योंकि हर कान इतना मजबूत नहीं रहता जो नग्न सत्य सुन सके । लेबनान का प्रसिद्ध विचारक खलील जिब्रान कहता है कि एक बार तुमने नग्न सत्य कहा तो तुम्हारे सभी संगी साथी तुम्हें छोड़ कर चल देंगे । यदि तुमने दुबारा नग्न सत्य का प्रयोग किया तो तुम देश से निकाल दिये जाओगे । और यदि तुमने तीसरी बार नग्न सत्य कहा तो तुम फांसी के फंदे पर लटका दिये जाओगे और तुम्हारी जीवन-लीला समाप्त हो जाएगी !" ।

जिसमें नग्न सत्य कहने का साहस नहीं होता है वह चापलूस बन जाता है, उपन्यास सम्राट श्री. प्रेमचन्दजी लिखते हैं कि "चापलूसी जहरीला प्याला है । वह तब तक आप को कष्ट नहीं पहुंचाएगी जबतक कि आप अमृत समझकर उसको पी न जायं" । एक इंग्लिश विचारक बोलता है कि : Flattery is counterfeit, and like counterfeit money, it will eventually get you in to trouble if you try to pass it—डेल कारनेगी । चापलूसी एक नकली सिक्का है और नकली सिक्के की भांति यह अन्ततः आप को कष्ट में डाल देगी, यदि आप इसको चलाने का प्रयत्न करेंगे । किसी ने पूछा कि किन जानवरों का काटना अधिक खतरनाक होता है? इसके उत्तर में विचारक ने कहा कि जंगलियों में निन्दकों का और पालतुओं में चापलूसों का । चापलूसी सरलता और निष्कपटता को डंडा मार कर भगा देती है । एक और विचारक कहता है कि: Flattery sits in the parlour, when dealing is picked out of door. जब चापलूसी बैठक में आकर बैठ जाती है तो निष्कपट व्यवहार को ढकेल कर बाहर कर दिया जाता है ।

वास्तव में साधक की यह कामना रहे कि-न तो मैं किसी की सस्ती प्रशंसा करूं और न दूसरों से अपनी सस्ती प्रशंसा सुनूं । साधक के जीवन में जब मुँह मीठी बात करने की वृत्ति आसकेगी तो वह गृहस्थ को सत्य बात न कह सकेगा । और गृहस्थ को भी मुँह देखी बात कहने वाले सन्त प्रिय बनेंगे । ऐसे साधक और गृहस्थ दोनों ही पतन के पथ पर हैं ।

टीका :—यो भिक्षुः परेण सख्यमागतस्तस्य कर्णसुखं वचनं ब्रूयात् सोऽनुप्रियभाषकश्चाटुकारः खलु मुग्धात्मार्थे हीयते नियमात् । गतार्थः ।

जे लक्खणसुमिण, पहेलियाउ अक्खाई याइ य कुतूहलाओ ।
तहा दाणाहं णरे पउंजए, सामण्णस्स महंतरं खु से ॥ ४ ॥

अर्थ :—जो कुतूहल से लक्षण, स्वप्न और प्रहेलिका बोलता है और मनुष्य (उसके लिये) दान आदि का प्रयोग करता है, किन्तु यह श्रामण्य भाव से बहुत दूर की वस्तु है ।

गुजराती भाषान्तर :—

જે આશ્ચર્યથી લક્ષણ, સ્વપ્ન, અને પ્રહેલિકા બોલે છે, જે મનુષ્ય દાનાદિનો પ્રયોગ કરે છે. પરંતુ આ શ્રામણ્ય (સાધક) ભાવથી ઘણી જ દૂરની વસ્તુ છે.

पिछली गाथा में कहा गया है कि मैत्री के मोह में गृहस्थ से भिक्षु मुंहदेखी बात कहता है । उसी प्रस्तुत गाथा स्पष्ट करती है । स्नेह-बद्ध सन्त अपने स्नेही गृहस्थों को लक्षण विद्या बतलाता है स्वप्न के प्रतिफल बतलाता है । पहेलियां बुझाता है और भी ऐसे ही कौतूहल पूर्ण काम करता है । कार्यसिद्धि के लिए भक्तगण दान का भी प्रयोग करता है । यह दान का प्रवाह मुनि के संकेतों पर बहता है । किन्तु उसका लक्ष्य दान के द्वारा अधिक संपत्ति बटोरना रहता है । और यह प्रपंच वन में रहने वाले मुनि के साधक जीवन से बहुत ही दूर की वस्तु है ।

१—जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ । जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥—आचारांग सूत्र.

टीकाः—यो लक्षणस्वप्नप्रहेलिकाः कुतूहलादाख्याति तस्य नरो जनो दानानि प्रयोजयेत् तत् तादृशं करणं श्रामण्यान्महदन्तरं भवेत् विपरीतं भवेदित्यर्थः। गतार्थः।

स्वप्न और लक्षणादि का बताना भौतिक विद्याएं हैं। आत्मा के प्रशस्त पथ के पथिक के लिए अग्राह्य हैं। ये भौतिक विद्याएं आत्मशान्ति के लिए विघ्नभूत हैं। भगवान् महावीर बोलते हैं कि—

मंताजोगं काउं भूइकम्मं च जे पउंजंति।
सायरस्सइड्डिहेउं अभिओगभावणं कुणइ॥

मंत्र योग करके जो भूतिकर्म का प्रयोग करता है उसके पीछे शारीरिक सुख और ऋद्धिप्राप्ति की कामना है। ऐसा साधक अभियोग भाव करता है।

जे चेलकउवणयणेसु वा वि, आवाह-विवाहवधूवरेसु य।
जुंजेइ जुज्झेसु य पत्थिवाणं, सामण्णस्स महदंतरे खु से॥ ५॥

अर्थः—जो साधक चूडोपनयन आदि संस्कारों में तथा वर वधू के आवाह-विवाह प्रसंगों में सम्मिलित होता है और राजाओं के साथ युद्ध में भी जुड़ता है, किन्तु साधक की इन समस्त क्रियाओं और श्रमण भाव के बीच बहुत बड़ा अन्तर है।

गुजराती भाषान्तरः—

જે સાધક ચૂડા, ઉપનયન આદિ સંસ્કારોમાં તથા વરવધૂના આવાહ-વિવાહ પ્રસંગોમાં સમ્મિલિત હોય છે અને રાજાઓ સાથે યુદ્ધમાં પણ ભાગ લે છે, એવા સાધકની આ બધી ક્રિયાઓ અને શ્રમણભાવની વચ્ચે ઘણું જ અંતર છે.

स्नेह-बन्धन में बद्ध साधक पतन की किस सीमा तक पहुंचता है उसी का चित्र प्रस्तुत गाथा में दिया गया है। गृहस्थ के आंगन में चूडोपनयन संस्कार आता है तो अन्ध-भक्ति से प्रेरित गृहस्थ उसमें सम्मिलित होने के लिए मुनि से प्रार्थना करता है और स्नेह से बंधा साधक वहां पहुँच जाता है। तो आवाह-विवाह के प्रसंगों पर वर वधू को आशीर्वाद देने के लिए भी मुनि पहुंच जाते हैं। यदि स्नेह की धारा किसी राजा की ओर बह रही है तो अपने साथी राजा की सहायता के लिए वह युद्ध में भी पहुंच जाता है। या उनको विजय के प्रसाधन बताते हैं। किन्तु यह सब श्रमण जीव जीवन को बाधा पहुंचाने वाली शक्तियाँ हैं।

टीका:—चेलत्ति चेटको दासो यश्चेटकोपनयनेष्वाऽऽवाहविवाहेषु वधूवरेषु च पार्थिवानां युद्धेषु च चात्मानं योजयति तान्युपतिष्ठति। गतार्थः।

विशेष-टीकाकार चेल का अर्थ चेटक-दास के रूप में करते हैं।

जे जीवाण हेतु पूयणट्ठा, किंचि लोकसुहं पउंजे।
अट्ठिविसएसु पयाहिणे से, सामण्णस्स महंतरं खुसे॥ ६॥

अर्थः—जो जीवन के लिए, पूजन के लिए और इस लोक के किंचित् सुख के लिए युक्ति का प्रयोग करता है, अर्थात् अपनी साधना का प्रयोग इन तुच्छ वस्तुओं के लिए करता है वह मानो अर्थी की प्रदक्षिणा करता है। अथवा वह स्वार्थी पुरुष विषयों की प्रदक्षिणा करता है।

गुजराती भाषान्तरः—

જે જીવન માટે, પૂજન માટે અને આ લોકના નજીવી સુખ-પ્રાપ્તિ માટે યુક્તિનો ઉપયોગ કરે છે, અર્થાત્ પોતાની સાધનાનો પ્રયોગ આ તુચ્છ વસ્તુઓ માટે કરે છે, તે શવની પ્રદક્ષિણા કરે છે અથવા તે સ્વાર્થી પુરુષ વિષયાની પ્રદક્ષિણા કરે છે.

साधक के सामने सदैव उच्च आदर्श रहना चाहिए। उसके अनुरूप अपना जीवन निर्माण करे। यदि उसके सामने से यह आदर्श हट जाता है तो उसके सामने अपनी पूजा प्रतिष्ठा और तात्कालिक सुख के छोटे आदर्श आते है और वह उन तक पहुंचने की कोशिश करता है और उनके लिए अपनी आत्मसाधना को एक ओर रख देता है और मन्त्र तन्त्र आदि का

प्रयोग करता है। लोभी गृहस्थ भी उसका साथ दे कर अपनी स्वार्थ साधना करना चाहता है। किन्तु ऐसा करनेवाला साधक अपने सही आदर्श तक न पहुंच कर बीच में ही रुक जाता है। उसकी सारी क्रिया केवल विषयों की प्रदक्षिणा है। भौतिक विषयों को केन्द्र बना कर वह उसके चारों ओर घूमता है।

टीका :—यो वा जीवनहेतोरात्मनः पूजनार्थं किंचिदिहलोकसुखमिह लोकस्य मनोज्ञं प्रयुनक्ति प्रकरोत्यर्थिविषयेषु प्रदक्षिणः उभयेषां तादृशं करणं श्रमणस्य विपरीतम्। गतार्थः।

ववगयकुसले संछिण्णसोते पेज्जेण दोसेण य विप्पमुक्को।
पियमप्पिय सहे अकिंचणे य आतट्ठं ण जहेज्ज धम्मजीवी ॥ ७ ॥

अर्थ :—जो मन्त्र तन्त्र आदि की कुशलता से पृथक् हो चुका जिसने भव परम्परा के स्रोत का छेदन कर दिया और जो प्रेम और द्वेष से विमुक्त है। वह धर्मजीवी महामुनि अकिंचन बन कर प्रिय और अप्रिय का सहन करे। किन्तु आत्मा के अर्थ–लक्ष्य का परित्याग न करे।

गुजराती भाषान्तर :—

જે મન્ત્ર, તંત્ર આદિની કુશલતાથી જુદો થઈ ચૂકયો, જેણે ભવપરંપરાના પ્રવાહનું છેદન કરી નાખ્યું અને જે રાગદ્વેષથી વિમુક્ત છે, તે ધર્મજીવી મહામુનિ અકિંચન બનીને પ્રિય અને અપ્રિયને સહન કરે. પરંતુ આત્માના અર્થ=લક્ષ્યને છોડે નહીં.

सन्त जीवन बिताने वाला साधक वासना और मोह के स्रोत को समाप्त करे। राग और द्वेष से उपरत रहकर विचरे। दुनियां जिसको कुशलता समझती है ऐसे मंत्रादि के प्रयोग साधना के लिए शूल है। अतः साधक उनसे बचे और वह अकिंचन हो कर आगे बढे। जीवन–क्षेत्र में आगे बढते हुए कड़वे मीठे घूंट मिले तो उनको भी सहर्ष पी जाय। निन्दा और प्रशंसा के शूल और फूल में साधक उलझे नहीं। किसी भी प्रसंग पर किसी भी परिस्थिति में भय और प्रलोभन के आंधी–तूफानों में साधक आत्म लक्ष्य को न भूले।

टीका :—व्यपगतकुशलस्तु संछिन्नस्रोतः शोको वा प्रेम्णा द्वेषेण च विप्रमुक्तः प्रियाप्रियसहो अकिंचनश्चात्मार्थे न जह्याद्धर्मजीवी। गतार्थः।

एवं से सिद्धे बुद्धे गतार्थः।

इति वारत्तक अर्हतर्षिप्रोक्तं वारत्तय णाम
सप्तविंशतितमं अध्ययनं समाप्तम्।

आर्द्रक अर्हतर्षि प्रोक्त

अट्ठाईसवां स्रोत अध्ययन

"कामो विजेता, जगतो विजेता" वासना का विजयी विश्वविजयी है। और वासना का गुलाम विश्व का गुलाम है। क्योंकि वासना जीवन की सबसे बडी दुर्बलता है। काम भी एक पुरुषार्थ है, किन्तु वह गलत मार्ग दर्शक है। जो राही को हिमालय के बदले ज्वालामुखी पर ले जाता है। थक कर चूर चूर होने वाला पसीने से भीगा हुआ राही ठण्डी हवा के लिए ज्वालामुखी पर चढ कर क्या पाएगा? ठण्डी हवा के बदले ज्वालामुखी की भीषण लपटें और घू घू करती हुई सर्व स्वाहा ज्वालाएं। एक इंग्लीश विचारक कहता है कि :—

A life merely of pleasure or chiefly of pleasure is always a poor and worthless life, not worthy the living, always unsatisfactory in its course, always miserable in its end. —थियोडोर पारकर।

भोगी या विलासी जीवन पामर जीवन है। जिसका कोई मूल्य नहीं है। ऐसा जीवन अयोग्य है। विलासी मनुष्य को सदैव ही असन्तोष रहना है। जो अन्त में दुःख में परिणत हो जाता है। प्रस्तुत अध्ययन में वासना पर विजय की प्रेरणा दी गई है।

छिण्णसोते भिसं सव्वे, कामे कुणह सव्वसो।
कामा रोगा मणुस्साणं, कामा दुग्गतिवड्ढणा ॥ १ ॥

अर्थ :—साधक वासना के सभी स्रोतों को रोक दे। क्योंकि मानव के लिए काम रोग के सदृश है और काम दुर्गति के वर्द्धक है।

गुजराती भाषान्तर :—

સાધક વાસનાના બધા માર્ગોને અટકાવી બંધ કરી દે. કારણકે માનવ માટે કામ-વિષયવાસના રોગસમાન છે, અને તે દુર્ગતિ તરફ ખસેડનાર છે.

साधक काम विजेता बने। काम ने जिस व्यक्ति के ऊपर विजय पाई वह सबसे बडा अभागा है। इंग्लिश विचारक बोलता है कि The Worst of slaves in he whom passion rules. —ब्रुक।

साधक साधना के क्षेत्र में आगे बढने के लिए सर्व प्रथम वासना की रस्सी को तोड दे। क्योंकि वासना ही मानव को पतन के मार्ग में ढकेलती है। वासना विदूषित चित्त आत्म-शान्ति का बहुत बडा बाधक है।

टीका :—छिन्नस्रोतसो निरुद्धाश्रवान् भृशं कुरुत सर्वान् कामान् सर्वशः कामा मनुष्याणां रोगा भवन्ति। कामो दुर्गतिवर्धनः। गतार्थः।

णासेवेज्जा मुणी गेहिं, एकंतमणुपस्सतो।
कामे कामेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं ॥ २ ॥

अर्थ :—निर्जन वन का वासी मुनि गृहस्थी का आसेवन न करे। काम की कामना करने वाला आत्मा काम का सेवन न करने पर भी दुर्गति का पथिक बनता है।

गुजराती भाषान्तर :—

નિર્જન જંગલમાં રહેતા મુનિ ગ્રહસ્થીનું આસેવન (ઉપભોગ) ન કરે. કામની કામના કરવાવાળો આત્મા કામનું સેવન ન છતાં પણ દુર્ગતિનો પથિક બને છે.

साधक जीवन निर्जन वन में महकने वाला पुष्प है। गृहस्थ के संकुचित दायरे में उसकी मुक्त आत्मा बंधती है। तो उसके विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। घर का वातावरण उसके मन को वासना की ओर मोडेगा। एक बात और भी है कि जिसके मन में वासना की रंगीन तस्वीरें घूम रही हैं पर सामाजिक बन्धन या और दूसरे बन्धन उसको ऐसा करने से रोक रहे हैं। किन्तु यह मानसिक वासना उसको दुर्गति में ढकेलती है। कोरा कायिक संयम संयम नहीं है। वह तो कैदी-जीवन है। ऐसे साधक के लिए 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' वाली उक्ति फलितार्थ होती है।

"गेही" से यहां गृहस्थ के भोग ही अपेक्षित है। आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर की तपस्साधना में "सागारियं" शब्द आया है—

"सयगेहिं वितिमिस्सेहिं इत्थियो तत्थ से परिण्णाय सागारियं न सेवइय से सयं पवेसियाझाइ। —आ० श्रु. १ अ. ९ गाथा ६।

भगवान् वैषयिक अभिलाषा की सेवन नहीं करते हैं। यहां गेही शब्द भी उसी अर्थ में आया है।

टीका :—ना सवेत मुनिर्गृद्धिमेकान्तमनुपश्यने। अकामाः पुनः कामान् कामयमाना दुर्गतिं यान्ति। गतार्थः।

साधक कामनाओं से विरक्त हो निष्काम बने। गीता कहती है—

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

—कर्मयोगी श्रीकृष्ण (गीता)

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को छोड़ कर निःस्पृह हो जाता है और ममता तथा अहंकार को छोड़ देता है वही शान्ति पाता है। करुणा के अजस्र स्रोत महात्मा बुद्ध कहते हैं कि "जैसे कच्ची छत में जल भरता है वैसे ही अज्ञानी के मन में कामनाएँ जमा होती हैं।

जे लुभंति कामेसु, तिविहं हवति तुच्छ से।
अज्झोववण्णा कामेसु, बहवे जीवा किलिस्संति ॥ ३ ॥

अर्थ :— जो कामों में लुब्ध होता है वह तीन प्रकार से अर्थात् मन, वाणी और कर्म द्वारा सत्व हीन होता है। काम में आसक्त हुए बहुत से प्राणी दुःख प्राप्त करते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જે વિષય-વાસનામાં લુબ્ધ હોય છે તે ત્રણે પ્રકારથી અર્થાત્ મન, વચન અને કર્મ દ્વારા સત્વહીન બને છે. કામમાં આસક્ત બનેલા ઘણા પ્રાણીઓ દુઃખ અને આપત્તિઓ ભોગે છે.

जो साधक वासना के चक्र में गिर जाता है वह अपना तेज खो बैठता है। मन, वाणी और शरीर तीनों से वह निःसत्व बन जाता है। इक्षुदंड में से जब रस निकल जाता है तो वह निःसत्व कहलाता है। ऐसे ही जब जीवन में से ब्रह्मचर्य का तेज समाप्त हो जाता है तब मानव के जीवन का भी रस समाप्त हो जाता है। जो व्यक्ति अपनी शक्ति को वासना के अधीन कर देता है वह मानो निकृष्ट प्रबन्धक के हाथ में अपनी शासन व्यवस्था सौंप देता है। एक विचारक बोलता है कि: Passion though a bud regulator, is a powerful spring. काम यद्यपि निकृष्ट शासक है तथापि वह शक्तिशाली स्रोत है।—एमर्सन्।

स्वामी विवेकानन्द भी कहते हैं कि कामना सागर की भांति अतृप्त है। हम ज्यों ज्यों उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते जाते है त्यों त्यों उसका कोलाहल बढता है।

टीका :—ये कामेषु लुभ्यन्ति तेषां त्रिविधं जगत् तुच्छमिव भवति कामेष्वध्युपपन्ना बहवो जीवाः क्लिश्यन्ति।
काम में आसक्त आत्मा सम्पूर्ण जगत को तुच्छ मानता है। वह अपनी प्रिय वस्तु को पाने के लिए साम्राज्य तक को छोड देता है। किन्तु परिणाम में वासना का गर्त उसे अधिक से अधिक नीचे ही ले जाता है।

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
बहुसाधारणा कामा, कामा संसारवड्ढणा ॥ ४ ॥

अर्थ :— काम शल्य रूप है और काम ही विष रूप है। काम आशीविष सर्प के सदृश भयंकर है। काम बहुत साधारण है और काम संसार के वर्धक है।

गुजराती भाषान्तर :—

કામ શલ્યરૂપ છે અને કામ જ વિષરૂપ છે અને અને કામ કાળા નાગની જેમ ભયંકર છે. કામ બહુ જ સાધારણ છે અને કમ સંસારનું વર્ધનકર્તા છે.

काम का बाहरी रूप तो मोहक है, किन्तु उसके अन्तर में घोर हलाहल विष है। वे मोहक और सुरूप दिखलाई पडने वाले काम एक दिन इतने विद्रूप हो कर सामने आते हैं कि क्रूरता भी शर्मा जाती है।

प्रस्तुत गाथा का पूर्वार्ध और दूसरी गाथा का उत्तरार्ध दोनों ही उत्तराध्ययनसूत्र के नवम अध्ययन की ५३ वीं गाथा में आश्चर्य जनक रूप से साम्य मिलते हैं जब कि राजर्षि नमि देवेन्द्र को उत्तर दे रहे हैं।

सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोवमा।
कामे य पत्थेमाणा अकामा जंति दोग्गइं ॥ —उत्त०. अ. ९ गा. ५३

पत्थंति भावओ कामे, जे जीवा मोहमोहिया।
दुग्गमे भयसंसारे, ते धुवं दुक्खभागिणो ॥ ५ ॥

अर्थ :— जो मोहमोहित आत्मा भाव से काम की प्रार्थना करते हैं, वे इस दुर्गम भयावह संसार में अवश्य ही दुःख के भागी बनते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જે મોહથી મોહિત બનેલા આત્મા ભાવથી કામની પ્રાર્થના કરે છે. તે આ દુર્ગમ ભયાવહ સંસારમાં અવશ્ય જ દુ:ખના ભોગ બને છે.

जो व्यक्ति बाहर से निष्काम है किन्तु जिसके मन में वासना का ताण्डव नृत्य हो रहा है। संसार की सबसे बडी दुःखी आत्माएँ वे ही हैं।

कामसल्लमणुद्धित्ता, जंतवो काममुच्छिया।
जरा-मरण-कंतारे, परियत्तंत्यवक्कमं ॥ ६ ॥

अर्थ :—काम में आसक्त आत्माएँ जब तक काम के शल्य को चित्त से उखाड नहीं फेकती हैं तब वे जरा और मृत्यु के वन में वक्रता के साथ परिभ्रमण करती रहती हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

કામમાં આસક્ત આત્માઓ જ્યાં સુધી કામના શલ્યને ચિત્તથી ઉખેડીને ફેંકતાં નથી, ત્યાં સુધી જરા અને મૃત્યુના વનમાં વક્રતાની સાથે પરિભ્રમણ કરતા રહે છે.

जब तक वासना की रस्सी तोडी नहीं है तब तक भव परम्परा भी समाप्त नहीं हो सकती। आसक्ति संसार की वह लता है जिस पर जरा और मरण के विषफल लगा करते हैं।

सदेवमाणुसा कामा, मए पत्ता सहस्ससो।
न याहं कामभोगेसु, तित्तपुव्वो कयाइ वि ॥ ७ ॥

अर्थ :—देव और मानव के ये भोग मैंने हजार हजार बार प्राप्त किए हैं। अतः इन पहले छोडे हुए काम भोगों से मैं फिर से आसक्त न होऊँगा।

गुजराती भाषान्तर :—

મેં દેવ અને માનવના આ ભોગો હજાર હજાર વખત ભોગ્યા છે. માટે આના પહલો જે કામ ભોગો મેં છોડી દીધા છે તેમાં હું ફરીથી આસક્ત નહીં બનું.

वासना की आंधी साधक के ज्ञान दीप को बुझाने लगे तब वह सोचे आत्मा शाश्वत है और मैंने अनन्त काल की इस सुदीर्घ यात्रा में अनेक बार मानव के और देव के स्टेशन किये हैं। वहां हजारों बार इन (भोगों) को चाहा, देखा और लिया भी। किन्तु क्या इससे शाश्वत शान्ति पा सका हूं ?। क्षणिक सुखों बाद अनन्त अनन्त दुःखों की परम्परा इनके द्वारा मुझे प्राप्त हुए हैं। अतः इन त्यक्तपूर्व भोगों को फिर से प्राप्त करना मेरे तेजोमय आत्मा का अपमान है।

तित्तिं कामेसु णासज्ज, पत्तपुव्वं अणंतसो।
दुक्खं बहुविहाकारं, कक्कसं परमासुभं ॥ ८ ॥

अर्थ :—ये भोग अनन्त बार प्राप्त हुए हैं। किन्तु यह आत्मा तृप्ति प्राप्त नहीं कर सकी। अपि तु इनके द्वारा बहुविध कर्कश और परम अशुभ दुःख प्राप्त किए हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

આ ભોગ અનંત વાર પ્રાપ્ત થયા છે. પરંતુ આત્માને તૃપ્તિ થઈ નથી. પરંતુ તે દ્વારા બહુવિધ ભયંકર અને પરમ અશુભ દુ:ખ પ્રાપ્ત કર્યા છે.

शाश्वत आत्मा ने एक ही नहीं, अनेक बार स्वर्ग के सिंहासन प्राप्त किये हैं। किन्तु सागरोपमों के वे असीम भोग भी यदि आत्मा को तृप्त नहीं कर सके तो सौ पचास वर्ष के सीमित भोग क्या तृप्ति दे सकेंगे ?।

कामाण मग्गणं दुक्खं, तित्ती कामेसु दुल्लभा।
विज्जुज्जोगो परं दुक्खं, तण्हक्खय परं सुहं ॥ ९ ॥

अर्थ :—कामों का अन्वेषण दुःख रूप है। काम में तो तृप्ति दुर्लभ ही है। और उनके वियोग के क्षणों में उससे भी अधिक दुःख है। अतः सच्चा सुख तो तृष्णा के क्षय में ही है।

गुजराती भाषान्तर :—

સાંસારિક વિષયોના ઉપભોગનો શોધ જ દુ:ખરૂપ છે, અને કામમાં તો તૃપ્તિ દુર્લભ છે. અને તેના વિયોગ-માં તેનાથી પણ અધિક દુ:ખ છે. માટે સાચું સુખ તો વિષયભોગની ઇચ્છાના ક્ષયમાં જ છે.

भोगों की प्राप्ति स्वयं कष्टप्रद है । जब कि उनके वियोग के क्षण उनसे भी अधिक दुःख प्रदान करते हैं । जिनके सम्मिलन में दुःख है उनका वियोग भी दुःखभरा हुआ है फिर उसमें तृप्ति तो असंभव है । तृष्णा का क्षय ही सुख का मार्ग है । मिलाइए भगवान् महावीर की वाणी से "दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो" ।—उत्तरा० अध्ययन ३२ ।

कामभोगाभिभूतप्पा, विच्छिण्णा वि णराहिवा ।
फीतिं किंत्ति इमं भोच्चा, दोग्गतिं विवसा गया ॥ १० ॥

अर्थ :—काम भोग से अभिभूत सम्राट् सम्पूर्ण पृथ्वी को भोग कर विवश हो एक दिन उनसे विच्छिन्न होकर दुर्गति के पथिक बने ।

गुजराती भाषान्तर :—

વાસનાના ભોગથી અભિભૂત બનેલા સમ્રાટ સંપૂર્ણ પૃથ્વીનો ભોગ કરીને વિવશ થઇ એક દિવસ તેનાથી વિચ્છિન્ન થઇને દુર્ગતિના પથે વળ્યા.

बडे बडे सम्राट जो कि एक दिन कहते थे कि मेरा एक बार हजारों वीरों को पृथ्वी पर सुला सकता है और उन्होंने तलवार के बल पर साम्राज्य कायम किया, दुनियां ने उनका दब दबा माना । किन्तु तलवार के बल पर स्थिर किया गया साम्राज्य तलवार के द्वारा ही विलीन हो गया । इतिहास ने देखा, मुस्कराया और बोला कि तुम तलवार के धनी हो पर ऐसे हजारों तलवार के धनी आए और गए उनकी रेखा भी कायय नहीं रही । वही राह तुम्हारे लिए भी है और इतिहास अपने नवनिर्माण के स्वागत में जुट गया । जो केवल अपने लिए ही जिमें हैं, अपना ऐशाआराम ही जिनका लक्ष्य रहा है. दुनियां बहुत जल्दी उनको भूल गई । परन्तु दूसरों के लिए जीने वाले त्याग के पथिकां को आज तक नहीं भूल पाहे है ।

काममोहितचित्तेणं, विहाराहारकंखिणा ।
दुग्गमे भयसंसारे, परीतं केसभागिणा ॥ ११ ॥

अर्थ :—कामाभिनिविष्ट आत्मा मोह की मदिरा में आहार विहार का आकांक्षी बनता है । और इस दुर्गम भय-प्रद संसार में चारों ओर से क्लेश का भागी बनता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

વિષયોના ઉપભોગમાં આસક્ત બનેલા આત્મા મોહના નશામાં જ મસ્ત રહેવા ઇચ્છે છે અને તેવો જ આહાર વિહાર તેને ગમે છે. તેથી જ આ દુર્ગમ ભયપ્રદ સંસારમાં ચારો તરફથી ક્લેશના ભાગીદારીથી ઘેરાયેલો જણાય છે.

सन्त का भोजन शरीर निर्वाह के लिए होता है । जब कि वासना प्रिय व्यक्ति का आहार विहार वासना की अभिवृद्धि के लिए होता है । कामासक्त आत्मा सुन्दर मनोज्ञ वस्तुओं का उपभोग चाहता है । किन्तु उसके ये मनोरम आहार और विहार ही उसके लिए अशान्ति के निमित्त बनते हैं । क्योंकि यदि मन को प्रिय लगने वाला भोजन सीमा से अधिक खा लिया गया तो वही रोग का निमन्त्रण हो जाएगा ।

अप्पक्कत्तावराहोऽयं, जीवाणं भवसागरो ।
सेओ जरग्गवाणं वा अवसाणंमि दुत्तरो ॥ १२ ॥

अर्थ :—प्राणियों का अल्प अपराध भी भव सागर की वृद्धि करता है । वह पाप वृद्ध बैल की भांति अन्त में दुरुत्तर होता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

પ્રાણીઓનો નજીવો અપરાધ પણ ભવસાગરની વૃદ્ધિ કરે છે. તે પાપ વૃદ્ધ બળદની જેમ અન્તમાં મુશ્કેલી-ભર્યું બને છે.

मानव जब वासना की लहरों में बहता है तब वह न करने वाला काम भी कर डालता है । उसका परिणाम गलत आता है । अर्हतर्षि वही बतला रहे हैं । जैसे वृद्ध बैल के लिए जीवन की संध्या में यात्रा करना दुष्कर है । छोटी यात्रा भी

उसके लिए हिमालय की चढाई होती है। अथवा वृद्ध बैल जिस प्रकार से प्रारम्भ में ठीक चलता है, किन्तु अन्त में उसकी बूढी टांगें जबाब देती हैं। उसके द्वारा यात्रा सुरक्षित नहीं हो सकती है। इसी प्रकार अशुभ परिणति प्रारम्भ में तो ठीक गति करती है और मानव उसके पीछे दौड़ता है। किन्तु अन्त में वह परिणति उसके लिए विघातक बन जाती है।

अप्पकताऽवराहेहिं, जीवा पावंति वेद्णं।
अप्पकतेहि सल्लेहिं, सल्लकारी व वेद्णं ॥ १३ ॥

अर्थ :—आत्मकृत अपराधों के ही द्वारा आत्मा वेदना को प्राप्त करता है। आत्मकृत शल्यों के द्वारा ही शल्य-कारी वेदना को पाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

પોતે (આત્માએ) કરેલા અપરાધોની દ્વારા જ આત્મા વેદના(દુઃખ)ની પ્રાપ્તિ કરે છે. આત્મકૃત શલ્યોદ્વારા શલ્યકારી વેદનાને પામે છે.

हम अपनी ही गलतियों के द्वारा दुःख पाते हैं। इस मोटे सिद्धान्त को मानव आज तक समझ नहीं सका है। यदि इतनी सी समझ उसको आ जाती तो दुनिया की आधी अशान्ति समाप्त हो जाती। पर इस ज्ञान चेतना के अभाव में हम अपने दुःखों की जड़ दूसरे में खोजते हैं और उस व्यक्ति को ही दुःख का प्रमुख हेतु मान कर हम उसको नष्ट कर देना चाहते हैं। यह अज्ञान ही संघर्षों का मूल है। मानव! अपने सुख दुःख का विधाता तू स्वयं ही है। सुख के लिए तू क्यों दूसरों से भीख मांगता है और दुःख के लिए क्यों दूसरों पर रोष ठेलता है? । भगवान महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व पावा पुरी के अन्तिम प्रवचन में एक दिन इसी महान सत्य को जनता के सामने रखा था—

अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठियो सुपट्ठियो ॥ — उत्तरा० अध्ययन।

मेरे सुख दुःख का उत्तरदायित्व मैं स्वयं लेकर चलता हूं। दुनिया की कोई भी बाहरी ताकात न मुझे सुख दे सकती है और न उसमें इतना साहस ही है कि मेरे एक अणु को भी दुःखी कर सके। निश्चयनय की यह भाषा मानव को आत्म-विश्वास की अपूर्व ज्योति दे जाती है।

जीवो अप्पोवघाताय, पडते मोहमोहितो।
बद्धमोग्गरमालो वा, णच्चंतो बहुवारियो ॥ १४ ॥

अर्थ :—मोह मोहित आत्मा अपने ही उपघात के लिए पतन करता है। बन्ध रूप मुद्गल को ग्रहण करके बहुधा विश्व के रंगमंच पर नृत्य करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

મોહથી મોહિત બનેલો આત્મા પોતાના જ ઉપઘાતને માટે પતન કરે છે. બન્ધરૂપ મુદ્ગળને ગ્રહણ કરીને ઘણીવાર વિશ્વના રંગમંચ પર નાચે છે.

मोह स्वयं ही एक बंधन है। मोह के तार सूक्ष्म है किन्तु उनकी पकड गहरी होती है। भ्रमर कठोरतम सीसम को तोड सकता है, किन्तु कोमल कमल में वह बंध जाता है। कठोर सीसम को तोड़ देने वाला कोमल कमल को नहीं तोड सका इस प्रश्न का उत्तर होगा कि मोह के धागों ने उसकी शक्ति को कठोरता से आबद्ध कर रखा है। मोह के तारों से बंधा व्यक्ति अपनी शक्ति को कुंठित कर देता है। कभी वह स्वयं अपने आप को पतन के गड्ढे में डाल देता है। मोह बन्धनों से बद्ध प्राणी मुद्गल हाथ में लेकर विश्व रंग-मंच पर अनन्त काल से नृत्य करता चला आ रहा है। युग बीत गए पर नृत्य नहीं समाप्त हुआ। भारत का एक भक्त कवि कह रहा है कि :

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना कण्ठ विषय को माल।

महाकवि सूरदासजी जिन्होंने आंख वालों को दृष्टि दी है, वे कहते हैं कि, हे प्रभो! काम क्रोध का चोला पहन कर दुनिया के रंग-मंच पर मैं बहुत नाच चुका हूं, परन्तु अब विश्राम चाहता हूं।

असब्भावं पवत्तेंति, दीणं भासंति वीकवं।
कामग्गहाभिभूतप्पा, जीवितं पहयंति य ॥ १५ ॥

अर्थ :—जो असद्भाव की प्रवर्तना करते हैं और दीन भाषा बोलते हैं ऐसे कामग्रहों से अभिभूत आत्मा जीवन को नष्ट कर देते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જે અસદ્ભાવની પ્રવર્તના કરે છે, અને દીન ભાષા બોલે છે. એવા કામગ્રહોથી હારેલો આત્મા જીવનને નષ્ટ કરી દે છે.

कामाभिनिविष्ट आत्मा पतन की इस सीमा तक पहुंच जाती है कि वासना के प्रति बाधक बनने वाले के प्रति उसके मन में दुर्भावनाएं रहती हैं। और उसका वाणी तेज समाप्त हो जाता है। हर समय दीन वाणी का प्रयोग करता रहता है। किसी के सामने निर्भीक हो कर बोलने का शौर्य वह खो बैठता है। एक दिन वह सिंह की भांति दहाडता है किन्तु जब वह किसी वासना के कुचक्र में पकड़ जाता है तो सारे गर्जन और तर्जन भूल जाता है। उसकी वाणी इतनी नम्र हो जाती है कि एक सन्त के जीभ से भी इतनी नम्रता नहीं टपकेगी।

हिंसादाणं पव्वत्तेंति, कामतो केति माणवा।
वित्तं णाणं स विण्णाणं, केइणेंति हि संखयं ॥ १६ ॥

अर्थ :—कामप्रेरित आत्मा हिंसा और चोरी का भी आश्रय लेता है। ऐसे व्यक्ति संपत्ति, ज्ञान और विज्ञान सब कुछ खो बैठते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

કામથી પ્રેરિત આત્મા હિંસા અને ચોરી પણ કરે છે. આવી વ્યક્તિઓ સંપત્તિ જ્ઞાન અને વિજ્ઞાન બધું ખોઇ બેસે છે.

वासनाप्रेरित मन अपने पथ के बाधक को दूर करने के लिए हिंसा को अपनाता है। बहुत-सी ऐसी घटनाएं हुई हैं कि कामी के प्रस्ताव को ठुकरा देने पर प्रतिहिंसा की ज्वाला उसके हृदय में भभक उठी और उसने अपने प्रेमी को समाप्त भी कर दिया। कामी आत्मा चोरी से भी पीछे नहीं रह सकती है। क्योंकि वासना के क्षेत्र में अधिकार अनधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता है। अनधिकार प्रवेश एक प्रकार की चोरी ही है। ऐसा व्यक्ति अपनी सम्पत्ति, ज्ञान और विज्ञान सब कुछ खो बैठता है, इसके लिए रावण को छोड कर दूसरे किसी के उदाहरण की आवश्यकता ही नहीं होगी। वासना की आंधी ने उसके विज्ञान के दीप को बुझा तो सोने की लंका उसकी आंखों के सामने ही राख की ढेरी हो गई।

सदेवोरगगंधव्वं, सतिरिक्खं समाणुसं।
कामपंजरसंबद्धं, किस्सते विवेहं जगे ॥ १७ ॥

अर्थ :—देव, उरग-सर्प, गंधर्व, पशु-संसार और मानवसृष्टि सभी काम के पंजर में बंध कर दुनिया में विविध कष्टों का अनुभव करते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

દેવ, ઉરગ-સર્પ, ગંધર્વ, પશુ-સંસાર, અને માનવસૃષ્ટિ બધા વાસનાના પિંજરામાં બંધાઇને દુનિયામાં વિવિધ કષ્ટોને અનુભવે છે.

वासना की शृंखला में देव, दानव और मानव सभी दृढता से बद्ध हैं, पशु संसार भी उससे मुक्त नहीं है। चारों ओर के कष्टों को सहन कर भी मानव वासना का परित्याग करने के लिए तैयार नहीं होता है।

कामग्गहविणिमुक्का, धण्णा धीरा जितिंदिया।
वितरंति मेइणिं रम्मं, सुद्धप्पा सुद्धवादिणो ॥ १८ ॥

अर्थ :—कामग्रह से विनिर्मुक्त धीर जितेन्द्रिय आत्माएँ धन्य हैं ऐसी शुद्ध वादी शुद्ध आत्माएँ इस रम्य लगने वाली मेदिनी-पृथ्वी को पार कर जाते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

કામગ્રહથી છુટા પડેલા ધીર, જીતેંદ્રિય આત્માઓ ધન્ય છે. એવા શુદ્ધવાદી શુદ્ધ આત્માઓ આ સુંદર દેખાવવાળી મેદિની-પૃથ્વીને પાર કરે છે.

वासना की लहरें जिस आत्मा को छू नहीं सकतीं। यथार्थतः वे आत्माएँ धन्य हैं। वे ही शुद्धात्माएँ इस चमक-भरी पृथ्वी को पार कर सकती हैं। सौन्दर्यभरी दुनिया मानव मन का सबसे बडा नागपाश है। जिसमें वासनालिप्त आत्मा के लिए बहुत बडा बन्धन है। जो रेशमी तारों से बना है पर लोह शृंखलाओं से भी अधिक दुर्भेद्य है। जिसने वासना की रस्सी को तोड कर फेंका है उसके लिए दूसरे बंधन को तोडना कच्चे धागे को तोडने के समान है। मिलाइए भगवान महावीर के अन्तिम प्रवचन—

एए य संगे समइक्कमित्ता, सदुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाणा।

—उत्तरा० अध्ययन ३२ गाथा १८।

जिसने काम राग पर विजय पा लिया है उसके लिए दूसरे परिषदों पर विजय पाना ऐसा ही है जैसा कि महा-सागर तैर कर आने वाले के लिए गंगा को पार कर देना।

जे गिद्धे कामभोगेसु, पावाइं कुरुते नरे।
से संसरति संसारं, चाउरंतं महब्भयं॥ १९॥

अर्थ :—जो मानव भोगों में गिद्ध हो कर पाप करते हैं वे महाभयशील चतुरंग संसार में भटकते हैं और परिभ्रमण करते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જે માનવ ભોગોમાં આસક્ત થઇને પાપ કરે છે તે મહાભય શીલ ચતુરંગ સંસારમાં ભટકે છે અને પરિ-ભ્રમણ કરે છે.

वासना-सक्त मानव के लिए संसार का पथ विशाल है। वासना के कीचड में ही पाप के पौंधे लगते हैं।

जहा निस्साविणीं, नावं, जाति-अंधो दुरूहिया।
इच्छते पारमागंतुं, अंतरे च्चिय सीदति॥ २०॥

अर्थ :—जैसे निस्राविणी अर्थात्-छिद्र रहित नौका पर जन्मान्ध बैठता है यदि वह पार पहुंचना चाहता है किन्तु बीच में ही वह कष्ट पाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જેવી રીતે નિસ્રાવિણી અર્થાત્ છિદ્રરહિત નૌકા (ભલે હોય) પણ જન્મથી જ આંધળો માણસ તેનો ખલાસી (કર્ણધાર) હોય અને તે પાર પહોંચવા માગતો હોય તો પોતાના અંધત્વને લિધે તે વચમાં જ આફતનો ભોગ થઈ પડે છે.

नौका यदि ठीक भी है किन्तु उसका यात्री (कर्णधार) ही अन्धा है तो उसकी यात्रा विडंबनापूर्ण ही होगी। मानव शरीर सुन्दर है किन्तु यदि उसको स्वामी के पास विवेक का प्रकाश नहीं है तो वह अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता है। साधन सुन्दर है किन्तु यदि उसका उपयोग कर्ता कुशल नहीं है तो साधन की सुन्दरता व्यर्थ है। साधन की सुरक्षा साधन की विवेकशीलता पर निर्भर करती है।

अद्दएण अरहता इसिणा बुइतं

काले काले य मेहावी, पंडिए य खणे खणे।
कालातो कंचणस्सेव, उद्धरे मालमपणो॥ २१॥

अर्थ :—मेधावी पंडित प्रति-समय और प्रतिक्षण-स्वर्ण की भांति अपना मैल दूर करे। आर्द्रक अर्हतर्षि इस प्रकार बोले।

गुजराती भाषान्तर :—

બુદ્ધિમાન્ પંડિત હરઘડી અને પ્રતિક્ષણ સોનાની જેમ (પોતાની કાંતિથી) મેલ દૂર કરે. આર્દ્રક અર્હતર્ષિ આ પ્રમાણે બોલ્યા.

केशर का व्यापारी प्रतिक्षण सावधान रहता है। केशर में धूल पडती है तो उसका मूल्य कम हो जाता है। मेधावी प्रतिक्षण जीवन के मैल का दूर करने के लिए सचेष्ट रहता है। स्वर्ण का मैल उसकी कांति को दूर करता है और स्वर्णकार स्वर्ण की मैल को दूर करता है, इसी लगन के साथ साधक आत्म मल को दूर करे।

अंजणस्स खयं दिस्स, वम्मीयस्स य संचयं।
मधुस्स य समाहारं, उज्जमो संजमे वरो ॥ २२ ॥

अर्थ :—अंजन का क्षय वल्मीक का संचय और मधु का समाहार-संग्रह देख कर निश्चित होता है कि संयम में ही पुरुषार्थ करना चाहिए।

गुजराती भाषान्तर :—

કાજળનો નાશ, રાફડાનું નિર્માણ, મધનો સંગ્રહ આ વસ્તુઓનો ઉંડો વિચાર કરીએ તો નિશ્ચિત થાય છે કે સંયમમાટે જ પ્રયત્ન કરવો જોઇએ.

दीपक जल जल करके अपनी आहुति दे कर काजल को तैयार करता है। किन्तु वह काजल आंखों में जाते ही समाप्त हो जाता है। वल्मीक कीड़ा विशेष अत्यन्त मेहनत के साथ अपना घर बनाता है किन्तु उस श्रमसाधना द्वारा बनाया गया घर भी पशु या मानव के एक ही पाद-प्रहार से समाप्त हो जाता है। मधुमक्षिकाएं इधर उधर से मधु बिन्दु लेकर मधु-छत्र का निर्माण करती हैं। किन्तु क्रूर मधुग्राही धुवां छोडता है और सभी मधु मक्खियां अपनी जान बचा कर उड़ जाती हैं। इधर महीनों की श्रमसाधना से एकत्रित मधु को मानव एक घंटे में ही लेकर चला जाता है।

दूसरे के पुरुषार्थ से निर्मित वस्तु का अपहर्ता चोर है। ऐसा करना शोषण में समाविष्ट होता है, क्योंकि वह दूसरे के श्रम का अनुचित लाभ उठाता है। इसी प्रकार से एक किसान वर्ष भर से धूप और वर्षा में खेती करता है, जेठ की धूप में भूमि को साफ करता है, वर्षा की झडियों में खेत की कीचड भरी भूमि में बीज बोता है, वर्ष भर तक श्रमसाधना करता है और उसका लेनदार साहूकार एक ही दिन में धान्य राशि को लेकर चल देता है। किसान के नन्हे नन्हे बच्चे आंसू भरी आंखों से देखते ही रह जाते हैं! यह क्या चोरी नहीं है? ऐसा करने वाला शोषक है!

दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो सब का पुरुषार्थ निकम्मा गया। क्योंकि उसका परिणाम गलत आया। क्योंकि वह पुरुषार्थ भौतिक के लिए किया गया था। अध्यात्म-साधना के लिए किया गया पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं जाता है, क्योंकि आध्यात्मिक सद्गुणों को अपहरण करने की ताकत किसी में नहीं है। अतः अर्हत ऋषि कहते हैं कि इन सभी परिणामों को देख कर साधक को चाहिए कि वह संयम में पुरुषार्थ करे।

टीका :— अंजनस्य कज्जलस्य क्षयं वल्मीकस्य च संचयं मधुनश्चाहारं चिरकालीनमदृष्ट्वा पुरुषस्य संयमोद्यमो वरः श्रेयान् भवेत्, नतु कामः। गतार्थः।

उच्चादीयं यं विकप्पं तु, भावणाए विभावए।
ण हेमं दंतकट्ठं तु, चक्कवट्टी वि खादए ॥ २३ ॥

अर्थ :—उच्च आदि के विकल्प केवल भावना पर आधारित है। चक्रवर्ती भी स्वर्ण दन्तकाष्ठ नहीं खाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

ઉચ્ચ નીચ વિગેરે ભેદભાવ કેવળ ભાવના પરજ આધારિત છે, કેમ કે ચક્રવર્તિ પણ સોનાના દાંતણથી મોઢું સાફ કરતા નથી.

उच्चता और नीचता सम्पत्ति और विपत्ति की भूमि मानव का मन ही है। चक्रवर्ती भी अनाज की ही रोटियां खाता है। आज तक इतिहास में कोई भी राजा या चकवर्ती मोती या स्वर्ण की रोटी या भात नहीं खाए हैं। किन्तु यह तो मानव मन की तृष्णा ही है कि जिसके द्वारा रात दिन सम्पत्ति के अर्जन में लगा रहता है और सम्पत्ति वालों को प्रथमश्रेणी का मानव समझता है।

---

१ दंतकट्ठं-दातौन का एक अर्थ कट या यूष ओषामन या घी में भून कर चाँवल की कांजी भी किया गया है। उपासक दशा अ० १ उपभोग परिमाण विधि।

टीका :—उच्चावचं गोत्रमधिकृत्य विकल्पं भावनायानुप्रेक्षादिना विभावयेत् न हैमकाष्ठं खादेत् खादितुं कामयेत् चक्रवर्त्यपि । गतार्थः ।

खण-थोव-मुहुत्तमंतरं, सुविहित पाउणमप्पकालियं ।
तस्सवि विपुले फलागमे, किं पुण जे सिद्धिं परक्कमे ॥ २४ ॥

अर्थ :—क्षणस्तोक और मुहूर्त मात्र अल्प समय भावी शुभ क्रिया विपुल फल दे जाती है । फिर जो सिद्ध स्थिति के लिए पुरुषार्थ करते हैं उनकी साधना का तो कहना ही क्या ? ।

गुजराती भाषान्तर :—

કોઇ પણ સારૂં કાર્ય એક ક્ષણ સુધી પણ કરે તો તે સારૂં કામ ઘણું જ મોટું ફળ જરૂર આપે છે, અને જે સિદ્ધ સ્થિતિ મેળવા માટે જ પ્રયત્ન કરે છે તેનું શું કહેવું ?

शुभ क्रिया यदि एक क्षण के लिए भी जीवन में आती है तो वह फलवती होती है । फिर जिन साधकों का सारा जीवन सिद्ध-स्थिति पाने के लिये है वे तो तथ्यरूप से सिद्धि के निकट पहुंच ही जाते हैं ।

टीका :—हे सुविहितपुरुष ! अल्पकालकमन्तरं क्षणस्तोकमुहूर्तमात्रं प्राप्त तस्य विभावतोऽपि विपुलः फलागमे किं पुनस्तस्य यः सिद्धिं प्रति पराक्रमेत् । गतार्थः ।

एवं से सिद्धे बुद्धे० ॥ गतार्थः ।

अद्दइज्ज नाम अष्टाविंशतितमं आर्द्रकीयं अध्ययनम् ।

वर्द्धमान अर्हतर्षि प्रोक्त-

उनतीसवां अध्ययन

साधन के क्षेत्र में इन्द्रिय-निग्रह महत्व का स्थान रखता है । क्योंकि इन्द्रियों के घोड़े आत्मा के रथ को खींचते हैं । यदि अश्व बेलगाम हुए तो रथ अवश्य पथभ्रष्ट होगा और उसका यात्री क्षतिग्रस्त होगा । अतः कुशल सारथि अश्व की लगाम अपने हाथ में रखता है और सदैव जागरूक रहता है कि अश्व कहीं विपथगामी न बने । पर आत्मा के इस रथ का सारथि मन है । मन जिस और प्रेरणा देगा इन्द्रियां उसी ओर दौड़ जाएंगी अतः अश्व के साथ उसका सारथि भी प्रशिक्षित होना चाहिये । संयमित मन ही इन्द्रियों पर शासन कर सकता है और वही कर्म स्रोत को सुखा भी सकता है ।

किसी तालाब को सुखाना है तो सर्व प्रथम उसके आगमन द्वार को रोक कर जलस्रोत सुखाना होगा । ऐसे ही यदि मन के तालाब को सुखाना है उसे वासना की जलराशि से मुक्त करना है तो पहले वासना के आगमनद्वार को रोकना होगा[1] । जब तक जलराशि के स्रोत को रोक नहीं दिया जाय तब तक उसे सुखाने के समस्त प्रयत्न समय और श्रम का अपव्यय ही कहे जायेंगे । वे स्रोत क्या है और उनके निरोध के उपाय क्या है यही बताना प्रस्तुत अध्ययन का विषय है ।

सवंति सव्वतो सोता किं ण सोतोणिवारणं ? ।
पुट्ठे मुणी आइक्खे कहं सोतो पिहिज्जति ? ॥ १ ॥

अर्थ :—सभी ओर के स्रोत बह रहे हैं, क्या उस स्रोत का निरोध नहीं हो सकता ? इस प्रकार पूछे जाने पर मुनि बोले कि किस प्रकार स्रोत को रोका जा सकता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

ચારો બાજુના સ્રોતો વહે છે, ત્યારે તે સ્રોતનો અટકાવ કરવો અશક્ય છે કે ? એમ પુછતાંજ સ્રોતનો કેવી રીતે અટકાવ થવો સંભવ છે તે મુનિ બોલવા લાગ્યા.

---

१ जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे ॥

—उत्तराध्ययन अ० ३० गाथा ५

टीका:—स्रवंति सर्वतः स्रोतांसि, किं न स्रोतो निवारणम्? कथं स्रोतः पिधीयत इति पृष्टो मुनिराख्यायत्।

सभी ओर स्रोत बह रहे हैं। जब तक आत्मा संसार स्थिति में है तब तक वासना उसके साथ है और वही वासना कर्मस्रोत को चालू रखती है। वह स्रोत क्या है उसका निरोध कैसे किया जा सकता है वर्धमान अर्हतर्षि उस पर विस्तृत प्रकाश डाल रहे हैं।

वद्धमाणेण अरहता इसिणा बुइयं
पंच जागरओ सुत्ता पंच सुत्तस्स जागरा।
पंचहिं रयमादियति पंचहिं च रयं ठए॥ २॥

अर्थः—जिसकी पांचों इन्द्रियां जागृत हैं वह सुप्त है और जिसकी पांचों इन्द्रियां सुप्त हैं वह आत्मा जागृत है। पांचों इन्द्रियों के द्वारा ही आत्मा कर्म रज को ग्रहण करता है और अप्रमत्त मुनि उनके द्वारा कर्म रज को रोकता है। ऐसा वर्द्धमान अर्हतर्षि बोले।

गुजराती भाषान्तर:—

જે માણસની પાંચે ઇંદ્રિયો જાગ્રત છે. તે માણસ સુપ્ત (સુતેલો) છે, અને જેના પાંચ ઇંદ્રિયો સુપ્ત (વાસનાથી રહિત એટલે સુતેલી) છે, તે આત્મા જાગ્રત છે (એમ સમજવું). કારણ પાંચે ઇંદ્રિયોની મદદથીજ આત્મા કર્મરજનો સ્વીકાર કરે છે અને હુશિયાર મુનિ પાંચ ઇંદ્રિયોની મદદથીજ કર્મ રજને અટકાવે છે. એમ વર્ધમાન અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

पूर्व गाथा में बताया गया है कि स्रोत बह रहे हैं वे क्या है प्रस्तुत गाथा में उसे स्पष्ट किया है। पांच इन्द्रियां ही वह स्रोत है जिसके द्वारा आत्मा कर्म रज को ग्रहण करता है। जिसकी इन्द्रियां जाग्रत हैं वह सुप्त है। इन्द्रियां जिसके वश में हैं वह साधक है और जो इन्द्रियों के वश में वह वासना का गुलाम हैं। उसकी स्थिति उस सवार जैसी होती है जिसके हाथ में लगाम नहीं है। उसके इशारे पर घोड़ा नहीं चलता अपि तु घोड़े के इशारों पर उसे चलना पड़ता है। इन्द्रियों के संकेतों पर चलनेवाला व्यक्ति सही लक्ष्य पर पहुंच नहीं सकता। गीता भी कहती है—

'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'।-गीता

अपनी इन्द्रियां जिसके वश में हैं उसी की बुद्धि स्थिर है।

आगम में साधक के लिये निर्देश आया है उसकी इन्द्रियां प्रशस्त पथ की ओर हैं तो वह उन्हें चलने दे किन्तु जब वे अप्रशस्त पथ में जाने लगे तभी उनकी गति को रोक दे, जैसे कछुआ जब अपने आपको सुरक्षित समझता है तब तक आजादी से घूमता है किन्तु जिस क्षण उसे प्रहार की आशंका होती है उसी क्षण अपने अंगों को समेट लेता है[१]। साधक प्रशस्त पथ का उपासक है वह प्रशस्त पथ में ही गति करे।

दक्षिण के महान संत तिरुवल्लूर भी अपने त्रिकुरल में लिखते हैं जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को उसी तरह अपने में खींचकर रखता है जिस तरह कछुआ अपने हाथ पांव को खींचकर भीतर छिपा लेता है, उसने अपने समस्त आगामी जन्मों के लिये खजाना जमा कर रखता है।

टीका:—जागरतोऽप्रमत्तस्य मुनिरिन्द्रियाणि पंच सुप्तानि, सुप्तस्यामुनेस्तु पंच जागरति। पंचभिः सुप्ते रज आदीयते, पंचभ्यो जाग्रद्भिः रजः स्थाप्यते॥

अप्रमत्त साधक की पांचों इन्द्रियां सुप्त हैं जब कि प्रमत्त साधक की पांचों इन्द्रियां जागृत रहती हैं। सप्त साधक पांचों इन्द्रियों के द्वारा कर्म रज ग्रहण करता है जब कि जाग्रत साधक पांचों इन्द्रियों के द्वारा कर्म रज को रोकता है।

सद्दं सोतमुवादाय मणुण्णं वा वि पावगं।
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा ण पदुसेज्जा हि पावए॥ ३॥
मणुण्णम्मि अरज्जंते अदुट्ठे इयरम्मि य।
असुत्ते अविरोधीणं एवं सोए पिहिज्जति॥ ४॥

---

१ जहां कुम्मो विवस अंगाइं स देहे समाहरे।
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ गीता अ० २ श्लो० २८

अर्थ :—श्रोत्र के द्वारा मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ शब्द को पाकर साधक समचित्त रहे। मनोज्ञ शब्द में अनुरक्त न हो और अमनोज्ञ पर द्वेष न करे। मनोज्ञ शब्दों में अनुरदक्त न हो और अमनोज्ञ में द्वेष न करता हुआ साधक अविरोधी में जाग्रत रहकर कर्म स्रोत को रोकता है।

गुजराती भाषान्तर :—

સાધકે સુંદર કે મીઠા શબ્દો કે ખરાબ શબ્દો સાંભળીને (ચલિત ન થતાં) સમચિત્ત રહેવા જોઈએ. મીઠા શબ્દોમાં આકર્ષિત થવું ન જોઈએ ને ખરાબ શબ્દોપર પણ દ્વેષ કરવો ન જોઇએ. મીઠા શબ્દોમાં અનુરાગ ન કરતા અને દિલ દુખાવનાર શબ્દોમાં દુઃખની ભાવના ન રાખનાર સાધક અસંસર્ગી અને સાવધાન રહી કર્મસ્રોતને બંધ કરી શકે છે.

कर्णेन्द्रिय का स्वभाव है शब्द को ग्रहण करना। अच्छे या बुरे मधुर या कटु जो भी शब्द आते हैं कान उसको ग्रहण करेगा ही। साधक कान को बन्द करके चल नहीं सकता और चलना चाहिए भी नहीं। उसका काम इतना ही है कि वह मधुर शब्दों पर अनुरक्त न होकर उसमें अपने कर्तव्य को भूल न जाए। मधुरता के प्रवाह में न बह जाए और कटु शब्द कान पर आवें तब भी वह अपना विवेक न खो बैठे। क्योंकि किसी भी मूल्यवान् वस्तु को खोकर भी मनुष्य इतना नहीं खोता जितना कि वह अपना विवेक खोकर खोता है। हजार रुपये खोकर आपने कुछ नहीं खोया है किन्तु जब आप अपना मिजाज खो देते हैं तब आप समझ लीजिए कि आपने सब कुछ खो दिया।

श्रवणेन्द्रिय अपना काम करे और साधक अपना काम करे, उसके बहाव में वह अपनी समभाव की साधना न खोये।

रूवं चक्खुमुवादाय मणुण्णं वावि पावगं।
मणुण्णंमि ण रज्जेज्जा ण पदुसेज्जा हि पावए ॥ ५ ॥
मणुण्णंमि अरज्जंते अदुट्ठे इयरम्मि य।
असुत्ते अविरोधीणं एवं सोए पिहिज्जति ॥ ६ ॥

अर्थ :—चक्षु के द्वारा सुन्दर या असुन्दर रूप को ग्रहण करके साधक मनोज्ञ में रक्त न हो और अमनोज्ञ पर प्रद्वेष न करे। मनोज्ञ में आसक्त न हो और अमनोज्ञ में द्वेष न करे। साथ ही अविरोधी रूप में जाग्रत रह कर साधक स्रोत को रोक सकता है।

गुजराती भाषान्तर :—

આંખોથી ખૂબસૂરત કે બદસૂરત જોઇને સાધકના મનનાં સુંદર માટે આસક્તિ કે ખરાબ રૂપમાટે દ્વેષ ઉત્પન્ન થવો ન જોઇએ. સુંદર રૂપમાં અનાસક્ત અને ખરાબ સ્વરુપમાટે તિરસ્કાર ન છતાં પણ અવિરોધી પોતાની ભૂમિકામાં જાગૃત રહી સ્રોતને રોકી શકે છે.

मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में साधक समस्थिति रखे। जो रूप उसके साधना पथ में अविरोधी है उसमें सदैव जाग्रत रहे। ऐर्यापथ, देव और गुरु के दर्शन, स्वाध्याय आदि में चक्षु का उपयोग आवश्यक है और वह साधना में अविरोधी है अतः उसके लिये साधक सदैव जाग्रत रहे।

गंधं घाणमुवादाय मणुण्णं वावि पावगं।
मणुण्णंमि ण रज्जेज्जा ण पदुसेज्जा हि पावए ॥ ७ ॥
मणुण्णंमि अरज्जंते अदुट्ठे इयरम्मि य।
असुत्ते अविरोधीणं एव सोए पिहिज्जति ॥ ८ ॥

अर्थ :—नासिका के द्वारा सुगंध या दुर्गंध को ग्रहण करके साधक सुगन्ध में आसक्ति न रखे और दुर्गन्ध पर प्रद्वेष न करे। मनोज्ञ गंध में आसक्त न हो और अमनोज्ञ में प्रद्वेष न करे और अविरोधी गंध पर सजग रहे। इस प्रकार साधक स्रोत को रोक सकता है।

गुजराती भाषान्तर :—

નાકથી ખુશબો કે ખરાબ વાસ લઇ (લેવો, પણ) સાધકે સુગંધ ઉપર આસક્તિ રાખવી નહી કે ખરાબ વાસનો દ્વેષ પણ નહી કરવો. સુગંધ ઉપર મોહિત ન બનવું અને દુર્ગંધ તરફ જરાપણ તિરસ્કાર કરવો નહી અને એવી રીતે પોતાના અવિરોધિ વૃત્તિ રાખી સાધક સ્રોત (ઈંદ્રિયો) પર નિર્બંધ રાખી શકે છે.

रसं जिब्भमुपादाय मणुण्णं वा वि पावगं ।
मणुण्णंमि ण रज्जेज्जा ण पदुज्जास्से हि पावए ॥ ९ ॥
मणुण्णंमि अरज्जंते अदुट्ठे इयरम्मि य ।
असुत्ते अविरोधीणं एवं सोए पिहिज्जति ॥ १० ॥

अर्थ :—जीभ मधुर या कटु रस को ग्रहण करती है । किन्तु साधक मधुर रस में आसक्त न हो और कटु रस पर प्रद्वेष न करे । मनोज्ञ रस में आसक्त न हो और अमनोज्ञ रस पर द्वेष न रखे तथा अविरोधी रस पर सजग रहे । इस प्रकार वह स्रोत को रोकता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

જીભ મીઠો કે કડવો સ્વાદ લે છે. પણ સાધક મનુષ્યે મીઠા રસમાં લોલુપ (આતુર) કે કડવા રસમાં તિરસ્કાર (અણગમો) કરવો નહીં. મનગમતા મીઠા સ્વાદમાં અભિરુચિ અને બદબૂ (ખરાબ વાસ) પર તિરસ્કાર કરવો નહીં. અને એવી અવિરોધી વૃત્તિપર જાગૃત રહે. એવી રીતે સાધક સ્રોતનો અટકાવ કરે છે.

फासं तयमुवादाय मणुण्णं वा वि पावगं ।
मणुण्णंसि ण रज्जेज्जा ण पदुसेज्जा हि पावए ॥ ११ ॥
मणुण्णं अरज्जंते अदुट्ठे इयरम्मिय ।
असुत्ते अविरोधीणं एवं सोए पिहिज्जति ॥ १२ ॥

अर्थ :—त्वचा के द्वारा कोमल या कठोर स्पर्श का ज्ञान होता है । साधक कोमल स्पर्श पर अनुरक्त न हो और कठोर स्पर्श पर प्रद्वेष न करे । मनोज्ञ स्पर्श पर राग न करे और अमनोज्ञ स्पर्श पर द्वेष न करे और अविरोधी स्पर्श में सदैव सजग रहे । इस प्रकार वह स्रोत को रोक सकता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

ચામડીથી (પદાર્થને અડકવાથી), વસ્તુ કોમલ છે કે કઠણ છે તેનું જ્ઞાન થાય છે. સાધકે કોમલ સ્પર્શ માટે લોલુપતા કે કઠણ સ્પર્શ માટે નાપસંદગી દેખાડવી એ તેને માટે અયોગ્ય છે. સાધકને કોમલ સ્પર્શમાં આસક્તિ અને કઠણ સ્પર્શમાં તિરસ્કાર ન હોવો જોઈએ તેમજ અવિરોધી સ્પર્શમાં સાધકે હંમેશા સાવધાન રહેવું જોઇએ; જેથી તે સ્રોતોને અટકાવ કરી શકે.

टीका :—शब्दं स्रोतं, रूपं चक्षुर्गंधं घ्राणं, रसं जिह्वा स्पर्शं त्वगुपादाय मनोज्ञं वा पापकं वा । मनोज्ञे न रज्येत् पापके न प्रदुष्येत् । मनोज्ञ अरज्यति मुनौ इतरस्मिन् अमनोज्ञे न दुष्टे अविरोधिषूदासीनेषु वस्तुष्वसुप्तो भवेज्जागृयात् एवं स्रोतः पिधीयते । गतार्थः ।

दुद्दंता इंदिया पंच संसाराय सरीरिणं ।
ते चेव णियमिया सम्मं णेव्वाणाय भवंति हि ॥ १३ ॥

अर्थ :—दुर्दान्त बनी हुई पांचों इन्द्रियां आत्मा के लिये संसार की हेतु होती हैं । जब वे ही इन्द्रियां सम्यक् प्रकार से संयमित होती हैं तो निर्वाण का कारण बनती है ।

गुजराती भाषान्तर :—

પાંચે ઇંદ્રિયો સંયમવગરના જ્યારે થાય છે ત્યારે તે ઇંદ્રિયોજ સંસારના કારણ બને છે, અને જ્યારે તે ઇંદ્રિયો ઉપર સારી રીતે કાબુ મેળવશો ત્યારે તે જ નિર્વાણ-પ્રાપ્તિના કારણ બની જાય છે.

विषय पथ की ओर दौड़नेवाली इन्द्रियां आत्मा के लिये भव वृद्धि का कारण बनती हैं । किन्तु जब उन पर ज्ञान का अंकुश रहे और वे सुपथ-गामिनी होती हैं तो वे ही इन्द्रियां आत्मा को निर्वाण की दिशा में भी ले जा सती हैं ।

दुद्दंतेहिंदिएहप्पा दुप्पहं हीरए बला ।
दुद्दंतेहिं तुरंगेहिं सारही वा महापहे ॥ १४ ॥
इंदिएहिं सुदंतेहिं ण संचरति गोयरं ।
विधेयेहिं तुरंगेहिं सारहि व्वा व संजए ॥ १५ ॥

अर्थ :—दुर्दान्त बनी हुई इन्द्रियों के द्वारा आत्मा बलपूर्वक दुष्पथ में ले जाया जाता है जैसे कि दुर्दान्त घोड़े के द्वारा सारथी महापथ में (विकट पथ) में ले जाया जाता है। मुनि की संयमित की हुई इन्द्रियां विषय की ओर वैसे ही नहीं जाती जैसे कि शिक्षित अश्व सारथि को सुपथ में ले जाते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

સંયમરહિત ઈંદ્રિયો પોતાની શક્તિથી આત્માને ખોટા માર્ગે લઈ જઈ તોફાની (કાબૂમાં ન રહે તેવા) ઘોડાની જેમ ખાડામાં ઉતારી દે છે. સંયમી મુનિની સંયમિત ઈંદ્રિયો કેળવાયેલ ઘોડા મુજબ આડે રસ્તે લઇ જવાનો સંભવ નથી.

इन्द्रिय संयम की आवश्यकता बताते हुए ऋषि ने एक सुन्दर रूपक दिया है। जिस साधक की इन्द्रियां संयमित हैं तो वे उसे सदैव शान्ति के पक्ष में ले जाएंगी और यदि साधक इन्द्रियों का गुलाम है तो उस पर शासन करेंगीं और साधक को अपने इशारों पर चलने के लिए बाध्य कर देंगीं, इसके लिये अश्व का रूपक दिया गया है। यदि अश्व अशिक्षित है तो वे सारथि को गलत मार्ग पर ले जाएंगे। घोड़े की लगाम आदमी के हाथ में नहीं है तो फिर आदमी की लगाम घोड़े के हाथ में आ जाती है और फिर उसे घोडों के इशारों पर चलने को बाध्य होना पड़ता है। पर कुशल सारथि के शिक्षित घोड़े उसके इशारों पर चलते हैं और वह शीघ्र अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है। साधक को यदि अपने लक्ष्य पर पहुंचना है तो उसे इन्द्रियों के अश्वों को शिक्षित और संयमित बनाने का अभ्यास करना होगा।

पुव्वं मणं जिणित्ताणं वारे विसयगोयरं।
विवेयं गयमारूढो सूरो वा गहितायुधो ॥ १६ ॥

अर्थ :—साधक पहले मन पर विजय पाये, फिर विवेक रूपी गज पर आरूढ़ होकर शस्त्र सज्ज वीर की भांति इन्द्रियों को विषय की ओर जाने से रोके।

गुजराती भाषान्तर :—

પહેલા સાધક પોતાના મન ઉપર કાબુ મેળવે અને ત્યાર પછી વિવેકરૂપી હાથી ઉપર સવાર થઈ જાય અને ત્યાર પછી તે હથીયારોથી સજ્જ યોદ્ધાની માફક વિષયોતરફ ઘસડાતા ઈંદ્રિયોને અટકી શકે છે.

इन्द्रियों पर विजय पाने के पूर्व साधक कों मन पर विजय पाना होगा, क्योंकि मन ही शक्ति का केन्द्र है। वही इन्द्रियों को प्रेरित करता है, अन्यथा इन्द्रियां तो जड़ हैं। वेग से घूमते हुए पंखे को रोकना है तो पहले बटन बन्द करना होगा, अन्यथा घूमते हुए पंखे को पकड़ने जावेंगे तो अंगुलियां भले कट जावें, पंखे की गति कम नहीं हो सकती। इन्द्रियों के पंखे को रोकना है तो पहले मन के स्वीच को दबाना होगा।

प्रस्तुत गाथा इन्द्रियों को साधने की दिशा में महत्त्वपूर्ण संकेत दे रही है। इन्द्रियों का मारना नहीं है, उन्हें साधना है और उसका तरीका है पहले मन पर विवेक का अंकुश रखना। प्राचीन कहानियों में सुना गया है किसी साधक की आंख किसी रमणी की रूप मधुरिमा में उलझ गई तो उसने अपनी आंख फोड़ डाली, किसी के हाथों ने अनधिकार के फल ले लिये तो उसने अपने हाथ ही काट डाले। किन्तु यह सब तो वैसा ही हुआ कि कोई लड़का पैंसिल से गन्दे शब्द लिखता है तो पैंसिल छीन ली जाए और वह फाउन्टन से गन्दे चित्र खींचता है तो फाउन्टन पेन को तोड़ डाला जाय; पर यह समस्या सही हल नहीं है। फाउन्टन या पैन्सिल तोड़ कर लड़के की आदत को बदला नहीं जा सकता, उसकी वृत्ति को बदलना होगा। उसके मन में उत्क्रान्ति लाना होगा। क्योंकि वे तो बाहिरी उपकरण हैं, उनका कोई खास महत्व नहीं है। ऐसे ही इन्द्रियां भी बाहिरी उपकरण हैं और एक रूप में वे जड़[1] हैं। मन ही उनके द्वारा ज्ञान करता है। अतः इन्द्रियों को नहीं मन को जीतना होगा।

केशी गौतम संवाद में महामुनि गौतम शत्रुविजय के लिये सर्व प्रथम एक महान् शत्रु पर विजय पाने का निर्देश करते हैं-एक को जीत लेने पर पांच [इन्द्रियां] को आप काबू में कर सकते हैं और पांच के जीत लेने पर दस शत्रु पर विजय पा सकते हैं और दस पर विजय पा लेने के बाद समस्त शत्रुओं पर विजय पा सकते हैं[2]।

तं नो ताई जं अचेयणाइं जाणंति न घडोव्व।

—विशेषावश्यक भाष्य

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥

—उत्तराध्ययन २३।, गाथा ३६

मानव का मन भी एक युद्ध-भूमि है । जहां हमेश शुभ और अशुभ का युद्ध चलता है । हमारे भीतर राम भी है और रावण भी । विजय उसी की होती है जिसके पास सेना विशाल है । सद्वृत्तियां राम की ओर से लड़ती है ओर असद्वृत्तियां रावण के नेतृत्व में युद्ध करती हैं । अन्तर के इस युद्ध में विजय पाने के लिये विवेक रूपी हस्ति पर आरूढ़ होना होगा । शुभ संकल्प और प्रशस्त अध्यवसाय रूप शस्त्रों को ग्रहण करना होगा और युद्ध में उतरे हुए सैनिक का अदम्य उत्साह होगा तो विजय हमारे साथ है ।

जित्ता मणं कसाए या जो सम्मं कुरुते तवं ।
संदिप्पते स सुद्धप्पा अग्गी वा हविसाहुते ॥ १७ ॥

अर्थः—मन और कषायों पर विजय पाकर जो साधक तप करता है वह शुद्धात्मा हविष (होम के योग्य पदार्थों) से आहुत अग्नि की भांति देदीप्यमान होता है ।

गुजराती भाषान्तरः—

જે મન અને કષાય ઉપર કાબૂ (જય) મેળવીને સાધક તપસ્યાનું આચરણ કરે તો તે પવિત્ર આત્મા હવિસ (યજ્ઞમાં અર્પણ કરવાના દ્રવ્યો)થી હવન કરેલા અગ્નિની જેમ તેજઃપુંજ બની જશે.

इन्द्रिय-जय के लिये साधक तपः साधना करता है, किन्तु उसकी साधना में फल तभी लग सकते हैं जब कि वह कषाय और मन पर विजय पा ले । कषाय और साधना दोनों साथ चल नहीं सकते । क्योंकि तप और कषाय का मेल नहीं होता । पर आज तो उल्टी गंगा बह रही है । तपस्वी साधकों का मन भी एकदम तप उठता है और लोग भी कह उठते हैं, तपस्या के साथ तेजोलेश्या होती है, दोनों का मेल है । पर यह तो गलत जोड़ है । दूध और शक्कर का मेल हो सकता है पर दूध और नमक का भी कहीं मेल हुआ है ? आठ आठ उपवास करने के बाद भी जरा सी ठेस लगती है उबल पड़े और कहने लगे आठ उपवास हुए तो क्या हुआ ? आठ को तो पछाड़ सकता हूं; तो कहना होगा तन को तपा है, साथही मन भी तप गया पर साधना उज्ज्वल नहीं हुई । तप के साथ समता का साहचर्य हो तभी साधक की साधन में फलवती हो सकती है और साधक की आत्मा हविष् की आहुति प्राप्त अग्नि की भांति उज्ज्वल और समुज्ज्वल हो सकती है ।

सम्मत्त-णिरतं धीरं दंतकोहं जिर्तिदियं ।
देवा वि तं णमंसंति मोक्खे चेव परायणं ॥ १८ ॥

अर्थ :—सम्यक्त्व में निरत धैर्यशील क्रोध विजेता और जितेन्द्रिय और मोक्ष ही जिसका एक मात्र लक्ष्य है ऐसे साधक को देवता भी नमस्कार करते हैं ।

गुजराती भाषान्तरः—

સમ્યક્ત્વમાં મગ્ન, ધીરજવાળા અને ક્રોધ ઉપર કાબૂ મેળવેલા, જિતેંદ્રિય તેમજ જેનું એકમેવ ધ્યેય મોક્ષ છે એવા સાધકને દેવતાઓ પણ પ્રણામ કરે છે.

जिस साधक ने सत्य का प्रकाश पा लिया है और तत्व का रहस्य पा चुका है, ऐसा सम्यक्त्वशील साधक क्रोध पर विजय पा सकता है और इन्द्रियों का संयम कर सकता है और जिसकी साधना एक मात्र मोक्ष को लक्ष्य में लेकर हो रही है ऐसे साधक के चरणों में देवगण भी नत मस्तक हो जाएं तो कोई आश्चर्य नहीं होगा ।

सव्वत्थविरये दंते सव्वचारीहिं[1] वारिए ।
सव्वदुक्खप्पहीणे य सिद्धे भवति णीरये ॥ १९ ॥

अर्थ :—सर्वार्थों से अथवा सर्वत्र विरत दमनशील साधक, सर्वत्र घूमने वाली इन्द्रियों को रोक कर समस्त दुःखों से मुक्त होता है और कर्मरज रहित सिद्ध होता है ।

---

१ वारीहिं.

गुजराती भाषान्तर :—

બધા પદાર્થોમાં કે બધા વિષયોમાં ઉપરતિ (વૈરાગ્ય) થએલા, દમનશીલ સાધક ચારો તરફ ભમતા ઈંદ્રિયોને અટકાવીને દુઃખોથી પોતાનું સંરક્ષણ કરી મુક્ત બની શકે છે તેમજ પોતે કર્મરજથી પણ મુક્ત બને છે.

जिस दमनशील साधक ने भोगासक्ति से विरत होकर सभी ओर दोड़नेवाली मनोभावनाओं को केन्द्रित किया है और इन्द्रियों पर विजय पाया है वही साधक वीतकषाय होकर शाश्वत सुख स्थिति रूप सिद्ध रूप को प्राप्त करता है।

अथवा सर्वचारी का एक अर्थ यह भी होता है कि अपने अनंत ज्ञान के द्वारा त्रिभुवन गत समस्त पदार्थ सार्थ में विचरण करनेवाले वीतराग देवों ने जिस (वासना) के पथ में जाने से रोका है उस वासना-विदूषित पथ से इन्द्रियों को रोक कर सर्वज्ञों द्वारा प्रतिष्ठित व्रत मर्यादा में जो साधक स्थित रहता है वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं प्रस्तुत अध्ययन के मुद्रालेख में उस साधक का वर्णन मिलता है जिसने बाहर की वासना से मुक्त हो कर स्रोत के प्रवाह को रोक दिया है। श्लोक नं. ३ में स्रोत का उल्लेख है पांच, सात, नव और ग्यारह संख्या के श्लोक भी उसके अनुसंधान में हैं। वसव शब्द असाधारण है। बारवें और दसवें श्लोक में यह वसव आवश्यक भी नहीं है और हस्ति के अंकुश का यह छोटा रूप है।

टिप्पणी—प्रस्तुत प्रति के १२ वें और दसवें श्लोक में वसव शब्द आया नहीं है। फिर किस आधार पर प्रोफेसर शुब्रिंग् ने यह टिप्पणी की है कहा नहीं जा सकता।

एवं से सिद्धे बुद्धे० ॥ गतार्थः।
इति वद्धमाण नाम एकोनत्रिंशतितमं अध्ययनम्

वायु अर्हतर्षि-प्रोक्त

तीसवां अध्ययन

हजारों माइलों का यह विस्तृत भूखंड विचित्रता ओं का आगार है। विविधता और विचित्रता में ही सृष्टि की सुषमा है। पर प्रश्न है विश्व को विचित्रता दी किसने? श्रद्धालू मानस बोल उठेगा यह सृष्टि का विचित्रता भरा सौन्दर्य उस अनंत शक्तिमान करुणामय बिराट पुरुष की देन है। किन्तु यह उत्तर जितना सरल है तर्क की तुला पर उतना ही पेचींदा बन जाता है, क्योंकि इसके सामने पहला ही प्रश्न आता है उस विराट्र शक्तिमान करुणामय ने एक ओर अपनी सृष्टि में सुन्दर भव्य आकृतियां सजाई हैं तो उसे दूसरी ओर काली कुरूप और बीभत्स आकृतियां रखने की आवश्यकता ही क्या थी? विकृत आकृतियों को रखने में करुणामय की करुणा पर प्रश्न चिह्न लग जाता है।

विश्व की विचित्रता का रहस्य जानने के लिये हमें उसे दो रूप में बांटना होगा। एक प्राकृतिक दूसरी प्राणिजन्य। प्रकृति का विचित्रता भरा सौन्दर्य स्वभावगत है। सूर्य दिन को ही आता है, रात को क्यों नहीं? पूर्व में ही उदित होता है पश्चिम में क्यों नहीं? आम ग्रीष्म में ही आता है, शीतकाल में क्यों नहीं? गेहूं की फली ही लम्बी और बालवाली होती है ऐसी जुआर की क्यों नहीं, मयूर के जैसे पंख रंगे गये हैं वैसे कुक्कुट के क्यों नहीं, इन सबका समाधान तर्क के पास नहीं है, वह स्वभावगत है।

प्राणि-जन्य विचित्रता का समाधान स्वभाव से नहीं हो सकता। क्योंकि सभी मनुष्यों का स्वभाव समान होने पर भी बुद्धिकृत भेद है। एक व्यक्ति एक घंटे में दस श्लोक रट लेता है, जबकि दूसरा दस घंटे में भी श्लोक याद नहीं कर सकता। एक ही प्रकार की बीमारीवाले, दो रोगियों को एक ही डॉक्टर एक ही प्रकार की दवा देता है फिर भी एक स्वस्थ हो जाता है, जबकि दूसरा रोग में वृद्धि पाता है। इसका रहस्य क्या है? इसका समाधान स्वभाव के पास नहीं कर्मवाद के पास है।

बुद्धिकृत भेद का उत्तर कर्मवाद यों देता है-चेतनाशक्ति समान होने पर जिस व्यक्ति ने ज्ञान की अवहेलना की है, ज्ञान के साधनों का तिरस्कार किया है, उसके कार्य कर्मवर्गणा के सूक्ष्म परमाणुओं को आकर्षित करते हैं और वे कर्म पुद्गल उसकी ज्ञान चेतना को अवरुद्ध कर देते हैं, यही है बुद्धिकृत भेद का रहस्य।

इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने दूसरे को रुलाया है, उसके हितों को कुचला है, उसे उत्पीड़ित किया है, वह भी तज्जन्य, कर्मों को एकत्रित करता है और फिर जब तक वे कर्म रहते हैं; उसे स्वास्थ्य लाभ प्राप्त नहीं होता। फिर चाहे कितने भी इंजेक्शन क्यों न ले लिये जांय।

इसी कर्मवाद का निरूपण प्रस्तुत अध्याय का विषय है:-

अधासच्चं इणं सव्वं
वायुणा सच्चसंजुत्तेणं अरहता इसिणा बुइयं।

अर्थः—यह विराट विश्व सत्य है। सत्य संयुक्त वायु अर्हतर्षि ऐसा बोले।

गुजराती भाषान्तर :—

આ વિશાલ વિશ્વ સાચું છે. સત્યયુક્ત વાયુ અર્હતર્ષિ એમ બોલ્યા.

विचित्रता भरा यह विराट् विश्व एक सत्य है। कुछ दर्शन माया या कल्पना कहकर इस विराट् सृष्टि को स्वप्न बताते है। पर स्वप्न तो किसी अनुभूत पदार्थ का ही आता है। न देखी न सुनी किस ऐसी वस्तु का स्वप्न कभी नहीं आता और यह माया क्या है कोई तत्त्व है या नहीं? यदि कोई तत्व नहीं है तो दिखाई क्यों देती है और यदि तत्व है तो फिर माया (अवास्तव कल्पना) कैसी? यह तो वैसा ही हुआ जैसे किसी स्त्री को माता भी बताना और वंध्या भी[२]।

अतः अर्हतर्षि बोलते हैं यह विश्व व्यवस्था स्वप्न नहीं सत्य है। यदि यह विश्वव्यवस्था सत्य है तो इसके साथ ही दूसरा प्रश्न आता है यह विचित्रता क्यों है उसका समाधान अर्हतर्षि निम्न गाथाओं के द्वारा दे रहे हैं।

इध जं कीरते कम्मं तं परतोवभुज्जइ।
मूलसेकेसु रुक्खेसु फलं साहासु दिस्सति॥ १॥

अर्थः—जो कर्म यहां किये जाते हैं। आत्मा उन्हें परलोक में अवश्य भोगता है। जिन वृक्षों का मूल सिंचित किया गया है उसका फल शाखाओं पर दिखाई देता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જે કર્મો આ લોકમાં માણસ કરે છે તેનો ઉપભોગ તે આત્માને પરલોકમાં ફરજીયાત કરવો જ પડે છે. જે વૃક્ષોના જડનું પાણીથી સિંચન કરવામાં આવે છે તેનું ફલ તેના ડાળીઓ ઉપર જોવામાં આવે છે.

आत्मा शुभाशुभ अध्यवसायों के द्वारा कर्मबन्ध करता है उसका प्रतिफल अमुक काल मर्यादा के बाद उदय में आता है। कर्म फिलासफी के अनुसार बद्ध-कर्म उसी क्षण उदय नहीं आते। उसे प्रतिफल देने के लिये कुछ काल अवश्य लगता है। इस बीच के काल को अबाधा काल या विपाक काल कहा जाता है। बद्ध कर्म जिस समय तक बाधक नहीं होता उस समय को अवाधाकाल कहा जाता है। यह काल मर्यादा अल्प रूप में अन्तर्मुहूर्त है तो उत्कृष्ट रूप में तत् तत् कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न होती है।

अबाधाकाल इस लिये माना गया है कि जो कर्म जिस क्षण बांधे जाते हैं उसी क्षण उनका भोग नहीं हो सकता। बांधने और भोगने का समय अवश्य ही भिन्न होना चाहिए। पर उसका विपाक इतने समय तक क्यों रुका रहता है?। यह दूसरा प्रश्न है। उसका एक कारण यह हो सकता है कि जब आत्मा स्वर्गादि में शुभ कर्मों का सुखानुभव रूप शुभ प्रतिफल भोग रहा हो तब शुभोदय में अशुभोदय नहीं हो सकता और उतने समय तक अशुभोदय रुका रहता है। यही विपाक काल है।

---

१. अधासव्वं। १. माया सती चेत् द्वयतत्त्वसिद्धिः, अथासती हन्त कुतः प्रपंचः। मायैव चेदर्थसहा च तत्किं माता च वन्ध्या च भवेत्परेषाम्। -आ० हेमचन्द्र, अन्ययोगव्यवच्छेदिका.

आत्मा जो भी शुभ या अशुभ का अनुभव करता है यह उसके पूर्वबद्ध कर्मों का ही प्रतिफल है। वर्तमान दुःख का कारण हमें वर्तमान में न दिखाई दे किन्तु इसका यह मतलब नहीं हो सकता कि उसका कारण है ही नहीं। जिस आम को हम आज खा रहे हों अभी हम उसके बोनेवाले का नाम पता न बता सकें, किन्तु इतना तो सुनिश्चित है वह आम किसी न किसी द्वारा एक दिन अवश्य बोया गया था और आज वह फल और पत्तों से समृद्ध हुआ है। यही कार्यकारणपरंपरा हमारे सुख दुःख के सम्बन्ध में भी है।

टीकाः—यथा सत्यं इदं सर्वं। इह यत् क्रियते कर्म तत् परतः परलोके न बुझ्यते। मूलसिक्तेषु तेषां शाखासु फलं दृश्यते। गतार्थः।

जारिसं वुप्पते बीयं तारिसं भुज्जए फलं।
णाणासंठाणसंबद्धं णाणासण्णाभिसण्णितं ॥ २ ॥
जारिसं किज्जते कम्मं तारिसं भुज्जते फलं।
णाणापयोगणिव्वत्तं दुक्खं वा जइ वा सुहं ॥ ३ ॥

अर्थः—(खेत में) जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल आता है। जोकि नानाविध आकृतियों में होता है और नानाविध संज्ञाओं से अभिहित होता है। जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही फल भोगा जाता है। नानाविध प्रयोगों से कर्म निर्मित होते हैं। वह कर्म सुखरूप या दुःखरूप होता है।

गुजराती भाषान्तरः—

ખેતરમાં જેવું બીયાણું વાવવામાં આવે છે તેવું જ ફળ મળે છે; જે અનેક પ્રકારોનું હોય છે અને તેઓની અનેક સંજ્ઞાઓ પણ હોય છે. જેવું કર્મ કરવામાં આવે છે તેવું જ ફલ ભોગવું પડશે. અનેક પ્રયોગોથી કર્મોનું નિર્માણ થાય છે તે કર્મો સુખદાયી કે દુઃખદાયી થાય છે.

यह निश्चित सिद्धान्त है जैसा बीज होगा वैसा ही प्रतिफल होगा। बाजरी को बोकर कभी चांवल की फसल काटी नहीं जा सकी। प्याज खाकर इलाइची की डकार ली नहीं जा सकती। ध्वनि के अनुरूप प्रतिध्वनि अवश्य आयेगी। इंग्लिश विचारक शेक्सपीयर कहता है—What is done cannot be undone किये हुए कर्म को मिटाया नहीं जा सकता। आचार्य विनोबा भी कहते हैं-कर्म वह आइना है जो हमारा स्वरूप हमें दिखा देता है अतः हमें उसका एहसान मानना चाहिये। कर्म हमारे जीवन के निर्माता है, पर कर्म के निर्माता हम हैं। जब तक कर्म नहीं किये जाएं तब तक हम स्वतंत्र हैं, पर एकबार शुभाशुभ अध्यवसाय के द्वारा जो कर्म एकत्रित कर लिये जाते हैं उन्हें भोगना ही होता है। दूसरा एक ओर इंग्लिश विचारक भी कहता है—

Our riches may be taken away by fortune, our reputation by malice, our spirits by calamity, our health by disease, our friends by death; but our actions must follow us beyond the grave.

दुर्भाग्य हमारा धन छीन सकता है। नीचता हमारा जोश, रोग स्वास्थ्य और मृत्यु हमारे मित्र छीन सकती है किन्तु हमारे कर्म तो हमारी मृत्यु के बाद भी पीछा करेंगे, उन्हें कोई छीन नहीं सकता।-कोल्टन।

कल्लाणा लभति कल्लाणं पावं पावा तु पावति।
हिंसं लभति हंतारं जइत्ता य पराजयं ॥ ४ ॥

अर्थः—आत्मा कल्याण से कल्याण प्राप्त करता है और पाप शील विचारधारा के द्वार वह पाप को (कटु फल को) प्राप्त करता है। हिंसक व्यक्ति हिंसा के द्वारा हिंसा को प्राप्त करता है। वह विजय पाकर भी पराजित हो जाता है।

गुजराती भाषान्तरः—

આત્મા કલ્યાણવડે કલ્યાણની પ્રાપ્તિ કરે છે, અને પાપસ્વભાવની વિચારપરંપરાથી તે પાપ (કરનાર તેના ફળ) ને મેળવે છે. હિંસા કરનાર માણસ હિંસાને કારણે જ હિંસાનો ભોગ બને છે. કદાચ એને વિજય પ્રાપ્ત થાય તો પણ તે વિજય પણ પરાજયરૂપી જ બને છે.

आत्मा की कल्याण मय भावना आत्मा को उसे कल्याण मय बनाती है। और पापशील भावना उसे पापशील। दोनों के मधुर और कटुरूप भी उसके सामने आये बिना नहीं रहते। हिंसा के द्वारा मनुष्य कुछ देर के लिये जय भी पा लेता है किन्तु यह भूलना न होगा कि तलवार के बल पर पाई गई विजय एक दिन पराजय में बदल जाती है। दूसरों की चिता भस्म पर जिन्होने अपने महल चुने है किन्तु एक दिन वह राख महल और महल की अट्टालिका में अट्टहास करने वाले सत्ताधीशों की राख बनाकर छोड़ेगी।

सूदणं सूदइत्ताणं णिदित्ता वि य णिंदणं।
अक्कोसइत्ता अक्कोसं णत्थि कम्मं णिरत्थकं॥५॥

अर्थ :—पचानेवाले को एक दिन पकना होगा। दूसरे की निन्दा पर मुस्कुरानेवाले को एक दिन निन्दित होना पड़ेगा। आक्रोश करनेवालों पर दूसरे आक्रोश किये बिना नहीं रहेंगे, क्योंकि कोई भी कर्म निरर्थक नहीं जाता।

गुजराती भाषान्तर :—

રાંધનારને પણ પોતે કોઇપણ સમયે (તેના બદલામાં) પાકવું પડશે. બીજાની મશ્કરી કરવાવાળાનો પણ એક દિવસે પોતે નિંદાપાત્ર થવું પડશે. રાડ પાડનાર પર કોઈ બીજો માણસ રાડ પાડ્યાવગર રહે નહી. કેમ કે કોઇપિણુ કરેલું કામ નિરર્થક (નકામું) બની જતું નથી.

ध्वनि के अनुरूप प्रतिध्वनि होती है। क्योंकि सभी कर्म अपने साथ प्रतिफल लिये रहते हैं। दूसरों की फजिहत पर जिनके मन में गुदगुदी चलती है उसके लिये प्रस्तुत गाथा में कड़ी चेतावनी दी है, जिन्हें आज दूसरों की आलोचना में रस आ रहा है कल उनकी आलोचना में दुनिया रस लेगी और जो आज बोलते है हम ऊंचे हैं, दूसरे नीचे, हम अच्छे हैं, दूसरे बुरे हैं। मन का अहंकार आज उनके मुंह से यह बुलवा रहा है किन्तु कल जब बाहर की सफेद चदरिया उड़ जाएगी और दुनियां के सामने उनका सही रूप आयेगा उस दिन दुनियां देखेगी कि आचार और क्रिया का दंभ रखनेवाले कितने गहरे पानी में थे।

आज हम अपने इस मिथ्या विश्वास को अपनी ढाल बनाते हैं कि हमें कोई देख नहीं रहा है। हमारे पर्दे के पीछे की लीला को कोई जानता नहीं है। पर सत्य की प्रखर किरणें एक दिन इस मिथ्या विश्वास के पर्दे को चिरती हुई दुनियां के सामने तुम्हें उसी रूप में ला देगी जिसमें कि तुम हो। एक पाश्चात्य विचारक भी बोलता है-

Foul deeds will rise, though all the earth overwhelm them to men's eyes. अर्थात् बुरे कार्य अवश्य प्रकट होंगे। मनुष्य की आंखों से उन्हें छिपाने के लिये भले सारी पृथ्वी उन पर ढ़क दी जाए, फिर भी प्रकट हुए बिना नहीं रहेंगे।

भगवान् महावीर के शब्दों में—

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति।
दुचिण्णा कम्मादुचिण्णा फला भवंति।

सुन्दर कर्मा का प्रतिफल सुन्दर होता है और बुरे कर्मों का प्रतिफल सदैव असुन्दर ही रहेगा।

मण्णंति भद्दका भद्दका इ, मधुरं मधुरंति माण ति।
कडुयं कडुयं भणियं ति फरूसं फरूसं ति माणति॥६॥

अर्थ-भद्र कार्यों को दुनिया भद्र मानती है। मधुररूप में स्वीकार करती है। कडुवे को कडुआ कहा जाता है और कठोर को कठोर कहा जाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

ભદ્ર (સારાં) કામોને દુનિયા સારાં જ કહેછે, મધુર પદાર્થોને મધુર છે એમ લોકો કબુલ કરે છે, તેમજ કડવી વસ્તુને કડવી અને કઠોરને કઠોર જ માને છે.

समय और स्थान बदल देने से कार्य नहीं बदल जाता। सुन्दर वस्तु सर्वत्र सुन्दर रहेगी। सोना महल में सोना रहे और शमसान में पीतल बन जाए तो उसे सोना कौन कहेगा। सोना सर्वत्र सोना रहेगा और पीतल पीतल मंदिर की छाया

उसे सोना नहीं बन सकती। मिश्री की डली गंगा के तट पर खाएं तब भी मीठी है और सूने जंगल में खाएं तब भी मीठी ही रहेगी। स्थान बदल देने से उसका मिठास नहीं बदला जाएगा। शुभ कर्म सर्वत्र शुभ रहेंगे। देश काल की सीमाएं उन्हे शुभ से अशुभ में या अशुभ से शुभ में बदलने में समर्थ नहीं है।

कुछ लोगों का विश्वास है अमुक स्थान पर चले जाने पर पाप पुण्य में बदल जाएगा और अमुक स्थान पर पुण्य भी पाप हो जाएगा। किन्तु यह अर्ध सत्य है। मानो कि व्यक्ति के मन को स्थान भी प्रभावित करता है। जब तक स्थित प्रज्ञ दशा नहीं आई तब तक समय और स्थान उसके मन पर असर डालते रहते हैं किन्तु तथ्य यह है समय और स्थान में पवित्रता हम स्वयं पूरते हैं। हमारी मनोभावना ही उस दिन को पवित्रता का बाना पहनाती है अन्यथा यदि दिन ही पवित्र होता तो उसकी पवित्रता सबके दिल में पवित्रता का संचार करती, किन्तु ऐसा होता नहीं है जो दिन एक संप्रदाय वालों की दृष्टि में पवित्र है दूसरी संप्रदाय वालों की दृष्टि में वह दिन दूसरे दिनों की अपेक्षा कोई विशेष महत्व नहीं रखता।

हां तो स्थान और समय की पवित्रता हमारी कल्पना पर आधारित है। वह पवित्रता हमारे मन को प्रेरणा भले दे दे किन्तु किसी कार्य को पवित्र या अपवित्र नहीं बना सकती। यदि एक मलेरिया का बीमार स्वर्ण महल में पहुंच जाए तब भी उसे शान्ति तो नहीं मिल सकती। शान्ति तभी मिलेगी जबकि वह रोग मुक्त होगा।

टीका :—भद्रकानि भद्रकानीति मन्यन्ते जनाः, मधुरं मधुरं फरुसं फरुसमिति मनुते, कटुकं कटुकमिति भणितत्॥ गतार्थः।

कल्लाणं ति भणंतस्स कल्लाणा एपडिस्सुया।
पावकं ति भणंतस्स पावया एपडिस्सुया॥ ७॥

अर्थ :—कल्याण इस प्रकार बोलनेवाला पुनः कल्याण सुनता है। "पाप" इस प्रकार बोलनेवाला पाप की ही प्रतिध्वनि पाता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જે માણસ મીઠું બોલે છે તેને જ મીઠા શબ્દો સાંભળવા મળે છે. ભુંડી વાતો કરનારને પરિણામે ભુંડી વાતો જ સાંભળવી પડે છે.

विश्वव्यवस्था ध्वनि प्रतिध्वनि के सिद्धान्त पर आधारित है। किसी गिरि कंदरा के निकट जाकर हम सुन्दर शब्द कहेंगे तो उसकी प्रतिध्वनि सुन्दर ही आएगी और गंदे शब्द कहे तो प्रतिध्वनि भी गंदे शब्दों को लौटाएगी। जीवन में भी प्रतिध्वनि का सिद्धान्त है। यदि हम किसी के प्रति सत्संकल्प रखते हैं तो अगले व्यक्ति के हृदय में सत्संकल्प उठेंगे।

टीका :—कल्याणमिति भणतः कल्याणैतत्प्रतिश्रुतपापकमिति पापकाः। गतार्थः।

पडिस्सुयासरिसं कम्मं णच्चा भिक्खू सुभासुभं।
तं कम्मं न सेवेज्जा जेणं भवति णारए॥ ८॥

अर्थ :—कर्म को साधक प्रतिश्रुति (प्रतिध्वनि) के सदृश जाने, तथा उन कर्मों का सेवन न करे जिनके द्वारा आत्मा नरक रूप प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

સાધકે કર્મને પ્રતિશ્રુતિ એટલે પ્રતિધ્વનિ જેવા જ સમજવા જોઇએ. અને તેવા કર્મોનું આચરણ કે સેવન પણ કરવું ન જોઇએ જેથી આત્માને નરકની પ્રાપ્તિ થાય.

साधक प्रतिध्वनि के सिद्धान्त को जीवन में स्थान दे और उन कर्मों का परित्याग करे जिनके द्वारा आत्मा को नरक में जाना पड़ता है।

प्रतिध्वनि को सुन्दर बनाने के लिये पहले ध्वनि को सुन्दर बनाना होगा। नारक पर्याय अशुभ कर्मों की प्रतिध्वनि है। यदि नरक से बचना है तो उसके हेतुभूत कर्मों से बचना होगा। कार्य को समाप्त करने के लिये कारण को मिटाना होगा।

हमें कैसा बनना है यह हमें सोचना है। अपने निर्माता हम स्वयं हैं। हमारे कर्म हमको यह रूप देते है जैसा कि हम करते हैं हमारे अच्छे कार्य हमको अच्छा बनाते हैं। एक विचारक के शब्दों में-Good actions enable us and we are the sons of our deeds. हमारे अच्छे कर्म हमको अच्छा बनाते हैं क्योंकि हम अपने कार्यों के पुत्र हैं। हमारे जीवन की कीमत भी हमारे कार्य करते हैं। कितने जिंदगी अच्छी है यह वर्षों की गणना के द्वारा नहीं बता सकते। यों तो मानव की अपेक्षा बाघ और चीतों की जिन्दगी लंब हो सकती है किन्तु लम्बाई जिन्दगी की अच्छाई का मानदंड नहीं हो सकती। एक दूसरा विचारक भी कहता है:—

A life spent worthily should be measured by deeds and not years. जीवन कितना कीमती रहा है यह वर्षों से नहीं कार्यों से मापा जाता है।

एवं से सिद्धे बुद्धे० ॥ गतार्थः।
इति वायु अर्हतर्षि प्रोक्त
तीसवां अध्ययन।

पार्श्व अर्हतर्षि प्रोक्त

एकतीसवां अध्ययन

मनुष्य ने जब पहली आंखों इस दुनियां को देखा तभी से उसके मन में जिज्ञासा पैदा हुई जीवन क्या है और जगत क्या है? यह विराट विस्तृत भूखंड क्या है? इसका नियामक कौन है? किन तत्त्वों से इसका निर्माण हुआ है। यह सान्त है या अनंत है। इसके कितने रूप हैं। यह जीवन क्या है, मैं कौन हूं, गर्भ में आता कौन है, कौन जन्म लेता है और कुछ वर्ष यहां बिताकर फिर कहां चला जाता है। वह कौन सा लोक है जहां आत्मा चिर शान्ति पा सकता है उसे न फिर आने की आवश्यकता रहती है न कहीं जाने की। ये सभी प्रश्न अनादि से मानव के मन को मथ रहे हैं उन्हीं में से कुछ प्रश्नों का यहां समाधान दिया गया है।

(१) केयं लोए? (२) कइविधे लोए? (३) कस्स वा लोए? (४) के वा लोयभावे? (५) केण वा अट्ठेण लोए पवुच्चई? (६) का गती? (७) कस्स वा गती? (८) के वा गति-भावे? (९) केण वा अट्ठेण गती पवुच्चति?

अर्थ:—(१) लोक क्या है? (२) कितने प्रकार का लोक है? (३) लोक किसका है? (४) लोक-भाव क्या है और (५) किस अर्थ में लोक कहा जाता है? (६) गति क्या है? (७) किसकी गति होती है? (८) गति-भाव क्या है और (९) किस अर्थ में गति कही जाती है।

गुजराती भाषान्तर:—

(૧) લોક શું છે? (૨) કેટલા પ્રકારના લોક છે? (૩) લોક કોના છે? (૪) લોકભાવ શું છે? અને (૫) કયા અર્થમાં લોક કહેવાય છે? (૬) ગતિ શું છે? (૭) કોની ગતિ હોય છે? (૮) ગતિભાવ શું છે? અને (૯) કયા અર્થમાં ગતિ કહેવાય છે?

यहां लोक और गति के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न किये गये हैं। मानव मन की जिज्ञासा को यहां प्रश्न के रूप में व्यक्त किया गया है। लोक क्या है? उसका स्वरूप क्या है? उसकी आधार स्थिति क्या है? कुछ प्रश्न गति से सम्बन्धित हैं। गति क्या है, उसका किससे सम्बन्ध है? गति क्यों होती है? गति का अस्तित्व किस पर आधारित है? गति शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त होता है?।

पासेण अरहता इसिणा बुइतं।

(१) जीवा चेव अजीवा चेव (२) चउव्विहे लोए वियाहिते, दव्वतो लोए, खेत्तओ लोए, कालओ लोए, भावओ लोए। (अत्तभावे लोए) (३) सामित्तं पडुच्च जीवाणं लोए। णिव्वत्तिं पडुच्च जीवाणं चेव अजीवाणं चेव (४) अणादीए अणिहणे परिणामिए लोयभावे (५) लोकतीति लोको।

अर्थ :—पार्श्व अर्हतर्षि बोले–लोक जीव और अजीव रूप है। वह चार प्रकार का बताया गया है। द्रव्य लोक (२) क्षेत्रलोक (३) काललोक और (४) भावलोक। लोक अपने आत्मभाव में है। स्वामित्व की अपेक्षा यह जीवों का लोक है और निवृत्ति अर्थात् रचना की अपेक्षा यह लोक जीवों का भी है और अजीवों का भी यह लोक अनादि अनंत है और पारिणामिक भाव में स्थित है। दूसरी अपेक्षा से यह लोक अपने स्वभाव में स्थित है। जो आलोकित होता है उसे लोक कहते हैं।

गुजराती भाषान्तर :–

પાર્શ્વ અર્હતર્ષિ બોલ્યા–લોક જીવ અને અજીવરૂપ છે. તેના ચાર પ્રકાર છે. (૧) દ્રવ્યલોક (૨) ક્ષેત્રલોક (૩) કાલલોક (૪) ભાવલોક. લોક તો પોતાનાંમાંજ હોય છે. માલેકીની દૃષ્ટિએ આ લોક જીવોનો છે. અને નિવૃત્તિ એટલે રચનાની દૃષ્ટિએ આ જીવોનો લોક છે, અને નિવૃત્તિ એટલે રચનાની દૃષ્ટિએ તો આ જીવોનો લોક છે અને જીવેતરનો પણ છે. આ લોક આદિરહિત અને અંતરહિત છે તેમજ પરિણામસ્વરૂપમાં અધિષ્ઠિત છે. બીજી વસ્તૂની અપેક્ષાથી વિચાર કરીએ તો આ લોક પોતાનાંમાંજ અધિષ્ઠિત છે. જે આલોકિત (દૃષ્ટિથી જોવાય) છે તે લોક કહેવાય છે.

मानव मन में घुमड़ती जिज्ञासा का समाधान करते हुए पार्श्व अर्हतर्षि ने लोक से सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान दिया है। जड़ और चैतन्य की यह विराट् सृष्टि ही लोक है। ऐसे तो लोक पंचास्तिकायात्मक है। धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गलों की अर्थ-सृष्टिलोक है।

दूसरा प्रश्न लोक के प्रकार के सम्बन्ध में है। लोक के चार प्रकार हैं। द्रव्य क्षेत्र काल और भाव। भगवती सूत्र में इस प्रश्न पर काफी विस्तृत रूप में चर्चा की गई है। लोक चार प्रकार का है–द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भाव-लोक। द्रव्यलोक एक और सान्त है। क्षेत्रलोक की लम्बाई और चौड़ाई असंख्य कोटाकोटी योजनों की है। इसकी परिधि भी असंख्य कोटाकोटी योजनों की है फिर भी यह शान्त है, अनंत नहीं। काल लोक अनादि अनंत है। काल की अपेक्षा से यह लोक कभी नहीं था, कभी नहीं रहेगा ऐसी बात नहीं है, लोक था ही और रहेगा। काल-कृतलोक ध्रुव, नियत-शाश्वत अक्षत अक्षय अव्यय और नित्य है। यह भाव लोक अनंत वर्ण पर्याय, अनंत गंध रस और स्पर्श पर्याय रूप हैं। अनंत संस्थान पर्याय, अनंत गुरु लघु पर्याय और अनंत अगुरु लघु पर्याय रूप है।

इस प्रकार द्रव्य लोक और क्षेत्रलोक सान्त है काललोक और भावलोक अनंत हैं[१]।

तीसरा प्रश्न लोक के स्वामित्व से सम्बन्धित है। उसके उत्तर तीन रूप में दिये गये हैं। पहला उत्तर है लोक आत्म, भाव में स्थित है, उसका कोई स्वामी नहीं है; क्योंकि चतुर्दश रज्ज्वात्मक इस विराट् लोक का कोई एक अलग स्वामी नहीं हो सकता। अपने तत्व का नियंता स्वयं है। दूसरा उत्तर है लोक का स्वामी आत्मा है, क्योंकि वही एक तत्त्व ऐसा है जो चेतना सम्पन्न है और वही स्वामित्व प्राप्त कर सकता है। अतः स्वामित्व की अपेक्षा से जीवों का यह लोक है।

निवृत्ति अर्थात् रचना की अपेक्षा से यह लोक जड़ और चैतन्य दोनों का है, क्योंकि दोनों के द्वारा ही यह लोक व्यवस्था है।

स्थिति की अपेक्षा लोक अनादि अनंत है और भाव की अपेक्षा यह लोक पारिणामिक भाव में स्थित है। वस्तु का अनौपाधिक शुद्धभाव पारिणामिक है। द्रव्य मात्र निज भाव में लीन है। अन्तिम पद में अर्हतर्षि लोक शब्द की व्याख्या देते हैं। लुक्यतेति लोकः अर्थात् जो आलोकित होता है देखा जाता है वही लोक है।

टीका :—पार्श्वीयाध्ययनस्य पृच्छा इह योज्यन्ते व्याकरणैः। कोऽयं लोकः? जीवाश्चैवाजीवाश्चैवेति लोकः। कति-विधो लोकः? चतुर्विधो लोकः? व्याख्यातस्तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः। कस्य वा लोकः? आत्मभावात्मना

---

१ स्कंदन प्रश्न "भगवतीसूत्र प्रथम शतक उद्देशक १०"।

भवति लोक इति योज्यं। स्वाम्यमुद्दिश्य जीवानां लोको निर्वृत्तिं निष्पत्तिमुद्दिश्य जीवानां चाजीवानां च। को वा लोकभावः? अनादिकोऽनिधनः पारिणामिको लोकभावः। केन वार्थेन लोक इति प्रोच्यते? लोकतीति लोकः। गतार्थः।

(७) जीवाण पुग्गलाण य गतीति आहिता। (६) जीवाणं चेव पुग्गलाणं चेव गती। दव्वतो गती, खेत्तओ गती, कालओ गती, भावओ गती (८) अणा दीए अणिहणे गति भावे (९) गमंतीति गति। उद्धगामी जीवा अहगामी[1] पोग्गला, कम्मप्पभवा जीवा, परिणाम प्पभवा पोग्गला। कम्मं पप्प फल विवाको जीवाणं। परिणामं पप्पफल विवाको पुग्गलाणं।

अर्थ :—जीव और पुद्गलों की गति बताई गई है। जीव और पुद्गलों की गति के चार प्रकार हैं-द्रव्य से गति, क्षेत्र से गति, काल से गति और भाव से गति। गति भाव अनादि और अनंत है। जाया जाता है उसका नाम गति है। जीव ऊर्ध्वगामी होते हैं और पुद्गल अधोगामी होते हैं। जीवों की गति कर्म-प्रभावित है और पुद्गलों की गति परिणाम-प्रभावित है। जीवों की गति कर्म फल के विपाक से होती है जब पुद्गलों की गति परिणाम के फल विपाक से होती है।

गुजराती भाषान्तर :—

જીવ અને પુદ્દગલોની ગતિ જણાવી દિધી છે. જીવોની અને પુદ્દગલોની ગતિના ચાર ભેદ છે. દ્રવ્યથી ગતિ, ક્ષેત્રથી ગતિ, કાલથી ગતિ અને ભાવથી ગતિ. આ ગતિભાવ આદિરહિત તેમજ અંતરહિત છે. જે પસાર થઈ જાય છે તેનું નામ ગતિ છે. જીવ ઉર્ધ્વગામી (નિસર્ગતઃ ઉપર જવાને ટેવાયેલા) છે, અને પુદ્દગલો અધોગામી (નીચે જવાને ટેવાયેલા) છે. જીવોની ગતિ પોતપોતાના કર્મોના પ્રભાવથી પ્રાપ્ત થાય છે અને પુદ્દગલોની ગતિ પરિણામથી પ્રભાવિત થાય છે. જીવોની મતિ કર્મફલના પરિણામથી થાય છે જ્યારે પુદ્દગલોની ગતિ પરિણામના ફલવિપાકથી થાય છે.

गतिसम्बन्ध में किये गये प्रश्नों का यहां समाधान दिया गया है। षड्द्रव्यों में गतिधर्मी केवल दो ही द्रव्य हैं, जीव और पुद्गल। गति चार प्रकार से होती है-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। गतिभाव अनादि अपर्यवसित है। क्योंकि जीव और पुद्गल अनादि हैं और वे गतिशील हैं। जीव और पुद्गलों का आकाश प्रदेशों से दूसरे आकाश प्रदेशों में जाना ही गति है। जीव ऊर्ध्वगामी हैं। पुद्गल अधोगामी हैं। 'ऊर्ध्वगतिधर्माणो जीवाः, अधोगतिधर्माणो पुद्गलाश्च'। जीवों की ऊर्ध्व अधः और तिर्यंच गति कर्म-जन्य है। जब कि पुद्गलों की गति परिणाम-प्रभावित है।

टीका :—**का गतिः? जीवानां च पुद्गलानां च गतिः? द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः। व्याकरणस्य तु पाठान्तरं यथा जीवाश्चैव गमनपरिणता पुद्गलाश्चैव गमनपरिणता इति। कस्य वा गतिः?। जीवानां च पुद्गलानां च गतिरित्याख्याता।**

अर्थ :—गति क्या है? जीव और पुद्गलों की गति है। वह द्रव्यक्षेत्र काल और भाव रूप से चार प्रकार की है। इस गति व्याकरण अर्थात् गति का से सम्बन्धित विवेचन का दूसरा पाठ मिलता है उसके अनुसार पुद्गल और जीव ही गति परिणत हैं। किसकी गति है इसके उत्तर में कहा गया है जीव और पुद्गलों की गति होती है।

णेव इमा पया कयाइ अव्वाबाहसुहमेसिया कसं कसाविता। जीवा दुविहं वेदणं वेदेंति पाणातिवातविरमणेणं जाव मिच्छादंसणविरमणेणं किन्तु जीवा सातणं वेदणं वेदेंति। जस्सट्ठाए विहेति, समुच्छिजिस्सति[2] अट्ठा समुच्छिट्ठिस्सति णिट्ठितकरणिज्जे संते संसारभग्गा[3] भडाई[4] णियंठे णिरुद्धपवंचे वोच्छिण्णसंसारे, वोच्छिण्णसंसारवेदणिज्जे पहीणसंसारे, पहीणसंसारवेयणिज्जे णो पुणरवि इच्छत्थं[5] हव्वभागच्छति।

अर्थ :—कोई भी आत्मा कष अर्थात् कषाय अथवा हिंसा को करके अव्याबाध सुख प्राप्त नहीं कर सकता। जीव दो प्रकार की वेदना, अनुभव करते हैं। (एक सुख रूप वेदना दूसरी दुःखरूप वेदना) किन्तु प्राणातिपात से विरक्ति यावत् मिथ्यादर्शन सल्य से विरक्ति पाकर आत्मा सातवेदनीय का अनुभव करता है। किन्तु प्राणातिपात आदि के द्वारा वह आत्मा जिससे भयभीत होता है वही उत्पन्न होता है। अर्थ रूप से वहां ठहरेगा। किन्तु जिसने अपने कार्य निश्चित कर लिये हैं ऐसा अचित्तभोगी निर्ग्रन्थ प्रपंच को रोक देता है। संसार का छेदन करके संसार की वेदना को विनष्ट करके संसार. रहित और संसार की वेदना रहित हो वह लौकिक वृत्ति में (संसार में) पुनः नहीं आता है।

---

१ अहगामी. २ समतितिथिजिस्सति, समतिधिच्छिट्टस्सति। सम्मत्तिच्छिट्ठास्सति। ३ संति संसारभग्गा। ४ अमाइ। ५ इत्थत्थं।

गुजराती भाषान्तर :—

કયો પણ આત્મા કષ એટલે કષાય એટલે હિંસા કરીને અખંડિત સુખ મેળવી નહીં શકે. જીવો બે તરહની વેદનાને અનુભવે છે. (એક છે સુખરૂપી વેદના અને બીજી છે દુઃખરૂપી વેદના) પ્રાણાતિપાતાદિ વિરક્તિસુધી અઢાર મિથ્યાદર્શન સલ્યથી વૈરાગ્ય પ્રાપ્ત કરી આત્મા સાતવેદનીય (સાચા સુખનો અનુભવ) મેળવી શકે છે. પરંતુ પ્રાણાતિપાત ઈત્યાદિ જેનાથી આ આત્મા ગભરાયેલો છે ત્યાંજ જન્મ પામે છે. અર્થરૂપથી ત્યાં રહેશે. પણ જે આત્માએ પોતાનું કામ નક્કી કરી રાખ્યું છે એવો અચિત્ત ભોગ ભોગનાર નિર્ગ્રંથ પ્રપંચને અટકાવી શકે છે. સંસારનો છેદન કરી સાંસારિક વેદનાનો વિનાશ કરી શકે છે તેમજ સંસારરહિત અને સંસારના તાપરહિત બની લૌકિક વૃત્તિ- (એટલે આ સંસારરૂપી જંજાળ) માં ફરી આવશે નહીં.

अर्हतर्षि गति का निरूपण करते हुए सौपाधिक गति को कारण बता रहे हैं । मुक्त आत्मा की लोकान्त तक की ऊर्ध्व गति ही निरुपाधिक है शेष सभी गतियां सोपाधिक हैं । उसका कारण है कष-हिंसा ! जब तक कष की आय रूप कषाय मौजूद है । तब तक आत्मा की सौपाधिक गति बन्द नहीं हो सकती । नारक और तिर्यंच आदि में परिभ्रमण करते रहना होगा । यह परिभ्रमण स्वयंवेदना है । सांसारिक आत्मा की वेदनानुभूति दो रूप में होती है–कभी वह सुखरूप होती है कभी दुःखरूप । किन्तु जब आत्मा प्राणातिपातादि अठारह अशुभ वृत्तियों से विरत होता है तो सुखानुभूति करता है । उसके अभाव में उसे अनिच्छित स्थानों में भी उत्पन्न होना पड़ता है और वेदना का अनुभव करना पड़ता है ।

जिस साधक ने अपना लक्ष्य पहचाना है और अपने लक्ष्य की ओर दृढ़ता के साथ कदम बढ़ा रहा है वह संसार और उसकी वेदना से मुक्त हो निज स्थिति में पहुंच सकता है । उसकी गति निरुपाधिक होती है ।

टीका :—उत्तरगामिणामपि सूत्राणां स द्वितीय पाठ इति वक्ष्यते। ऊर्ध्वगामिनो जीवाः अधोगामिनः पुद्गलाः। कर्म-प्रभवा जीवाः, परिणामप्रभवाः पुद्गलाः । कर्म प्राप्य फलविपाको जीवानां परिणामं प्राप्य पुद्गलानां । द्वितीयपाठस्तु पाप-कर्मकृतो जीवानां परिणामः स एव पुद्गलानामिति।

न कदाचिदियं प्रजा मनुष्यादिकाव्याबाधसुखमनुपरुद्धं सुखं एषेत । कशां कशयित्वा–हिंसा कृत्वा। द्वितीयपाठस्तु यथा–न कदाचित् प्रजा प्राकार्षीददुःखमिति । जीवा द्विविधां वेदनां वेदयन्ति अनुभवन्ति । तद्यथा-प्राणातिपातेन यावत् मिथ्यादर्शनेन। विरमणपदं त्विह न युज्यते । अस्येदृश्यमानत्वादवृद्धलेखकदोषेण विस्मृतानि कानिचित् सूत्राणीत्यनुमीयते । पूरितं त्विदं छिद्रम् । पुस्तकेन यथा एवं यावत् मिथ्यादर्शनशल्येन कृत्वा जीवाः शातनां वेदनां वेदयन्ति । प्राणातिपातविरमणेन तु यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य-विरमणेन कृत्वा जीवा अशातनां वेदनां वेदयन्ति । एतेनैव प्रकारेण द्वितीयपाठेन पूरितं छिद्रं यथा–आत्मकृतो जीवा भवन्ति, कृत्वा कृत्वा यद् यद् कृतवन्तस्तद् तद् वेदयन्ति । तद् यथा-प्राणातिपाते यावत्परिग्रहेणेति ।

अर्थात् पूर्व सूत्रों की भांति आगे के सूत्रों में भी पाठान्तर है । जीव ऊर्ध्व गतिशील हैं, पुद्गल अधोगामी हैं । जीवों की गति कर्म-जन्य है, जबकि पुद्गलों की गति परिणामजन्य है । जीवों की गति कर्म फल के विपाक को लेकर होती है और पुद्गल की गति परिणामविपाक को लेकर । दूसरे पाठ के अनुसार पापकर्म-कृत जीवों के परिणाम से गति होती है और वही परिणाम पुद्गल की गति के लिये निमित्त होता है ।

यह मनुष्यादि प्रजा हिंसा करके कभी बाधारहित सुख नहीं पा सकती । दूसरे पाठ के अनुसार यह प्रजा कभी भी दुःखमुक्त नहीं होगी । आत्मा दो प्रकार की वेदना का अनुभव करते हैं । जैसे कि प्राणातिपात यावत्, मिथ्यादर्शन शल्य से । "विरमण"पद यहां आया है वह अनुपयुक्त है । इसके यहां होने से ऐसा लगता है वृद्ध लेखक स्मृति दोष के कारण कुछ सूत्र भूल गये हैं । दूसरे नंबर की पुस्तक ने इस कमी को पूरी करने की कोशिश की है । जैसे कि इस प्रकार मिथ्या-दर्शन शल्य के द्वारा क्रिया करके जीव सातवेदनीय का अनुभव करते हैं । प्राणातिपात विरक्ति यावत् मिथ्यादर्शन शल्य विरति से क्रिया करके जीव असात-वेदनीय का अनुभव करते हैं (?) इसी प्रकार द्वितीय पाठ से भी छिद्र को पूरा गया है । जैसे कि आत्मा स्वकृत कर्मों को भोगते हैं । जो जो वे करते हैं उसको भोगते हैं–जैसे कि प्राणातिपात यावत् परिग्रह से ।

टिप्पणी :—प्रस्तुत अध्याय में अनेक पाठान्तर हैं । मूलसूत्र में दो पाठ मिलते हैं, जबकि टीकाकार अन्य पाठान्तर भी उपस्थित करते हैं । साथ ही प्रस्तुत सूत्र की एक कमी को और भी वे इंगित करते हैं कि जहां जीव को दो प्रकार की वेदना बताई गई है । उसके कारणरूप प्राणातिपात विरमण यावत् मिथ्यादर्शन शल्य विरमण दिया गया है । टीकाकार की

दृष्टि में विरमण शब्द यहां अनुपयुक्त है। और उस शब्द की यहां उपस्थिति बताती है कि कुछ पाठ छूट गये हैं और वे बताते हैं उसकी पूर्ति दूसरी पुस्तक में की गई है। किन्तु उस पुस्तक के पाठ की टीका जो यहां दी गई है वह कुछ भ्रम उत्पन्न करती है। क्योंकि वहां बताया गया है प्राणातिपात आदि के द्वारा गति करके जीव सातवेदनीय का अनुभव करता है और उससे विरमण अर्थात् विरति के द्वारा असातवेदनीय का अनुभव करता है। यह तो सिद्धान्त के विपरीत जाता है। क्योंकि प्राणातिपात आदि के द्वारा आत्मा असातवेदनीय का अनुबन्ध करता है। और उससे विपरीत के द्वारा सातवेदनीय का अनुभव करता है। टीकाकार ने कौनसा आशय लिया है वह समझा नहीं जा सकता। हां; यह हो सकता है, आत्मा जब प्राणातिपात आदि क्रिया करता है उस समय सुख का अनुभव करता है अथवा टीकाकार शातनवेदनीय का दूसरा अर्थ करते हों यह भी संभव है। आगे चलकर टीकाकार लिखते हैं शातनां नाशनां वेदनां वेदयन्ति अर्थात् शातना नष्ट होनेवाली वेदना को अनुभव करते हैं। यहां शातन अशातन से सुख दुःखानुभूति न लेकर नश्वर और अनश्वर अनुभूति लिया जाय तब तो अर्थ ठीक हो सकता है।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं पार्श्व के वचनों के सम्बन्ध में वहां केवल प्रश्न है। उनके उत्तर के एकीकरण में मुद्रालेख तैयार करते हैं। गति के सम्बन्ध में छट्ठा प्रश्न जो कि सबसे भिन्न है उसे संक्षिप्त किया गया है। छट्ठे प्रश्न के उत्तर के स्थान पर सातवें प्रश्न का उत्तर आ जाता है।

आगे की पंक्तियां कुछ स्पष्टीकरण देती हैं। दुनिया के पीछे की स्थिति पर अवलंबित (परिणाम) १-५ तक के उत्तरों में आत्मा और अनात्मा का दहुरे रूप में विश्लेषण किया गया है। धर्म उपदेश में प्रान्तीय भाषा के अनुसार पुनः पुनः निर्देश किया गया है। और वे अपनी प्रणालिका के अनुसार उसका पुनः पुनः समर्थन करते हैं और उस स्पष्टीकरण को जीवन की स्टेज के साथ जोड़ते हैं।

गति के मूल अर्थ में वाक्य का अक्षरशः अर्थ निजगुणों के द्वारा आत्मा को ऊर्ध्वगामी सिद्ध करता है। क्योंकि और उससे ऊर्ध्वगति बताई जाती है। उसके सामने अजीवकाया के गुण आत्मा से भिन्न है। अतः उसे अधोगामिन् कहा गया है। मानव देव आदि गति के भेद दीर्घ दृष्टि सूचित करते हैं। जोकि व्यक्ति पर होनेवाली कर्म की अच्छी या बुरी असर को लक्ष्य करके कहा गया है।

पृथ्वी पर का मानव कभी अबाधित सुख प्राप्त नहीं कर सकता। उसे स्वैर विहार की छुट्टी दे दी गई है। "कसं कसइत्ता" (आचारांग १५) उसे हानिकारक बताता है। कुछ रूप व्याकरण सम्मत नहीं होने पर भी इसमें रखे गये हैं। कहीं कहीं विरोधाभास भी है जैसे कि मनुष्य दुःख के सिवाय सब उत्पन्न कर सकता है। (प्रकार्षित[1])।

गति वागरणगंथाओ पभिति समाणितं इमं अज्झयणं ताव इमो बीओ पाठो दिस्सति, तंजहा जीवागमणपरिणता, पोग्गला चेव गमणपरिणता।

अर्थ :—गतिव्याकरण ग्रंथ आदि से यह अध्ययन लिया गया है। वहां द्वितीय पाठ भी देखा जाता है। जैसे कि जीव गतिशील है और पुद्गल भी गतिशील।

गुजराती भाषान्तर :—

ગતિનિરૂપક ગ્રંથ આદિથી આ અધ્યયન લઇ લીધું છે. ત્યાં બીજો પાઠ પણ જોવામાં આવે છે. જેમ કે જીવ પણ ગતિશીલ છે અને પુદ્‌ગલ પણ ગતિશીલ છે.

ऋषिभाषित सूत्रकार बोलते हैं कि प्रस्तुत अध्ययन गतिनिरूपक के ग्रन्थ से लिया गया है। वहां दूसरा पाठ भी दिखाई देता है। इससे यह फलित होता है कि पार्श्वीय अध्ययन पार्श्व अर्हतर्षि का न होकर किसी दूसरे का है। किन्तु पार्श्व अर्हतर्षि के मुंह से कहलाया गया है। इससे दूसरा तथ्य सामने आता है। ऋषिभाषित सूत्र ऋषियों के द्वारा कहलाया गया है, पर इसका संकलन कर्ता कोई दूसरा है। वह कौन है, कब हुए, कहां हुए आदि सभी विषय इतिहास के गर्भ में है। उनका समाधान पाने के लिये बहुत बड़ी शोध की आवश्यकता है।

दुविधा गती पयोगगती य वीससागती य। जीवाणं चेव, पोग्गलाणं चेव। उदइय, पारिणामिए गतिभावे। गम्ममाणा इति गति। उड्ढंगामी जीवा अधगामी पोग्गला। पावकम्मकडेणं जीवाणं परिणामे, पावकम्मकडेणं पुग्गलाणं। णकयातिपया अदुक्खं पकासी ति। अत्तकडा जीवा

---

१ इसिभासियाइं जर्मन संस्करण पृ० ५६७-५६८.

किच्चा किच्चा वेदेंति। तं जहा पाणातिवातेणं जाव परिग्गहेणं। एस खलु असंवुद्धे असंवुडकम्मंते चाउज्जामे नियंठे अट्ठविहं कम्मगंठि पगरेति। से य चउहिं ठाणेहिं विवागमागच्छति। तं जहा-णेरइएहि तिरिक्खजोणीहिं, माणुस्सेहिं, देवेहिं।

अर्थ :—गति के दो प्रकार हैं। प्रयोगगति और विस्रसागति, जोकि जीव और पुद्गल दोनों की होती है। औदयिक और पारिणामिक रूप गतिभाव में गति होती है उसे गति कहते हैं। जीव ऊर्ध्वगामी होते हैं जब कि पुद्गल अधोगामी होते हैं। पाप कर्म करनेवाले जीवों के परिणाम में जीवों की और पाप कर्म वृत्त आत्मा पुद्गलों की गति में भी प्रेरक होता है। यह प्रजा कभी भी अदुःख अवस्था को प्राप्त नहीं करेगी। आत्मा स्वाधीन अवस्था में कर्मों को करके स्वकृत कर्मों को भोगता है। जैसे कि प्राणातिपात, यावत् परिग्रह से। वह असंबुद्ध असंवृत कर्मान्त तथा चातुर्याम से रहित अष्टविध कर्मग्रन्थि को बांधता है। वही कर्म चार प्रकार से विपाक रूप प्राप्त करता है। जैसे कि नरक के द्वारा तिर्यंच योनियों के द्वारा मनुष्यों के द्वारा और देवों के द्वारा।

गुजराती भाषान्तर :—

ગતિના બે ભેદ છે. એક પ્રયોગગતિ અને બીજી વિસ્રસાગતિ, જે જીવ અને પુદ્‌ગલ બંનેની હોય છે, ઔદાયિક અને પારિણામિકરૂપને ગતિભાવમાં ગતિ હોય છે તેને જ ગતિ કહેવાય છે. જીવ ઉર્ધ્વગામી હોય છે અને પુદ્‌ગલ અધોગામી હોય છે. પાપ કર્મો કરવાવાળા જીવોના પરિણામમાં જીવોની ગતિમાં અને પાપકર્મ કરનાર આત્મા પુદ્‌ગલોની ગતિમાં પણ પ્રેરક બને છે. આવી પ્રજા કદી પણ દુઃખરહિત અવસ્થાને પામી શક્તી નથી. આત્મા સ્વાધીન અવસ્થામાં કર્મો કરે છે અને પછી તે કર્મોના શુભાશુભ પરિણામને ભોગે છે. જેમ કે પ્રાણાતિપાતથી પરિગ્રહસુધી. તે અસંબુદ્ધ, અસંવૃત કર્માંત તેમજ ચાતુર્યામરહિત ચાર તરહના કર્મગ્રંથિઓને બાંધે છે. નરકદ્વારા, તિર્યંચયોનિદ્વારા, મનુષ્યદ્વારા અને દેવોદ્વારા એમ ચાર તરહથી વિપાકરૂપ કર્મ પ્રાપ્ત કરે છે.

गति के दो प्रकार हैं। प्रायोगिक गति और विस्रसागति। दूसरे के द्वारा आत्मा और पुद्गल गति करते हैं वह प्रायोगिकगति है। जब ये अन्य द्रव्य की प्रेरणा के बिना ही स्वयं ही गति परिणत होते हैं तब वह गति विस्रसा अर्थात् स्वाभाविकगति कहलाती है।

कर्म बद्ध आत्मा जो भी गति करता है वह प्रायोगिक गति है, क्योंकि उसमें कर्म की प्रेरणा रहती है। मुक्तात्मा की गति वैस्रसिक है, क्योंकि कर्म से मुक्त होकर आत्मा जब ऊर्ध्व गति, करता है उसमें किसी की भी प्रेरणा नहीं होती। कर्मबद्ध आत्मा की गति औदयिक होती है। क्योंकि कर्मोदय के कारण ही उसे चतुर्गति में भटकना पड़ता है। पाप कर्मशील आत्मा गति करता है और वह स्वयं पुद्गलों को गति के लिये प्रेरित करता है। जीव स्वकृत कर्मों को ही भोगता है। भगवती-सूत्र में भी महान संत गौतम प्रभु महावीर से प्रश्न करते हैं—प्रभो! आत्मा स्वकृत कर्म भोगता है, परकृत भोगता है या तदुभयकृत। उत्तर में सर्वज्ञ भ० महावीर बोले—यह आत्मा स्वकृत कर्मों को ही भोगता है, परकृत या तदुभयकृत नहीं[1]।

आचार्य अमितगति भी बोलते हैं:—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।

— प्रार्थनापंचविंशति

आत्मा पूर्वबद्ध कृतकर्मों के ही शुभाशुभ फल को प्राप्त करता है। यदि वह परकृत कर्मों को भोगता है तो स्वकृत कर्म निरर्थक हो जायेगा। इतना ही नहीं अपना नियामक वह स्वयं न रहेगा। अपने सुख दुःख के लिये वह स्वयं उत्तरदायी न रहेगा। सुख के लिये उसे दूसरे से भीख मांगनी होगी, यह कितनी बड़ी गुलामी होगी।

आत्मा जो भी शुभाशुभ कर्म करता है वह नरकादि चार गति के रूप में भोगता है।

टीका:—**केचित्तु पठन्ति द्विविधा गतिस्तद्यथा-प्रयोगगतिः स्वेच्छया गतिः विस्रसागतिस्तद्विपरीता जीवानां च पुद्गलानां चेति। को वा गतिभावः अनादिकोऽनिधनो गतिभावः। पाठान्तरं तु यथौदयिकपारिणामिको गतिभाव इति।**

१ (प्र०) जीवाणं भन्ते! अत्तकडं दुक्खं वेदयंति, परकडं दुक्खं वेदयंति, तदुभयकडं दुक्खं वेदयन्ति (उ०) गोयमा जीवा अत्तकडं दुक्खं वेदयंति, णो परकडं णो तदुभयकडं दुक्खं वेदयंति।

भगवती सूत्र—

केन वार्थेन गतिरिति ? प्रोच्यते गम्यत इति गतिः । अन्ये तु गम्यमाना इति गतिरिति पठन्ति । इमानि चत्वारि पाठान्तराण्यस्याध्ययनस्यान्ते गतिव्याकरणग्रन्थात् प्रभृति सामितं ति यावदयं द्वितीयपाठो दृश्यते इति प्रवेशितानि । स एव द्वितीयः पाठोऽनुबध्यते यथैष खल्वसंबुद्धोऽसंवृतकर्मान्तः स चतुर्यामिको निर्ग्रन्थोऽष्टविधं कर्मग्रन्थिं प्रकरोति, स च चतुर्षु स्थानेषु विपाकमागच्छति तद् यथा नैर्यकेषु तिर्यक्षु मनुजेषु, देवेषु । गतार्थः ।

विशेष टीकाकार ने विविध पाठान्तर के साथ प्रस्तुत प्रकरण को स्पष्ट किया है ।

अत्तकडा जीवा नो परकडा किच्चा किच्चा वेदेंति । तं जहा पाणातिवातवेरमेणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं । एस खलु संवुडे कम्मंते चाउज्जामे नियंठे अट्ठविहं कम्मगठिं नो पकरेति । से य चउहिं ठाणेहिं णो विपाकमागच्छति । तं जहा णेरइएहिं निरिक्खजोणिहिं माणुस्सएहिं देवेहिं ।

अर्थः—जीव स्वाधीन रूप से स्वकृत शुभाशुभ कर्मों को करके उसका प्रतिफल वेदन करते हैं । किन्तु परकृत कर्मों का वेदन नहीं करते । प्राणातिपात विरक्ति यावत् परिग्रह विरक्ति के द्वारा यह संवृत, कर्मों का अन्त करनेवाला चातुर्याम धर्म का आराधक निर्ग्रन्थ अष्टविध कर्म ग्रन्थि को बांधता नहीं है और वह कर्म चार रूप में विपाक को भी प्राप्त नहीं करता जैसे कि नारकों के द्वारा तिर्यंचों के द्वारा मनुष्यों के द्वारा और देवों के द्वारा ।

गुजराती भाषान्तर :—

જીવ સ્વાધીનરૂપથી પોતે (શુભાશુભ) કર્મો કરે છે ને તેનો પરિણામ પણ ભોગે છે. પણ બીજાએ કરેલ કર્મોનો ભોગ કરતો નથી. પ્રાણાતિપાત વિરક્તિયાવત્ પરિગ્રહ વિરક્તિથી જ આ સંવૃત કર્મોનો અંત કરનાર ચાતુર્યામ ધર્મનો આરાધક, નિર્ગ્રંથ, આઠ તરહની કર્મગ્રંથિને બાંધતો નથી, અને તે કર્મ ચારરૂપમાં વિપાકને પણ પામે નહીં, જેમ કે નારક કે તિર્યંચો કે મનુષ્ય કે દેવોદ્વારા.

पूर्वसूत्र में असंवृत साधक का रूप बताया गया था । जिस साधक ने कपड़े त्यागे हैं किन्तु वासना नहीं त्यागी वह अपनी वृत्तियों को काबू में नहीं ला सकता और वह सही रूप में व्रतों की मर्यादा में भी नहीं रह सकता, परिणामतः कर्मों का अन्त करके आत्मा की शुद्धि स्थिति को भी नहीं पा सकता । उसे पुनः पुनः नारकादि रूप ग्रहण करने होंगे ।

प्रस्तुत सूत्र में उसका विरोधी चित्र है । जो साधक रूप और राग दोनों का त्यागी है जिसने वस्त्रों की भांति वासना भी त्याग दी है वह अपनी इन्द्रियों पर और मन पर विजय पा सकता है । कर्मों का अन्त कर आत्मा के निज घर में पहुंच सकता है उसे फिर नारकादि रूप धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती ।

टीका :—आत्मकृतजीवा न परकृताः कृत्वा कृत्वा वेदयन्ति, तद् यथा प्राणातिपातविरमणेन यावत् परिग्रहविरमणेन । एष खलु संबद्धाः संवृतकर्मान्तश्चातुर्यामिको निर्ग्रन्थोऽष्टविधं कर्मग्रन्थिं न प्रकरोति । स च प्रागुक्तेषु चतुर्षु स्थानेषु न विपाकमागच्छति । आदिपाठस्तु मिथ्यादर्शनविरमणेनेति प्रभृत्यनुबध्यते । गतार्थः ।

विशेष प्रस्तुत पाठ मिथ्यादर्शन विरमण से सम्बन्धित है ।

लोए ण कताई णासी, ण कताई ण भवति, ण कताई ण भविस्सति, भुविंच भवति य भविस्साति य धुवे सासए, अक्खए, अव्वए अविट्ठिए णिच्चे कयातिणासी जावणिच्चा एवामेव लोके वि ण कयाति णासी जावणिच्चे ।

अर्थ :—यह लोक कभी नहीं था, ऐसा नहीं है । यह कभी नहीं है ऐसा भी नहीं है । कभी नहीं रहेगा यह भी संभव नहीं है । यह लोक पहले था वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा । क्योंकि यह लोक ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित और नित्य है । जैसे कि पंचास्तिकाय कभी नहीं थे ऐसा नहीं है । यावत् लोक नित्य है । इसी प्रकार लोक भी कभी नहीं था ऐसा नहीं है यावत् नित्य है ।

गुजराती भाषान्तर :—

આ લોક (ભૂતકાલમાં) કદીપણ ન હતો, એવું નહીં આ કદીપણ નથી એમ પણ નહીં અને (ભવિષ્યમાં) પણ રહેશે એવો સંભવ પણ નથી. આ લોક પ્રથમ હતો, આજે છે, અને ભવિષ્યકાળમાં પણ રહેશે; કારણ આ લોક ધ્રુવ (નિત્ય) છે, નિયત છે, શાશ્વત છે, અક્ષય છે, અવ્યય છે, અવસ્થિત છે અને નિત્ય છે. એવીજ રીતે લોક પણ કદી પણ ન હતો એમ નહીં, તે હમેશા નિત્ય છે.

प्रस्तुत पाठ में लोक की शाश्वतता बताई गई है। यद्यपि पर्याय की अपेक्षा से तो लोक प्रतिक्षण विनष्ट भी हो रहा है और नया उत्पन्न भी हो रहा है। किन्तु यहां द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से लोकवक्तव्यता कही गई है। अनंत अनंत काल पूर्व भी लोक लोकभाव में विद्यमान था। वर्तमान में भी उपस्थित है और अनंत अनंत युग बीत जाने पर भी लोक विद्यमान रहेगा।

लोक पंचास्तिकायात्मक है। धर्माधर्म आकाश पुद्गल और जीव के अतिरिक्त कोई लोक नहीं है। पंचास्तिकाय नित्य है तो लोक भी नित्य है।

टीका:—यथा किन्तु जीवाः शातनां नाशनां वेदनां वेदयन्ति। यो यद् अर्थं यद्वस्तुनो बिभेति तत् तेन समुच्छेत्स्यते अर्थात् स एव समुत्थास्यति निष्ठितकरणीयः। मडाइत्ति मृतादी प्राशुकभोजी, उपलक्षणत्वादेणीयादी त्ति व्याख्या प्रज्ञप्तिवृत्त्यनुसारेण व्याख्येयम्[1]। गतार्थः।

स्पर्शुकेति स्थाने तु प्राशुकेत्ययुक्तं प्रवदन्ति वृत्तिकारानुयायिनः। मृतादिनिर्ग्रन्थो निरुद्धप्रपंचो व्यवच्छिन्नसंसारो व्यवच्छिन्नसंसारवेदनीयः। प्रहीणसंसारः प्रहीणसंसारवेदनीयो संसारमार्गान् न पुनरप्यत्रत्वं समागच्छति पार्श्वीयमध्ययनम्। गतार्थः।

द्वितीयपाठस्तु समाप्यते यथा लोको न कदाचिन्नासीत् न कदाचिन्न भवति, न कदाचिन्न भविष्यति अमुत्रभवति च भविष्यति च ध्रुवो नित्यः शाश्वतोऽक्षमोऽव्ययोऽवस्थितो नित्यो भवति, यथा नाम पंचास्तिकायः न कदाचिन्नासन्न इत्यादि एवमेव लोकोपि। समाप्तं पाठान्तरम्॥ गतार्थः।

विशेष मडाई नियंठे के प्रकरण में स्पर्श के स्थान पर प्राशुक शब्द है किन्तु टीकाकार के अनुयायी उसे अयुक्त समझते हैं।

टिप्पणी:—इस सूत्र के समस्त अध्ययनों की अपेक्षा प्रस्तुत अध्ययन में सर्वाधिक पाठान्तर है। मूलकार की अपेक्षा टीकाकार ने और भी अधिक पाठान्तर दिये हैं। अतः मूलकार और टीकाकार दोनों साथ नहीं चल सके हैं। परिणामतः कहीं कहीं टीका मूल से बहुत दूर जा पड़ी है।

प्रोफेसर शुब्रिंग् टिप्पणी देते हुए लिखते हैं—

प्रस्तुत प्रकरण के प्रारंभ में कुछ भार है। दुहरे इन्द्रियज्ञान के लिये वहां अवकाश है। आध्यात्मिक असर का निश्चित प्रारंभ है। आत्मा स्वयं ही अपने द्वारा सुखादि उत्पन्न करता है। कोई भी बाहरी वस्तु उसे सुख या दुःख देने में असमर्थ हैं। (आत्मकृतः जीवः, न परकृतः)

पंक्ति नं. ४२ के बाद प्राणातिपात शब्द के बाद खोज करने पर ऐसा लगता है कि वहां कुछ रिक्त स्थान है। उसके बाद शीघ्र ही "वेरमण" शब्द आ जाता है। जो कि ठीक नहीं है। दूषित कार्य और उसका त्याग ३६ वीं पंक्ति में दिखाई देता है। किन्तु वह प्रामाणिक किये गये सिद्धान्त के विरुद्ध हैं और प्राणी दुःख का अनुभव करता है। (सतन) ऐसे विरोधाभास से संबंधित है जोकि मूल पाठ में नहीं है।

यदि धारे हुए क्रियापद (समुच्छित्स्यति और समुत्थित्स्यति) ठीक है तो उनका अर्थ यह होगा कि जिससे वह डरता है उनको दूर करेगा। किंतु "तं" शब्द वहां नहीं है। और अपने आपको उच्च स्थिति में लाएगा। यहां हम पंचमी विभक्ति संसार मार्गात् का जोड़ सकते हैं। किन्तु व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र बताता है कि "निट्ठित करणिज्जे मडाई" पाठ उससे पृथक् नहीं कर सकते। टीका के अनुसार मडाई मृतादी है, जोकि मृतक को निर्जीव को खाता है। अपने जीवन के लिये किसी की हिंसा नहीं करता और धर्म क्रिया अनुरूप चलता है। किंतु "मडाई" का "म" हम कहां से खोज सकते हैं यह समझ में नहीं आता। शायद ही हम अम्मड (अम्बड) का अन्त में विचार कर सकें।

"लोए" आदि यहां फिट नहीं बैठता। वह चौथे प्रश्न के उत्तर में ठीक रहता[2]।

एवं से सिद्धे बुद्धे। गतार्थः।

इति एकतीसवां अध्ययन समाप्त

---
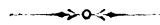
१ मडाई णाम णियण्ठे निरुद्धभवे, निरुद्धभवपवंचे, पहीणसंसारे पहीणसंसारवेयणिज्जे, वोच्छिण्णसंसारे वोच्छिण्णसंसार वेयणिज्जे, णिट्ठिय अटके णिट्ठिय अट्ठ करणिज्जे णो पुणरवि इत्थत्थं हव्यमागच्छति। —विवाहपण्णत्ति -२-१-२.

२ इसिभासियाइं जर्मन प्रति ५ पृ० ५६८

पिंग अर्हतर्षि प्रोक्त

बत्तीसवाँ कृषि–अध्ययन

शरीर और आत्मा अनादि के सहयात्री हैं। शरीर के लिये भोजन आवश्यक है तो आत्मा भी भूखा नहीं रह सकता। उसे भी भोजन तो चाहिये। किन्तु हां, आत्मा का भोजन शरीर के भोजन से भिन्न अवश्य होगा। किसी विचारक ने ठीक कहा है 'शरीर का भोजन अन्न है, तो आत्मा का भोजन अहिंसा है'।

शरीर की खुराक के लिये खेती आवश्यक है तो आत्मा के भोजन के लिये भी खेती चाहिये; किन्तु वह खेती मिट्टी की नहीं मन की होगी।

फिर भी मानव मिट्टी को भूल कर जी नहीं सकता। क्यों कि शरीर की भूख मिट्टी ही मिटा सकती है। उसके लिये जुआर के दाने चाहिये, स्वर्ग के मोती नहीं।

शरीर और आत्मा साथ रह सकते हैं तो अहिंसा और खेती साथ क्यों नहीं रह सकते? जो खेती को एकान्ततः पाप बताते हैं उनके लिये रोटी खाना भी पाप है। खेती यदि महारंभ है तो मांसाहार क्या होगा?

खेती संस्कृति का निर्माण करती है। वह सात्विक अन्न देकर मानव के मन को सात्विकता की ओर मोड़ती है। खेती अकेला व्यक्ति नहीं कर सकता, उसमें दूसरे के सहयोग की आवश्यकता अनिवार्यतः रहती है। इस रूप में वह सहयोग का पाठ भी पढ़ाती है। जिस देश में खेती नहीं है वहां के निवासी मांसाहार की ओर ही बढ़ेंगे। पशुवध के द्वारा प्राप्य मांस मानव मन की सहज कोमलता को छीन लेता है और करुणा के अंकुरों को नष्ट कर डालता है। पशुओं की गर्दन पर प्रतिदिन चलनेवाला छुरा आवेश में मानव की गर्दन काटते हिचकता नहीं है। दूसरी ओर उसमें सहयोग भाव का प्रसार भी नहीं हो सकता। क्योंकि शिकार के लिये दूसरे के लिये दूसरों की आवश्यकता भी कम रहती है।

खेती का विकल्प मांसाहार ही हो सकता है दूसरा नहीं और खेती को पाप (महारंभ) बतानेवाले इस तथ्य से आंख नहीं मूंद सकते। भ० महावीर ने कभी भी खेती को महारंभ नहीं बताया, अन्यथा वे अपने उपासकों को कृषि कर्म के परित्याग की प्रेरणा देते। क्योंकि श्रावकत्व और महारंभ में मूलभूत विरोध है, इसीलिये उन्होंने अपने उपासकों को महारंभ के व्यवसायों के परित्याग की प्रतिज्ञा दिलवाई[1] थी।

फोडीकम्मे (स्फोटि कर्म) के आधार पर खेती को महारंभ कहनेवाले अभी ऊपरी सतह पर ही हैं, क्योंकि हल के द्वारा हल की रेखा स्फोटकर्म है तो सुरंग आदि में होनेवाले धड़ाकों को क्या कहेंगे?। किन्तु कुछ तो पुराने तत्वज्ञ दाल पीसने के धंधे को भी स्फोटकर्म में गिनकर अपनी प्रतिभा का परिचय देते हैं। किन्तु इस यंत्रयुग में बेचारी विधवाओं के दाल पीसने के धंधे को महारंभ कहकर वास्तव में अपनी बुद्धि का प्रदर्शन ही करते हैं।

खेती करना पाप (महारंभ) है तो रोटी खाना भी पाप है। फिर भी हमें इतना विवेक तो रखना होगा कि हम शरीर को खुराक में आत्मा का भोजन न भूल जावें। मानव रोटी दाल का यंत्र न रह जाय। मिट्टी में पलकर भी हमें अमरत्व की ओर बढ़ना है, पृथ्वी पर रहकर भी अपार्थिव से प्रेम करना सीखना है। इसी संकेत पर अर्हतर्षि दिव्य खेती का संदेश देते हैं।

दिव्वं भो किसिं किसेज्जा, णो अप्पिणेज्जा पिंगेण महणापरिव्वायएणं अरहता इसिणा बुइतं।

अर्थ :—हे साधक! तू दिव्य खेती कर उसे छोड़ नहीं। ब्राह्मण परिव्राजक पिंग अर्हतर्षि ऐसा बोले।

गुजराती भाषान्तर :—

સાધક! તું દિવ્ય ખેતી કરવા શરૂ કર્યા પછી કોઈ પણ કારણને લીધે છોડો નહીં. એમ બ્રાહ્મણ પરિવ્રાજક પિંગ અર્હતર્ષિ બોલે.

पिंग अर्हतर्षि के सम्बन्ध में वहां एक परिचय सूत्र मिलता है। वे ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे और बाद में परिव्राजक बने थे। परिव्राजक के रूप में अर्हत्व प्राप्त किया था।

---

१ पन्नरसकम्मादाणाइं जाणियव्वा न समायरियव्वा।—उपासक दशा।

जिसे सत्यदृष्टि प्राप्त हो चुकी है फिर बाह्री वेश उसके विकास में बाधक नहीं हो सकता। जैनधर्म ने एक दिन आघोषित किया था कि कोई भी लिंग या वेश सत्यदृष्टि पाने में बाधक नहीं हो सकता। वह वेश या रूप को नहीं पूछता; वह तो इतना ही पूछता है क्या आपको सत्यदृष्टि मिल चुकी है? फिर किसी भी रूप में रहो तुम साधना के पथ पर हो। सिद्धिप्राप्ति के पन्द्रह मार्गों में अन्यलिंग सिद्ध को स्वीकार कर जैनदर्शन बहुत बड़ी विचार क्रान्ति का परिचय देता है।

स्वयं भगवान् महावीर के युग में बहुत से ऐसे साधक थे जिनका वेश और क्रियाकाण्ड दूसरी संप्रदाय का था, किन्तु अन्तर से प्रभु महावीर के भक्त थे, इसी लिये अन्तर्द्रष्टा भगवान् महावीर ने उन्हें अपनाया ही नहीं श्रावक के रूप में स्थान भी दिया। अबंड परिव्राजक ऐसा ही साधक था जिसने परिव्राजक के रूप में ही भगवान महावीर की उपासना की थी। भगवान महावीर की देशना ने इन्हें काफी प्रभावित किया था, फिर भी वे अपने परंपरागत वेश का मोह छोड़ नहीं सके तो भगवान महावीर ने कहा मुझे मिलने में वेश दीवार नहीं बन सकता।

अर्हतर्षि पिंग भी ब्राह्मण परिव्राजक थे और उन्होंने उसी रूप में सत्यदृष्टि पाई थी, इसीलिये सूत्रकार ने विशेष रूप से इनका परिचय दिया है जोकि जैनदर्शन की विशालता का परिचायक है।

वे ही अर्हतर्षि पिंग दिव्य खेती की प्रेरणा दे रहे हैं। अनंत युग बीते पार्थिव खेती करते, अब जरा आत्मिक खेती की ओर लक्ष्य दे। वह सूनी पड़ी है। एक कण भी उसमें बोया नहीं गया है। छब्बीसवें अध्ययन में मातंग अर्हतर्षि भी इन्हीं शब्दों में दिव्य कृषि का उपदेश देते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें अध्ययन में भी आत्मिक खेती का संकेत मिलता है। श्वपाक कुलोत्पन्न हरिकेशी मुनि ब्राह्मण कुमारों को कहते हैं –

कृषक जिस भावना को लेकर उच्च भूमि में बीज बोते हैं उसी भावना से निम्न भूमि में भी बीज डालते हैं, इसी श्रद्धा से तुम मुझे भी दो और इस पुण्य क्षेत्र की आराधना करो[1]।

टीका – दिव्यां भो कृषिं कृषेत् नार्पयेत्। गतार्थः।

कतो छेत्तं कतो बीयं कतो ते जुगणंगलं।
गोणा वि तेण पस्सामि, अज्जो! का णाम ते किसी? ॥ १ ॥

अर्थ :—तुम्हारा क्षेत्र (खेत) कहां है, तुम्हारे बीज कहां हैं और तुम्हारे युगलांगल कहां हैं? तुम्हारे पास गोवत्स भी दिखाई नहीं देते। फिर आर्य! तुम्हारी खेती क्या है?

गुजराती भाषांतर :—

તમારું ખેતર ક્યાં છે? તમારું બીજ ક્યાં છે? અને તમારો યુગલાંગલ (હંગર) ક્યાં છે? તમારે પાસે તો ગાયનું વાછરડું પણ ક્યાંય દેખાતું નથી. ત્યારે હે આર્ય! તમારી ખેતી કેવી છે?

पिंग अर्हतर्षि ने जब दिव्य खेती निरूपण किया तो कृषक ने प्रश्न किया तुम्हारी खेती क्या है, तुम बोलते हो मैं दिव्य खेती करता हूं, किन्तु खेती के उपयोगी एक भी प्रसाधन तुम्हारे पास दिखाई नहीं देता, न खेत है न बैल, न युगलांगल और न बीज है, फिर तुम कौनसी खेती करते हो?

टीका :—कुतः क्षेत्रं कुतो बीजं कुतस्तव युगलांगले? गा अपि तव न पश्यामि हे आर्य! का नाम तव कृषिरिति प्रश्नः। गतार्थः।

आध्यात्मिक खेती के प्रसाधन बताते हुए अर्हतर्षि बोलते हैं –

आता छेत्तं तवो बीयं संजमो जुगणंगलं।
अहिंसा समिती जोज्जा एसा धम्मंतरा किसी ॥ २ ॥

अर्थ :—आत्मा क्षेत्र है, तप बीज है, और संयम ही युगलांगल है। अहिंसा और समिति जोड़ने लायक (सुन्दर बैल) हैं, यह धर्मान्तर कृषि है।

---

१ थलेसु बीयाइं ववंति कासगा तहेव निन्नेसुय आसयाए। एयाहि सद्धाहि दलाहि मज्झं आराहए पुण्ण मिणं खु खित्तं उत्तरा० अ० १२। गा० १२.

गुजराती भाषान्तर :—

પોતાનો આત્મા જ યુગલાંગલ (લંગર) છે, અહિંસા અને સમિતિ જોડવા લાયક (પુષ્ટ બેલ) છે, અને આ ધર્માંતર જ કૃષિ (ખેતી) છે.

आध्यात्मिक खेती के प्रसाधन भी आध्यात्मिक ही होंगे। भौतिक साधनों से आत्मा की खेती नहीं हो सकती। अर्हतर्षि उसी आत्मिक खेती का निरूपण करते हुए कहते हैं आत्मा ही मेरा क्षेत्र है, तप बीज है, संयम ही युगलांगल रहता है। अहिंसा और पंच समिति खेती के लिये पुष्ट वृषभ हैं, यही मेरी आध्यात्मिक खेती (की सामग्री) है।

साधना का मूल प्राण आत्मा है। आत्मा ही वह तत्व है जिसके आधार पर धर्म का भवन टिक सकता है, आत्मा को स्वीकार नहीं किया जाय फिर कैसा धर्म, किसकी शुद्धि के लिये साधना की जाय !। आत्मा है तो प्रश्न होगा उसका रूप क्या है ? देह के गुणधर्म आत्मा के गुण के धर्मों से निश्चित ही भिन्न हैं। क्योंकि देह से आत्मा भिन्न[1] है। फिर वह शुद्ध बुद्ध आत्मा संसार के कीचड में क्यों फंसा है और वह पुनः शुद्ध स्थिति पा सकता है या नहीं ? यदि पा सकता है तो उसके उपाय क्या हैं ? इन सभी प्रश्नों के समाधान में अध्यात्म फिलासॉफी आई है और वह कहती है आत्मा का शुद्ध स्वरूप भिन्न है, किन्तु वासना के कारण वह संसार के कीचड में लिप्त है। वह शुद्ध स्थिति पा सकता है उसका साधन है तप, संयम, अहिंसा और पंच समितियाँ। यहां रूपक के द्वारा अर्हतर्षि इसी तत्व का प्रतिपादन करना चाहते हैं।

टीका :—आत्मा क्षेत्रं तपो बीजं संयमो युगलांगले। अहिंसा समितिश्च योग्या, एषा धर्मान्तरा धर्म-गर्भा कृषिः। गतार्थः ॥

एसा किसी सोभतरा अलुद्धस्स वियाहिता।
एसा बहुसई होइ परलोकसुहावहा ॥ ३ ॥

अर्थ :—यह खेती शुभतर है, किन्तु निर्लोभ व्यक्ति ही इसे कर सकता है। यह खेती अतिसुन्दर है और परलोक में सुखप्रद है।

गुजराती भाषान्तर :—

આ ખેતી વધારે શુભ (શુદ્ધ) છે, પરંતુ લોભવગરનો માણસ જ આવી ખેતી કરી શકે છે, આ ખેતી આ લોકમાં ઘણી જ સુંદર છે, અને પરલોકમાં પણ સુખ આપનાર છે.

आत्मिक खेती शुभ या शुद्ध है, किन्तु इसे करने के लिये तृष्णाविहीन मन चाहिये। क्योंकि लोभी बहरा है, आत्मा के स्वर नहीं सुन सकता है। एक विचारक ने कहा है – लोभी का मन रेगिस्तान की उस बंजर भूमि जैसा होता है जो तमाम बरसात और जोस को सोख लेती है किन्तु कोई फलद्रुम, जड़ी या बूटी नहीं उगाती। उसके मन के रेगिस्तान में शान्ति की लता ऊग नहीं सकती। ओंस से कुआ नहीं भरता। ऐसे धन से लालची की आंख नहीं भरती। जड़ पैसे में सुख देखनेवाला चैतन्य की लक्ष्मी नहीं पा सकता।

आध्यात्मिक खेती चैतन्य की लक्ष्मी है। उसे संतोषी मन ही पा सकता है। पार्थिव खेती शरीर की भूख मिटाती है जब कि आत्मिक खेती आत्मा की भूख मिटाती है। पहली खेती इस जीवन के लिये सुखप्रद है, तो दूसरी खेती परलोक में हितप्रद है।

अहिंसा की खेती परलोक में अवश्य सुखप्रद होती है इसमें किसी के दो मत नहीं हो सकते। किन्तु इससे यह तात्पर्य निकालना गलत होगा कि अन्न की खेती परलोक में दुःखप्रद होगी। आगम साक्षी है, भगवान् महावीर के उपासक स्वयं खेती करते थे और उनका पारलौकिक जीवन भी उतना ही सुखप्रद था जितना कि इहलौकिक जीवन। खेती का निषेध करने का यह मतलब होगा कि मांसाहार को प्रोत्साहन देना जोकि निश्चयतः दुःखावह है।

टीका :—एषा कृषिः अलुब्धस्य पुरुषस्य शुभतराऽतिशुभा व्याख्याता। एषा बहु-सती अतिसाध्वी परलोके सुखावहा च भवति।

---

१ नलिन्यां च यथा नीरं भिन्नं तिष्ठति सर्वदा। अयमात्मा स्वभावेन देहे तिष्ठति सर्वदा।–परमानंदपंचविंशति २ ईया भाषैणा-दान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः।–तत्वार्थसूत्र अ. ९ सू. ५. ३ शुद्धतरा.

एयं किसिं कसित्ताणं सव्वसत्तद्यावहा।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वा वि य सिज्झति ॥ ४ ॥

अर्थ :—प्राणि मात्र पर दया का झरना बहानेवाली इस खेती को करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी सिद्ध स्थिति को पा सकता है।

गुजराती भाषान्तर :—

હરએક પ્રાણીઉપર દયાનું ઝરણ હમેશા ચાલુ રાખનારી આ ખેતીને કરી બ્રાહ્મણ, ક્ષત્રિય, વૈશ્ય અને શૂદ્ર પણ સિદ્ધપદને પ્રાપ્ત કરી શકે છે.

जिसके मन के कोने में प्राणि मात्र के प्रति दया और प्रेम का झरना फूट पड़ा है। जिसका करुणा निर्झर देश, काल पंथ और संप्रदायों के गड्ढ़ों में कैद नहीं होता, अपि तु मानव मात्र ही नहीं, प्राणिमात्र के लिये मुक्त रूप में बहता है। वही सिद्धि-स्थिति पा सकता है। फिर वह चाहे किसी भी जाति में जन्मा हो, किसी भी पंथ में पला हो जिसने आत्मा के क्षेत्र में करुणा के बीज डाले हैं वह बन्धनातीत है। एक इंग्लिश विचारक भी बोलता है -Paradise is open to all kind hearts. दयालु हृदय के व्यक्ति के लिये स्वर्ग के द्वार सदैव खुले हैं, दया ही एक ऐसा तत्व है जो मानव में मानवता की प्राण प्रतिष्ठा कर सकता है। उसी पर हमें गर्व होना चाहिये।

मानव यदि यह अहंकार करे कि मैं आकाश में उड़ सकता हूं किन्तु आकाश में उड़ना कोई चमत्कार नहीं है। एक गन्दी मक्खी भी आकाश में उड़ सकती है। यदि वह अहंकार करे कि मैं विशाल काय महासागरों को पार कर सकता हूं; यह भी उसका मिथ्या अहंकार है, क्योंकि एक मछली भी पानी में तर सकती है,। किन्तु यदि वह बोलता है मेरे दिल में दया का झरना बह रहा है तो सचमुच वह उसके गौरव की वस्तु होगी।

जिसके दिल में दया है वही दिल का अमीर भी है। उसका हृदय सदैव प्रसन्नता से भरा रहता है। एक विचारक बोलता है-

A kind heart is a fountain of gladness, making everything in its vicinity freshness into smiles.-। इर्विंग्-

दयाल हृदय प्रसन्नता का फौव्वारा है जोकि अपने पास की प्रत्येक वस्तु को मुस्कानों में भरकर ताजा बना देता है।

वास्तव में आज हम एक दूसरे के इतने निकट हैं एक दूसरे के प्रति विश्वास और निष्ठा है वह सब दया की देन है, क्योंकि दया वह सुनहरी चेन (जंजीर) है जो समाज को संगठित रखती है।

Kindness is the golden chain by which society is bound together.

वास्तव में जिसके हृदय में दया का झरना वह रहा है स्वर्गीय आनंद उसके हृदय में नृत्य करता है।

टीका :—एतां कृषिं कृष्ट्वा सर्वसत्वदयावहां। ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रोऽपि वा सिध्यति। पिंगाध्ययनम् षड्विंशस्य द्वितीयपाठ। गतार्थः।

प्रस्तुत अध्ययन में छब्बीसवें अध्ययन के द्वितीय पाठ के समान है।

एवं से सिद्धे बुद्धे० ॥ गतार्थः।
इति पिंगअर्हतर्षिप्रोक्त बत्तीसवां अध्ययन।

महासाल पुत्र अरुण अर्हतर्षि प्रोक्त

तेंतीसवां अध्ययन

मानव के पास दो शक्तियां हैं-एक जीभ और दूसरा जीवन। जीभ तो यद्यपि पशु को भी मिली है किन्तु पशुओं की जीभ उनके भावों को स्पष्टतः अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। जबकि मानव को कुदरत की यह देन है कि वह अपने विचारों को वाणी के द्वारा अभिव्यक्त कर सकता है। देखना यह है वाणी का वरदान पाकर मानव उसका उपयोग किस ढंग से करता है। वाणी के द्वारा हम दूसरों के हृदय के घावों को भर सकते हैं और उसके जीभ के द्वारा दूसरे के दिल में घाव भी कर सकते हैं। किन्तु यह भूलना न होगा कि जीभ के द्वारा किया गया जख्म तलवार से भी गहरा होता है। महान् विचारक पाइथेगोरस ने कहा है- A wound from a tongue is worse than a wound from a sword, for the latter affects only the body, the former the spirits. जिह्वा का घाव तलवार के घाव से बुरा होता है, क्योंकि तलवार शरीर पर आघात करती है जब कि जिह्वा आत्मा पर। एक जापानी कहावत भी है 'जीभ केवल तीन इंच लंबी है जब कि वह छः फूट ऊंचे आदमी को समाप्त कर सकती है'। किन्तु जिह्वा का यह उपयोग मानव की मानवता को लज्जित करता है।

एक वैद्य जीभ को देखकर भीतर का हाल बता सकता है। इसी प्रकार जीभ के द्वारा व्यक्ति की भीतरी अच्छाई और बुराई का पता लग सकता है। यह विद्वान् है या मूर्ख है यह वाणी के द्वारा जाना जा सकता है। मूर्ख के सिर पर सिंग नहीं होते और विद्वान् के हाथों में कमल नहीं खिला करते, किन्तु जब वे मुंह खोलते हैं तभी उनकी कुलीनता का परिचय होता है[1]।

वाणी के साथ आचरण आता है। वाणी सुन्दर है और आचरण दूषित है तब भी जीवन में सुन्दरता नहीं आ सकती। संपत्ति का भी प्रभाव होता है। वक्तृत्व कला में भी जादू होता है। सौन्दर्य में भी एक आकर्षण होता है, किन्तु समस्त प्रभाव उसी क्षण समाप्त हो जाते हैं जब कि जीवन का प्रभाव समाप्त हो जाता है। एक विचारक के शब्दों में-

A beautiful behaviour is better than a beautiful form, it gives a higher pleasure than statues and pictures, it is the finest of the fine arts.

सुन्दर आकृति की अपेक्षा सुन्दर आचरण श्रेष्ठ है। क्योंकि यह मूर्तियों और फोटूओं से भी अधिक आनंद देता है। यह समस्त कलाओं में श्रेष्ठ कला है। जिसने वाणी और वर्तन (आचरण) की कला पाई है वही विद्वान है। प्रस्तुत अध्याय इसी भित्ति पर खड़ा है।

दोहिं ठाणेहिं बालं जाणेज्जा दोहिं ठाणेहिं पंडितं जाणेज्जा।
सम्मापओएणं; मिच्छा पओतेणं कम्मुणा भासणेण य।

अर्थ :—दो स्थानों से मानव का बाल रूप प्रकट होता है और दो स्थानों से पंडित जाना जाता है। सम्यक् प्रयोग और मिथ्या प्रयोग से; कर्म से और भाषण से।

गुजराती भाषान्तर :—

માણસનું બાલરૂપ બે કારણોથી સાફ સાફ (સ્પષ્ટ) જણાય છે, અને બે કારણોથી પંડિતને ઓળખી શકાય છે. તે આ છે-સમ્યક પ્રયોગ, મિથ્યા પ્રયોગ, કર્મ અને ભાષણથી.

ज्ञानी और अज्ञानी की पहचान क्या है? उसके उत्तर में अर्हतर्षि कहते हैं-हर आत्मा में अनंत शक्ति है। उस शक्ति का वह उपयोग किस रूप में करता है उसी आधार से बताया जा सकता है कि यह विद्वान् है या मूर्ख। शक्ति रावण को मिली थी तो शक्ति हनुमान को भी मिली थी। एक ने अपनी शक्ति का उपयोग असदाचार में किया तो दूसरे ने अपनी शक्ति एक महापुरुष की सेवा में समर्पित कर दी। इसीलिये एक ने विश्व से घृणा पाई जबकि दूसरे को दुनिया ने पूजा है।

शक्ति का सम्यक् प्रयोग करने पर मानव का पंडित रूप व्यक्त होता है और जब कि आत्मा की शक्ति मिथ्या प्रयोग की ओर होती है तब वह बाल कहलाता है। यह सम्यक् और मिथ्या प्रयोग वाणी और कर्म दोनों प्रकार का होता है।

टीका :—द्वाभ्यां स्थानाभ्यां बालं जानीयात्, द्वाभ्यां स्थानाभ्यां पंडितं जानीयात्, यथा सम्यक् प्रयोगेन च मिथ्याप्रयोगेन च कर्मणा भाषणेन चेति श्लोकार्धम्। गतार्थः।

दुभासियाए भासाए दुक्कडेण य कम्मुणा।
बालमेतं वियाणेज्जा कज्जाकज्ज-विणिच्छए॥ १॥

अर्थ :—दुवर्चन बोलने, दुष्कृत्य करने तथा कार्याकार्य के विनिश्चय के द्वारा यह बाल (अज्ञानी है) ऐसा समझा जा सकता है।

गुजराती भाषान्तर :—

ખરાબ વાતો કરવાથી, ખરાબ કામ કરવાથી અને કાર્ય અને અકાર્યના નિર્ણય (કેવી રીતે કરે છે તે) થી આ માણુસ બાલ એટલે અજ્ઞાની છે એમ સમજી શકાય છે.

वाणी मन का चित्र है। जीभ के द्वारा जीवन परखा जाता है। जब मानव के मुंह से कटु शब्द निकलते हैं तो समझ लेना होगा भीतर कटुता भरी है। शीशी में इत्र भरा है या गटर का पानी यह निर्णय उसी क्षण हो जाता है जबकि उसका ढ़क्कन (बुच) खोला जाए। ऐसे ही यह विद्वान है या मूर्ख यह निर्णय भी उसी क्षण हो जाता है जब कि उसके मुंह का ढक्कन खुलता है। किन्तु हमें यह भी याद रखना चाहिये कि कटु और तीखे शब्द कमजोर पक्ष की निशानी है। मनुष्य हंसी और मजाक में कभी व्यंग के बाण छोड़ता है। किन्तु वे व्यंग के विष बुझे बाण हृदय की प्रसन्नता छीन लेते हैं। अतः ऐसी मजाकों से हमें बचना चाहिये जो हमारे मित्र के लिये तीर का काम दे। एक इंग्लिश विचारक बोलता है-Give yourself to be merry, but let your mirth be ever Void of all icurrs lity and biting words to any man for a wound given by a word is often times harder to be cured than that which is given with the sword.

तुम अपने आपको विनोद में रखो, किन्तु असभ्य भाषा और काटनेवाले शब्दों से तुम्हारे विनोद को दूर रखो, क्योंकि किसी भी मनुष्य पर किये गये शाब्दिक घाव का भरना तलवार के घाव से भी अधिक कठिन होता है। अतः हमारे व्यंग विनोद भी मधुर हों किसी के दिल में छेद दें ऐसा नहीं होना चाहिये। साथ ही हमारे कार्य भी सुन्दर होने चाहिये। मधुर हैं किन्तु कार्य कटु है तो ऐसी मधुर शब्दावलि कोई महत्व नहीं रखती। वह तो "विषकुंभं पयोमुखं" है। अतः वाणी का माधुर्य जीवन में उतरना चाहिये। साथ ही हमारी विवेक दृष्टि सदैव खुली रहनी चाहिये। यदि विवेक का प्रदीप बुझ गया तो जीवन की अंधेरी रात में कर्तव्य की प्रेरणा नहीं मिल सकती।

हां, तो हमें याद रखना है जिसकी वाणी से अशुभ शब्द निकलते हों, जीवन दुष्कृत्यों से दूषित हो और जिसका विवेक दीपक बुझ गया हो वह अज्ञान से आवृत है, फिर उसने चाहे जितने शास्त्र क्यों न रट रखे हों।

टीका :—दुर्भाषितया भाषया दुष्कृतेन च कर्मणा, कार्याकार्यविनिश्चये बालमेतं विजानीयात्।

सुभासियाए भासाए सुकडेण य कम्मुणा।
पंडितं तं वियाणेज्जा धम्माधम्म-विणिच्छए॥ २॥

अर्थ :—सुभाषित वाणी, सुन्दर कृत्य और धर्माधर्म के विनिश्चय के द्वारा पंडित की पहचान होती है।

गुजराती भाषान्तर :—

વિદ્વાન માણસની સાચી ઓળખાણ તેના બોલવા-ચાલવા ઉપરથી, સારા કાર્યો અને ધર્માધર્મના નિર્ણય ઉપરથી તરતજ થઈ જાય છે.

व्यक्ति की अच्छाई बुराई की पहचान उसकी वाणी और कार्यों के द्वारा होती है। स्थूल माप दंडों के द्वारा व्यक्ति मापा नहीं जा सकता। आज व्यक्ति पैसे के गज से मापा जाता है और सोने के पाटों द्वारा तोला जाता है। जिसके पास अधिक संपत्ति और वैभव विलास के प्रसाधन हैं वह श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु व्यक्ति को इस रूप में तोलकर हम अप्रत्यक्ष

रूप से उस सोने का शासन स्वीकार कर लेते हैं, जोकि अनुभव हीन है। उसे शासक बनाकर समाज में से अच्छाईयों को देश निकाला देते हैं। पैसा नौकर अच्छा है किन्तु उसे स्वामी बनाकर तो हम अपने आपको मानसिक गुलामी की जंजीरों में जकड़ देते हैं। Money is a good servant but a bad master पैसा नोकर अच्छा है किन्तु स्वामी के रूप में पैसा बहुत बुरा है। व्यक्ति की अच्छाई पैसे के द्वारा न मापी जाकर उसकी मधुर वाणी और अच्छे कार्यों द्वारा मापी जानी चाहिये।

दुभासियाए भासाए दुक्कडेण य कम्मुणा।
जोगक्खेमं वहंतं तु उसु वायो व सिंचति ॥ ३ ॥

अर्थ:—दुर्भाषित वाणी और बुरे कार्यों के द्वारा जो योगक्षेम का वहन करना चाहता है वह मानो ईख को वायु से सिंचन करता है।

गुजराती भाषान्तर:—

ખરાબ (ભૂંડું) બોલી, અને ખરાબ કામો કરી પોતાની જીંદગીની ગુજરાણ કરવા ચાહનાર માણસ પવનથી શેરડીને (સિંચન કરી) જીવતા રાખવા માગે છે.

मधुर वाणी में शक्ति बसती है और सुन्दर आचरण में पवित्रता रहती है। किन्तु जिसके पास दोनों का अभाव है वह मन का दरिद्री है। उसके पास योग और क्षेम दोनों ही नहीं आ सकते। असभ्य वाणी और बुरे कार्यों के द्वारा जो व्यक्ति योगक्षेम चाहता है उसका कार्य वायु के द्वारा इक्षु के सिंचन सा निष्फल है।

टिप्पणी—'उसुवायो' शब्द अप्रचलित है। कोश में भी परिलक्षित नहीं होता। उसका एक संभावित अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है-इक्षुपात-इक्षु के पत्रों का सिंचन; यह भी एक निष्फल क्रिया ही है।

सुभासियाए भासाए सुकडेण य कम्मुणा।
पज्जण्णे कालवासी वा जसं तु अभिगच्छति ॥ ४ ॥

अर्थ:—सुभाषित वाणी और सुन्दर कृत्यों के द्वारा मानव समय पर बरसनेवाले मेघ के सदृश यश को प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर:—

મીઠી વાણી બોલી અને સારા કૃત્યો કરનાર માણસ સમય પર આવેલા મેઘરાજની જેમ સર્વત્ર વખણાય છે.

जिसकी वाणी में अमृत बरसता हो और जिसके जीवन में सदाचार की सौरभ है उसका जीवन उतना ही यशस्वी होता है जितना कि समय पर बरसनेवाला मेघ।

टीका:—सुभाषितया भाषया सुकृतेन च कर्मणा। पर्जन्यः कालवर्षीव यशोऽभिगच्छति। गतार्थः।

णेव बालेहि संसग्गिं णेव बालेहिं संथवं।
धम्माधम्मं च बालेहिं णेव कुज्जा कडाइ वि ॥ ५ ॥

अर्थ:—साधक अज्ञानियों का संसर्ग न करे और न उनसे परिचय ही रखे। उनके साथ धर्माधर्म की चर्चा भी न करे।

गुजराती भाषान्तर:—

સાધકે અજ્ઞાની માણસોથી છેટે જ રહેવું જોઈએ. અને તેવા માણસો સાથે પોતાનો સંબંધ પણ રાખવો નહીં અને તેવા માણસો સાથે ધર્મ-અધર્મની ચર્ચા પણ કરવી નહી.

प्रस्तुत गाथा में साधक को अज्ञानियों के संसर्ग से दूर रहने की प्रेरणा दीगई है। क्योंकि मूर्ख व्यक्तियों का परिचय भी कष्टप्रद होता है। कोयले का व्यापार करनेवाले के हाथ काले हुए बिना नहीं रहते। ऐसे ही अज्ञानियों से अति परिचय रखनेवालों का जीवन भी उज्ज्वलता को खो बैठता है।

"जैसा संग वैसा रंग" मनुष्य जिसके साथ रहता है वैसा बन जाता है। एक कहावत है यदि तुम भेड़िये के साथ रहोगे तो गुर्राना भी सीख जाओगे। यह तो देखा गया है कि बकरी चरानेवाला बकरी की भांति झुककर पानी पीता है। इंग्लिश विचारक बोलता है- Tell me with whom thou art found
and I will tell thee who thou art.

यदि मुझे मालूम हो जाय कि तुम किसके साथ रहते हो तो मैं बता सकता हूं कि तुम कौन हो। प्याज का साथ करनेवाली थैली से प्याज की बास आयेगी और गुलाब के फूलों का साथ करनेवाली थैली में फूलों की सौरभ आयेगी।

यद्यपि निश्चय दृष्टि में एक आत्मा न दूसरे को सुधार सकती है, न उसे बिगाड़ ही सकती है। यदि उसमें विकृति आने का गुण है तो बाहरी उसे विकृत कर सकता है। लक्कड़ में जलने का स्वभाव है तभी तो आग उसे जलाती है। पत्थर में वैसा स्वभाव नहीं है अतः दुनियां की कोई भी आग उसे जला नहीं सकती। इसी प्रकार जिसमें विकृत होने का स्वभाव है उसे ही बाहरी संयोग बिगाड़ सकते हैं। साथ ही उसके पतन का समय है तभी उसे ऐसा संयोग मिलता है। यदि उसका उदयकाल है तो उसे निमित्त भी सुंदर मिलेंगे।

फिर भी भावी भाव का ज्ञान न रखनेवाला जन सामान्य निमित्त से प्रभावित हो ही जाता है। हां, जिनकी चेतना जागृत है और जो विशिष्ट स्थिति तक पहुंच चुके हैं फिर बाहरी निमित्त उन्हें प्रभावित नहीं कर सकते हैं। गौशालक का निमित्त पाकर भी भगवान् महावीर की आत्मा विकृत नहीं हो सकी, क्योंकि वे निम्न भूमिकाओं को पार कर गये थे और विकारों पर विजय पाने की उनमें क्षमता भी थी। इसीलिये अशुभ वातावरण भी उनकी शुभवृत्ति को अशुभ में मोड़ नहीं सका। फिर भी जन साधारण को चाहिये कि जब तक उच्च स्थिति पर पहुंच न जाए तब तक सुन्दर निमित्तों के बीच रहे, ताकि सुन्दर संस्कार मिलते रहें। क्योंकि यदि शरीर स्वस्थ और सबल है तो बाहर के कीटाणु उस पर आक्रमण नहीं कर सकते। उसके शरीर के कीटाणु रोग के कीटाणुओं से लड़ सकते हैं, किन्तु यदि शरीर दुर्बल है और हार्ट कमजोर है तो रोग के कीटाणु बहुत जल्दी असर कर सकते हैं। इसीलिये तो डाक्टर रोगी को स्वच्छ वातावरण में रहने की खास हिदायत देते हैं। इसीलिये जन साधारण को भी चाहिये, कि जबतक चेतना पूर्ण विकसित न हो तब तक दूषित वातावरण से अवश्य बचता रहे।

इहेवाकित्ति पावेहि पेच्चा गच्छेइ दोग्गतिं।
तम्हा बालेहिं संसग्गिं णेव कुज्जा कदावि वि ॥ ६ ॥

अर्थः—पापों के द्वारा यहां भी अपयश मिलता है और बाद में आत्मा दुर्गति को जाता है। अतः साधक अज्ञानी आत्माओं का संसर्ग कभी न करे।

गुजराती भाषान्तरः—

પાપો (ખરાબ કામો) કરવાથી આ ભવમાં પણ અપયશ મળે છે અને પછી તે આત્મા દુર્ગતિને પ્રાપ્ત કરે છે. માટે સાધકે અજ્ઞાની આત્માઓને સાથે કોઈ તરહનો સંબંધ કોઈ પણ સંજોગમાં ન કરવો જોઈએ.

पूर्व गाथा में साधक को अज्ञानी आत्माओं से दूर रहने की प्रेरणा दी गई थी। यहां उसका प्रतिफल बताया गया है। मूर्खों का संग यहां भी अयश को दिलाता है। जो मूर्खों के परिचय में रहता है और उनके इशारों पर काम करता है दुनियां उसे भी कभी सम्मान नहीं देती। साथ ही जब वह यहां से विदा लेता है तो परलोक में उसे सुन्दर स्थान नहीं मिलता। अतः वह उभयतो भ्रष्ट होकर अशान्ति पाता है। अतः विचारशील साधक अज्ञानियोंके संसर्ग से दूर रहे। भगवान् महावीर ने साधक को प्रेरणा दी थीः अज्ञानियों के संग से दूर रहो।

साहूहिं संगमं कुज्जा साहूहिं चैव संथवं।
धम्माधम्मं च साहूहिं सदा कुव्विज्ज पंडिए ॥ ६ ॥

अर्थः—साधक साधु पुरुषों का संगम करे और साधु पुरुषों का ही संस्तव करे। प्रज्ञाशील पुरुष धर्म की चर्चा भी साधु पुरुषों के साथ ही करे।

गुजराती भाषान्तरः—

સાધકે સજ્જનો સાથેજ સંબંધ રાખવો જોઈએ, અને સાધુપુરૂષોની જ સ્તુતિ કરવી. તેમજ બુદ્ધિમાન્ પુરૂષે ધર્મની ચર્ચા સજ્જનો સાથે જ કરવી.

साधुपुरुषों का परिचय जीवन का निर्माण करता है। बबूल की छाया में कांटे मिलते हैं और नीम के निकट जाने पर शुद्ध वायु मिलती है। ऐसे ही जीवन के कलाकारों के पास जीवन-निर्माण की प्रेरणा मिलती है और अज्ञानियों के निकट जीवन को गिराने की बातें मिलती हैं।

---

१ न जारजातस्य ललाटशृंगं कुले प्रसूतस्य न पाणिपद्मम् ॥ यदा यदा मुंचति वाक्यबाणं तदा तदा जातिकुलप्रमाणम् ॥

यद्यपि हमारे उत्थान और उत्थान का दायित्व हम पर ही है फिर भी निमित्त भी एक चीज है। अतः जब तक हमें जीवनधारा का सार्वभौम ज्ञान नहीं है तब तक अशुभ निमित्तों से बचना आवश्यक हो जाता है। अतः साधक सदैव कुत्सित [1]पुरुषों के संग से बचकर सज्जनों का साहचर्य करे। भले ही वे उपदेश न दें, किन्तु सज्जनों का संग ही शास्त्र है। महापुरुष वाणी की अपेक्षा जीवन से अधिक उपदेश दे देते हैं[2]। और धर्माधर्म की चर्चा भी साधु पुरुषों के साथ ही करना योग्य है। क्योंकि मूर्खों के साथ की गई चर्चा में कभी तत्त्व नहीं मिल सकता। उनके पास अपशब्द एवं गालियों का अजस्र प्रवाह मिला रहता है और वह सबके लिये समानरूप से बहता रहता है। अतः उनसे दूर रहना ही श्रेयस्कर है। विचारकों के साथ तत्त्वचर्चा में उनके मस्तिष्क का चिन्तन मिलता और नये विचार मिलते हैं।

टीका :—साधुभिः संगमं च संस्तवं च धर्मं च कुर्यादिति स्पष्टं, कुतस्तु धर्मस्य विपरीतमधर्मं कुर्यादिति न ज्ञायते।

अर्थात् साधुओं के साथ संगम, संस्तव और धर्म करे यह तो स्पष्ट है। किन्तु धर्म से विपरीत अधर्म क्यों किया जाय यह समझ में नहीं आता।

टीकाकार को सज्जनों के साथ धर्माधर्म करने में संदेह हो रहा है। यदि यहां केवल धार्मिक क्रिया से सम्बन्धित बात हो तब तो यह प्रश्न योग्य है, किन्तु धर्माधर्म से यहां धर्म-चर्चा के साथ अधर्म-चर्चा भी आवश्यक बताया गया है। क्योंकि जब तक अधर्म को न समझा जायेगा तब तक धर्म का स्वरूप भी पूर्णतः समझा नहीं जा सकता। अहिंसा स्वरूप ज्ञान प्राप्त करने के लिये हिंसा को समझ लेना भी आवश्यक हो जाता है तो धर्म के साथ अधर्म का प्रश्न भी लगा रहता है।

इहेव कित्तिं पाउणति पेच्चा[3] गच्छइ सोगतिं।
तम्हा साधूहि संसग्गिं सदा कुव्विज्ज पंडिए॥ ८॥

अर्थ :—साधु स्वभावी पुरुषों के संग के द्वारा आत्मा यहां पर यश प्राप्त करता है और परलोक में शुभ गति को प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

સારા સ્વભાવના માનવોના સહવાસથી આત્માને આ લોકમાં કીર્તિ મળે છે અને પરલોકમાં પણ સદ્ગતિની પ્રાપ્તિ થાય છે.

जीवन का सुन्दर साथी मानव को ऊर्ध्वमुखी बनाता है। पानी नीम की जड़ों में पहुंचता है तो कटु रूप लेता है और इक्षु के खेत में पहुंचता है तो मधुर रस का रूप लेता है। स्वाती नक्षत्र की वे ही बूंदें सांप के मुख में गिरकर विष बनती हैं तो गाय के शरीर में दूध के रूप में परिणत होती हैं। जब कि सीप उसे मोती का रूप देती है, साथी की अच्छाई और बुराई जीवन में भी अच्छाई और बुराई लाती है।

खइणं पमाणं वत्तं च देज्जा अज्जति जो धणं।
सद्धम्म-वक्क-दाणं[4] तु अक्खयं अमतं मतं॥ ९॥

अर्थ :—जो मनुष्य धन एकत्रित करता है काल उसके लिये संदेश देता है कि यह मर्यादित है और एक दिन नष्ट होनेवाला है। जब कि सद्धर्म का वाक्य का दान तो अक्षय और अमृत तुल्य है।

गुजराती भाषान्तर :—

જે માણસ દ્રવ્ય (પૈસા)ને સંઘરે છે તેને કાળ એવો સંદેશો આપે છે કે આ ધન મર્યાદિત (અમુક સમય સુધી જ ટકનાર) છે અને કોઈ એક દિવસે એનો નાશ તો થવાનો જ છે. જ્યારે સદ્ધર્મના વાક્યનું દાન તો લાંબા સમય સુધી ટકે એવું અને અમૃત જેવું મીઠું છે.

बहिर्दृष्टि मानव के लिये प्रस्तुत गाथा में महत्त्वपूर्ण संदेश है। वह धन एकत्रित करता है। मानता है अनंत काल तक के लिये यह मेरे साथ रहेगा। किन्तु वह बहुत बड़ी भूल करता है। संपत्ति मानव की छाया है, किस क्षण उसके पुण्य रूप सूर्य पर अशुभोदय के बादल आ जाएंगे यह कहा नहीं जा सकता, किन्तु बादल आते ही संपत्ति की छाया सर्व प्रथम

---

१ अलं बालस्स संगेणं–आचारांग सूत्र। २ परिचरितव्याः सन्तो यद्यपि कथयन्ति नो सदुपदेशम्। यास्तेषां स्वैरकथा ता एव भवन्ति शास्त्राणि। ३ पच्छा. ४ सद्धम्मचक्कदाणं।

साथ छोड़ देगी। इसीलिये एक विचारक ने कहा है-शरीर की सजावट करनेवाले पर मृत्यु मुस्कराती है। यौवन के क्षणों में इठलाने पर जरा हंसती है। धन को पृथ्वी में गाड़नेवाले पर पृथ्वी हंसती है। यह एक मिथ्या धारणा है कि संपत्ति के द्वारा हम सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। इंग्लिश विचारक बोलता है-Money will not buy everything पैसा प्रत्येक चीज नहीं खरीद सकता। उसके द्वारा फाउंटन पेन खरीद सकते हैं, पर लेखनकला नहीं मिल सकती। पैसे से रोटी खरीदी जा सकती है, लेकिन भूख नहीं मिल सकती। पैसा आपको चश्मा दे सकता है, लेकिन आंख देने में असमर्थ है।

हां, तो अर्हतर्षि उसी संपत्ति की तुच्छता बता रहे हैं कि वह संपत्ति ढ़लते सूर्य की छाया सी सीमित और क्षणिक है। संपत्ति के अर्जन करनेवाले को काल यही संदेश देता है। अथवा यदि संपत्ति का संग्राहक अपनी संपूर्ण संपत्ति भी आपको दे देता हैं तब भी वह आपको एक नाशवान वस्तु ही दे रहा है। दुनियां की नजरों में वह महान दानी है, किन्तु तत्त्वद्रष्टा कहता है तू ने दी क्या एक सड़ी गली चीज ही न? कोई शाश्वत वस्तु तो तू ने न दी?। दूसरी ओर एक संत विचार की किरण देता है वह विश्व को एक महान देन दे जाता है। महर्षियों का चिन्तन और मनन विश्व को नई दिशा देता है और वह विश्व की अमूल्यतम संपत्ति होता है। किसी को संपत्ति देने के बजाय उसे विचारों का दान देना उसके लिये सर्वश्रेष्ठ दान है।

टीका :—क्षयि प्रमाणं वार्तां च देयाद् यो धनमर्जयति। सद्धर्मवाक्यदानं त्वक्षयममृतं च मतं भवति॥ गतार्थः।

पुण्णं तित्थं उवागम्म पेच्चा भोज्जा हितं फलं।
सद्धम्मवारिदाणेणं खिप्पं सुज्झति माणसं॥ १०॥

अर्थ :—जिस पुण्य तीर्थ को पाकर परलोक में जिस फल को तुम भोगोगे उस फल की प्रसव भूमि हृदय सद्धर्म के पानी देने से जल्दी शुद्ध होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જે પુણ્યભૂમિને મેળવ્યા પછી પરલોકમાં જે ફળ તમે ભોગશો તે ફળની પ્રસવભૂમિરૂપી શુદ્ધ હૃદયને સારા ધર્મનું પાણી આપવાથી તે તરત શુદ્ધ થાય છે.

मानव पुण्य के मीठे फल खाना चाहता है। किन्तु जब तक उसकी जड़ों को सिंचन न मिले तब तक पुण्यलता फलवती नहीं हो सकती। हृदय वह भूमि है जहां कि पुण्य की लता फैलती रहती है। सद्धर्म रूप जल देने से हृदयशुद्धि होती है और पुण्यलता की जड़ें मजबूत होती हैं। साधना के क्षेत्र में आंख की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आंख के अभाव में भी साधक साधना कर सकता है। साधना के पथ में जीभ की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मूक व्यक्ति भी साधना कर सकता है। वहां पैर की भी आवश्यकता नहीं है और हाथ भी आवश्यक नहीं है। क्योंकि पंगु और लूले व्यक्ति साधना कर सकते हैं। किन्तु आवश्यकता है छोटे शुद्ध हृदय की। हृदय की पवित्रता समस्त पवित्रताओं में श्रेष्ठ है। वेदव्यास बोलते हैं-

'तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचि'

तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ हृदय है और पवित्र वस्तुओं में पवित्रतम हृदय ही है। एक इंग्लिश की विचारक भी बोलता है-

If a good face is a letter of recommendation, a good heart is a letter of credit.

यदि सुन्दर मुख सिफारिश पत्र है तो सुन्दर हृदय विश्वास-पत्र। पवित्र हृदय में धर्म के फूल खिलते हैं। भगवान महावीर कहते हैं सरल आत्मा ही शुद्ध होता है और धर्मशुद्ध हृदय में ही ठहरता है। ऐसा साधक परम शान्ति को उसी प्रकार पाता है जैसे कि घृतसिक्त अग्नि तेजस्विता को[1]।

टीका :—पुण्यं तीर्थमुपागम्य प्रेत्य भुंज्याद्धितं फलं। सद्धर्मवारिदानेन क्षिप्रं तु शुद्ध्यति मनः।

सब्भाववक्कविवेसं सावज्जारंभकारकं।
दुम्मित्तं तं विजाणेज्जा उभयो लोगविणासणं॥ ११॥

---

१ सोही उज्जुय भूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ। निव्वाणं परमं जाइ घमसित्तेव्व पावए। उत्तरा. अ. ४ २ विसेसं.

अर्थ :—अपने वक्र स्वभाव से विवश होकर सावद्य आरंभ करनेवाले को दुर्मित्र समझना चाहिये। क्योंकि वह दोनों लोकों का विनाश करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

પોતાના ઉદ્ધત સ્વભાવને વશ થઈ સાવદ્ય (સદોષ) પ્રારંભ કરનારને દુશ્મન સમજવો, કેમકે તે બંને (એટલે આ દુનિયા અને પર) લોકોનો નાશ કરે છે.

प्रस्तुत गाथा में दुर्मित्र की पहचान बताई गई है, जिसके जीवन में वक्रता है, जिसके विचारों में कोई दूसरी वस्तु है तो वाणी दूसरी ही बात बोलती है और आचरण दोनों से भिन्न है। ऐसा मित्र अपने साथी के दोनों लोक बिगाड़ता है। उसकी वाणी में माधुर्य है, पर हृदय में हालाहल की लहरें हैं। ऐसा व्यक्ति अपने साथी को जीवन के गंभीर क्षणों में धोखा देता है। परिणाम में उसका साथी संकल्प और विकल्पों से उतरेगा। फिर परलोक के लिये तो उसने तैयारी ही कब की है?। साथी की ओर से उसे सदैव सावद्य कर्मों की ही प्रेरणा मिली है। आत्मा को भूलनेवाला परमात्मा को क्या याद करेगा? और जिसका यह लोक सुन्दर नहीं है उसके लिये परलोक की सुन्दरता केवल स्वप्न है!।

अर्हतर्षि बुरे मित्र से सावधान रहने की प्रेरणा दे रहे हैं। मित्रता जीवन की सबसे बड़ी कला है और मित्र जीवन का अमूल्य खजाना है। जीवन में मित्र बहुत हो सकते हैं। किन्तु मित्रों से सावधान रहो जो पक्षी के समान तुम्हारे फलों से लदे जीवन वृक्ष के चारों और मंडराते हैं। याद रखो उस दिन एक भी मित्र तुम्हारे पास नहीं आयगा जबकि तुम्हारे संपत्ति के फल समाप्त हो जाएंगे।

इंग्लिश विचारक बोलता है –

Friends are plenty when your purse is ful.

जब तुम्हारा बटुवा तर है तो तुम्हारे पास मित्रों की कोई कमी नहीं है। ऐसे मित्र संख्या में हजार भी हैं तब भी तुम्हारे संकट में एक भी साथ नहीं दे सकता। किन्तु संकट में त्याग दे उसे मित्र कहना मित्रता का अपमान करना है।

दूसरा विचारक बोलता है –

The worst friend is he who frequents you in prosperity and deserts in misfortune.

सबसे निकृष्ट मित्र वह है जो अच्छे दिनों में पास आता है और मुसीबत के दिनों में त्याग देता है।

"न स सखायो न ददाति सख्ये" (१०.११७.४) ऋग्वेद का वह वाक्य बोलता है वह मित्र ही क्या जो अपने सहायता नहीं देता और सबसे निकृष्ट मित्र वह है जो तुम्हारी चापलूसी करता है और तुम्हारे अवगुणों पर पर्दा डालता मित्र को है। अर्हतर्षि ऐसे मित्रों से दूर रहने की प्रेरणा दे रहे हैं।

सम्मत्तणिरयं धीरं[1] सावज्जारंभवज्जकं।
तं मित्तं सुट्ठु[2] सेवेज्जा उभओ लोकसुहावहं ॥ १२ ॥

सम्यक्त्व निरत सावद्य आरंभ के त्यागी ऐसे धैर्यशील मित्र का अच्छी तरह साथ करना चाहिये। उसका साथ उभयलोक में सुखप्रद है।

गुजराती भाषान्तर :—

સમ્યક્ત્વનિરત (જ્ઞાની), સાવદ્ય આરંભનો ત્યાગ કરનાર અને ધીરજવાળા દોસ્તને સાથે સારો સંપર્ક રાખવા જોઈએ. કેમકે તેનો સહવાસ બંને લોકોને માટે સુખપ્રદ છે.

जिसके पास सम्यक्त्व का प्रकाश है ऐसा पवित्र जीवन जीनेवाला साथी यथार्थतः कल्याणप्रद साथी है।

इंग्लिश विचारक के शब्दों में –

Life has no blessing like a prudent friend.

---

१. णीरगंभीरं २. सुद्द, सुद्द।

ज्ञानी मित्र के सदृश जीवन में दूसरा कोई वरदान नहीं है । ऐसा साथी जीवन के उन कटु प्रसंगों में जब कि तुम्हारा धैर्य जवाब दे बैठेगा और तुम अपने कर्तव्य की मंजिल से गिर रहे होंगे तब तुम्हें जीवन की सच्ची राह दिखाएगा । क्योंकि उसके मन में स्वार्थ की छाया नहीं है । अतः वहां तुम्हें प्रकाश की ही प्रेरणा मिलेगी । पाश्चात्य विचारक बेकन ने कहा है– 'सच्चा मित्र आनंद को दुगुना और दुःख को आधा कर देता है' ।

मनुष्य जो दे उसे भूल जाय और दूसरे से ले उसे सदैव याद रखे यही मित्रता की जड़ है । और ऐसी मित्रता में उत्तम वैद्य की सी निपुणता और परख होती है, और अच्छी से अच्छी माता का-सा धैर्य और कोमलता होती है ।

संसग्गितो पसूयंति दोसा वा जइ वा गुणा ।
वाततो मारुतस्सेव ते ते गंधा सुहावहा ॥ १३ ॥

अर्थ :—दोष और गुण संसर्ग से पैदा होते हैं । वायु जिस ओर बहती है वहां की गंध को ग्रहण कर लेती है ।

गुजराती भाषान्तर :—

દોષ અને ગુણ એક બીજાના સંસર્ગથી જ પેદા થાય છે; પવન જે દિશાતરફ વહે છે, ત્યાંના સુગંધ કે દુર્ગંધને પણ સાથે લઇ વહે છે.

वायु यदि सुरभित स्थान से गुजरती है तो वहां की सौरभ लेकर आगे बढ़ती है और यदि वह गंदगी से गुजरती है तो वायु भी दूषित हो जाती है । जीवन भी एक वायु है । जो सज्जन पुरुषों के साहचर्य में रहता है तो वहां सद्गुणों की सुवास प्राप्त करता है और बुरे व्यक्ति के पास पहुंचता है वहां से बुराई ही ग्रहण करता है ।

संपुण्णवाहिणीओ वि आवन्ना लवणोदधिं ।
पप्पा खिप्पं तु सव्वा वि पावंति लवणत्तणं ॥ १४ ॥

अर्थ :—सभी नदियां लवणसमुद्र में मिलती हैं और वहां पहुंचते ही सभी अपनी स्वाभाविक मधुरता को छोड़कर खारापन प्राप्त कर लेती हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

બધી (મીઠા પાણીવાળી) નદીઓ સમુંદરમાં મળી જાય છે, અને ત્યાં મળી જતાં જ બધી નદીઓ પાણીની કુદરતી મધુરતા (મીઠાસ) ને મુકી દઈ ખારા સ્વાદને લઇ લે છે.

एक संस्कृत उक्ति है "संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति" मनुष्य दूसरों के सद्गुण देर से ग्रहण करता है किन्तु दोष तो बहुत जल्दी ले लेता है । मानव ही नहीं प्रकृति का भी यही गुण है । इत्र की शीशी में दो बून्द मिट्टी का तेल गिर जाता है तो उसमें सौरभ स्थान पर मिट्टी के तेल की गंध आने लगेगी । अर्हतर्षि सोदाहरण यही बता रहे हैं–नदियां मधुर जल राशि लेकर सागर में पहुंचती हैं और मिलन के प्रथम क्षण में अपनी सारी मधुरिमा खो बैठती हैं । उनकी सारी जलराशि क्षार मिश्रित हो जाती है ।

समस्सिता गिरिं मेरुं णाणावण्णा वि पक्खिणो ।
सव्वे हेमप्पभा होंति तस्स सेलस्स सो गुणो ॥ १५ ॥

अर्थ :—विविध वर्ण-वाले पक्षिगण जब सुमेरु पर्वत पर पहुंचते हैं तो सभी स्वर्ण प्रभा युक्त हो जाते हैं, यह उस पर्वत का ही विशिष्ट गुण है ।

गुजराती भाषान्तर :—

અનેક વર્ણવાળા પક્ષીઓ જ્યારે સુમેરુ પર્વત ઉપર જાય છે, ત્યારે તેઓનો રંગ સોના જેવો જ બની જાય છે તે પર્વતનો આ એક ખાસ ગુણ છે.

दोष और गुण संसर्ग से आते हैं । प्रस्तुत गाथा इसी तथ्य को स्पष्ट कर रही है । पूर्व गाथा में संसर्ग जन्य दोष बताया गया था । प्रस्तुत गाथा उसके विपरीत संसर्गज गुण का निरूपण करती है । किसी भी वर्ण का पक्षी सुमेरू के निकट पहुंचता है तो उसकी प्रभा से सभी स्वर्णप्रभ हो जाते हैं ।

कल्लाणमित्तसंसग्गिं संजओ मिहिलाहिवो ।
फीतं महितलं भोच्चा तं मूलाकं दिवं गतो ॥ १६ ॥

अर्थ :—कल्याणमित्र के संसर्ग से मिथिलाधिप संजय संपूर्ण पृथ्वीतल को भोगकर ऊगते सूर्य की प्रभावाले दिव्य लोक को प्राप्त हुआ ।

गुजराती भाषान्तर :—

કલ્યાણમિત્રના સંપર્કમાં રહેવાથી મિથિલાના સંજય નામનો રાજા સંપૂર્ણ પૃથ્વી ઉપર રાજ્ય કરી ત્યાંના બધા ભોગો ભોગીને ઉદય પામતા સુરજની જેવી પ્રભા મેળવી સ્વર્ગમાં સીધાવ્યા હતા.

पूर्वगाथा में अच्छे साथी की आवश्यकता पर बल दिया गया था । प्रस्तुत गाथा उसकी सोदाहरण व्याख्या करती है । मिथिलानगरी के सम्राट् संजय ने कल्याण मित्र के द्वारा ही विजय पाई थी और उसी की सत्प्रेरणा के द्वारा वह निवृत्ति मार्ग में प्रविष्ट होकर दिव्य लोक में पहुंचा । यह मिथिलाधिप संजय कौन है और उसकी पूरी कथा क्या है यह ज्ञात नहीं हो सका । किन्तु हां, प्रस्तुत गाथा उस कथा की ओर संकेत करती है ।

टीका :—कल्याणमित्रसंसर्गं कृत्वा संजयो मिथिलाधिपः । स्फीतं महीतलं भुक्त्वा तन्मूलं भोजनं मूलं भवति यथा तथा दिवं गतः ।

अर्थात् कल्याणमित्र के संसर्ग को पाकर मिथिलाधिप संजय संपूर्ण पृथ्वीतल को भोगकर स्वर्ग गया जैसे शरीर के लिये भोजन कल्याणप्रद है ऐसे जीवन के लिये कल्याण मित्र आवश्यक है ।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं :—

सत्य और असत्य कार्यों और वचन के द्वारा चतुर और मूर्ख की परीक्षा हो सकती है । किसी अज्ञात कारण से इस विद्वत्तामरे लेख का लेखक स्पष्टीकरण के अन्तिम श्लोक में अपना नाम देता है । मिथिला नरेश संजय विशेष परिचित नहीं है ।

अरुणेण महासालपुत्तेण अरहता इसिणा बुइतं—

सम्मत्तं च अहिंसं च सम्मं णच्चा जितिंदिए ।
कल्लाणमित्तसंसग्गिं सदा कुव्वेज्ज पंडिए ॥ १७ ॥

अर्थ :—महाशाल पुत्र अर्हतर्षि अरुण इस प्रकार बोले-जितेन्द्रिय और प्रज्ञाशील साधक सम्यक्त्व और अहिंसा को सम्यक् प्रकार से जानकर सदैव कल्याण मित्र का ही साथ करे ।

गुजराती भाषान्तर :—

મહાશાલ-પુત્ર અર્હતર્ષિ અરુણ એમ બોલ્યા કે જીતેન્દ્રિય બુદ્ધિવાન સાધકે સમ્યકત્વ અને અહિંસાને સારી રીતે જાણી હમેશા હિતેચ્છુ સજ્જનના સમાગમમાં રહેવું જોઇએ.

आत्म विकास तक पहुंचने के दो साधन हैं-एक बाह्य साधन दूसरा आभ्यन्तर । बाह्य साधन में कल्याण मित्र आता है । कुशल और योग्य साथी जीवन की नैया को तीर पर ले जाने में सहायक होता है । लक्ष्य तक पहुंचने का आभ्यंतर साधन अहिंसा और सत्य का सम्यक् अवबोध है । अहिंसा और सत्य के सम्यक् अवबोध के लिये साधक विचारक पुरुषों का सहयोग प्राप्त करे ।

एवं से सिद्धे बुद्धे० ॥ गतार्थम् ।

आरुणिज्जणामज्झयणं

इति त्रयत्रिंशत्तमं आरुणीयाध्ययनम् ॥

——→०←——

इसिगिरि अर्हतर्षि प्रोक्त

चौंतीसवाँ अध्ययन

जीवन उजले और काले धागों से बुना है। जीवन के हर क्षेत्र में कड़वे और मीठे घूंट मिलते हैं। दुनियां के हर विचार को पहले शूल मिले हैं और जब वह शूलों से भी प्यार करता है तो दुनियां उस पर फूल बरसाती है, किन्तु जो शूलों को देखकर घबरा जाता है, दुनियां की आलोचनाओं से जिसका धैर्य समाप्त हो जाता है और जिसकी अपने कार्य से आस्था हिल उठती है वह कभी भी सफलता का दर्शन नहीं कर सकता। सफलता कायरों का साथ कभी नहीं करती। दुनियां की आलोचना से घबरा कर हम अपनी कर्त्तव्य निष्ठा से अलग न हो जाए। क्योंकि दुनियां की आंखें केवल बाहरी रूप देखती हैं। विचारक ने ठीक कहा है।

Men in general judge more from appearances than from reality. All men have eyes but few have the gift of penetration.-मेकियावेली

साधारणतः मनुष्य सत्य की अपेक्षा बाहरी आकार से ही अनुमान लगाते हैं। आंखें तो सभी के पास होती हैं किन्तु विवेक की आंखों का वरदान किसी को ही मिलता है। अतः जन साधारण हमारा विरोध और आलोचना करता है तो हमें उससे घबराना नहीं चाहिये। मैं तो कहूंगा जब हमारे कार्यों का विरोध हो तभी समझना चाहिये काम में निखार आ रहा है। विचारक बर्क ने ठीक कहा है 'जो हमसे कुश्ती लड़ता है वह हमारें अंगों को मजबूत करता है हमारे गुणों को तेज करता है। विरोधी हमारी मदद ही करता है।' शिलार कहता है-

Opposition always inflames the enthusiast, never converts him.

विरोध उत्साहियों को सदेव उत्तेजित करता है, उन्हें बदलता नहीं। विरोध को सह लेने की भी एक कला होती है उसमें मन को साधने की आवश्यकता होती है। सैनिक का शिक्षित घोड़ा तोपों के गोलों से भी नहीं चमकता, जबकि गधा पटाखे की आवाज से ही बेकाबू हो जाता है। अतः विरोध सह लेने के लिये मन को साधने की आवश्यकता होती है। अर्हतर्षि उसी साधना की ओर साधक का ध्यान खींचने के लिए प्रस्तुत अध्ययन को उपस्थित कर रहे हैं-

पंचेहिं ठाणेहिं पंडिते बालेणं परीसहोवसग्गे
उदीरिज्जमाणे सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अधियासेज्जा।

अर्थ :—पांच स्थानों से पंडित बालपुरुषों (अज्ञानियों) द्वारा उदीर्ण किये जानेवाले परीषह और उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहन करे, उनको धारण करे उसको क्षमाभाव रखे और उन पर विजय प्राप्त करे।

गुजराती भाषान्तर :—

પાંચ સ્થાનોથી પંડિત બાલ પુરુષ (અજ્ઞાની) વડે થનાર પરીષહ (દુઃખ) અને ઉપસર્ગ (ત્રાસ કે કષ્ટ) એઓનું સહન કરે, તિતિક્ષા (ખમવાની શક્તિ) થી ક્ષમા કરવી અને એવી રીતે તેના ઉપર વિજય (કાબુ) મેળવવો.

यदि अज्ञानी किसी संत पर प्रहार करता है तो साधक पांच प्रकार के विचारों से उन कष्टों का स्वागत करे और उन्हें समभाव के साथ सहे।

टीका :—पंचेषु स्थानेषु पंडितो बालेन परीषहोपसर्गान् उदीर्यमाणान् सम्यक् सहेत् क्षमेत् तितिक्षेत अधिवासयेत्। गतार्थः।

बाले खलु पंडितं परोक्खं फरुसं वदेज्जा, तं पंडिते बहु
मण्णेज्जा : 'दिट्ठा मे एस बाले परोक्खं फरुसं वदति, णो पच्चक्खं।
मुक्खसभावा हि बाला, णं किंचि बालेहिंतो ण विज्जति'। तं
पंडिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अधियासेज्जा।

अर्थ :—यदि एक अज्ञानी प्राणी किसी पंडित पुरुष को परोक्ष में कठोर वचन बोले तो पंडित उसे बहुत माने और वह सोचे कि यह प्रत्यक्ष में तो कुछ नहीं बोल रहा है। वे अज्ञानी व्यक्ति मूर्ख स्वभाव वाले होते हैं। अज्ञानियों से कुछ

भी अछूता नहीं है यह सोचकर विद्वान् पुरुष निन्दात्मक वचनों को सहन करे उनके प्रति क्षमाभाव रखे, मन के समाधि-भाव को नष्ट न होने दे।

गुजराती भाषान्तर :—

જો એક અજાણ્યો માણસ કોઈપણ પંડિત પુરુષને પરોક્ષ (તેની ગેરહાજરી) માં કાંઈપણ ભુંડી વાતો બોલે તો પંડિતે તે અજ્ઞાની માણસને સંમાન કરવો અને માની લેવું જોઈએ કે તે માણસ જે કાંઈ બોલ્યો છે તે મારી ગેરહાજરીમાં જ બોલ્યો છે, મારે સામેતો બોલ્યો જ નથી. કારણ કે અજ્ઞાની માણસ મૂર્ખ સ્વભાવનો હોય છે. અજ્ઞાની માણસ તો હરએક વિષયની, કે હરએક વ્યક્તિની (પોતે જાણકાર સમજી) વાતો કરે છે, એ ધ્યાનમાં લઈ તેના નિંદાત્મક વાક્યોનું સહન કરે અને તેને ક્ષમા કરે તેમજ પોતાના સમાધિભાવમાં ખલલ પડવા ન દે.

दुनिया ने हर विचारक का विरोध ही किया है। क्योंकि वह समाज की सड़ी गली परंपरा को तोडकर नया मार्ग प्रस्तुत करता है तो समाज चीखता है और चिल्लाता है। विचारविहीन लोग उसकी अप्रत्यक्ष आलोचना का आश्रय लेते हैं। उनमें इतना साहस नहीं होता कि वे प्रत्यक्ष में आकर कुछ कह सकें। ऐसे प्रसंगों में भी प्रज्ञाशील अपने विचार के प्रदीप को बुझने न दे और न उन पर आक्रोश ही करे। वह सोचे कि ये बेचारे अज्ञानशील हैं, इनकी आत्मा अंधकार में भटक रही है। ज्ञान की किरण का इन्हें दर्शन नहीं हुआ है। फिर भी ये बेचारे परोक्ष में मेरी आलोचना करके ही रह जाते हैं, प्रत्यक्ष में आकर बोलने का साहस नहीं करते।

साथ ही ये मूर्ख स्वभाव वाले हैं यदि बातों का जवाब दिया जायगा तो इनकी आलोचना को बल मिलेगा। साथ ही हर मूर्ख अपने आपको सबसे बड़ा बुद्धिमान मानता है। उसकी जीभ से तो वह भगवान भी नहीं बचा है फिर हम जैसों की तो कहानी ही क्या है! ये विचार भी मानव की मनःस्थिति को सम रखने में सहायक होते हैं और निन्दा और अपमान के कड़वे घूंट उतार जाने का साहस भी देते हैं और फिर विचारक दृढ़ता पूर्वक अपने मार्ग पर आगे बढ़ जाता है।

टीका :—यथा बालः खलु पंडितं परोक्षं परुषं वदेत् तत्पंडितो बहु मन्ये यथा दृष्ट्यैष बालो मे परोक्षं परुषं वदति न प्रत्यक्षं। मूर्खस्वभावा हि बालाः न किंचिद् बालेभ्यः कर्तृभ्यो न विद्यत इति तद् पंडितः सम्यक् सहतीत्यादि। गतार्थः॥

बाले खलु पंडितं पच्चक्खमेव फरुसं वदेज्जा, तं पंडिए बहु मण्णेज्जा: 'दिट्ठा मे एस बाले पच्चक्खं फरुसं वदति, णो दंडेण वा लट्ठिणा वा लेट्ठुणा वा मुट्ठिणा वा बाले कवालेण वा अभिहणति, तज्जेति तालेति परितालेति परितावेति उद्दवेति, मुक्खसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति' तं पंडिते सम्पं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अधियासेज्जा।

अर्थः—यदि अज्ञानी व्यक्ति किसी प्रज्ञाशील पुरुष को प्रत्यक्ष में कठोर वचन कहे तब भी विद्वान् उसे बहुत समझे और सोचे। मैंने देखा है यह अज्ञानी व्यक्ति प्रत्यक्ष में कठोर वचन कह रहा है। किन्तु किसी डंडे से, लाठी से पत्थर से मुष्टि से या छोटे कपाल (घड़े का टुकड़ा ठीकारी) आदि से मारता नहीं है, तर्जना नहीं करता है। लाड़ना और परिताड़ना भी नहीं करता है न परिताप ही पहुंचाता है। ये अज्ञानी मूर्ख स्वभाव के होते हैं; ये न करें वही कम है। अतः विद्वान् उन कष्टों को सम्यक् प्रकार से सहन करे, क्षमाभाव रखे, शान्ति रखे और मन के समाधिभाव को चलित न होने दे।

गुजराती भाषान्तर :—

જો અજ્ઞાની માણસ કોઈ બુદ્ધિમાન્ માણસના મોઢા ઉપર અપમાન કરે તો પણ પંડિતે તેનો ગંભીરતાથી વિચાર કરવો જોઈએ કે આ અજ્ઞાની માણસ રૂખરુ કઠોર વાણીથી બોલે છે પરંતુ લાઠીથી, લાકડીથી, પથ્થરથી અગર કપાલથી મારતો નથી, પીડા આપતો નથી કે મર્મ વચનથી કે અન્ય સાધનોથી સંતાપ કરાવતો નથી. અજ્ઞાની માણસો એવાજ હોય છે, તે લોકો જે એવું કામ ન કરે તેટલુંજ ઓછું; માટે બુદ્ધિમાન્ માણસે ગમે તે રીતે તેવા કષ્ટોનું સહન કરવું જોઈએ. ક્ષમાભાવ (ભુલ કરનારને ખમવું), શાંતિ અને સમાધિભાવ (ધ્યાનસ્થ વૃત્તિ) થી કોઈપણ કાલે ચલિત (અસ્થિર) થવા દેવું નહી.

यदि मूर्ख जनता विचारकों का अपमान करती है तो विचारक के लिये वह दया की ही पात्र है। जब बालक की आंखों का जाला दूर करने के लिये डॉक्टर आपरेशन करता है तो बालक दर्द के मारे चीखता है और उन्हें गालियां भी देता है किन्तु डॉक्टर के मन में बालक के प्रति रोष नहीं आता। ठीक इसी प्रकार जब परंपरा और रूढियों के जाले आंखों में बढ़ जाते हैं और सत्य देखने की शक्ति लुप्त होती है तब विचारक तीखे नश्तर से ऑपरेशन करता है तो अज्ञानी चीखता है, चिल्लाता है, उन्हें गालियां भी देता है। परोक्ष में ही नहीं कभी कभी प्रत्यक्ष में भी उन पर ईर्ष्या और घृणा के शोले बरसाता है !।

निन्दा और अपमान के कड़वे घूंट उतारते समय विचारक सोचेगा ये बेचारे अंधकार में भटक रहे हैं; इनकी आत्मा पर अज्ञान का आवरण है फिर भी ये केवल गालियां देकर ही संतोष मान रहे हैं, लाठी और डंडे से तो नहीं पीट रहे हैं। यही इनकी मेहरबानी है।

टीका :—बालः खलु पंडितं प्रत्यक्षमेव परुषं वदेत् तत्पंडित इत्यादि यावत् प्रत्यक्षं वदति न दंडेन यष्ट्या वा लेष्टुना वा मुष्ट्या वा बालः कपालेन वाऽभिहन्ति तर्जयति ताडयति परिताडयति उद्वापयति व्यापादयति। मूर्ख इत्यादि पूर्ववत्। गतार्थः।

बाले य पंडितं दंडेण वा लट्ठिणा वा लेट्ठुणा वा मुट्ठिणा वा कवालेण वा अभिहणेज्जा…एवं चेव णवरं अण्ण तरेणं सत्थ जातेणं अण्णयरं सरीर जायं अच्छिदई वा विच्छिदइ वा मुक्खसभावा हि बाला ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति' तं पंडिते सम्मं सहेज्जा, खमेज्जा तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा।

अर्थ :—यदि अज्ञानी किसी प्रज्ञाशील पर अन्य उपरोक्त प्रकारों से प्रहार करता है, तब भी पंडित सोचे ये केवल दंडादि से प्रहार करके ही रह जाते हैं किन्तु किन्हीं शस्त्रादि से मेरे शरीर का छेदन नहीं करता और वह सोचे अज्ञानी मूर्ख स्वभाव वाले होते हैं। अतः पंडित उनके प्रहारों को सम्यक् प्रकार से सहे।

જો અજ્ઞાની માણુસ કોઈપણુ બુદ્ધિમાન્ માણુસ પર કોઈપણુ કારણે ઉપર કહેવા મુજબ પ્રહાર કરે તો તત્ત્વજ્ઞ માણુસે એવો વિચાર કરવો ઘટે છે કે મૂરખ લોકો સોટીથી જ મારે છે પણુ શસ્ત્રોથી (જીવલેણુ પ્રહાર) કરીને મારા શરીરનું છેદન કરતા તો નથી, અને અજ્ઞાની તદ્દન મૂરખ જ હોય છે એમ સમજી તે પ્રહારોનું સહન કરવું.

जब क्रान्ति आगे बढ़ती है और परंपरा की दीवारें ढहने लगती है तब परंपरा के पुजारी चीख उठते हैं। क्योंकि उनकी दुकानदारी लुट रही है और जब परंपरा की नींव डगमगाती है तो बड़ी बड़ी शक्तियां भी क्षुब्ध हो उठती हैं और उनके संप्रदायवाद की सुरा पिये हुए मतांध अनुयायी गद्दी की रक्षा के लिये लाठियां लेकर निकल पड़ते हैं और क्रान्तिकारी विचारकों पर अविचारकों की रोषभरी लाठियां बरस पड़ती हैं।

किन्तु उन ताड़ना और तर्जना के क्षणों में भी विचारक अपने विचार सत्य से एक इंच पीछे नहीं उठता। साथ ही वह अपनी मन की शान्ति भी भंग नहीं होने देता। वह सोचता है इनके सिंहासन डोल गये हैं, बेचारों की रोटी और रोजी छिनी जा रही है, फिर उनका बोलना अस्वाभाविक भी नहीं है, फिर भी ये बेचारे केवल दंड से प्रहार करके ही रह जाते हैं, शस्त्र प्रहार तो नहीं करते, यही गनीमत है। ये ही उदात्त विचार विचारक की आत्मा को लाठी बरसानेवाले पर भी क्षमा बरसाने के लिये प्रेरित करते हैं।

टीका :—बालश्चत्ति संयोजने चेदर्थे वा पंडितं दंडेनेत्यादि यावद्रुद्रापयेत् तत् पंडित इत्यादि यावद् उद्वापयति न केनचिच्छस्त्रजातेन किंचिच्छरीरजातं शरीरभागमाच्छिनत्ति वा विच्छिनत्ति वा। मूर्ख इत्यादि पूर्ववत्। गतार्थः।

बाले य पंडितं अण्णतरेणं सत्थजातेणं अण्णतरं शरीरजायं अच्छिन्देज्जा वा विच्छिन्देज्जा वा, तं पंडिए बहु मण्णेज्जाः 'दिट्ठा मे एस बाले अण्णतरेणं सत्थजातेणं अच्छिन्दति वा विच्छिन्दति वा, णो जीवितातो ववरोवेति। मुक्खसभावा हि बाला ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति' तं पंडिए सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा।

अर्थ :—यदि अज्ञानी व्यक्ति किसी पंडित पुरुष के किसी अवयव का किसी शस्त्रादि से छेदन करता है भेदन करता है तब भी पंडित उनको बहुत समझे। वह सोचे मैंने देखा है वह बाल जीव किसी शस्त्रादि से छेदन भेदन ही करता है किन्तु मेरा जीवन तो समाप्त नहीं करता। अज्ञानी का जीवन मूर्खता से भरा रहता है। अज्ञानी जो न करे वही कम है। अतः साधक उसको सम्यक् प्रकार से सहन करे।

---

१ अण्णतरेणं सत्था स अच्छिविचेहि.

गुजराती भाषान्तर :—

સમજે કે અજ્ઞાની માણુસ સજ્જન પર કોઈ શસ્ત્રથી પણ હુમલો કરે તો તત્ત્વજ્ઞ માણુસે બહુ શાંતિથી તેનો આવી રીતે વિચાર કરવો જોઈએ કે આ અજ્ઞાની (બાલક જેવો) માણુસ શસ્ત્રથી મારા ઉપર હુમલો કે ઘા કરે છે, પણ મને મારી નાખતો નથીને? બસ, આ માણુસ સાવ મૂરખ છે જે એ ન કરે તેટલું ઓછું છે, એમ સમજી શાંત રહેવું.

एक सन्त की सीधी और सच्ची बात भी कभी कभी स्वार्थी सत्ताधीशों की दुनियां में भूकंप मचा देती है। क्योंकि नग्न सत्य सुनने के लिये दुनियां के पास कान नहीं है। लेबनान के प्रसिद्ध विचारक खलील जिब्रान ने कहा है-

"यदि तुम एक बार नग्न सत्य बोलोगे तो तुम्हारे स्नेही साथी तुम्हें छोड़ देंगे। यदि दुबारा तुमने नग्न सत्य उच्चारा तो तुम देश की सीमाओं से बाहर कर दिये जाओगे और यदि तीसरी बार नग्न सत्य कहने के लिये तुम्हारी जीभ खुली तो फांसी का लटकता रस्सा गले में झूल जाएगा और दुनियां से तुम्हारा अस्तित्व समाप्त कर देगा। दुनियां के काम कच्चे हैं और सत्य की आंच सहनी पड़ती है"।

एक विचारक ने कहा है-

Truths and roses have thorns about them.

सत्य और गुलाब के पुष्प के चारों ओर कांटे होते हैं। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ने कहा है "सत्य अपने विरुद्ध एक आंधी पैदा कर देता है और वही उसके बीजों को दूर दूर तक फैला देती है"।

हर विचारक को अग्नि परीक्षा से गुजरना पड़ता है। गालियां और उपहास तो सुधारक के लिये सर्व प्रथम उपहार हैं, किन्तु जब वे कामयाब नहीं होते तो स्वार्थ और सत्ता का आक्रोश हाथ में तलवारें लेकर निकल पड़ता है। किन्तु शस्त्र प्रहार के समय भी साधक अपनी अपनी समस्थिति को भंग न होने दे। वह सोचे ये बेचारे अज्ञान की अंधेरी गलियों में भूले भटके राही मेरे शरीर पर आघात करके ही रह जाते हैं। मेरा जीवन तो समाप्त नहीं करते। मैंने इनके विचारों पर प्रहार किया है और ये तो शरीर पर प्रहार करके रह जाते हैं; पर यह निश्चित है कि शरीर के प्रहार की अपेक्षा विचार की देह का आघात मार्मिक होता है।

चिन्तन की यह धारा साधक की मनःस्थिति को द्वेष से विकृत होते बचाती ही है, साथ ही शान्ति के वे शीतल छींटे उनकी आत्मा में कषाय को प्रवेश नहीं करने देते और इसीलिये वह अपने प्रहार कर्ता को भी क्षमा कर सकता है। इसी पवित्र विचारों की प्रेरणा ने तेजोलेश्या के द्वारा मार्मिक वेदना देनेवाले गौशालक को भगवान महावीर के मुंह से क्षमा कराया था।

टीका :—बालश्चेत्ति संयोजने चेद् अर्थे वा पंडितं केनचिच्छस्त्रजातेन किंचिच्छरीरजातं शरीरभागमाच्छिनत्ति विच्छिनत्त्यादि यावत्त्वविच्छिन्द्यात् तत् पंडिता इत्यादि यावद् विच्छिनत्ति वा न जीवितात्व्यपरोपयति मूर्ख इत्यादि पूर्ववत्। गतार्थः।

बाले य पंडितं जीवियाओ ववरोवेज्जा, तं पंडितं बहु मण्णेज्जा, "दिट्ठा मे एस बाले जीविताओ ववरोवेति, णो धम्माओ भंसेति मुक्खसभावा हि बाला ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति. तं पंडिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा, तितिक्खेज्जा, अहियासेज्जा।

अर्थ :—यदि कोई अज्ञानी व्यक्ति किसी पंडित का जीवन समाप्त करता है तब भी पंडित उसे बहुत माने और सोचे, मैंने देखा है वह अज्ञानी मेरा जीवन ही समाप्त करता है किन्तु मुझे धर्म से पृथक् नहीं करता। अज्ञानी मूर्ख स्वभाव वाले होते हैं, वे जो न करे यही कम है। अतः पंडित उसको सम्यक् प्रकार से सहन करे, क्षमाभाव रखे, शान्ति रखे, और मन को समाधि भाव में रखे।

गुजराती भाषान्तर :—

એક અજ્ઞાની માણુસ કોઈપણુ બુદ્ધિમાન્ માણુસનો પ્રાણુ લઈ લે તો પણુ તેની છેલ્લી ઘડી સુધી એવું સમજવું જોઈએ કે આ મૂરખ મારો તો જીવ જ લે છે, મારા ધર્મથી મને જુદો પાડતો નથીને? અજ્ઞાની માણસ હમેશા મૂરખવૃત્તિના જ હોય છે. માટે સમજુ માણસે તેનું કૃત્ય ગમે તેમ કરી સહન કરવું, ક્ષમા અને શાંતિ ટકાવવી અને સમાધિભાવને જરાપણુ ખલલ ન પડે એવી રીતે વર્તવું.

जब अज्ञान का आवेग तूफान पर होता है तो कभी कभी नग्न सत्य के वक्ता को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है और आश्चर्य नहीं यदि अज्ञानी मानव विश्व प्रकाश पुंज को अपने ही हाथों बुझा दे। इतिहास साक्षी है मानव के विकास के लिये जिन्होंने नया प्रकाश दिया, क्रान्ति की नई लहर दी, उसके जीवन को नया मोड़ दिया, पर उस मानव ने उन्हें क्या दिया? किसी युगद्रष्टा महापुरुष को उसने फांसी पर चढ़ाया तो किसी सत्य के प्रखर वक्ता को जहर का प्याला पिलाकर दुनियां के प्लेटफार्म से हट जाने को विवश कर दिया तो किसी को गोली से वींध दिया।

पर उस महापुरुष ने क्या दिया?। उसने दुनियां का विष पिया और बदले में अमृत दिया। दुनियां ने उसे घृणा और तिरस्कार दिया तो उसने दुनियां को प्रेम और करुणा दी। सत्यद्रष्टा विचारक मौत की घड़ियों में भी अपने मारनेवाले के प्रति आशीर्वाद बरसाता है। पृथ्वी उन लोगों को भी आश्रय देती है जो उसे खोदते हैं, इसी प्रकार महापुरुष अपने हृदय में उन्हें भी आश्रय देते हैं, जो उन्हें सताते हैं। उर्दू का शायर बोलता है—

"कातिल का इरादा है बिस्मिल को मिटा देंगे। बिस्मिल का तकाजा है कातिल को दुआ देंगे।"

और सच बात यह है अपने मिटाने वाले के प्रति आशीर्वाद बरसाकर ही मानव महामानव बनता है। क्रोध का बदला क्रोध से लेने में क्या आनंद है? सारी दुनियां जानती है किन्तु क्रोध को क्षमा से जीतने का आनंद महापुरुष ही जानता है। दक्षिण के महान संत तिरुवल्लूर बोलते हैं-घमंड में चूर होकर जिन्होंने तुम्हें हानि पहुँचाई है उन्हें तुम अपनी भलमनसाहत से विजय कर लो-बदला लेने की खुशी केवल एक दिन रहती है, मगर जो पुरुष क्षमा कर देता है उसका गौरव सदा स्थिर रहता है। एक और महत्त्वपूर्ण बात वे कह गये हैं-अतिथिसत्कार से इन्कार करना ही सबसे अधिक गरीबी है तो मूर्खों की बेहूदगी को सहन करना सबसे बड़ी बहादुरी है।

एक विचारक अपने प्राण विघातक को भी इसलिये क्षमा कर देता है कि वह सोचता है इसने मेरे प्राण के दीप को बुझाया है किन्तु मेरे सत्य विचारों के प्रदीप को नहीं बुझाया और इसी विचारसृष्टि ने क्रूस पर चढे ईसा से मुंह से कहलवाया था परमात्मा इन्हें क्षमा करना ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं। इसी विचार ज्योति को पाकर गजसुकुमार की आत्मा ने सोमिल को क्षमा किया था और स्कंधक ने अपनी चमड़ी उतारनेवाले से कहा था - भाई! तुझे कष्ट तो नहीं हो रहा है? और इसी प्रकाश को पाकर राष्ट्रपिता गांधीजी की आंखों ने गोडसे को क्षमा किया था!।

यह पूरी विचार सृष्टि समत्व साधना की है। अज्ञानियों के कष्टों को हम सह सकें और मन में उनके प्रति दुर्भावना न आने पाएँ, उसकी यह साधना है इसके द्वारा हम कषाय पर विजय पा सकते हैं।

ऐसा ही एक रूपक बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। एक भिक्षु भगवान बुद्ध से अनार्य देश में विचरण की अनुमति मांगता है। तब करुणावतार बुद्ध बोले—

भिक्षु! वे अनार्य लोक तुम्हें गालियां देंगे और तुम्हारा अपमान करेंगे तो?

भन्ते! मैं समझूंगा ये केवल गालियां ही देते हैं, दंड आदि से प्रहार तो नहीं करते!

भिक्षु! यदि उन्होंने दंडे से प्रहार किया तो?

भन्ते! मैं समझूंगा इन्होंने दंडे से ही प्रहार किया है, शस्त्र से शरीर पर आघात तो नहीं किया!

भिक्षु! यदि किसी ने तुम्हारे शरीर पर शस्त्र से प्रहार किया तो?

भन्ते! मैं सोचूंगा इन्होंने मेरे प्राण तो विसर्जित नहीं किये!

भिक्षु! यदि वे प्राण लेने पर उतारू हो गये तो?

भन्ते! मैं सोचूंगा इन्होंने मुझे आत्महत्या के पाप से बचाया है!

दुर्जन पर सज्जनता की विजय की ऐसी कहानियां थोड़े परिवर्तन के साथ जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य में मिल जाती हैं।

टीका:—बालश्च पंडितं जीवितात् व्यवरोपयेत् तद् पंडित इत्यादि यावत् व्यपरोपयति न धर्माद् भ्रश्यति। मूर्ख इत्यादि पूर्ववत्। गतार्थः।

इसिगिरिणामाहण परिव्वायेणं अरहता इसिणा बुइतं.
जेण केणइ उवाएणं पंडिओ मोइज्ज अप्पकं।
बालेण उदीरिता दोसा तं पि तस्स हिजं भवे॥ १॥

अर्थ :- " ऋषिगिरि " नामक ब्राह्मण परिव्राजक अर्हतर्षि बोले-पंडित अपने आपको हर प्रकार से प्रमुदित रखे। अज्ञानी के द्वारा किये गये द्वेष प्रयत्न भी उसके लिये हितप्रद होते हैं।

गुजराती भाषान्तर:—

ऋषिगिरिनामक ब्राह्मण परिव्राजक अर्हतर्षि એમ બોલ્યા. બુદ્ધિમાન માણસે ગમે તેમ કરી પોતાને સંતુષ્ટ રાખવું જોઈએ. કેમકે મૂરખ માણસે કરેલા દ્વેષ વિગેરે પ્રયત્નો પણ તેને માટે સહાયક અને હિતપ્રદ બને છે.

ऋषिगिरि में दूसरे ब्राह्मण परिव्राजक हैं। वे साधक को लक्ष्य करके कह रहे हैं तेरे भीतर आनंद का स्रोत बह रहा है तो दुनियां का हर कण तुझे आनंदित करेगा। अज्ञानियों के द्वेषभरे कार्य क्या तेरे भीतर की शान्तिधारा को लुप्त कर सकेंगे? क्या वे तेरे भीतर द्वेष की आग प्रज्वलित कर सकेंगे? यदि हां, तो तेरे भीतर तेरा अपना कुछ नहीं रहा! तेरी शान्ति का तूं नियामक नहीं रहा! किन्तु भूल रहा है साधक! वास्तव में तेरी शान्ति का स्रोत तेरे भीतर ही है। इंग्लिश विचारक बोलता है-If you can rest yourself in this ocean of peace all the usual noises of the world can hardly affect you. यदि तुम अपने भीतर की शान्ति के सागर में आराम करते रहोगे तो दुनियां के शोक तुम्हारे पर असर न डाल सकेंगे। यदि भीतर शान्ति का स्रोत फूट पड़ा है तो अज्ञानियों के द्वेष-जन्य प्रयत्न भी आनंद देंगे जैसे कि बालक के कार्य माता को आनंद देते हैं। साथ ही उन प्रयत्नों से तुम्हारा तेज कम न हो सकेगा। गोशालक ने भगवान महावीर की अवमानता के लिये कितने प्रयत्न किये, किन्तु वे सभी प्रयत्न भ. महावीर के जीवन को अधिक से अधिक उज्ज्वल बनाते गये। विचारकों के लिये विरोध तो विनोद है उसी में वे चमकते हैं। एक विचारक ने कहा है-

Hardship and opposition are the native rail of manhood and self reliance. कठिनाई और विरोध वह देशी मिट्टी है जिसमें पराक्रम और आत्मविश्वास का विकास होता है। जैसे कोई भी सरकार प्रबल विरोधी दल के बिना अधिक दिन टिक नहीं सकती, ऐसे विरोध के बिना व्यक्ति चमक नहीं सकता। पर आवश्यकता है उस विरोध को सह लेने की। जिसने विरोध सह लेने की कला सीख ली है वह जीवन के मैदान में विजय लेकर ही लौटेगा।

टीका—येन केनचिदुपायेन पंडितात्मानं मुंचेत् दोषाद्बालेनोदीरिताद् तदपि स दोष एव तस्य पंडितस्य हितं भवेत्।

टीकाकार कुछ भिन्न अभिप्राय रखते हैं—पंडित किसी भी उपाय से अज्ञानियों द्वारा उदीरित दोषों से अपने आपको मुक्त करे तो भी वह दोष ही पंडित के लिये हितप्रद होगा।

अपडिण्णभावाओ उत्तरं तु ण विज्जती।
सइं कुव्वइ वेसे णो, अपडिण्णे इह माहणे ॥ २ ॥

अर्थ :—अप्रतिज्ञभाव से उत्तर नहीं होता है। साधक स्वयं अनेक में नहीं पडता, अर्थात् भविष्यकालीन संकल्प-विकल्पों से गुस्सा नहीं होता। साधक स्वयं द्वेष नहीं करता है और जो अप्रतिज्ञ होता है वही यथार्थ ब्राह्मण होता है।

गुजराती भाषान्तर:—

અપ્રતિજ્ઞ(રાગ–દ્વેષવિહીન)ભાવથી જવાબ મળવાનો સંભવ નથી. સાધક પોતે અનેક વસ્તુઓનો વિચાર કરતો નથી. એટલે ભવિષ્યકાલમાં થવાના કાર્યોનો સંકલ્પ (ઉગાઉ વિચાર) વિકલ્પ (કામ થશે કે નહી એને માટે સંશય) એના વિચારોમાં મગ્ન રહેતો નથી. સાધક કોઈનો દ્વેષ કરતો નથી અને જે માણસ અપ્રતિજ્ઞ (પ્રેમ કે દ્વેષથી રહિત) હોય છે તેજ બ્રાહ્મણ કહેવાય છે.

अप्रतिज्ञ भाव रागद्वेष रहित भाव है। उसके सामने कितने भी परिषह आवे, अज्ञानी उस पर कितने भी प्रहार क्यों न करे वह उत्तर न देगा। अतः साधक अप्रतिज्ञात भाव में रहे और प्रहार कर्ता पर भी आशीर्वाद बरसाये! यद्यपि यह एक कठिन साधना है। दक्षिण के प्रसिद्ध विचारक तिरुवल्लुर बोलते हैं-भूखे रहकर तपश्चर्या करनेवाले निःसंदेह महान् हैं, किन्तु उनका दर्जा उन लोगों के बाद ही है जो अपनी निंदा करनेवालों को क्षमा कर देते हैं। वास्तव में जो बदला न लेने की भावना से उपरत है वही यथार्थ ब्राह्मण है।

अप्रतिज्ञ भाव का अर्थ है जो क्रोध का उत्तर क्रोध से देने की प्रतिज्ञा नहीं करना। बदला या प्रतिहिंसा की भावना हृदय की नीचता की द्योतक है। प्रसिद्ध विचारक बेकन बोलता है—

He that studieth revenge keepeth his own wounds green which otherwise would heal and do well.

जो बदला लेने की सोचा है वह अपने ही घाव को हरा रखता है जोकि अब तक कभी का अच्छा हो गया होता। एक दुसरा विचारक भी बोलता है:—

In taking revenge a man is but equal to his enemy; but in passing it over he is superior.

बदला लेने से मनुष्य शत्रु के समान हो जाता है, किन्तु बदला न लेने से उससे महान बनता है।

अतः अर्हतर्षि साधक को अप्रतिज्ञ भाव से रहने की प्रेरणा दे रहे हैं।

टीका :—अप्रतिज्ञभावादुत्तरं न विद्यते स्वयं पंडितो वेशान् अनेकरूपान् भविष्यद् भावान् न प्रकरोति। यदि वा वैसेत्ति दोषे दोषे त्ति स्थाने लेखकभ्रमात्। अप्रतिज्ञ इह लोके भवति यथार्थो ब्राह्मणः। गतार्थः।

किं कज्जते उ दीणस्स णण्णत्थ देहकंखणं।
कालस्स कंखणं वा वि णण्णत्थं वा वि हायती ॥ ३ ॥

अर्थः—दीन व्यक्ति देह कांक्षा के अतिरिक्त क्या करता है? अथवा कभी मृत्यु की आकांक्षा करता है किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरे तत्व को नष्ट करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

સામાન્ય માણસ પોતાના (શરીરને ટકાવવા માટે જરૂરી ચીજોની અપેક્ષાથી) વધારે શું કરી શકે છે? તે કદાચ જીંદગીના અંતનો ખ્યાલ પણ કરે, પરંતુ ખરી રીતે તે તેના શિવાય બીજા તત્ત્વોનો નાશ કરે છે.

सामान्य मानव जब तक आराम में होता है तब तक वह जीवन चाहता है और जब संकट के क्षणों से गुजरता है तब वह मौत मांगता है। वह दीनता लेकर चलता है। जीवन की कला से वह अनभिज्ञ है तो मौत की मधुरिमा से भी वह अपरिचित है। मुसीबत से घबराकर मौत मांगना जीवन की बहुत बड़ी पराजय है। यह ठीक है मृत्यु से जब तक बन सके बचे रहना जीवन का पुरुषार्थ है। किन्तु साथ ही यह भी न भूलना होगा कि मृत्यु का यथार्थ वरण ही जीवन का चरम विकास है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो मनुष्य जीने का भरसक प्रयत्न करे, किन्तु जहां उसे मनुष्य की तरह जीने का अवसर मिले तो वह न चूके। मृत्यु मनुष्य की विवशता नहीं एक कला भी है। मृत्यु की गोद में सोकर सुकरात साधारण प्रचारक से बढकर अमर विचारक हो गया।

आराम में जीवन की चाह और संकट में मौत की चाह यह दीनता की भाषा है। विचारक न सुख में जीना चाहता है न दुःख में मौत मांगता है वह अपने लक्ष्य के लिये जीता है। यदि उसे मौत में लक्ष्य की सिद्धि दिखाई देती है तो वह मृत्यु को भी हंसते हुए वरण करेगा।

टीका-सामान्येन पुरुषेण किं क्रियते देहकांक्षणात् त्ति अन्यत्र न किंचिदित्यर्थः, दीनस्य कालकांक्षणं प्रायोपगमनादिना मृत्युप्रतीक्षणं वा लोकादन्यत्वं वात्मस्वभावत्वं हीयते न ज्ञायते।

अर्थात् सामान्य पुरुष देहकांक्षा के अतिरिक्त क्या करता है।? "णणत्थ" अन्यत्र अर्थात् दूसरा कुछ नहीं जानता है। दीन व्यक्ति की कालकांक्षा अर्थात् प्रायोगमनादि के द्वारा मृत्यु की प्रतीक्षा करना भी संभव है, यह लोक से अनन्यत्व एकरूपता अथवा आत्मस्वभाव की हानि है कहा नहीं जा सकता।

णच्चाण आतुरं लोकं णाणावाहिहि पीलितं।
णिम्ममे णिरहंकारे भवे भिक्खु जितिंदिये ॥ ४ ॥

अर्थ :—लोक को आतुर और नानाविध व्याधियों से पीड़ित जानकर भिक्षु ममत्व और अहंकार रहित होकर जितेन्द्रिय बने।

गुजराती भाषांतर :—

લોકોને આતુર (પીડાથી દુઃખિત) જોઇને તેમજ નાનાવિધ દરદોથી પીડાયેલા જોઇને સાધકે મમત્વ અને અહંકારનો ત્યાગ કરી જિતેન્દ્રિય (ઇન્દ્રિયોનું દમન કરવું) જોઇએ.

लोक आतुर है। दुनियां अपने स्वार्थों के पीछे भाग रही है। किन्तु यह आतुरता ही भय और रोग की परंपरा लिये खड़ी है। क्योंकि कोई भी भोग रोगशून्य नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को भोग का मूल्य रोग के रूप में चुकाना पड़ता है।

१ कालं अपयक्खं माणे विहरइ। उपासकदशा अ० १.

एक विचारक ने ठीक कहा है—

· Pleasure 's coach is a virtue's grave.

भोग का सिंहासन सद्गुण की कब्र है ।

क्षणिक तुष्टि के पीछे आनेवाली संकटों की बाढ़ को साधक अपनी आंखों से देखता है। अतः जन मानस की उस अशान्ति में भी साधक प्रेरणा के बीज खोजे और आतुरता का परित्याग कर ममकार और अहंकार से विहीन हो जितेन्द्रिय बने ।

पंचमहव्वयजुत्ते अकसाये जितिंदिये ।
से हु दंते सुहं सुयति णिरुवसग्गे य जीवति ॥ ५॥

अर्थ :—पंचमहाव्रतों से युक्त, कषाय रहित, जितेन्द्रिय और दमनशील साधक सुख से सोता है और उपसर्ग रहित जीवन जीता है ।

गुजराती भाषांतर :—

પંચ મહાવ્રતોથી યુક્ત, કષાય વગરનો, ઇન્દ્રિયો પર કાબૂ મેળવેલ અને દમનશીલ સાધક સુખથી નીંદ લે છે અને ફીકરવગરનું જીવન ગુજારે છે.

आत्मिक शान्ति कौन पा सकता है और किसका जीवन कष्टों और पीड़ाओं से मुक्त रहता है इसका उत्तर प्रस्तुत गाथा दे रही है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के पंच महाव्रत जिसकी आत्म-शान्ति की सुरक्षा कर रहे हैं । इच्छाओं की रस्सियों को जिसने तोड़ डाला है और कषाय की ज्वाला जिसकी शान्त हो चुकी है; वही आत्म दमन-शील साधक सही अर्थों में सुख की नींद सोता है । वासना जन्य कष्ट उसके जीवन में प्रवेश नहीं पा सकते ।

"सुहं सुयति" यह एक मुहावरा है। मानव जब किसी बडे कष्ट से मुक्ति पाता है तब बोल उठता है-अब मैं सुख की नींद सोऊंगा। इसी प्रकार जो साधक इच्छाओं की पीड़ा से मुक्त हो जाता है वही पूर्ण सुख की अनुभूति करता है ।

जे ण लुब्भति कामेहिं चिण्णसोते अणासवे ।
सव्व-दुक्ख-पहीणो उ सिद्धे भवति णीरए ॥

अर्थ—जो कामों में लुब्ध नहीं होता है और जो छिन्नस्रोत है और अनाश्रित होता है, वह समस्त दुःखों से मुक्त हो कर्मरज रहित सिद्ध होता है ।

गुजराती भाषांतर :—

જે માણુસને વાસનાઓ આકર્ષિત કરી શકતા નથી, સ્રોતોને છેદી નાખી અનાશ્રિત બની ગયો છે તેજ માણુસ બધાં દુઃખોથી મુક્ત બની કર્મરજથી રહિત સિદ્ધ બને છે.

वासना में जिसे लुभा नहीं सकती वही वासना के स्रोत को सुखा सकता है और कर्मास्रव को रोक सकता है। जो आस्रव रहित है वही दुःख-परंपरा को रोक सकता है और वही आत्मा कर्म-रज-रहित हो, शाश्वत सिद्ध स्थिति पा सकता है।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं—

तेंहतीसवें अध्याय की भांति ही यहां पर भी घटनाओं का निश्चित संख्या के रूप में वर्णन करते हैं। स्थानांग सूत्र में भी यह संख्या के रूप में आया है, किन्तु वहां इतना स्पष्ट नहीं है। श्रद्धावान् को अज्ञानी के सामने रखा है और विद्वान् पुरुष अज्ञानियों के प्रहार से अपने आपको कैसे मुक्त करे यह इसमें बताया गया है। जो उस पर प्रहार होते हैं सद्-विचारों के द्वारा उन्हें अच्छे रूप में स्वीकार करता है, क्योंकि वह समस्त बंधनों से मुक्त है । आचारांगसूत्र में " अवदिन्न " शब्द अनेक बार आया है। उसमें बताया गया है कि वैर के कार्यों का परिणाम सुन्दर नहीं आता[१] है ।

तृतीय श्लोक में दीन शब्द छट्ठी विभक्ति में आया है जिसका मतलब यह है कि वह (साधन) शरीर को टिकाये रखने के लिये वह जीता है, पश्चात् इच्छाओं की समाप्ति एवं ज्ञान प्राप्ति के बाद वह आत्मा संसारी जीवों के साथ नहीं रहता ।

एवं से सिद्धे बुद्धे गतार्थः ।
इति इसिगिरिअर्हतर्षि प्रोक्त
चौतीसमं अध्ययनं

---

१ वेराउ वेरं वड्ढइ ।
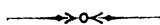
अदालक अर्हतर्षि प्रोक्त

पैंतीसवां अध्ययन

अनंत युग से आत्मा शान्ति की खोज में भटक रहा है। किन्तु शान्ति के लिये किये गये वे सभी प्रयत्न शीतल हवा के लिये ज्वालामुखी पर आरोहण से हो रहे हैं। हिमालय के बदले ज्वालामुखी को चुनकर शान्ति की आशा केवल स्वप्न है। दूध के बर्तन को आग पर रखकर उसे उबालने से बचाना संभव नहीं है, इसी प्रकार कषाय की ज्वाला के निकट रहकर शान्ति की सांस लेना भी संभव नहीं है।

मानव मुक्ति के लिए सो सो प्रयत्न करता है किन्तु जब तक वह अपने हृदय से कषाय को दूर नहीं करता तब तक मुक्ति नहीं पा सकता। मुक्ति न वेष बदलने में है, न किसी संप्रदाय विशेष के खुंटे से बंध जाने में ही मुक्ति है। मुक्ति है कषाय विजय में।[1]

विश्व के हर महापुरुष ने क्रोध की निन्दा की है। आचार्य विनोबा कहते हैं-संपूर्ण संसार को एकता के सूत्र में बांधने की योजनाएं बनाना सरल है, किन्तु अपने हृदय में रहनेवाले क्रोध पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। क्रोध की खुराक है मानव का मनोबल। क्रोध मानव की विचार शक्ति को दुर्बल बनाता है, इसीलिये तो उसका अस्त्र सर्व प्रथम उसके चालक को ही घायल करता है।

आग ठंडे पानी से भी बुझ सकती है और गरम से भी। किन्तु विश्व के तीन मानवों में एक भी ऐसा मूर्ख न होगा जो आग लगने पर पानी को गरम करने बैठे। ठीक ऐसे ही समाज या परिवार की समस्या शान्त दिमाग से भी हल होती है और कभी गर्म दिमाग भी उसको सुलझा देता है किन्तु जो समस्या को सुलझने के लिये पहले क्रोध के द्वारा मस्तिष्क को उबालने लगे उसे क्या कहा जाय?।

क्रोध पाप का जनक और पुण्य का भक्षक है। एक विचारक ने कहा है-

Anger blows out the lamp of the mind. क्रोध मन के दीपक को बुझा देता है।

हमें सोचना है क्रोध क्यों आता है? क्रोध की जड़ अहंकार में है। जब मनुष्य के "अहं" पर चोट लगती है तो दर्प का सर्प फुफकार उठता है। उसके खून में उबाल आ जाता है और मस्तिष्क की दिशा सूचक सुई भी घुम जाती है वह सही रास्ता नहीं दिखाती। उसकी जीभ भी ठीक काम नहीं देती। वाणी और देह की यही विकृति क्रोध है। प्रकृतिस्थ होने के लिये विकृति को समाप्त करना होगा। प्रस्तुत अध्याय कषाय-विजय की प्रेरणा देता है।

चउहिं ठाणेहिं खलु भो जीवा कुप्पंता; मज्जंता गूहता लुब्भंता वज्जं समादियंति, वज्जं समादित्ता चाउरंत संसारकंतारे पुणो पुणो अत्ताणं परिविद्धंसंति, तं जहा कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं।

अर्थ—क्रोध करते हुए, मद करते हुए, छिपाते हुए और लोभ करते हुए जीव इन चार स्थानों से पाप को ग्रहण करते हैं और पाप ग्रहण करके चातुरन्त संसार वन में पुनः पुनः अपनी आत्मा को (आत्म गुणों को) नष्ट करते हैं। वे ये हैं क्रोध के द्वारा, मान के द्वारा, माया के द्वारा और लोभ के द्वारा।

गुजराती भाषांतरः—

ગુસ્સાવાળો, મદથી ઉન્મત્ત, છુપાવનારો અને લોભી માણસ પોતપોતાના ચાર કર્મોથી પાપોનો સંગ્રહ કરે છે. પાપોનો સંચય કરી ચાતુરન્ત સંસારરૂપી જંગલમાં આવી ઘડી ઘડી આત્મા(ના ગુણો)ને નાશ કરે છે. તે કર્તા (કરાવનાર) આ છે. ક્રોધ, માન, માયા, અને લોભ એટલે આ ચારથીજ પાપનો સંચય થાય છે.

क्रोध मान माया और लोभ ये आत्मा की विभाव परिणतियां हैं। आत्मा स्वभाव से हटकर जब इन विभाव परिणतियां में जाता है तब सावद्य को ग्रहण करता है। वह सावद्य पाप आत्मा को पुनः विभाग की ओर ले जाता है और इस रूप में आत्मा की भवपरंपरा की लता सदैव पल्लवित और पुष्पित रहती है। दशवैकालिक सूत्र में भगवान महावीर की वाणी गूंज रही है।

---

१ कषायमुक्तिः किल एव मुक्तिः. २ पडि.

कोहो य माणो य अणिग्गहिया माया य लोभा य पवड्ढमाणा ॥
एए य चत्तारि कसिणा कसाया, सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥—दशवै०।

यदि क्रोध और मान निग्रहित नहीं है माया और लोभ की ज्वाला धधक रही है तो यह कषाय चतुष्क भव-परंपरा की जड़ को सदैव सींचता रहेगा। क्योंकि जन्म परंपरा के मूल कर्म[1] हैं और कर्म रागद्वेष प्रेषित होते हैं। रागद्वेष कषाय में अंतर्मुक्त हैं। स्थूल दृष्टि से क्रोध और मानद्वेष प्रेरित हैं और माया और लोभ रागप्रेरित हैं।

श्रीजिनभद्रगणि 'क्षमाश्रमण' नय विचार से राग और द्वेष में कषाय का विभाजन करते हुए कहते हैं:–

कोहं माणं वऽप्पीह, जाइओ बेइ संगहो दोसं। माया लोभेय सपीइ, जाइ सामण्णओ रागं ॥
मायं पि जं दोसमिच्छइ ववहारो जं परोवघायाय। नाओ वा दाणेच्चिय मुच्छा लोभोत्ति तो रागं।
उज्जुसय मयं कोहो दोसो सेसाण मय णेगन्तो। रागो त्ति व दोसो त्ति व परिणामवसेण उविसेओ ॥
विशेषावश्यक भाष्य २६६६–२६७१.

संग्रह नय के विचार से क्रोध और मान द्वेष रूप हैं जब कि माया और लोभ राग हैं। क्योंकि प्रथम दो में दूसरे की अहित भावना है और अन्तिम दो में अपनी स्वार्थ साधना का लक्ष्य है। व्यवहार नय की दृष्टि से क्रोध मान और माया तीनों द्वेष रूप हैं, क्योंकि माया में भी दूसरे की विघात के ही विचार हैं। केवल लोभ ही अकेला रागात्मक है, क्योंकि उसी में ममत्व भाव है।

ऋजुसूत्र नय केवल क्रोध को ही द्वेषरूप मानता है। शेष कषाय त्रिक के सम्बन्ध में एकान्ततः ऐसा स्वीकार नहीं करता है, कि वे केवल राग प्रेरित हैं या केवल द्वेष प्रेरित।

अध्यवसाय विशेष से प्रेरित मानादिक भी द्वेषात्मक प्रवृत्ति करते हैं तो कभी राग की ओर भी झुकते हैं, जब वे स्वहित की सुख में प्रवृत्त हों तब इनका स्वार्थप्रेरित रूप रागात्मक वृत्ति का द्योतक है और जब वे दूसरे के विनाश में प्रवृत्त होते हैं तब द्वेष रूप हैं। ऋजु सूत्र नय वर्तमान क्षणग्राही हैं, अतः वह क्रोध और मान को द्वेष रूप एवं माया और लोभ राग रूप हैं ऐसा भेद मानने को वह तैयार नहीं हैं।

शब्दादि तीनों नय इनसे भिन्न मत रखते हैं। उनकी दृष्टि में क्रोध, मान, माया और लोभ जब स्वगुण उपकारात्मक उपयोग में होते हैं तब तीनों मूर्च्छात्मक भाव में हैं, अतः राग ही है। और जब वे दूसरे की अनिष्ट भावना से प्रेरित होते हैं तब द्वेष रूप है।

कषाय चाहे रागरूप हो या द्वेषरूप, अन्ततः ये सभी भवपरम्परा की वृद्धि करते हैं।

टीका—चतुर्षु स्थानेषु खलु भो जीवाः कुप्यन्तो माद्यन्तो गृह्यन्तो लुभ्यन्तो वज्रं समादयन्ति वज्रं समादाय चातुरन्तसंसारकान्तारे पुनःपुनरात्मानं प्रतिविध्वंसंति, तत् तथा क्रोधेन मानेन मायया लोभेन। गतार्थः।

तेसिं च णं अहं परिघातहेउं, अकुप्पंते, अमज्जंते, अगूहंते, अलुब्भंते, तिगुत्ते, तिदंड-विरते, णिस्सल्ले, अगारवे, चउविकहविवज्जिए, पंचसमिते समिए, पंचेंदियसंवुडे, सरीर सद्धरणट्ठा जोग-संघणट्ठा, णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविप्पमुक्कं उग्गमुप्पायणसुद्धं तत्थ तत्थ इतरा इतरा कुलेहिं परकडं परणिट्ठितं विगतिंगालं विगतधूमं, सत्थातीतं, सत्थरिणतं, पिंडं सेज्जं उवहिं च एसे भावेमित्ति अद्दालेणं अरहता इसिणा बुइतं।

अर्थ:—अब मैं कषायों के प्रतिघात के लिये क्रोध नहीं करता, मान नहीं करता, छल से दूर रहता और लोभ नहीं करता। त्रिगुप्तियों से गुप्त त्रिदंड से विरत शल्य-रहित, गर्व-रहित, चार विकथाओं से विवर्जित, पंच समितियों से युक्त, पंच इन्द्रियों से संवृत होकर, शरीर धारण के लिये और योगों के संधान के लिये, नवकोटि परिशुद्ध दस दोषों से विप्रमुक्त उद्गम और उत्पाद के दोषों से शुद्ध यहां वहां अन्यान्य कुलों से दूसरों के लिये बनाया हुवा अग्नि और धूम रहित शस्त्रातीत और शस्त्र परिणत आहार शय्या और उपाधि को ग्रहण करता हूं और आत्मा को भावित करता हूं। उद्दालक अर्हतर्षि ऐसा बोले।

---

१ कम्मं च जाइमरणस्स मूलं। दुक्खं च जाइ मरणं वयंति ॥ उत्तरा० अ० ३२

गुजराती भाषान्तर:—

હમણાં હું કષાયો (પર વિજય મેળવી તે)નો નાશ (ઘાતક પ્રવૃત્તિ) કરવા માટે ગુસ્સો કરતો નથી, માન કરતો નથી, છલથી દૂર રહું છું અને લોભ કરતો નથી. ત્રિગુપ્તિયોથી ગુપ્ત ત્રિદંડ (મન, વાણી અને દેહ) થી વિરત, શલ્ય (માયા નિદાન, ફલની અભિલાષા, અને મિથ્યાદર્શન) રહિત, અભિમાન રહિત, ચાર (સ્ત્રીની, દેશની, રાજની અને ભોજનની) કથાઓથી રહિત, પાંચ (ઇર્યા, ભાષા, એષણા, આદાન, નિક્ષેપ, ઉચ્ચાર પ્રસ્ત્રવણા) સમિતિઓથી યુક્ત, પાંચે ઇંદ્રિયોથી સંવૃત, દેહધારણ માટે અને યોગના સંધાન માટે નવકોટિ પરિશુદ્ધ દોષોથી પરિમુક્ત, ઉદ્ગમ અને ઉત્પાદના દોષોથી શુદ્ધ, અહીંયા અગર બીજે ઠકાણે બીજા કુલોથી બીજાઓને માટે બનાવેલા અગ્નિ અને ધુંવાડાથી રહિત, શસ્ત્રાતીત અને શસ્ત્રપરિણત, આહાર, શય્યા અને ઉપાધિને હું સ્વીકાર કરું છું અને આત્માને ભાવિત કરું છું એમ ઉદ્દાલક ઋષિ બોલ્યા.

कषाय पर विजय पाने के लिये साधक को कषाय की परिणति से दूर रहना चाहिये । उसे क्षमा विनय सरलता और निर्लोभता के भावों में रत रहना चाहिये । साथ ही उसकी आहार और व्यवहार शुद्धि भी आवश्यक है । समिति और गुप्तियाँ उसे साधना में लीन रखती हैं। मन, वाणी और काया को अशुभ से हटकर शुभ की ओर प्रवृत्त करना गुप्ति[1] है।

त्रिदंड:—मन वाणी और काया की आत्म विघातिनी प्रवृत्ति दंड है ।

निःशल्य:—माया निदान = फलासक्ति और मिथ्यादर्शन ये शल्य हैं, इनसे विरत निःशल्य कहा जाता है।

चउविकहा:—स्त्री-कथा, देश-कथा, राज-कथा, भात्त = भोजन कथा ये चारों विकथा व्यर्थ कथाएं हैं ।

पंचसमिति:—ईर्या = विवेकपूर्वक चलना, भाषा = विवेकपूर्वक सीमित बोलना, एषणा = शुद्ध भोजन की शोध, आदान निक्षेप निजी सीमित सामान को यत्न के साथ लेना और रखना.

उच्चार प्रस्रवणादि = परिस्थापन = एकान्त स्थान में विवेकपूर्वक मल मूत्रादि विसर्जन करना । ये पांचों समितियां हैं। उपयुक्त प्रवृत्ति समिति है। गुप्ति निवृत्ति है तो समिति प्रवृत्ति है । साधक जीवन निवृत्ति और प्रवृत्ति के दो तटों के बीज बहता है, किन्तु दोनों में ही उसका विवेक जागृत रहना चाहिए ।

मूल और उत्तर गुणों से संयमित जीवनवाले साधक को भी भोजन की आवश्यकता होती है, किन्तु भोजन नवकोटि शुद्ध[2] हो । एषणा = गवेषणा भोजन प्राप्ति के दोषों से रहित तथा उद्गम और उत्पादक के दोषों से मुक्त हो । जिस भोजन के निर्माण और उसके संस्थापन में मुनि का संकल्प हो वह मुनि के लिये अग्राह्य है। उद्गम और उत्पादन के क्रमशः सोलह दोष हैं। विशुद्ध भोजन भी मुनि एक ही घर से ग्रहण न करे, किन्तु विविध कुलों में जाकर शुद्ध भोजन ले । मुनि की भिक्षा भ्रमरवृत्ति है । दशवैकालिय सूत्र के प्रथम अध्याय में मुनि की भिक्षा-विधि का सुंदर निरूपण किया गया है ।

जैसे भ्रमर वृक्ष के फूलों का रस ग्रहण करता है, किन्तु वह इतना कुशल है कि उस के रस ग्रहण से न पुष्पोंको पीड़ा होती है, न वह स्वयं ही अतृप्त रहता है । साधक की भिक्षा भी ठीक इसी प्रकार की हो । वह समाज उद्यान में पहुंचे गृहस्थ पुष्पों से रस ले किन्तु उसके द्वारा वे फूल मुर्झाने भी नहीं चाहिये ।[3].

भोजन दूसरों के लिये बनाया गया हो अग्नि और धूवें से रहित हो । भोजन शस्त्र परिणत हो साथ ही शस्त्र से रहित भी हो ।[4]

---

१ सम्यग्योगनिग्रहीगुप्तिः तत्त्वार्थ अ० ९ सू० ८. २ जो भोजन मुनि ने बनाया न हो, न दूसरे से बनवाया हो और न उसके लिये अनुमोदन ही किया हो। जो काय मन वाणी और देह तीन्हों से पृथक् है वह नवकोटि शुद्ध कहलाता है, मन से न करना, न करवाना, न अनुमोदन करना ऐसे ही वाणी और काया के द्वारा ये नव कोटियां हैं।

३ जहा दुम्मस्स पुप्फेसु भमरो आ वियइ रसं ।
णयपुप्फं किलामेइ सोय पीणइ अप्पयं ॥
एमे ए समणामुत्ता जे लोए संति साहणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु दाण भत्तेसणे रयी ॥—दशवै. अ. १. गाथा २-३

४ शस्त्र से यहां चाकू आदि अभिप्रेत नहीं हैं किन्तु एक द्रव्य में विजातीय द्रव्य का मिश्रण; जिस आघात को द्रव्य जीव सह न सके जैसे शाक आदि में नमक मिश्रण हो वह द्रव्य शस्त्रपरिणत है। ५ उस द्रव्य के साथ नमकादि शस्त्र पृथक् रूप में उपस्थित न हो। अन्यथा वट सचित एवं अनेषणीय होगा।

टीका—तेषां च कषायाणामहं परिघातहेतोरकुप्यन्नमाद्यन्नगुह्यन्नलुभ्यंस्त्रिगुप्तस्त्रिदंड–विरतो, निःशल्योऽगारवः स्त्री–भक्त–देश–राज विशेषितत्‌चतुर्विकथाविवर्जितः पंचसमितः पंचेन्द्रियसंवृतः शरीरसंधारणार्थं योगसंधानार्थं नवदोष-कोटिपरिशुद्धं दशदोष–विप्रमुक्तं, उद्‌गमोत्पादनदोषशुद्धं तत्र तत्रेतरेषु कुलेषु परार्थं कृतं निष्ठितं, विगतांगारं, विगतसर-साहारधनवद् दातृवर्णनं, विगतधूमं विरसाहारकृपणदातृ-निन्दन-वर्जितं शस्त्रातीतं शस्त्रपरिणतं पिंडं शय्यामुवधिं चैषा भावयामीत्यर्षिणा भाषितं । गतार्थः ।

विशेष विगतागारं और विगत धूम के साथ कुछ विशेषण और जोड़े हैं । सरसा आहार और धनवान दाता का वर्जन करना चाहिये । क्योंकि धन का पूजारी गुण पूजा को महत्व नहीं देता और वह अपने यहां आगंतुक संत को भी रसलोलुप भिक्षुक ही समझता है । कृपण के यहां भी मुनि भिक्षा के लिये न जाए, क्योंकि जिसका दिल संकुचित है उसके पास भी कुछ नहीं मिल सकता । कृपण का दूसरा अर्थ गरीब भी होता है । दीन-दुःखियों के उद्देश्य से बनाये गये भोजन को मुनि ग्रहण न करे । साथ ही मुनि निन्दित गृह में भी प्रवेश न करे ।

अण्णाणविप्पमूढप्पा पच्चुप्पण्णाभिधारए ।
कोवं किच्चा महाबाणं अप्पा विंधइ अप्पकं ॥ १ ॥

अर्थ:—अज्ञान से घिरा हुआ मूढ़ात्मा केवल वर्तमान को ही देखता है क्रोध को महाबाण बनाकर उसके द्वारा अपने आपको बांध डालता है ।

गुजराती भाषान्तर:—

અજ્ઞાનથી ઘેરાયેલો મૂઢ માનવ કેવલ ચાલૂ હાલત તરફ જ ધ્યાન આપે છે. ગુસ્સાને મહાબાણ (શસ્ત્ર) બનાવી તેનાથી જ પોતે ઘાયલ બની જાય છે.

अज्ञानशील आत्मा की दृष्टि केवल वर्तमान तक ही सीमित रहती है । इसीलिये उसके वर्तमान सुख में जरा भी कमी होती है, या उसके स्वार्थ को ठेस लगती है तो उसका क्रोध उबल पड़ता है । क्रोध मानव का विवेक दीपक बुझा देता है । एक इंग्लिश विचारक ने कहा है:-

An angry man opens his mouth and shuts his eyes. क्रोधी मनुष्य आंखें मूंद लेता है और मुंह खोल देता है ।

वह यह नहीं सोचता कि मेरे इन शब्दों का परिणाम क्या आयेगा । क्रोध के प्रारंभ में मूर्खता है और उसके अन्त में पश्चात्ताप रहता है । क्रोध जब अलग दरवाजे से प्रवेश करता है तो विवेक पीछे की ओर से भाग खड़ा होता है ।

क्रोधी मानव क्रोध के बाण से स्वयं अपने आपको वींध लेता है । हजारों की संख्या में होनेवाली आत्महत्याएं इसी की साक्षी है । दूसरे को जलाने के लिए जो आग फेंकने की चेष्टा करते हैं, उस आग से दूसरा जलेगा या नहीं यह दूर की बात है किन्तु आग अपने फेंकने वाले के हाथ को जरूर जलाती है ।

क्रोध पर विजय पाने के लिये क्रोध विजेताओं को स्मृतिपथ में लाना चाहिये । आग बुझाने के लिये फायर ब्रिगेड को बुलाया जाता है तो क्रोध के उपशमन के लिये क्षमा के देवता गजसुकुमाल को याद करना चाहिये । उनका उज्ज्वल इतिहास क्षमा की पुड़ियां दे जाता है । साथ ही क्रोध के उपशमन के लिये क्रोध आने बाद विचार करना चाहिये । क्रोध क्यों आया ? उसमें गलती किसकी थी ? यदि मेरी गलती थी और उसने बताई तो फिर क्रोध की आवश्यकता क्या थी ? यदि गलती दूसरे की थी फिर भी उसे गुस्सा आयगा तो मुझे शान्त रहना था ।

मण्णे बाणेण विद्धे तु भवमेक्कं विणिज्जति ।
कोधबाणेण विद्धे तु णिज्जती भवसंतति ॥ २ ॥

अर्थ:—बाण से वींधे जाने पर एक भव बिघड़ता है । क्रोध बाण के प्रविष्ट होने पर भव-परंपरा ही बिगड़ जाती है ऐसा मैं मानता हूं ।

गुजराती भाषान्तर:—

બીજા બાણુથી ઘાયલ થયા પછી એકજ ભવ બગડે છે. ગુસ્સાનો બાણુ વાગ્યા પછી ભવપરંપરા (અનેક ભવ) બગાડે છે, એમ હું માનું છું.

दूसरे बाण शरीर को लगते हैं, शरीर धराशायी हो जाता है और जीवन की यात्रा समाप्त हो जाती है। किन्तु क्रोध का बाण हजारों भवों को विकृत करता है। यह क्रोध का ही परिणाम था कि गौशालक ने भ० महावीर जैसे पवित्र सन्त पर तेजोलेश्या फेंकी। विश्व के महायुद्ध और संहार का इतिहास भी क्रोध की कलम से लिखा गया है। विपाक सूत्र की कथाएं भी कषाय का परिणाम बता रही हैं।

अण्णाणविप्पमूढप्पा पच्चुप्पण्णाभिधारए।
माणं किच्चा महाबाणं अप्पा विंधइ अप्पकं ॥ ३ ॥
मण्णे बाणेण विद्धे तु भवमेकं विणिज्जति।
माणबाणे विद्धे तु णिज्जती भवसंततिं ॥ ४ ॥

अर्थ :—अज्ञान से घिरा हुआ आत्मा वर्तमान को ही पकड़ कर रखता है और मान को महाबाण बनाकर आत्मा अपने आपको वींध लेता है।

बाण से वींधा हुआ व्यक्ति एक ही भव को नष्ट करता है, किन्तु मान के बाण से वींधा हुआ व्यक्ति अनेक भवों को विकृत करता है, ऐसा मैं मानता हूं।

गुजराती भाषान्तर :—

અજ્ઞાનથી ઘેરાયેલો માણસ ચાલૂ હાલત ને પકડી રાખે છે અને અહંકારનો મહાબાણ બનાવી પોતે જ પોતાનો બોધ (ખોટો ખ્યાલ) કરી લે છે.

બીજા બાણથી ઘાયલ થયેલ માણસ એકજ ભવનો નાશ કરે છે, જ્યારે અહંકારના બાણથી ઘાયલ થએલો માણસ ઘણાજ ભવોને બગાડે છે, એમ હું માનું છું.

अहंकार मानव-मन का नागपाश है। दर्प का सर्प जब मानव को डसता है तो उसके नशे में अपने आपको सर्वश्रेष्ठ मान बैठता है। मगरूर की हवा उसे फूला अवश्य देती है, किन्तु चैन से कहीं बैठने नहीं देती। यह भी निश्चित है मनुष्य जितना छोटा होता है उसका अहंकार उतना ही बड़ा होता है। पश्चिमी विचारक फ्रैंकलिन ने कहा है-घमंडी व्यक्ति भी दूसरे के घमंड से नफरत करता है। फिर भी उसे अहंकार से नफरत नहीं है, क्योंकि वह अपने आपको बहुत बड़ा मानता है।

नम्रता ने शैतान को फरिश्ता बनाया है तो अहंकार ने फरिश्ते को शैतान बनाया है[1]।

अहंकार ज्ञान का सबसे बड़ा अवरोधक है। बाहुबली को अल्प अहंकार भी उनकी साधना का सबसे बड़ा बाधक बन गया था।

अण्णाणविप्पमूढप्पा पच्चुप्पण्णाभिधारए।
मायं किच्चा महाबाणं अप्पा विंधइ अप्पकं ॥ ५ ॥
मण्णे बाणेण विद्धे तु भवमेकं विणिज्जति।
मायाबाणेण विद्धे तु णिज्जती भवसंततिं ॥ ६ ॥

अर्थ :—अज्ञान के आवरण में रहा आत्मा वर्तमान को ही पकड़ता है। माया को महाबाण बनाकर आत्मा अपने आपको वींधता है।

दूसरे बाण से वींधे जाने पर एक ही भव नष्ट होता है, किन्तु माया के बाण से वींधा गया व्यक्ति भवपरंपरा को विकृत करता है, ऐसा मैं मानता हूं।

गुजराती भाषान्तर :—

અજ્ઞાનના આવરણથી ઢંકાયેલો આત્મા હાલની પરિસ્થિતિને પકડીને જ બેસે છે. તે માણસ માયાનો મહાબાણ બનાવી પોતેજ પોતાને ઘાયલ કરી લે છે.

---

1. It was ride that changed angels into devils it is humility that makes men as angels.

બીજા બાણથી ઘાયલ થયેલા માણસનો એકજ ભવ બગડે છે; પરંતુ માયાના બાણથી ઘવાયેલો માણસ ભવપરંપરા (એટલે અનેક ભવો)ને બગાડી દે છે, એમ હું માનું છું.

सरलता की भूमि में धर्म का पौधा लगता है। जीवन की वक्रता सरल वस्तु को विकृत बना देती है। डाक्टर से कपट रखकर कोई भी रोगी स्वस्थ नहीं हुआ है। अध्यापक से छल कर कोई भी व्यक्ति शिक्षा नहीं पासका। वकील से दुराव छिपाव छुपाकर कोई भी मुवक्कील विजय नहीं पा सका।

आलोचना जैसी पवित्र क्रिया भी दूषित हो जाती है। जो आलोचना शुद्ध हृदय से की जाती है तो जिस पाप का एक मास का प्रायश्चित्त आता है, किन्तु छल के द्वारा की हुई आलोचना करने पर उसी अपराध का दो मास का प्रायश्चित्त आता है[1]।

आगम में मायाशील आत्मा को मिथ्या दृष्टि बताया गया है। 'मायी मिच्छादिट्ठी अमायी सम्मदिट्ठी'। साथ ही माया को तिर्यग्योनि का बन्ध हेतु बताया गया है[2]। जीवन की वक्रता शरीर को भी वक्र बना देती है।

अण्णाणविप्पमूढप्पा पच्चुप्पण्णाभिधारए।
लोभं किच्चा महाबाणं अप्पा विंधइ अप्पकं ॥ ७ ॥
मण्णे बाणेण विद्धे तु भवमेकं विणिज्जति।
लोभबाणेण विद्धे तु णिज्जती भवसंततिं ॥ ८ ॥

अर्थ :—अज्ञान से आवृत आत्मा वर्तमान को ही ग्रहण करता है। लोभ को महाबाण बनाकर उसके द्वारा आत्मा स्वयं को वींध लेता है।

अन्य बाण से वींधा हुआ आत्मा एक भव को ही खोता है, पर लोभ बाण से विद्ध व्यक्ति अनेक भवों को खो बैठता है।

गुजराती भाषान्तर :—

અજ્ઞાનથી આવૃત (ઘેરાયેલો) માનવ ચાલૂ પરિસ્થિતીને જ વળગી રહે છે. લોભને મહાબાણ (મોટામાં મોટું સાધન) સમજી પોતાના જ કૃત્યોથી પોતાને ઘાયલ કરી બેસે છે.

બીજા બાણથી ઘાયલ થયેયો આત્મા કદાચ એક ભવને ખોઈ બેસે છે, પણ લોભરૂપી બાણથી ઘાયલ થયેલ આત્મા ઘણા જ ભવોને ખોઈ બેસે છે.

लोभ यह चतुर्थ कषाय है जिसके लिये आगम बोलते हैं "लोहो सव्वविणासणो।" लोभ समस्त विनाश का हेतु है। इंग्लिश कहावत है-Avarice is root of all evils. लोभ समस्त पापों की जड़ है।

चेड़ा और कोणिक के बीच हुए युद्ध और भीषण नरसंहार के पीछे एक हृदय का लोभ ही तो बोल रहा था। विभिन्न राष्ट्रों में होनेवाली रक्त-क्रान्तियों की जड़ में लोभ ही बोल रहा है। संग्रह और शोषण वृत्ति के पीछे भी यही काम करता है।

टीका :—अज्ञानविप्रमूढात्मा प्रत्युत्पन्नाभिधारकः कोपं मानं मायां लोभं कृत्वा महाबाणमात्मा विध्यत्यात्मानं। मन्ये बाणेन विद्ध एकमेव भवं विनीयते क्रोधमानमायालोभबाणेन विद्धस्तु भवसंततिं नीयते जनः। गतार्थः।

तम्हा तेसिं विणासाय सम्ममागम्मसम्मतिं।
अप्पं परं च जाणित्ता चरेऽविसयगोयरं ॥ ९ ॥

अर्थ :—अतः साधक के कषाय के नाश के लिये सम्यक् रूप से सन्मति को प्राप्त करे और स्व और पर का ज्ञान करके अविषय गोचर वातावरण में रहे।

गुजराती भाषान्तर :—

માટે સાધકના કષાયનો નાશ કરવા માટે સારી રીતે સન્મતિ મેળવી લેવી જોઈએ અને સ્વ તથા પરનું જ્ઞાન કરી લઈ અવિષયગોચર (જ્યાં વિષયોનું જ્ઞાન ઇંદ્રિયોને થાય નહી એવા) વાતાવરણમાં જ રહેવું જોઈએ.

---

१ जे भिक्खु मासियं परिहारं ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिओंचियं आलोएमाणस्स मासियं, पलिओंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं। व्यवहारसूत्र उ० १ सू० १. २ माया तैर्यग्योनमस्य। तत्त्वार्थ अ. ६ सू. १७

साधक कषाय के स्वरूप का परिज्ञान करे। जब उसकी विघातक शक्ति का ठीक ठीक अबोध होगा तभी आत्मा उसके विनाश के लिए प्रवृत्त होगा। कषाय मेरी स्वभाव-परिणति नहीं है, वह मेरे निज गुणों का विघातक है। इतना निश्चय होने के बाद ही साधक विभाव परिणति को दूर कर सकता है। अत एव वर्तमान सुख के लिये आकुल बुद्धि की चंचलता को दूर करना होगा।

किसी वस्तु की प्राप्ति और उसके संरक्षण के लिये मनुष्य क्रोध के हथियार का उपयोग करता है। उसके लिये दो बातों का चिन्तन आवश्यक है; जिस वस्तु को पाने के लिये क्रोध किया जाता है वह स्वद्रव्य है या परद्रव्य? यह निश्चित है आत्मा के अतिरिक्त सभी वस्तुएं परद्रव्य हैं, फिर पर के लिये इतना आक्रोश क्यों? दूसरी बात क्रोध के द्वारा किसी वस्तु का संरक्षण हम कर सकें यह भी संभव नहीं है। क्योंकि वस्तु स्वयं विनाशधर्मी है और अशाश्वत को शाश्वत बनाने की ताकद किसमें है? अतः साधक स्व और पर का भेदविज्ञान करे। यह भेदविज्ञान उसे कषाय-विजय के लिये बहुत बड़ा सहाय्यक होगा।

कषाय-विजय के लिये भेदविज्ञान के साथ अन्तर्निरीक्षण भी आवश्यक है। क्रोध के उतार के क्षणों में आत्म-निरीक्षण करें। हरएक व्यक्ति दूसरे की गल्ती देखता है। इसीलिये तो उसे क्रोध आता है यदि उसका आत्म-निरीक्षण जारी रहा तो वह अपनी भूल भी देखेगा और फिर क्रोध का स्थान सहज सुलभ लज्जा ले लेगी।

क्रोधोपशमन के लिये विषयोपरति भी आवश्यक है। क्योंकि विषयों की ओर घूमनेवाला मन जब अपने प्रिय पदार्थों की प्राप्ति में किसी को बाधक पाता है तभी उन्हें दूर करने के लिये क्रोध का आश्रय लेता है।

जेसु जायंते कोधाती कम्म-बंधा महाभया।
ते वत्थू सव्वभावेणं, सव्वहा परिवज्जए॥ १०॥

अर्थ:—जिन व्यक्तिओं अथवा वस्तुओं में कर्म बन्ध के हेतु और महा भयोत्पादक क्रोधादि उत्पन्न होते हैं साधक उन समस्त वस्तुओं को सर्व भावों से सर्वथा छोड़ दे।

गुजराती भाषान्तर:—

જે માણસોમાં અગર પદાર્થોમાં કર્મબંધના કારણે મોટું ભય ઉત્પન્ન કરનાર ક્રોધ જેવા વિકાર પેદા થાય છે; સાધકે ગમે તેમ કરી તેવા પદાર્થોને સદંતર છોડી દેવા જોઈએ.

पुद्गल यद्यपि जड़ है उसमें कषाय भाव नहीं है, फिर भी कषायोत्पादन में वे निमित्त हो सकते हैं। यदि आत्मा में कषायभाव है तो पदार्थ भी कषाय के लिये निमित्त हो सकता है। अतः साधक कषाय के निमित्त से बचता रहे।

यद्यपि निमित्तों से बचना बाहिरी दवा है, अन्तर की औषधि तो आत्मा में से कषाय की परिणति का क्षय कर देना है। फिर भी जब तक मोह क्षय नहीं हो जाता तब तक कषाय के निमित्तों से बचते रहना आवश्यक है।

भगवान् महावीर ने कहा है –

संकिलेशकरं ठाणं दूरओ परिवज्जए।

—दशवैकालिक सूत्र.

साधक! कषायोत्पादक वातावरण को दूर से ही छोड़ दे।

सत्थं सल्लं विसं जंतं मज्जं वालं दुभासणं।
वज्जेतो तं निमित्तेणं दोसेणं ण वि लुप्पति॥ ११॥

अर्थ:—शस्त्र, शल्य, विष, यंत्र, मद्य, सर्प और कटुभाषण का वर्जन करने वाला व्यक्ति उस निमित्त से आनेवाले दोषों से लिप्त नहीं होता है।

गुजराती भाषांतर:—

હથિયાર, શલ્ય, જહર, યંત્ર, દારુ, સાપ અને ન ગમે તેવી વાતોથી દૂર રહેનારા માણસને તેને કારણે આવનાર કોઈપણ દોષનો સંસર્ગ (જવાબદારી) તે માણસને થતો નથી.

पूर्व गाथा में बताया गया है कि साधक कषाय से बचने के लिये उसके निमित्तों से दूर रहे, यहां उन निमित्तों का निर्देश किया गया है।

. शस्त्र हिंसा का बहुत बड़ा साधन है। क्रोध आया और पास में शस्त्र है तो वह शीघ्र हिंसा के लिये तैयार हो जायगा। पर यदि आवेश के क्षणों में शस्त्र पास में नहीं है तो वह उस समय प्राण-घात से बच जाएगा। संभव है कुछ देर बाद उसके आवेश का तुफान ही शान्त हो जाए।

शल्य वह अन्तःशस्त्र है। जो कि भीतर ही प्रहार करता है। विष भी क्रोध को उत्तेजना देनेवाला है। आवेश में बहुत से अविवेकी जन आत्मघात की सोच लेते हैं और विष का प्रयोग करते हैं अथवा उसका उपयोग दूसरे की हत्या में करते हैं।

इसी प्रकार यंत्र, मद्य, सर्प और दुर्वचन कषाय के प्रमुख निमित्त हैं। आत्मशान्ति के गवेषक को इनसे बचते रहना चाहिये।

आतं परं च जाणेज्जा सव्वभावेण सव्वधा।
आयट्ठं च परट्ठं च पियं जाणे तहेव य ॥ १२ ॥

अर्थ :—साधक 'स्व' और 'पर' का सर्वभाव से सर्वथा परिज्ञान करे, साथ ही आत्मार्थ और पदार्थ को भी जाने।

गुजराती भाषान्तर :—

સાધકે 'સ્વ' અને 'પર'નું સર્વભાવે (સારી રીતે) જ્ઞાન કરી લેવું જોઈએ; અને સાથે સાથે આત્માર્થ તેમજ પદાર્થનું જ્ઞાન પણ કરી લેવું જોઈએ.

कषायों से उपरत होने के लिये साधक स्व और पर का भेदविज्ञान प्राप्त करे। जब तक यह भेदविज्ञान नहीं आयेगा तब तक संघर्षों का अन्त नहीं हो सकता। क्योंकि पर में स्व की बुद्धि ही संघर्षों की जड़ है। साथ ही स्वहित और परहित का भी विवेक आवश्यक है। केवल स्वहित को आगे रखकर चलनेवाला दूसरों के हितों को कुचलता है और इस प्रकार वह परोक्ष रूप से कषाय की ज्वाला भडकाने का ही काम करता है। दूसरे के अधिकार छीनकर उनकी संपत्ति दबाकर शान्ति की बात करना शान्ति का उपहास है।

सए गेहे पलित्तम्मि किं धावसि परातकं ?।
सयं गेहं णिरित्ताणं ततो गच्छे परातकं ॥ १३ ॥

अर्थ :—जब अपना घर जल रहा है फिर दूसरे के घर की ओर क्यों दोड़ रहे हो ?। स्वयं के घर का निराकरण करने के बाद दूसरे की ओर जाओ।

गुजराती भाषान्तर :—

જ્યારે પોતાનું જ મકાન સળગવા માંડ્યું છે ત્યારે તમે બીજાના ઘેર તરફ કેમ દોડો છો ? પોતાના ઘેરનું નિરાકરણ (આગથી સંરક્ષણ) કર્યા પછીજ બીજાના ઘેર તરફ જાવો.

कषायोत्पत्ति के हेतुओं में एक प्रमुख हेतु परनिन्दा का है। दूसरे के आलोचना बहुत सस्ती होती है, क्योंकि हमारे आंख की काली कीकी दूसरों की कालिमा बहुत जल्दी देख लेती है। मानव की आंखें देखती हैं उसका घर जल रहा है किन्तु एक क्षण भी मुड़कर अपनी ओर नहीं देखता कि मेरे पैरों के नीचे भी आग जल रही है।

भारत के भक्त कवि सूरदास बोलते हैं—

पगतर जरत न जानत मूरख।
पर घर जाय बुझावे। अचंभा इन लोगन को आवे।

दूसरे की आग बुझाने के लिये आप दौड़ पडे हैं, आपकी इस परोपकारिता का स्वागत है। आपके दिल में दूसरों के उद्धार के लिये बहुत बड़ी बेचैनी है, किन्तु जरा रुकिये, आपने अपना उद्धार तो कर लिया है न ? आपका अपना घर तो कहीं आग की लपटों में नहीं है ? पहले अपने घर का फेसला कर लें फिर दूसरे के घर की ओर कदम बढ़ाएं।

टीका :—स्वस्मिन् गृहे प्रदीप्ते किं परं गृहं धावसि ? स्वमेव गृहं निरिच्य ततो गच्छेत् परं गृहम्।

एक इंग्लिश विचारक बोलता है—Don't complain about the snow on your neighbour's roof when your own doorstep is unclean. जब आपके अपने द्वार की सीढ़ियां मैली हैं तो अपने पड़ोसी के छत पर पड़ी हुई गंदगी का उलाहना मत दीजिये।

आतट्ठे जागरो होही परट्ठाहिधारए।
आतट्ठो हावए तस्स जो परट्ठाहिधारए ॥ १४ ॥

अर्थ :—आत्मार्थ लिये जागृत बनो, परार्थ को धारण न करो। जो दूसरे के अर्थ (कार्य) को अपनाता है वह अपना अर्थ (कार्य) खो बैठता है।

गुजराती भाषान्तर :—

આત્માર્થ પોતાના (કલ્યાણ માટે હમેશા જાગ્રત રહો, બીજાની ફીકરમાં પડીને તમે પોતે નબળા બનો નહીં. જો તમે બીજાની ચિંતા(ફીકર)માંજ ડૂબી રહેશો તો પરિણામે તમારૂં હિત (કલ્યાણ) તમે ખોઈ બેસશો.

साधक तुम अपने कल्याण के लिये जागृत बनो। दूसरों की चिन्ताओं से दुबले न बनो। यदि दूसरों की चिन्ताओं में डूबे रहोगे तो अपना हित खो बैठोगे।

प्रस्तुत गाथा साधक को स्वहित के लिये जागृति का संदेश दे रही है, किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि साधक स्वार्थी बनकर अपने आप में विश्व के हित को भूल जाए। यदि वह केवल अपने हित को ही आगे करके चलता है तो वह अपने उत्तरदायित्व से अलग हटता है।

किन्तु प्रस्तुत गाथा का हार्द कुछ दूसरी कहानी कह रहा है। यहां उन साधकों के लिये करारा व्यंग है जो दूसरों के उद्धार के लिये चल पडे हैं, पर जिनका अपना कोई ठिकाना नहीं है। दूसरों के उद्धार की फिक्र में आज का साधक साधना का तत्त्व खो बैठा है। उसकी शक्ति का मोड पर के सुधार की ओर है, आज का श्रमण वर्ग चला है गृहस्थों को सुधारने और श्रावक समुदाय चला है साधुओं को सुधारने, पर इस पर सुधार की उधेड़ बुन में घर उजड़ा जा रहा है। दूसरे के कल्याण की चिन्ता में वह अपना खो बैठा है।

यह जैनदर्शन का मूल स्वर रहा है कि हर आत्मा अपने पतन और विकास के लिये स्वयं उत्तरदायी है। अनंत तीर्थ को मिलकर भी अन्य आत्मा के एक कर्मप्रदेश को कम नहीं कर सकते। निश्चय की यह भाषा अपने आपमें बहुत बड़ा सत्य रखती है। व्यवहार की दृष्टि में दूसरे के विकास में आप निमित्त भले बन सकें, किन्तु उसके लिये भी पहले अपने आपको विशुद्ध बनावें फिर दूसरे की आत्मा का फैसला करने चलें।

टीका :—आत्मार्थे जागृहि मा भूः परार्थाभिधारकः तादृश्यात्मार्थो हीयते। गतार्थः।

जइ परो पडिसेवेज्ज पावियं पडिसेवणं।
तुज्झ मोणं करेंतस्स के अट्ठे परिहायति ? ॥ १५ ॥

अर्थ :—यदि दूसरा कोई पाप की प्रतिसेवना कर रहा है तो तुझे मौन करने में क्या हानि होती है ?।

गुजराती भाषान्तरः—

જો કોઈ બીજો માણસ પાપનું આચરણ કે પ્રતિસેવના કરતો હોય તો તને ચુપચાપ રહેવામાં શું વાંધો છે ?

अर्हतर्षि आलोचकों को बहुत बड़ी फटकार बता रहे हैं। माना दूसरा व्यक्ति गलत कदम उठा रहा है वह पाप या अनाचार की ओर बढ़ रहा है और आपकी आंखों ने देख भी लिया है। फिर भी आप मौन रह जाइये। क्योंकि सारी दुनिया को सुधारने का ठेका आपने नहीं लिया है। फिर उसके पुण्य पाप की जिम्मेदारी आप पर नहीं है। जैनदर्शन बोलता है प्रत्येक आत्मा स्वकृत कर्म को ही भोगता है परकृत नहीं। फिर आप दूसरे के जीवन की आलोचना करके कौनसा पुण्य कर्म कर रहे हैं ?।

यदि दूसरे की आलोचना पुण्य कर्म होता तो आगम पिट्ठीमंसं न खाएज्जा का पाठ न होता। वहां तो स्पष्ट शब्दों में पर निन्दा का निषेध किया गया है। इतना ही नहीं परनिन्दा को नीचे गोत्र का बन्ध हेतु बताया है।

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादने नोद्भावते च नीचे गात्रस्य।

तत्त्वार्थ अ० ६ सू० २४.

दूसरों की निन्दा और आत्म-प्रशंसा, दूसरों के सद्गुणों को ढकना और दुर्गुणों को प्रकट करना नीच गोत्र का बन्धहेतु है।

आज मानव दूसरों को खुला करता है अपने दोषों पर पर्दा डालता है। आगम कहता है अपने दोषों की आलोचना करो और गुणों पर पर्दा डालो, किन्तु आज उल्टी गंगा बह रही है; वह दान का शिलालेख लगाता है और दोषों पर शिला जड़ता। उसके शिलालेख भी अधिकांशतः अपने पापों को शिला के नीचे दबाने के लिये ही होते हैं।

यों तो दूसरों के पाप पुण्य की जिम्मेदारी हम पर नहीं है तो उसकी आलोचना करने का अधिकार भी नहीं है।

विचारक डेल कारनेगी कहते हैं —

Criticism is futile because it puts a man on the defensive and usually makes him strive to justify himself critcism is dangerous because it wound a man's precious pride hurts his sense of importance and are uses his sentiment. – डेल कारनेगी.

आलोचना व्यर्थ होती है क्योंकि इससे दोपी प्रायः अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। आलोचना भयावह भी है। क्योंकि वह मनुष्य के बहुमूल्य गर्व पर ध्यान करती है। उसकी महत्ता के भाव को पीड़ा पहुंचाती है और उसके क्रोध को भडकाती है।

अतः विवेकशील साधन आलोचना से बचें; आलोचना वृक्ष की शाखा से फूल और किड़े दोनों को पृथक् कर देती है। कभी कभी आलोचना के द्वारा हम अपने मित्र को भी शत्रु के शिबिर में भेज देते हैं।

आतट्ठो णिज्जरायंतो परट्ठो कम्मबंधणं।
अत्ता समाहिकरणं अप्पणो य परस्स य ॥ १६ ॥

अर्थ :—आत्मार्थ (स्व की ओर दृष्टि) निर्जरा का हेतु है और परार्थ (दूसरे की ओर दृष्टि) कर्मबन्धन का हेतु है आत्मा ही स्व और पर के लिये समाधि का करनेवाला है।

गुजराती भाषान्तर :—

આત્માર્થ એટલે સ્વાર્થનો વિચાર નિર્જરાનું કારણ બને છે, અને પરાર્થ એટલે બીજાને માટે વિચાર કર્મબંધનનું કારણ બને છે. આત્મા જ 'સ્વ' અને 'પર' માટે સમાધિ કરનાર છે.

स्व की आलोचना विकाश का हेतु है तो पर की आलोचना आत्मा को विनाश के पथ पर ले जाती है। विश्व की प्रत्येक वस्तु गुण और दोषों से रहित नहीं है। जैसी दृष्टि लेकर आप चलेंगे वैसा तत्त्व आप पा सकेंगे। दोष दृष्टि लेकर चले तो सर्वत्र दोष दिखाई देंगे। गुलाब की डाल पर तीखे-शूल भी है तो महकते फूल भी। कांटे की दृष्टि लेकर चलेंगे तो कांटों में उलझ जाएंगे पर फूल की मधुर सुवास नहीं पा सकेंतो।

हमारी दोषदृष्टी दूसरों के दोष हमारे पास लाती है। स्वामी रामतीर्थ ने एक बार कहा था जब तक तुममें दूसरों के दोष देखने की दृष्टि मौजूद है तब तक तुम्हारे लिये ईश्वर का साक्षात्कार करना कठिन है। एक इंग्लिश विचारक भी यही कहता है—

The fewer faults we possess ourselves the less interest we have in pointinj out the faults of other people.

अपने मन के दोष कम होने पर ही हमारे छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति कम हो सकती है। अर्थात् हम दूसरों पर दोषारोपण तभी करते हैं जब स्वयं हमारी ही मनोवृत्ति दूषित होती है।

इसीलिये अर्हतर्षि पर की आलोचना से परे हटने की प्रेरणा दे रहे हैं। हम अपनी आलोचना करके आत्मिक शान्ति पा सकते हैं और पर की आलोचना कर्म बन्ध करते हैं। क्योंकि आत्मा स्व और पर के बीच समाधिकारक है।

अण्णातपम्मि अट्टालकम्मि किं जग्गिएण वीरस्स ?।
णियगम्मि जग्गियव्वं इमो हु बहुचोरतो गामो ॥ १७ ॥

अर्थ :—अज्ञात अट्टालिका में वीर के जागने से क्या होगा ?। स्वयं को जागना होगा। क्योंकि यह ग्राम चोरों का है।

गुजराती भाषान्तर :—

અજાણ્યા કિલ્લામાં સૈનિક જાગતો રહે તો શું થાય? પોતાને જ ઉજાગરો થશે. કેમ કે આ ગામ તો ચોરોનો જ છે.

अज्ञात कोट में घिर जाने पर हमें स्वयं को जागृत रहना चाहिये। एक वीर जग रहा है उसके विश्वास पर सब छोड़ा नहीं जा सकता। हमें स्वयं को जगना चाहिये, क्योंकि यह तो चोरों की नगरी है। जैनदर्शन का स्वर है हजार युग की सुषुप्ति की अपेक्षा जागृति का एक पल श्रेष्ठ है।

किन्तु वह जागृति की आत्मा जागृति हो। भगवान् महावीर की आत्मा जागृत है, किन्तु उनकी जागृति हमारे घर को नहीं बचा सकती। जब तक आत्मा की जागृति नहीं होती सम्यग्दर्शन की ज्योति प्राप्त नहीं करता तब तक कषाय और वासना के तस्करों से दुनियां की कोई ताकत हमें बचा नहीं सकती।

जग्गाहि मा सुवाहि मांते[1] धम्मचरणे पमत्तस्स।
काहिंति बहुं चोरा संजमजोगे हिडाकम्मं[2] ॥ १८ ॥

अर्थ :—जाग्रत बनो, सोओ नहीं, धर्माचरण में प्रमत्त होने पर तुम्हारे संयम योग में बहुत से चोर लूट न करें।

गुजराती भाषान्तर :—

જાગૃત રહો, બેદરકાર રહો નહીં, ધર્મના આચરણમાં બેદરકાર રહેવાથી સંયમ યોગમાં ઘણા ખરા ચોરો (પાંચ ઇંદ્રિયો) લૂંટફાટ કરી શકે નહી એની કાળજી રાખો.

साधक (धार्मिक अनुष्ठानों में प्रमाद न करो) आत्मिक जागृति के क्षेत्र में प्रमाद के चोर को प्रवेश न पाने दो क्योंकि आत्मिक साधना के लिये प्रमाद बहुत बड़ा लुटेरा है। एक विचारक ने कहा है 'आलस्य जीवित मनुष्य की कब्र है। प्रमाद जीवन का जंग है। जंग लोहे को खाजाता है ऐसा ही प्रमाद जीवन को नष्ट करता है'। एक विचारक ने कहा है–

Idleness is only the refuge of weak minds and holiday of fools. आलस्य दुर्बल मनवालों का एक मात्र शरण है, और मूर्खों का अवकाश दिवस है। –**चेस्टर फील्ड**

टीका :—जागृहि मा स्वपिहि मा धर्माचरणे प्रमत्तस्य तव चोराः पंचेन्द्रियादयः कषायान्ताः संयमयोगयोर्दुर्गति-गमने वा बहु कर्म कार्षुः। हीडक्ति कर्मविशेषणं त्वज्ञातार्थम्।

अर्थात् – जागो, सोओ नहीं; धर्म कार्यों में प्रमत्त होने पर तुम्हारी पंचेन्द्रियां और कषाय तक के चोर संयम और योग का अपहरण करते हैं और दुर्गति गमन के लिये बहुत कर्म करोगे। हीड यह कर्म का विशेषण है, उसका अर्थ अज्ञात है।

पंचेंदियाइ सण्णा दंडं सल्लाइ गारवा तिण्णि।
बावीसं च परीसहा चोरा चत्तारि य कसाया ॥ १९ ॥

अर्थ :—पांच इन्द्रियां, संज्ञा, दंड, शल्य, तीनों गर्व, बावीस परीषह और चारों कषाय सभी चोर हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

પાંચ ઇંદ્રિયો, (આહાર વિગેરે) પાંચ સંજ્ઞાઓ, (મન વિગેરે) ત્રણ દંડ, શલ્ય (માયા, નિદાન મિથ્યાદર્શન) (ઋદ્ધિ, રસ અને સુખનો) ગર્વ તેમજ બાવીસ પરીષહ અને ક્રોધાદિ ચાર કષાય આ બધા ચોર છે.

पूर्वगाथा में साधक को आत्मनिधि के अपहर्ताओं से सावधान रहने की प्रेरणा दी गई थी। प्रस्तुत गाथा में उन्हीं आत्मतस्करों का उल्लेख किया गया है। पांचों इन्द्रियां आहारादि चार संज्ञाएं, मनादि तीन दंड, माया, निदान और मिथ्यादर्शन के शल्य, ऋद्धि रस और सुख के गर्व, बाईस परिषह और क्रोधादि चार कषाय ये हैं आत्मनिधि के प्रमुख तस्कर। जरा सी असावधानी चोरों को रास्ता दे देती है।

विभाग दशा ही आत्मा को पतन की ओर ले जानेवाली प्रमुख वृत्ति है, उसी के द्वारा आत्मा स्वभाव को छोड़कर पुद्गलों में आसक्त होता है। इंद्रियादि का निरूपण क्रमबद्ध रूप से श्रमण सूत्र में आता है। जहां पर कि एक से तेहतीस तक की संख्या के पद दिये गये हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के चरण विधि नामक इकतीसवें क्रमबद्ध आता है।

---

१ माडुते. २ हिंडाकम्मं.

दंडाणं गारवाणं च सल्लाणं च तियं तियं ।
जे भिक्खू चयई निच्चं से न अच्छइ मंडले ।
विहगाकसायसन्नाणं झाणाणं च दुयं तहा ।
जे भिक्खू वज्जई निच्चं से न अच्छइ मंडले ॥

उत्तरा० अ० ३१ गा० ४-५.

संज्ञा :—मन की मूल अभीप्साएं संज्ञा कहलाती हैं जो अल्पाधिक रूप में समस्त संसारी आत्माओं में व्याप्त हैं। वे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की वृत्तियां संज्ञा हैं।

गौरव :—वे बाहिरी संपदाएं जिनको पाकर जन सामान्य गर्व की अनुभूति करता और दूसरों को हीन समझता है।

जागरह णरा णिच्चं मा मे धम्मचरणे पमत्ताणं ।
काहिंति बहुचोरा दोग्गतिगमणे हिडाकम्मं ॥ २० ॥

अर्थ :—मानवो! सदैव जागृत रहो। धर्माचरण में प्रमत्त न बनो! तुम्हारे ये बहुत से चोर दुर्गति गमन के लिये निकृष्ट कर्म करते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

માનવો! હરહમેશા સાવધાન રહો. ધર્માચરણમાં ઉદ્યમ (પ્રવૃત્તિ) રાખો. તમારા આ ઘણા ખરા ચોર દુર્ગતિગમનને માટે હીન કૃત્યો કરે છે.

साधक को सजग रहने को फिर प्रेरणा दी गई है। चतुर चोर कोने में दुबक जाते हैं और रात्रि के निस्तब्ध क्षणों में जब कि मालिक गहरी नींद में होता है तब वे बाहर आते हैं और संपत्ति का अपहरण करते हैं। ठीक इसी प्रकार वासना के चोर जागृति में आते सहमते हैं। सामाजिक भय या स्वजन परिजनों का भय उन्हें बाहर आने से रोकता है और इसीलिये वे अवचेतन मन की अंधेरी गुफा में जा छिपते हैं, किन्तु रात्रि के प्रशान्त क्षणों में जब कि व्यक्ति निद्रा की गोद में होता है न समाज का भय रहता है न स्वजन परिजनों के सामने खुले जाने का ही उस समय स्वप्न के रूप में वासना के चोर प्रवेश करते हैं।

स्वप्न क्या है? मन के छुपे चोरों की क्रीड़ा ही तो। हमारे स्वप्न हमें अपने आपको परखने का मौका देते हैं। यदि स्वप्न में वासना के चित्र आते हैं तो समझना होगा मन के भीतर काम का चौर बैठा है। यदि स्वप्न में भोजन का दृश्य आता है समझना होगा मन अभी मिठाईयों से अतृप्त है।

ये दृश्य सिद्ध करते हैं कि वासना के चोरों को दबाया गया है निकाला-नही गया। जैसे कर्फ्यू आर्डर के समय सेना के चौराहे पर आते ही उपद्रवी तत्व गली कूचों में दुबक जाते हैं और उसके हटते ही पुनः खुलकर खेलने लगते हैं। ऐसे ही संयम के जीवन के चौराहे पर आते ही वासना और विकृतियों के चोर मन की अंधेरी गुफाओं में दुबक जाते हैं और मौका पाते ही पुनः मंच पर आ जाते हैं।

अतः साधक सजग रहे। जागृति की भांति निद्रा में भी उसका विकारों पर अनुशासन रहे। स्वप्न उसके जीवन का सही चित्र देते हैं कि विकारों के साथ संघर्ष में उसे विजय ने कहां तक साथ दिया है। वह अप्रमत्त रहकर साधना करे। अनुचित ढंग से दमन न करे। अन्यथा वे मन में घुटती हुई अतृप्त कामनाएं साधक को दोनों ओर से ले बैठेंगीं। आगमवाणी है—

कामे य पत्थमाणा अकामा जंति दोग्गइं।—उत्तरा० अ० ९

बाहर से निष्काम बना साधक अन्तर से काम की अभ्यर्थना करता है तो वे अतृप्त इच्छाएं उसे दुर्गति का पथिक बना देंगी।

अण्णायकम्मि अट्टालकंसि जग्गंत सोयणिज्जोसि ।
णाहिसि वणितो संतो ओसहमुल्लं अविदं तो ॥ २१ ॥

अर्थ :—इस अज्ञान अट्टालिका में तू जागता हुआ शोचनीय है। जैसे कोई निर्धन व्यक्ति घाव हो जाने पर भी औषध के मूल्य को न जानता हुआ औषध खरीदने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार तुम भी समझो कि भाव जागृति अभाव में तुम तत्त्व को पा न सकोगे।

गुजराती भाषान्तर :--

આ અજાણ્યા કિલ્લામાં તૂ જાગે છે (ખરો, પણ) તે તારૂં કૃત્ય દિલગિરીભર્યું છે. જેમ એક ગરીબ માણુસને વાગ્યું હોય કે તેને ઘા પડ્યો હોય તો પણ તેની દવાની કીંમત માલુમ ન હોવાથી દવા ખરીદવામાં અસમર્થ બને છે તેમજ ભાવ જાગૃતિનો અભાવ હોય તો તૂ તત્ત્વને મેળવી શકીશ નહી.

प्रस्तुत गाथा में अर्हतर्षि भाव जागृति के लिये प्रेरणा दे रहे हैं, केवल आंखें खुल रहना ही जागृति नहीं है। भाव जागृति का मतलब है वस्तु के स्वरूप का ज्ञान। जब तक वस्तु तत्त्व को नहीं पहचाना तब तक देख लेना कोई महत्त्व नहीं रखता। वनस्पति को देख लेने मात्र से वह औषध के रूप में काम नहीं दे सकती। गुण न जाना जाय तब तक नाग दमनी (विषनाशक वेल) भी केवल जड़ मात्र है। अर्हतर्षि सोदाहरण इस तथ्य को पुष्ट कर रहे हैं। एक पीड़ित व्यक्ति जिसके शरीर में चारों ओर घाव हो रहे हैं, वह औषधिविक्रेता के पास भी पहुंचता है, किन्तु औषधि का मूल्य वह जानता नहीं है और वह पहले ही घबरा जाता है मुझे निर्धन के पास इतने पैसे कहां कि मैं इसे खरीद सकूं ? वह औषधियों के भण्डार के निकट बहकर भी स्वास्थ्य लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। अतः साधक वस्तु तत्त्व को समझे वही भाव जागृति है और अज्ञात अट्टालिका में वही रक्षण दे सकती है।

टीका :—अज्ञाताट्टालिके जाग्रच्छतोचनीयोऽसि नहिसित्ति यथा कश्चिद्धनहीनो व्रणितः सर्वौषधमूल्यमविन्दन् दातुं न शक्यः। गतार्थः।

जागरह णरा णिच्चं जागरमाणस्स जागरति सुत्तं।
जे सुवति न से सुहिते जागरमाणे सुही होति ॥ २२ ॥

अर्थ :—मनुष्यों! सदा जाग्रत रहो। जागृत रहनेवाले के लिये सूत्र भी जागृत रहता है, जो सोता है उसके लिये सुख नहीं है। जागृत रहनेवाले पास ही सुख है।

गुजराती भाषान्तर :—

માનવો! હમેશા સાવધાન રહો. જાગૃત રહેનારને માટે સૂત્ર પણ જાગૃત રહે છે. જે માણસ સુએ છે તેને સુખ મળશે નહી, જે જાગૃત રહે છે તેને પાસે સુખ હમેશા રહે છે.

साधक को जाग्रति का संदेश देते हुए अर्हतर्षि ने एक महत्त्व पूर्ण बात कही है कि सूत्र भी उसी के लिये जाग्रत है जिसकी आत्मा जागृत है। आचार्य संघदासगणि व्यवहारभाष्य में 'सूत्रं' शब्द की व्याख्या करते हुए एक स्थान पर लिखते हैं सुत्त का एक रूप सुत्तं भी बनता है। अर्थात् सूत्र तो सुप्त रहता है उसे जगाने की आवश्यकता है। सूत्र को वही जगा सकता है जिसकी आत्मा स्वयं जागृत हो।

दूसरी ओर जागृत आत्मा को ही सूत्र प्रकाश दे सकता है। किन्तु जिसकी आत्मा सुप्त है उसके लिये सम्यक् शास्त्र भी प्रकाश नहीं दे सकते। स्वप्रकाश के अभाव में पर प्रकाश का कोई महत्व भी नहीं है। अंधे के हाथ में रही हजार पावर की बैटरी भी कोई उपयोगी नहीं है, वह उसे कांटों और कंकरों से बचा नहीं सकती; क्योंकि उसके पास स्वतः प्रकाश नहीं है। ठीक इसी प्रकार प्रकाशहीन दृष्टि लेकर आप आगम के पास पहुंचेंगे तो वहां भी प्रकाश प्राप्त न होगा। साथही यदि दृष्टि प्रकाशमती है तो आगम ही नहीं। आगमोत्तर साहित्य भी आपको सम्यग्ज्ञान प्रकाश देगा, क्योंकि स्वप्रकाश के अभाव में सम्यक् श्रुतं भी मिथ्याश्रुत है। भ० महावीर के विचार सूत्रों में यह तथ्य दिन के उजाले की भांति स्पष्ट है।

सम्मदिट्ठिस्स सम्मसुयाइं मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छा सुयाइं। – नंदीसूत्र

सम्यक् दृष्टि संपन्न के लिये श्रुत सम्यक् है और मिथ्यादृष्टि के लिये यही श्रुत मिथ्या भी है। रसज्ञ हृदयवाले व्यक्ति के लिये ही गुलाब एक महकता पुष्प है तो जब कि गुबरेले के लिये गुलाब सडी गन्ध देनेवाला पदार्थ मात्र है। अतः अर्हतर्षि कह रहे हैं खुली दृष्टि लेकर चलें तो सर्वत्र प्रकाश मिलेगा।

जहां सुषुप्ति है वहां सुख नहीं है। यद्यपि निद्रा विश्राम के लिये आवश्यक है, क्योंकि विश्रान्तिकाल में स्नायुतंत्र नये काम करने के लिये शक्तिसंचय करता है, किन्तु दुसरी दृष्टि से निद्रा अल्पकालीन मृत्यु भी है। वह कोई सच्चा सुख नहीं है, क्योंकि उसमें अज्ञान है। यथार्थसुख जागृति में है, इसीलिये तो छः या आठ घंटे निद्रा लेकर हम फिर से जागृति में आ जाते हैं।

टीका:— हे **नराः! जाग्रत नित्यं। जाग्रतो हि सुप्तं स्वप्नमेव जागर्ति। धर्मे जाग्रतोऽप्रमत्तस्यालस्यं न विद्यते स्वप्नकल्पमित्यर्थः। यः स्वपिति न स सुखी, जाग्रत्तु सुखी भवति।**

अर्थात् – हे मानवो! सदैव जागृत रहो। भाव जागृति के अभाव में जागते हुए भी सुप्त है। धर्म में जागृति है वही यथार्थ जागृति है। जो यथार्थतः जागृत होता है वह धर्माचरण में अप्रमत्त होता है। आलस्य उसके पास फटकता भी नहीं है। जो सोता है वह सुखी भी नहीं है, जो जागृत है वही सुखी है।

जागरंतं मुणिं वीरं दोसा वज्जेति दूरओ।
जलंतं जातवेयं वा चक्खुसा दाहभीरुणो॥ २३॥

अर्थ:—जागृत वीर मुनि को दोष उसी प्रकार दूर से छोड़ देते हैं जैसे कि जलने से डरनेवाले जाज्वल्यमान अग्नि को आंखों से देखते ही दूर हट जाते हैं।

गुजराती भाषान्तरः—

જાગૃત (સાવધાન) રહેનાર મુનિને દોષ તેજ પ્રમાણે છોડી જાય છે જેમ કે અગ્નીનો ભડકો જોઈને અગ્નિદાહની દહેશત જેને હોય તેવો (બીકણ) માણસ તરતજ નાસી જાય છે.

अर्हतर्षि जागृति का फल बता रहे हैं। जागृत आत्मा के निकट दोष कभी नहीं आते, वे उनसे उतने ही डरते हैं, जितना कि एक दाहभीरु ज्वलंत अग्नि से। जिसकी आत्मा में तेज है दोष उसके निकट आने का साहस नहीं कर सकता। क्योंकि वह जानता है उनके निकट पहुंचा कि तप की आग में भस्मदेह हो जाऊंगा।

विचार की दीपशिखा सदैव प्रज्वलित रहे तो वासना और मिथ्या विश्वासों के जुगनू उनके निकट नहीं पहुंच सकते। प्रोफेसर शुब्रिंग् प्रस्तुत अध्याय पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं। स्थानांगसूत्र के चौथे स्थानपर जीवन की भूलों के संबंध में जो चार उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उनमें समर शब्द जिस समस्या को खडी करता है प्रस्तुत अध्ययन भी हमें उसी तरफ ले जाता है। धार्मिक नियमों के अनुसार जीवन में परिवर्तन हो सके तो इन मूलभूत दूषणों को रोका जा सकता है। इस विषय का स्पष्टीकरण प्रस्तुत विषय को पुष्ट करता है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपना घर साफ रखना चाहिये। जिससे कि बाहर की असर उसकी नैतिक निधि का अपहरण न कर सके।

अट्ठारहवीं और बीसवीं गाथा में "हिडा" कम्म शब्द आया है, उसके लिये शुब्रिंग् लिखते हैं हित्थअ की भांति ८ कर्म और अधस्तात् कर्म का अर्थ नीच कर्म होना चाहिये।

२१ वी गाथा में णाहिसि शब्द आया है वह नज्जसि का ही एक टुकड़ा लगता है। पउमचर्य (जेकोबी की भविस्सत्तकहा ६१) के ज्ञायते के अर्थ में प्रस्तुत कर्मणि वाच्य आया है। भविष्य के कर्मणि प्रयोग अथवा सामान्य भविष्य के विकल्प के रूप में भी ऐसा पाठ आता है। णाहिसि आरं को परम सूयगडे" १२, १, ८ में भी णाहिसि शब्द आता है। जेकोबी ने शिलांकाचार्य के अनुसरण कर इस पद की जरा भिन्न रूप में व्याख्या की है।

इसिभासियाइं जर्मन प्रति पृ० ५६९

एवं से सिद्धे बुद्धे (गतार्थः)॥

इति अद्दालक अर्हतर्षिभाषित पंचत्रिंशत्तमं अध्ययनं समाप्तम्

तारायण अर्हतर्षि प्रोक्त

छत्तीसवां अध्ययन

पूर्व अध्ययन में कषाय का स्वरूप बताकर भाव-जागृति का संदेश दिया गया था। प्रस्तुत अध्ययन में कषाय विजय की प्रेरणा है। जब तक मोह है तब तक क्रोध आता रहेगा, फिरभी उस पर विजय पाने के प्रयत्न आवश्यक हैं। क्रोध आया और लड़ लिये और मिल गये यह मानव का चित्र है, किन्तु क्रोध आया और लड़े और क्रोध शान्त होने के बाद एक दूसरे को मिटाने में जुट गये यह भेड़िये का चित्र है। लड़ाई शत्रुओं की अपेक्षा मित्रों में ज्यादा होती है। मित्रों में आये दिन लड़ाई होती है जबकि शत्रु एक बार लड़ते हैं। शत्रु लड़कर जिन्दगी भर के अलग हो जाते हैं जब कि मित्र लड़कर भी एक हैं।

क्रोध में भी एक आग है और जितनी जल्दी हो सके उस आग को बुझा देना ही ठीक है, क्योंकि वह शुद्ध गर्मी नहीं, ज्वर की विकृत गर्मी है। शरीर में गर्मी तो आवश्यक है किन्तु एक सौ सात डिग्री की गर्मी मृत्यु का वारंट है। इसी प्रकार आत्मा में शुद्ध तेज तो आवश्यक है किन्तु क्रोध की गर्मी विकृत गर्मी है और वह नरक की गर्मी है[1]।

तलवार को देखकर वीर की याद आ जाती है। तराजू को देखकर व्यापारी की याद आ जाती है। इसी प्रकार क्रोध की ज्वाला को देखकर विचारकों को नरक की ज्वाला की याद आ जाती है। उस नरक की आग से भी क्रोध की आग अधिक भयावह है जो जीवन भर क्रोध की आग में झुलसा है, जहां पहुंचा वहां सर्वत्र जिसने आग लगाने का कार्य किया है उस आग में परिवार समाज और राष्ट्र भी झुलसा है क्या उसके नसीब में स्वर्ग के फूल हैं? नहीं, आग लगाने-वाले के भाग्य में आग है। नरक की आग उसका मूर्त रूप है।

अतः साधक अपने क्रोध पर विजय पाये इस रूप में वह अपने भीतरी तेज को वश कर सकता है और उसके द्वारा महान सफलता पा सकता है। विज्ञान की सफलता आज तेज तत्त्व पर निर्भर है। बिजली को काबू में करके वह अनंत गगन में रॉकेट और उपग्रह छोड़ने में सफल हो सका है।

इसी प्रकार साधक अपने भीतरी तेज को काबू में रखकर आध्यात्मिक उपग्रह छोड़ सकता है। भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने एक बार कहा था A heat conserved is transmuted into energy so anger controlled can be transmuted into a power which can move the world. जैसे ताप स्वरचित रहकर शक्ति में परिवर्तित किया जा सकता है जो विश्व को हिला दे।

अर्हतर्षि उसी क्रोध पर विजय पाने की प्रेरणा दे रहे हैं-

उप्पतता उप्पतता, उप्पयंतं पितेण वोच्छामि। किं संतं वोच्छामि?
ण संतं वोच्छामि कुकुसया, वित्तेण तारायणेण अरहता इसिणा बुइतं ॥

अर्थ :—उग्र रूप में उत्पन्न होनेवाले क्रोध से उबलते हुए व्यक्ति को प्रिय वचनों से बोलूंगा, क्या शान्त वचन कहूंगा अथवा कुत्सा से कुत्सित होकर (क्रोध में जल भुन कर) कुत्सित वचन कहूंगा? इस प्रकार आध्यात्मिक लक्ष्मी से युक्त तारायण अर्हतर्षि बोले।

गुजराती भाषांतरः—

ઉગ્ર સ્વરૂપમાં પેદા થએલ ગુસ્સાથી ગરમ થયેલા માણસપાસે મીઠી વાતો કરું, કે શાન્ત વચનોથી સમઝાવું કે ગુસ્સાના જુસ્સામાં ભૂંડી વાતો કરું? આ પ્રકારે આધ્યાત્મિક-લક્ષ્મીસંપન્ન તારાયણ અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

शब्द की टक्कर लगते ही क्रोध उबल उठता है। क्रोध के क्षणों में मनुष्य सोचता है जिसके प्रति क्रोध आ रहा है उसको अधिक से अधिक पीड़ा पहुंचाई जाय और इसीलिये वह मर्मवेधी शब्दों का प्रयोग करता है। किन्तु सोचना यह कि क्या यह जरूरी है। क्रोधी को देखकर हम भी क्रोध में उबल जावें। दूसरे को धूलिधूसरित देखकर हम तो अपने ऊपर धूल नहीं डालते। दूसरे को निर्धन देखकर हमें निर्धन बनने का स्वप्न नहीं आता, फिर दूसरे को क्रोधी देखकर हमें क्यों क्रोध आ जाता है? इसका मतलब यह हुआ क्रोध हम में भरा है यह तो एक बहाना है "कि उसे क्रोधित देखकर मुझे गुस्सा आ गया।"

---

१ एस मारे एस न रये।-आचारांगसूत्र.

आवश्यकता यह है हम अपनी शान्ति उसके भीतर जगा दें। यदि दीपक अपने सामने फैले अनंत अंधकार को देखकर स्वयं भी अंधकार रूप हो जाय फिर उस दीपक की कीमत क्या है? उसका मूल्य वहीं है वह अंधकार में भी अपनी ज्योति को कायम रखता है। दूसरे को गुस्से में देखकर हमने अपनी शान्ति छोड़ दी तब फिर हमारी शान्ति का कोई मूल्य नहीं है। यदि हमारे पास शान्ति की सुधा है तो उसका उपयोग हम क्रोध के क्षणों में करें। मधुर एवं शान्त वचनों के द्वारा उसकी क्रोध की आग को शान्त कर सकें तभी हम उसके सच्चे चिकित्सक हो सकेंगे। अन्यथा यदि उसकी अशान्ति हममें प्रवेश कर जाय तो यह जीवन की विडंबना होगी। यदि ज्वरग्रस्त रोगी को देखकर डॉक्टर को ज्वर चढ़ जाय तब तो हो चुका। अर्हतर्षि इसी लिये प्रेरणा दे रहे हैं कि हम आत्म-निरीक्षण करें की आवेश के क्षणों में लिखे शब्दों के द्वारा उसकी ज्वाला को बढ़ाई है या मिठे शब्दों के द्वारा आग में पानी का काम किया है। विचारशील तो यही चाहेगा कि गर्म वातावरण में भी मेरा दिल और दिमाख शान्त रहे और मैं दूसरों के गर्म विभाग को ठंडा कर सकूं।

टीका:— भृशं उत्पतता क्रोधेनेति शेषः। उत्पतंतं कंचित् प्रियेण प्रियवचनेन वक्ष्यामि किं शान्तं पापमिति सान्त्वनं वक्ष्याम्युत ण संतति अशान्तं तं पुरुषमिति शेषो वक्ष्यामि यथाह-"तुष-तुष कल्प" निःसारजनेति। एतत्तु मुनेर्न युज्यत इति भावः।

अर्थात् प्रबल उत्पन्न होते हुए क्रोध से फुफकारते हुए किसी व्यक्ति को प्रिय से अर्थात् प्रिय वचनों से कहूंगा क्या पाप शान्त है इस प्रकार उसे सांत्वनाभरे शब्द कहूंगा अथवा 'न शान्त' अर्थात् उस अशान्त पुरुष को यह कहूंगा कि यह तुष समान निःसार है; ऐसा समझो अर्थात् यह मुनि को योग्य नहीं ऐसा कहूंगा।

टीकाकार कुछ भिन्न अभिप्राय रखते हैं।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं कषाय की थियरी में संज्वलन क्रोध जो स्थान है वही यहां उत्पतंत शब्द का है। उग्रता से क्रोध प्रकट होता है किन्तु मैं उसके साथ प्रेम भरे शब्द ही बोलूंगा। किन्तु शान्त पुरुष के लिये क्या कहना? उत्तर होगा नहीं।

पत्तस्स मम य अन्नेसिं मुक्को कोवो दुहावहो।
तम्हा खलु उप्पतंतं सहसा कोवं णिगिण्हितव्वं ॥१॥

अर्थ—क्रोध-पात्र (व्यक्ति) के इस प्रति छोड़ा गया क्रोध मेरे ओर उसके लिये दुःखरूप होता है इसलिये उत्पन्न होते हुए क्रोध को सहसा (जल्दी ही) रोक देना चाहिए।

गुजराती भाषान्तर:—

ક્રોધ અમુક વ્યક્તિ પ્રત્યે થયો હોય તો તે માણસ માટે અને તેના તરફ ગુસ્સો કરનાર માટે ત્રાસદાયક બને છે. માટે ક્રોધની ઉત્પત્તિના વખતેજ (સમય ગુમાવ્યા વગર) તેને અટકાવવા જોઈએ.

क्रोधी व्यक्ति क्रोध के द्वारा प्रतिपक्षी को दुःख में डालना चाहता है। इसीलिये तो वह क्रोध का उपयोग करता है और ऐसे विष बुझे बाण जैसे तीखे शब्दों के द्वारा प्रतिपक्षी के हृदय को वींध देना चाहता है और जब वह तिलमिला उठता है तो उसके दिल में प्रसन्नता की लहर दौड़ पड़ती है, अपने प्रतिपक्षी के दु.ख में उसे आनंद मिलता है। किन्तु यह निरी भूल है कि क्रोध एक पक्ष को ही दुःखी करता है। वह दोनों को झुलसाता है। जिसके दिल में उसने प्रवेश किया है उसे भी वह चैन से नहीं बैठने देता। उसके मन में भी संकल्प-विकल्पों का जाल छाया रहता है। उसके मन की शान्ति भी लुप्त हो जाती है।

पड़ौसी के झोंपड़े में आग लगानेवाला मन में इठलाता है। आग की लपटों में उसका अहंकार हंसता है, किन्तु कभी उन्हीं लपटों में उसकी अपनी झोंपड़ी के साथ अहंकार भी भस्म हो जाता है। इसीलिये अर्हतर्षि साधक को प्रेरणा दे रहे हैं यह न समझो कि क्रोध की आंच तुम्हारे प्रतिपक्षी को ही झुलसा के रह जाएगी यदि उल्टी हवा चली तो उसकी झोंपड़ी बच जाएगी और तुम्हारा महत्व राख की ढेरी हो जायगा। अतः क्रोध को उसके उत्पत्ति के क्षण में ही रोक देना चाहिये, क्योंकि नन्हीं-सी चिनगारी उपेक्षित होकर ज्वाला का रूप ले सकती है।

टीका:— मम चान्येषां च कोपः पात्रं प्रति-कंचित् पुरुषं मुक्तो दुःखावहो भवति। तस्मात् खलूत्पतन्तं सहसा कोपं निगृह्णन्तु मुनयः! यदि वा उत्पतन् कोपो निगृहीतव्यः।

अर्थात् कोप पात्र किसी पुरुष के प्रति छोड़ा गया क्रोध मेरे और उसके लिये दुःखावह होता है । अतः हे मुनिगण ! उत्पन्न होते हुये क्रोध का एकदम निग्रहीत कर लो । अथवा आते हुए क्रोध का निग्रह करना चाहिये ।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं कि अर्हतर्षि बता रहे हैं क्रोध मेरा और उसका दोनों का नाश करता है । यद्यपि इस श्लोक में तीन छट्ठी विभक्तियां आई हैं, किन्तु वहां दीर्घ के स्थान पर एक सातवी और दो तिसरी विभक्तियां अपेक्षित हैं । गद्य के मूलपाठ की रचना भी ठीक नहीं है । "निगिणिस्सामि" अथवा निगिण्हामि के लिये कोवं दूसरी विभक्ति में आवश्यक है ।

कोवो अग्गी तमो मच्चू विसं वाधी अरी रयो ।
जरा हाणी भयं सोगो, मोहं सल्लं पराजयो ॥ २ ॥

अर्थ :—क्रोध अग्नि है, अंधकार है, मृत्यु है, विष है, शत्रू, रज, व्याधि, जरा, हानि, भय, शोक, मोह, शल्य और पराजय है ।

गुजराती भाषान्तर :—

ક્રોધ અગ્નિ છે, અંધકાર છે, મૃત્યુ છે, જહર છે, દુશ્મન, રજ, રોગ, વાર્ધક્ય, હાનિ, ભય, શોક, મોહ, શલ્ય અને પરાજય છે.

क्रोध को चौदह उपमाओं से उपमित किया गया है । क्रोध में आग की ज्वाला है । अंधकार की विडम्बना है तो मौत की विभीषिका है । क्रोध स्वयं एक विष और व्याधि है । आत्मा का वह सब से बडा शत्रु है । उसमें जरा की दुर्बलता है तो उसकी बहुत सी हानियां भी हैं । क्रोध में भय और शोक भी है । क्योंकि क्रोध के प्रारम्भ में मूर्खता है । अन्त में पश्चात्ताप है । भय और शोक अज्ञान के ही पुत्र है । क्रोध रजरूप हैं । वैज्ञानिकों ने खोज परिणामों में बताया है कि क्रोध के क्षणों में शरीर से तलवार और बर्छी आदि की आकृतिवाले शस्त्र निकलते हैं साथ ही कर्म रज को लाता है । सूक्ष्म दृष्टि से क्रोध स्वयं कर्म है और आगम में उसे भावकर्म कहा गया है । क्रोध में मोह भी काम करता है । मोह का तो वह पुत्र है । वह शल्य है । क्योंकि शल्य की भांति चुभता है । साथ ही वह जीवन की सबसे बड़ी पराजय हैं । क्रोध की खुराक है आत्मा का सात्विक बल । जब आदमी का बल समाप्त हो जाता है तो वह अपनी दुर्बलता को क्रोध के आवरण में दबाना चाहता है । पर यह पारदर्शी है । उसमें पराजय स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती है ।

"जरा हाणी" का पाठान्तर "जग हाणि" मिलता है । उसका अर्थ होगा क्रोध ने सारे विश्व को हानि पहुंचाई है । विश्व की आधी से अधिक समस्या क्रोध ने खड़ी की है ।

वण्हिणो णो बलं छित्तं कोहग्गिस्स परं बलं ।
अप्पा गती तु वण्हिस्स, कोवग्गिस्सामिता गती ॥ ३ ॥

अर्थ :—अग्नि का बल महान है । पर क्रोधाग्नि का बल उससे भी अधिक है । अग्नि की गति अल्प है पर क्रोध की गति अमर्यादित है ।

गुजराती भाषान्तर :—

અગ્નિનું બલ મોટું છે, પણ તેનાથી ક્રોધના અગ્નિનો ભડકો ઘણોજ ભયંકર છે. અગ્નિની ગતિ સ્વલ્પ (સીમિત) છે, પણ ક્રોધની ગતિ તો અમર્યાદિત છે.

प्रस्तुत गाथा में अग्नि से क्रोध की तुलना की गई है । मनुष्य आग से डरता है । उसे स्वप्न में भी कहा जाय आग में हाथ डाल दे तुझे चक्रवर्ती का पद मिलेगा किन्तु उसके लिये वह तैयार नहीं होगा, क्योंकि वह जानता है आग मुझे जला डालेगी । जितना विश्वास आग पर है उतना क्रोध पर नहीं है । अन्यथा मनुष्य अग्नि से भी अधिक क्रोध से बचता ।

अग्नि को सर्वभक्षी कहा जाता है फिर भी उसका बल सीमित है । पर क्रोध का बल तो उससे भी अधिक है । अग्नि तो निकटवर्ती को ही जलाती है । जबकि क्रोधाग्नि निकट और दूरवर्ती सबको जलाती है । अग्नि की गति सीमित है जब कि क्रोध की गति असीम है । पानी के निकट पहुंचते ही आग की गति रुक जाएगी किन्तु क्रोध की आग पानी भी नहीं बुझा सकती ।

अर्हतर्षि अगली गाथा के द्वारा प्रस्तुत विषय को सुन्दर ढंग से रख रहे हैं।

टीका:— वह्नेर्बलं न क्षिप्तं नावमन्तव्यं, क्रोधाग्नेस्तु बलं परं परमं । वह्नेरल्पा गतिः क्रोधाग्नेरमिता । गतार्थः ।

सक्का वण्ही णिवारेतुं वारिणा जलितो बहि ।
सव्वोदहिजलेणावि कोवग्गी दुण्णिवारओ ॥ ४ ॥

अर्थ :—बाहर की जलती हुई आग पानी से बुझाई जा सकती है पर क्रोध की आग सभी समुद्रों के जल से भी बुझाई नहीं जा सकती।

गुजराती भाषान्तर :—

બળતા અગ્નિનો ભડકો પાણીથી શમી (ઠરી) શકે છે પણ ક્રોધની જ્વાલા બધાં સમુદ્રોના પાણીથી બુઝવી શકાય નહી.

द्रव्य आग पर काबू पाना सरल है। पानी की एक बाल्टी उसे बुझा सकती है, किन्तु वह भाव अग्नि क्रोध जिसमें तन और मन दोनों जल रहे हैं उस आग में सारा परिवार झुलस रहा है, सारे समाज में उसकी चिनगारियां उड़ रही है। राष्ट्र क्या विश्व तक उस ज्वाला में धधक रहा है। यदि उस क्रोध की आग पर बाल्टीभर पानी डाल दिया जाय तो क्या परिणाम आयेगा उसका ? आग अधिक भड़क उठेगी।

एकं भवं दहे वण्ही दड्ढस्स वि सुहं भवे ।
इमं परं च कोवग्गी णिस्संकं दहते भवं ॥ ५ ॥

अर्थ :—अग्नि केवल एक भव को जलाती है और दग्ध व्यक्ति बाद में ठीक हो सकता है पर यह क्रोधाग्नि तो निःशंक होकर यह लोक और परलोक दोनों को जलाती है।

गुजराती भाषान्तर :—

અગ્નિ ફક્ત એકજ ભવને બાળી શકે છે, અને દગ્ધ (દાઝી ગયેલ) માણસ પાછળથી સારો થઈ જાય છે; પણ ક્રોધાગ્નિ તો ખરેખર આ લોકને અને પરલોક (ના ભવ)ને બાળી (નાશ કરી) નાખે છે.

अग्नि और क्रोधाग्नि की तुलना करते हुए अर्हतर्षि नया तथ्य सामने रख रहे हैं। अग्नि केवल एक ही भव को जलाती है और जलनेवाला भी उपचार के द्वारा स्वस्थ होकर शान्ति का अनुभव करता है, किन्तु क्रोधाग्नि तो न यहां शान्त होती है न वहां। इस जन्म की ज्वाला जन्म जन्म तक साथ जाती है।

अग्गिणा तु इहं दड्ढा संतिमिच्छंति माण वा ।
कोहग्गिणा तु दड्ढाणं दुक्खं संति पुणो विहि ॥ ६ ॥

अर्थ :— आग से जलनेवाला मानव शान्ति चाहता है पर क्रोधाग्नि से जले हुए पुनः उस दुःख को निमंत्रण देते हैं।

गुजराती भाषांतर :—

અગ્નિથી દાઝેલો માણસ શાંતિની અપેક્ષા કરે છે, પણ ક્રોધાગ્નિથી દાઝેલો માણસ ફરી (દ્વેષ કરી) તેજ દુઃખને નોતરું આપે છે.

आग से जला मरहम चाहता है और क्रोध से जला फिर उस ज्वाला के पास पहुंचता है। कितना अबोध है आत्मा! जिस चीज को उसने सौ सौ बार जांच देखा उसकी असफलता पाकर पछताया फिर भी विश्वास उसी का करता है। जीवन में सौ सौ बार उसके क्रोध का उपयोग किया है पर कभी क्षमा का भी उपयोग करना नहीं चाहा ! । उसने क्षमा के गीत गाये हैं। क्षमा श्रमणों के जयनाद से आकाश गुंजाया है। क्षमा पर उसने बड़े बड़े भाषण दिये हैं। बड़े बड़े ग्रन्थ रचे हैं, पर जब कोई समस्या उलझी तो उसने क्षमा को दरवाजे से बाहर धकेल दिया और क्रोध को भीतर बुला लिया। बाहर खड़ी क्षमा अपने साथी के व्यवहार पर सिसक रही है और क्रोध मुस्कुरा रहा है। वह बोल रहा है मुझे लाख धुत्कारा, बुराभला कहा, गालियां भी दीं, जीभर कर कोसा, पर अब तो तुम्हारे ऊपर मेरा शासन है।

जब तक दिल में शैतानियत भरी है तब तक मन भर क्रोध का शासन रहेगा। इसीलिये तो मानव ने उसे ऐसा अपने सीने से लगा रखा है कि उसे क्रोध छोड़ने की बात कही जाय तो लड़के भिडन को तैयार हो जायगा। आदमी

पैसा छोड़ सकता है, बीडी सिगारेट भी छोड़ सकता है और कभी कभी रोटी भी छोड़ देता है पर क्रोध नहीं छोड़ सकता । क्रोध छोड़ने को कहनेवाला क्रोध का भाजन बन जायगा । वह ऐसे चिढ़ जायगा मानों किसी हिंदू या मुसलमान से कह दिया हो कि तुम हिन्दू या इस्लाम धर्म छोड़ दो ।

सक्का तमो णिवारेतुं मणिणा जोतिणा वि वा ।
कोवं तमं तु दुज्जेयौ, संसारे सव्वदेहिणं ॥ ७ ॥

सत्तं बुद्धि मती मेधा, गंभीरं सरलत्तणं ।
कोहग्गहाभिभूतस्स सव्वं भवति णिप्पभं ॥ ८ ॥

अर्थः—मणि और ज्योति के द्वारा अंधकार का निवारण किया जा सकता है, पर क्रोध का अंधकार संसार के समस्त देहधारियों के लिये अजेय है ।

क्रोध रूप ग्रह से अभिभूत व्यक्ति के सत्व बुद्धि मति मेधा गांभीर्य और सरलता सभी निष्प्रभ हो जाते हैं ।

गुजराती भाषांतर :—

રત્નો અને જ્યોતિ અંધકારનું નિવારણ કરી શકે છે. પણ ક્રોધનો અંધકાર સંસારના બધાં પ્રાણીઓ માટે અજેય (નિવારણ કરવા અશક્ય) છે.

ક્રોધરૂપી ગ્રહથી પરાજય પામેલા માણસની સાત્વિક બુદ્ધિ, મતિ, મેધા, ગાંભીર્ય અને સરલતાપણું નિષ્પ્રભ (નકામું) બની જાય છે.

क्रोध की अग्नि के तुलना के बाद अब क्रमप्राप्त अंधकार से उसे उपमित किया जा रहा है । छोटासा दीपक घर के अंधकार को दूर कर सकता है पर क्रोध का अंधकार ऐसा अंधकार है जिसे संसार का कोई दीपक दूर नहीं कर सकता क्रोध एक राक्षस है, वह आता है तब तुफान साथ लाता है । आप बुलाते हैं तभी वह आता है, आते ही वह खुराक मांगता है । उसका भोजन है सदसद्की विवेक बुद्धि, तत्वग्राहिणी प्रज्ञा, वाणी की प्रखरता और शरीर की कार्यक्षमता । बेचारी के सरलता और गंभीरता तो उसके आते ही भाग खडी होती है ।

ऐसा कहा जाता है कि खटमल का खून लगते ही हीरे की चमक समाप्त हो जाती है । यही कहानी आत्मा की है । उस पर क्रोध का दाग लग जाता है तो उसकी सारी चमक समाप्त हो जाती है ।

पर आश्चर्य तो यह है इतना सब कुछ जानकर भी मानव क्रोध से चिपटा हुवा है, आज घर क्षमा की नहीं–क्रोध की पाठशाला हो गया है । पुत्र गलती करता है तो पिता उसे क्षमा के बदले क्रोध की भाषा में समझाता है । छोटा भाई गलती पर है तो बडा भाई क्रोध का उपयोग करता है । यह है क्रोध का फैलाव । मनुष्य समझता है मैं क्रोध की भाषा से उसे समझा दूंगा पर यह भ्रांति है । क्रोध की कडवास शिक्षा की मधुरिमा मिलती है तो शिक्षा की मिठास खा जाती है, और फिर सारी शिक्षा विष मिले दूध की भांति फेंकने काम की रह जाती है ।

प्रसिद्ध विचारक महात्मा भगवानदीनजी ने लिखा है क्रोध की जगह हमने बालकों को क्षमा का पाठ दिया होता और क्षमा का प्रयोग सिखाया होता तो न अवतारों की जरूरत होती न रसूल पैगम्बरों की न महापुरुषों की ।

गंभीरमेरूसारे वि पुव्वं होऊण संजमे ।
कोउग्गमरयो धूते असारत्तमतिच्छति ॥ ९ ॥

अर्थ :— पहले संयम सुमेरू के समान गंभीर सारशील रहा हो फिर भी क्रोधोत्पत्ति की रज से आवृत होकर निःसार हो जाता है ।

गुजराती भाषांतर :—

પ્રથમ સંયમ મેરુપર્વતની જેમ ગંભીર (અડગ) રહ્યો છે; તો પણ ક્રોધોત્પત્તિની એક ચિનગારીથી ભસ્મીભૂત થઈ જાય છે.

मौत शरीर को मारती है, तो क्रोध संयम की मौत है । सुमेरु से विशाल और सारशील संयम को क्रोध की नन्हीं चिनगारी भस्म कर सकती है । रुई के ढेर के लिये नन्हीं चिनगारी पर्याप्त है । चंडकौशिक की जीवन कहानी इसका ज्वलंत उदाहरण है ।

क्रोध आग है । आग का काम है जलाना । दुर्गुण सद्गुणों की राख है और वह राख आई है क्रोध की चिनंगारी से ।

टीका :—पूर्वं मेरुवद् गंभीरसारेऽपि संयमे भूत्वा स्थित्वा कोपोद्गमरजसा धूत आवृतोऽसारत्वमतिच्छे-त्यमिगच्छति । गतार्थः ।

महाविसे वाऽही दित्ते चरे दत्तंकुरोदये ।
चिट्ठे चिट्ठे स रूसंते णिव्विसत्तमुपागते ॥ १० ॥
एवं तवोबलत्थे वि णिच्चं कोहपरायणे ।
अचिरेणावि कालेणं तवोरित्तत्तमिच्छति ॥ ११ ॥

अर्थ :—जैसे महाविषधर सर्प अहंकारित में होकर वृक्ष को डस लेता है, और उसमें अंकुर भी नहीं फूटने देता, अथवा किसी महापुरुष को डसता है और उन्हें जब रोमांच भी नहीं होता है तब वह क्रोधित होकर रह जाता है, क्योंकि उसका विष वृथा चला गया और अब वह निर्विष बन गया । उसी प्रकार महान् बल शाली तपस्वी भी नित्य क्रोध करत है तो शीघ्र ही उसका तप समाप्त हो जाता है ।

જેમ ભયંકર જહરી કૃષ્ણસર્પ પોતાના દર્પને કારણે ઝાડને પણ દંશ કરે છે, પરિણામે તેને અંકુર પણ પેદા થઈ શકતા નથી, અને જે કોઈ વીતરાગને દંશ કરે છે અને તે મહાપુરુષ ઉપર જરા પણ અસર થતી ન હોય તે ગુસ્સાથી ઉશ્કેરે છે અને નિશ્ચેતન બની જાય છે; કેમ કે તેના જહરની જરા પણ તે મહાપુરુષપર અસર થઈ નથી ને તે પોતે નિર્વિષ બની જાય છે તે જ પ્રમાણે બલવાન્ તપસ્વી પુરુષ પણ જો હરહમેશા ક્રોધ કરે તો થોડાજ સમ-યમાં તેનું તપ સમાપ્ત (ખલાસ) થઈ જાય છે.

प्रस्तुत गाथाओं में क्रोध को महा विषधर सर्प उपमित किया गया है । सर्प का दर्प जब किसी वृक्ष को डसता है किन्तु उसका परिणाम उसे शून्य मिलता है तो और भी क्रोधित हो उठता है । किन्तु बादमें उसकी विष की शक्ति भी समाप्त हो जाती है । अब उसे हर कोई सता सकता है । तपस्वी साधक कुपित होकर दूसरे को भस्म करने के लिये क्रोध का उपयोग करता है तो उसका तप और तेज दोनों नष्ट हो जाते है ।

गोशालक ने भगवान महावीर को भस्म करने के लिये तेजोलेश्या का उपयोग किया । परिणाम यह आया गौशालक अपनी वर्षों की साधना से अर्जित तपःशक्ति को खो बैठा । इतना ही नहीं वह उलट चली तेजः शक्ति ने उसी पर आक्रमण कर दिया । भयंकर दाह ज्वर ने उसे अशान्त कर डाला और उसे तेजोहीन होकर लौट जाना पडा[१] ।

प्रसिद्ध दार्शनिक सौना ने कहा है क्रोध में पहले जोश होता है शक्ति की अधिकता का अनुभव होता है पर उसका खुमार टुटने पर मनुष्य शराबी की भांति कमजोर हो जाता है । न्यूयॉर्क में वैज्ञानिकों ने क्रोध के परिणामों की जांच के' लिये एक क्रोधी व्यक्ति का खून चुहे के शरीर में डाला । बाईस मिनिट के बाद वह चूहा मनुष्य को काटने दौड़ा, ३५ वें मिनिट पर अपने आपको काटने लगा और एक घंटे में तो सिर पटक पटक कर मर गया । एक दूसरे वैज्ञानिक ने बताया है की पन्द्रह मिनिट के क्रोध से शरीर की उतनी शक्ति क्षीण हो जाती है जितनी कि नौ घंटे कडी मेहनत के बाद ।

क्रोध के प्रारम्भ में मनुष्य अपने में शक्ति से भी दस गुना बल का अनुभव करता है किन्तु उसके चले जाने पर शिथिलता का अनुभव करता है । मानों नशा उतर गया हो । इसका अर्थ हुआ क्रोध के क्षणों आई गरमी ज्वर की गरमी है जो अपने उतार के साथ नस नस को ढीला कर देती है ।

टीका :—महाविष इवाहिः सर्पो दृप्तोऽदत्तांकुरोदयोंऽकुरायाप्युदयो न दत्तो येन स तथा चरेत् स रुष्यंस्ति-ष्ठति विषं च वृथा मुक्तवान् निर्विषत्वमुपागतो भवति । एवं तपोबलस्थोऽपि नित्यं क्रोधपरायणोऽचिरेणापि कालेन तपोरिक्तत्वं ऋच्छति । गतार्थः ।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं—(अ) ''दत्तंकुरो-दयो-चिट्ठ'' के स्थान पर '' अंकुरायाप्युदयो न दत्तो येन विद्धे'' शब्दावलि अधिक उपयुक्त है[२] ।

---

१ देखिये भगवती सूत्रशतक १५.   २ इसिभासियाइं जर्मन प्रति पृष्ठ ५७.

गंभीरो वि तवोरासी जीवाणं दुक्खसंचिओ। अक्खेविणं दवग्गि वा कोवग्गी न दहते खणा॥ १२॥

अर्थ :—गंभीर तपोराशि जिसे कि प्राणी महान कष्ट साधना के बाद एकत्रित कर पाता है क्रोधाग्नि उसे उसी क्षण उसी प्रकार भस्म कर डालती है जैसे प्रज्वलित दावाग्नि सूखे लकडों को जला डालती है।

गुजराती भाषान्तर :—

મહાન્ પ્રયત્નોથી સાધ્ય કરેલી તપશ્ચર્યાને ક્ષુદ્ર ક્રોધાગ્નીથી તેજ ક્ષણે અને ત્યાં જ નષ્ટ કરે છે કે જેમ જંગલમાં ફેલાયેલો અગ્નિ જંગલના લાંકડોનું ભસ્મ ટુંક સમયમાંજ કરી નાખે છે.

पूर्व गाथा में बताया गया था कि कषाय की ज्वाला तपकी साधना को नष्ट कर डालती है। प्रस्तुत गाथा उसी की पुष्टि में आई है। यहां अर्हतर्षि उसके लिये सुन्दर-सा रूपक भी दे रहे हैं। जैसे दावानल वन के सूखे वृक्षों को अविलंब भस्म कर देता है। इसी प्रकार क्रोध की आग साधककी कष्ट साधना को मिनिटों में भस्म कर डालती है।

महान कष्ट और परीषहों के सहने के बाद जो साधना की संपत्ति अर्जित की उसे राख मौल राख बनते देख अर्हतर्षि का दिल अकुला उठा और वे कह उठे साधक तेरी संपत्ति को यों लुट न जाने दे एक गरीब धूप और भूख की भार सहकर पहली तारीख को उसे श्रम के प्रतिफल में तीस रुपये मिलते हैं वह जब घर आता है पैर सड़क पर दौड़ते है। मन स्वप्नों में दौंड़ता है यह लाना है वह लाना है। घर पहुचा रुपये पत्नी के हाथों में थमाये और दुसरे कमरे में स्नान करने के लिये गया है। पत्नी भोजन बनाने के काम में व्यस्त थी, रुपये लिये और पास ही रख दिये। इधर चार वर्ष का नन्हा मुन्ना आया और खेल ही खेल में उसने नोट उठा लिये और जलते जूल्हे की आगे में झोंक दिये। मां ने देखा वह झपटी उन्हें बाहर निकाले इतने में तो वे राख की ढेर हो गये। वह चिल्लाई पति बाहर आया नोटों की राख देखी तो उसका दिल उबल पड़ा। आवेश में कांपते हाथों उसने बालक को भी पकड़कर चूल्हें में झोंक दिया। वह रोया चिल्लाया। मां उसे बाहर निकाली तब तक आग कपड़े पकड़ चुकी थी। अध झुलसा बालक बाहर निकला वह दवाखाने पहुंचा तो पिता जेल की काली कोठारी में। फिर कितनी रोई थी पिता की आत्मा। यदि दीवार को आंखें होती तो वह भी सिसक उठती।

यह सब क्या हुवा? किसने किया। बालक के अज्ञान ने नोट की राख की तो पिता के क्रोध ने नन्हें बालक को आग की लपटों में झांक दिया। कठिन श्रम से आर्जित संपत्ति कितनी प्रिय होती है तो कषाय परिणति कितनी बुरी होती है। प्रस्तुत घटना दोनों तथ्यों को स्पष्ट करती है।

टीका :—गंभीरोऽपि तपो-राशिर्जीवानां साधुभिः पुरुषैर्दुःखेन कृच्छ्रातैः संचितः, कोपाग्निस्त्वाक्षेपिणां आकर्षतां तपःकाष्ठानि दहति क्षणाद् वनकाष्ठानीव दावाग्निः।

कोहेण अप्पं डहती परं च अत्थं च धम्मं च तहेव कामं।
तिव्वं च वेरं पि करेंति कोधा अधरं गतिं वा वि उर्विति कोहा॥ १३॥

अर्थ :—क्रोध से आत्मा स्व और पर दोनों को जलाता है। अर्थ, धर्म और क्रोध को भी जलाता है। क्रोध तीव्र वैर भी करता है और क्रोध से आत्मा अधोगति प्राप्त करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

ક્રોધથી આત્મા 'સ્વ' અને 'પર'ને બાળે છે. તેમજ અર્થને, ધર્મને અન ગુસ્સાને બાળે છે અને પોતે પણ બળી જાય છે. ક્રોધ ભયંકર વેર કરે છે અને તેને કારણે આત્માને અધોગતિ પ્રાપ્ત થાય છે.

प्रस्तुत गाथा में क्रोध के द्वारा संभावित हानियां बताई गई हैं। क्रोध से आत्मा स्व और पर दोनों झुलसाता है। एक जलता हुआ कोयला खुद को भी जला रहा है और उसके निकट जो भी आता है उसे भी जलाता है और वह जहां पहुंचता है या जो भी उसके निकट आता है उसे भी वह जलाता है। क्रोध की आग में जलता हुआ व्यक्ति सबका शान्ति-भंग करता है। क्रोधी का दिमाग मानों बारूद का कारखाना है, जरा सी टक्कर लगते ही भड़ाका होते देर नहीं लगती।

दूसरे को जलाने के लिये चलनेवाला स्वयं भी पहले उस आग में झुलसता है। दिया सलाई पहले स्वयं जलती है, उसके बाद ही वह दूसरे को जला सकती है। क्रोधित में व्यक्ति अपने अर्थ धर्म और काम की भी हानि कर बैठता है। यह तो आम तौर पर देखा जाता है, गुस्से में आकर आदमी कांच की ग्लास दे मारता है। उस भले आदमी को कौन

समझाये कि तैने अपने ही आठाने बिगाड़े हैं साथ ही राष्ट्र की संपत्ति को भी क्षति पहुंचाई है ! । क्रोध आंख मूंद कर चलता है । इसीलिये तो वह ठोकर खाता है और ऐसा गिरता है कि पृथ्वी भी उसे रोक नहीं सकती । क्रोध की आग नरक की आग लेकर ही आती है । इसीलिये अर्हतर्षि साधक को बार बार सचेत कर रहे हैं ।

कोवाविद्धा ण याणंति मातरं पितरं गुरुं । अधिक्खिवंति साधू य रायाणो देवयाणि य ॥ १४ ॥

अर्थ :—क्रोधाविष्ट प्राणी माता पिता और गुरु को भी नहींसमझते । वे साधु राजा या देवता का भी अपमान कर सकते हैं ।

गुजराती भाषान्तर :—

ક્રોધાધીન માનવ માતા, પિતા અને ગુરુને પણ માનતા નથી; તે સજ્જન, રાજા કે દેવતાનો પણ અપમાન કરી શકે છે.

मायावी का कोई मित्र नहीं हैं । अहंकारी के लिये कोई बडा नहीं है । क्रोधी का तो वह खुद ही नहीं है । क्रोधका शैतान जब मानव के दिमाग में प्रवेश करता है तो उसकी आंखें मुंद जाती हैं और ओंठ खुल पडते है । उस समय वह न माता को देखता है, न पिता को, न गुरू को, वह साधु को भी अपमानित कर सकता है । राजा और देवता का भी तिरस्कार कर सकता है ।

कोवमूलं णियच्छंति धणहाणिं बंधणाणि य । पिय-विप्पओगे य बहू जम्माइं मरणाणि य ॥ १५ ॥

अर्थ :—क्रोध धन-हानि और बन्धनों का मूल है । प्रिय वियोग और अनेक जन्म मरणों का मूल भी वही है ।

गुजराती भाषान्तर :—

દ્રવ્યનાશ અને બંધનનું મૂળ ક્રોધ જ છે. વહાલાનો વિયોગ અને અનેક જન્મ તેમજ મરણનું કારણ પણ ક્રોધ જ છે.

क्रोध सारी विपत्तियों के लिये निमंत्रण है । क्रोध में धन और जन दोनों हानियां हैं । वर्षों की जमी जमाई नौकरी को क्रोध एक क्षण में बिगाड देता है और उफान शान्त होने पर फिर वह नौकरी के लिये चक्कर लगाता है । मनुष्य समझता है मैं क्रोध से काम निकाल लूंगा किन्तु क्रोध से काम लेना ऐसा ही है जैसा कि घडी का पेंडुलम हिलाकर उस घडी से काम लेता है । जिसकी कमान टूटी हुई है क्रोध से काम बनते नहीं बिगडते जरूर हैं । प्रिय वियोग उसमें है बहुत से व्यक्ति आवेश में आकर घर छोडकर ऐसे गये कि फिर घर की ओर झांका तक नहीं । जन्म और मृत्यु तो क्रोध के साथ लगे हुए हैं ही ।

जेणाभिभूतो जहती तु धम्मं, विद्धंसती जेण कतं च पुण्णं ।
स तिव्वजोती परमप्पमादो, कोधो महाराज ! णिरुज्झियव्वो ॥ १६ ॥

अर्थ :— जिसके द्वारा अभिभूत होकर यह आत्मा धर्म को छोडता है और जिसके द्वारा कृत पुण्य नष्ट होता है । हे महाराज ! वह तीव्र अग्नि और परम प्रसाद रूप क्रोध निग्रह करने योग्य है ।

गुजराती भाषांतर :—

જેને કારણે માણસ પરાજય પામીને ધર્મનો ત્યાગ કરે છે અને જેને લીધે પુણ્યનો લોપ થઈ જાય છે, હે મહારાજ ! અગ્નિ જેવા ભયંકર અને ચાલાખ એવા ક્રોધનો સંયમ કરવો જ જોઈએ.

क्रोध से होनेवाली दो बडी हानियां बताई गईहे । पहली है उसके द्वारा आत्मा का स्व-धर्म समाप्त करना । क्षमा आत्मा का स्वधर्म है और क्रोध पर धर्म । दूसरा वह कृत पुण्य को नष्ट करता है । क्रोध हमारा हाथ तो इस ढंग से पकडता है मानों वह हमारा हक्क बहुत बडा साथी हो किन्तु वह इतना चालाक है कि काम हमसे ही कराता है इसीलिये तो क्रोध उतारने के बाद हम दूनी थकान का अनुभव करते है ।

अर्हतर्षि कह रहे हैं यह क्रोध तीव्र ज्योति अग्नि रूप है और परम प्रमाद है । अर्थात् पंच प्रमादों में इसका स्थान प्रमुख है । अतः यह सदैव निरोध करने योग्य है । क्रोध विजय का एक अलग तरीका है । क्रोध की आग मिट्टी के तैलसे लगी आग है । वह पानी से काबू में नहीं आ सकती । उसे बुझाने के लिये मिट्टी चाहिये । वह मिट्टी है मृत क्रोध की –

नकली क्रोध की। क्रोधी व्यक्ति को आप शान्ति से नहीं समझा सकते उसके। लिये नकली क्रोध की आवश्यकता है। गरमी से गरमी दबती है किन्तु ध्यान रखें वह क्रोध की आग आपके दिल में न आ जाय, अन्यथा वह दबेगी नहीं भडक उठेगी। दो लडते हुए व्यक्तियों की लडाई रोकने के लिये पहले उनकी लडाई को कुश्ती में बदल देना होगा, फिर मल्लयुद्ध को खेल युद्ध में बदल दें। कुछ देर में आप देखेंगे वे हास्य की सरिता के निकट आ गये हैं। क्रोध के हंसी में बदलते ही क्रान्ति शान्ति में बदल जाएगी।

टीका :—महाराज त्ति संबोधनं श्लोकस्यान्यस्माद् कस्माच्चिदन्वायादिहावतरितत्वं प्रकटीकरोति।

प्रस्तुत श्लोक में आया हुआ महाराज का संबोधन यह प्रकट करता है कि यह श्लोक अन्य किसी स्थान से लिया गया है।

प्रोफेसर शुब्रिंग भी लिखते है-पन्द्रहवें श्लोक में आया हुआ महाराज का संबोधन का मूल दूसरे अनुसंधान में होना चाहिये, क्योंकि प्रस्तुत प्रकरण के श्लोकों में यह संबोधन ठीक नहीं बैठता[१]।

हट्ठं करेतीह णिरुज्झमाणो भासं करेतीह विमुच्चमाणो।
हट्ठं च भासं च समिक्ख पण्णे, कोवं णिरुंभेज्ज सदा जितप्पा ॥ १७ ॥

अर्थ :—जो निरोधित किये जाने पर मनुष्य को हृष्ट करता है और छोड़े जाने पर प्रकाश (भड़का) करता है। समीक्ष्य प्रज्ञाशील जितात्मा साधक हृष्ट और प्रकाशित दोनों प्रकार के क्रोध को सदैव रोके।

गुजराती भाषान्तर :—

ક્રોધ (અપ્રકટ) સંયમિત થયા પછી માણસને તે સંતોષ આપે છે અને ક્રોધ (પ્રકટ) છોડી દીધા પછી તે ભડકે છે. બુદ્ધિવાન્ અને વિચારી માણસે હૃષ્ટ અને પ્રકાશિત (એટલે પ્રકટ અપ્રકટ) બેઉ તરહના ક્રોધનો સાધકે હમેશા અટકાવ કરવો.

क्रोध के दो रूप हैं-एक प्रकट, दूसरा अप्रकट। पहला प्रज्वलित आग है, दूसरा दबी हुई आग है। क्रोध का एक वह रूप है जब कि उसकी ज्वालाएं बाहर फूटती दिखाई देती हैं, दूसरा एक वह क्रोध है जिसकी ज्वालाएं बाहर तो नहीं दिखलाई पड़तीं किन्तु जो भीतर ही भीतर अनबुझे कोयले की भांति सुलगता रहता है। कभी कभी ऐसा भी होता है दो व्यक्तियों के बीच झगड़ा हो जाने पर दोनों बोलना बन्द कर देते हैं। परन्तु दोनों के बोलना बन्द कर देने मात्र से क्रोध की ज्वाला समाप्त हो गई ऐसा नहीं समझा जा सकता। हां, इतना हुआ बाहर की ज्वाला भीतर पहुंच गई।

यह भीतर की आग बाहर की आग से अधिक भयानक होती है। क्योंकि बाहर की आग तो दो मिनिट में जलकर शान्त हो जाती है। पर भीतर की आग कब किस क्षण विस्फोट करेगी कुछ कहा नहीं जा सकता। इसीलिये तो उष्ण युद्ध की अपेक्षा शीत युद्ध अधिक भयावह होता है और शीतयुद्ध की पृष्ठभूमि पर ही उष्ण युद्ध की विभीषिका खड़ी होती है।

प्रज्ञाशील साधक बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के क्रोध को निरुद्ध कर कषाय विजयी बने।

टीका :—हृष्टं करोति पुरुषमनिरुध्यमानः कोपः विमुच्यमानस्तु भस्म करोति। भस्मी करोति, हृष्टं च भस्म च समीक्ष्य प्राज्ञो जितात्मा सदा कोपं निरुंध्यात्।

तारायणीयमध्ययनम्।

अनिरुध्यमान क्रोध मनुष्य को दृष्ट करता है और विमुच्यमान क्रोध उसे भस्म करता है। अतः प्रज्ञाशील जितात्मा और भस्म को देखकर क्रो सदा रोकता रहे।

टीकाकार का अभिप्राय कुछ भिन्न पड़ता है।

एवं से सिद्धे०। गतार्थः ॥

षट्त्रिंशत्तममध्ययनम्

---

१ इसिभासियाइं जर्मन प्रति पृष्ठ ५७.

सिरिगिरि अर्हतर्षिप्रोक्त

सैंतीसवां अध्ययन

तत्त्वचिन्तक के मन में एक प्रश्न खड़ा होता है हम जिस विराट् सृष्टि में रहते हैं उसकी उत्पत्ति कैसे हुई? कोई दर्शन इसे अंडे से उत्पन्न मानता है इसे वराह के द्वारा समुद्र से बाहर लाई मानता है। किन्तु ये समाधान तर्क की तुला पर ठहर नहीं सकता। जिस अंडे से यह सृष्टि उत्पन्न हुई वह अंडा कितना बड़ा होगा और वह रहा कहां? होगा? जब पृथ्वी पानी आदि कोई तत्व ही नहीं थे तो अंडा आया कहां से और कहां टिका होगा।

जैन दर्शन इसका सही समाधान देता है। यह विश्व की रंग–स्थली अनादि है। यह विराट्र विश्व न कभी उत्पन्न हुआ है, न कभी पूर्ण रूप से विलय ही होगा। क्योंकि हम यदि उत्पत्ति वाद स्वीकार करते हैं तो हमारे सामने प्रश्न आता है पहले बीज था या वृक्ष। यदि बीज पहले था तो वृक्ष बिना बीज आया कहां से और वृक्ष पहले था तो बीज बिना वृक्ष कैसे हो गया? यह ऐसी अनबूझ पहेली है। जिसे आज तक कोई सुलझा नहीं पाया। अतः जैनदर्शन कहता है बीज भी उतना ही पुराना है जितना कि वृक्ष। बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज यह क्रम अनादि है। न कभी यह क्रम टूटा है न कभी टूटनेवाला है। इसी रूप में सृष्टिचक्र घूम रहा है।

आजका विज्ञान सृष्टि की उत्पत्ति के लिये विकासवाद को मानता है। विकासवाद के प्रणेता डार्विन कहता है यह पृथ्वी करोड़ों वर्ष पहले इतनी गर्म थी कि उस पर कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता था, फिर उसकी ऊपर की परत शीतल हुई तो कुछ छोटे जन्तुओं ने जन्म लिया। उनके द्वारा कुछ कीड़े आदि पैदा हुए। फिर उन्होंने विकास किया तो बड़े रंगनेवाले प्राणी जन्मे। उन्होंने विकास किया तो चौपाये जन्मे। उनमें से बुद्धि पटुता लेकर बन्दर जन्मा और बन्दरों का विकसित रूप मानव है। यह विकासवाद का संक्षिप्त रूप। लाखों करोड़ों वर्षों के पूर्व कुछ बन्दर मानव बने थे। उसके बाद लाखों की संख्या में जो बन्दर थे उन्होंने विकास क्यों नहीं किया। माना कि सब विकास नहीं कर सकते तो सौ वर्ष के बाद या हजार वर्ष के बाद एक बन्दर तो मनुष्य होना चाहिये। फिर मनुष्य का भी तो विकास होना चाहिये वह भी तो कुछ बनाना चाहिये।

डार्विन का यह विकासबाद भी तर्क की तुला पर ठीक नहीं बैठता। हां, आत्मा विकास करती है और यह चोला बदलकर दूसरे रूप में आ सकती है किन्तु उस वर्ग के प्राणी विकसित होकर अन्य रूप ले यह संभव नहीं है। प्रस्तुत अध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति के प्रश्न की चर्चा की गई है।

सव्वासिणं पुरा उदगमसीत्ति सिरिगिरिणा माहणपरिव्वायगेण अरहता इसिणा बुइतं।

अर्थ :—कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि यहां पहले सब पानी ही था। इस प्रकार ब्राह्मण परिव्राजक सिरिगिरी अर्हतर्षि ऐसा बोले।

गुजराती भाषान्तर :—

કેટલાક દાર્શનિકો એમ માને છે કે અહિયાં પ્રથમ બધું જલમય (પાણીથી વ્યાપ્ત) જ હતું એમ બ્રાહ્મણ પરિવ્રાજક સિરિગિરિ અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

सृष्टि-कर्तृत्व के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष बताते हुए अर्हतर्षि कहते हैं कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि पहले यह केवल जल तत्त्व था।

एत्थ अंडे संतत्ते एत्थ लोए संभूते। एत्थं सासासे। इयं णे वरुणविहाणे। उभयोकालं उभयो-संझं खीरं णवणीयं मधुसमिधासमाहारं खारं संखं च पिंडेत्ता अग्गिहोत्तकुंडं पडिजागरमाणे विहरिस्समीति तम्हा एयं सव्वं ति बेमि।

अर्थ :—वहां अण्डा आया और फूटा उससे लोक उत्पन्न हुआ और सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। किन्तु कोई यह बोलते हैं कि यह वरुणविधान हमें मान्य नहीं है। वे उभय काल दोनों संध्या को क्षीर नवनीत (मक्खन) मधु (शहद) समिधा (लकड़ियां) इनको एकत्र करके क्षार और शंखको मिलाकर अग्निहोत्र कुंड को प्रति जाग्रत करता हुआ रहूंगा इसलिये मैं यह सब बोलता हूं।

वैदिक-परंपरा के अनुगामी ऐसा विश्वास करते हैं कि विश्व की उत्पत्ति अंडे से हुई है। महासागर में एक अंडा तैरता हुआ आया। वह फूटा और दो खंडों में विभक्त हो गया। पहले से ऊर्ध्वलोक बना और निम्न खंड से अधोलोक बन गया। उसी से यह सचराचर सृष्टि पैदा हुई है।

सृष्टि उत्पत्ति के सम्बंध में और भी विभिन्न वाद है। सूत्रकृतांगसूत्र में उसका उल्लेख है। कोई ऐसा मानते हैं कि यह लोक देवों ने बनाया है। दूसरे ऐसा कहते हैं कि यह सृष्टि ब्रह्मा ने बनाई है। कोई यह मानता है कि यह सृष्टि ईश्वर ने बनाई है। इस विराट् विश्व में ईश्वर अकेला था किन्तु अकेलेपन से वह ऊब गया[1] और उसने अपने को दो हिस्सों में विभक्त कर दिया। एक था पुरुष दूसरी थी नारी और इस रूप में सृष्टि का निर्माण हुआ। कुछ लोग इस विश्व को प्रकृति[2] की कृति मानते है। कोई इसे स्वभावकृत मानते हैं। मयूर के पंखों को किसने चित्रित किया है। कांटों को किसने तीखा बनाया है। उत्तर होगा यह सब स्वभाव की देन है। उसी स्वभाव ने सृष्टि का निर्माण किया है। महर्षि ऐसा कहते हैं यह सृष्टि ब्रह्मा ने रची है। फिर उन्होंने सोचा कि यदि सृष्टि का निर्माण ही होता गया तो उसका समावेश कहां होगा, अतः उन्होंने यमदेव की रचना की और उसने माया का निर्माण किया यही माया लोक का संहार करती है[3]। ब्रह्मा और त्रिदंडी आदि श्रमण ऐसा बोलते है-यह विश्व अंडे से बना है[4]।

इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेकवार प्रचलित हैं। अर्हतर्षि अंडे से विश्व की उत्पत्ति माननेवाले सिद्धान्त का वर्णन कर रहे हैं। साथ ही उस मत के अनुगामियों की दैनंदिनी साधना भी बता रहे हैं कि वे दोनों समय दोनों संध्या को क्षीर और नवनीत और मधुके द्वारा अग्निहोत्र करते है। वैदिक परंपरा के अनुगामी अंडे से विश्व की उत्पत्ति मानते हैं और अग्निहोत्रादि यज्ञयागों में विश्वास करते हैं।

टीका :—सर्वमिदं जगत् पुरा उदकमासीत्। अत्राण्डं संतप्तम्, अत्र लोकः संभूतः। अत्र साश्वासो जातः, इदं नोऽस्माकं मते वरुणविधानं इति केचित्। अन्ये तूभयतः कालमुभयतः संध्यं क्षीरं नवनीतं मधु समित्, समाहारं क्षारं शंखं च पिंडयित्वाऽग्निहोत्रकुण्डं प्रतिजागरयमाणो विहरिष्यामीति तस्मादेतत् सर्वमिति ब्रवीमीति। गतार्थः।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं –

यह एक ही प्रकरण ऐसा नहीं है कि छन्द रूप में जिसकी भूमिका नहीं है। अध्ययन १०,१४ और २१ में भी ऐसा ही हुआ है। वर्षों पहले इस विश्व में केवल पानी ही था। यह मुद्रा लेख है। इसके बाद आनेवाला अध्ययन भी इसी शैली का प्रमाण है। ऊपर के वाक्य का स्पष्टीकरण निम्न रूपं से है – अंडा फूटा और दुनियां बाहर आई और उसने श्वास लेना शुरू किया। यहां ब्रह्म के बदले वरुण का निर्देश उचित है। क्योंकि जल का देवता वरुण माना जाता। अतः यह सृष्टि वरुण की कृति है।

दूसरे वैदिक सिद्धान्त के अनुसार इस विश्व की उत्पत्ति यज्ञ से हुई है। उभी कालं वगैरे से यही ध्वनित होता है। किन्तु उसमें प्रमाण रूप से कोई कल्पित भेद नहीं बताया गया है। इसके सामने दो ब्राह्मण के बताये गये हैं किन्तु उसमें विरोध नहीं दिखाया गया है।

ण वि माया ण कदाति णासि ण भवति ण कदाति ण भविस्सति य।

अर्थ :—यह लोक माया नहीं है। कभी नहीं था ऐसा नहीं है, कभी नहीं है ऐसा भी नहीं है और कभी नहीं रहेगा ऐसा भी नहीं है।

---

१ स एकाकी न रेमे।

२ सत्व रज और तम की साम्यावस्था प्रकृति है।

३ इणमन्नं तु अन्नाणं इह मेगेसि माहियं।
देव उत्ते अयं लोए बंभउत्तेति आवरे ॥
ईसरेण कडे लोए पहाणाइतहावरे।
जीवा-जीव-समाउत्ते सुहदुक्खसमन्निए।
सयंभुणा कडे लोए इइवुत्तं महेसिणा।
मारेण संथुया माया तेण लोए असासए ॥
सूयगड अ० १ उ० ३ गा० ५-६-७.

४ माहणा समणा एगे आह अंड कडे जगे।
सूयगड अ० १, उ० ३, गा० ८.

गुजराती भाषांतर :—

આ લોક માયા (એટલે સ્વપ્ન જેવો ખોટો) નથી, ક્યારે પણ નહોતો એમ નથી, ક્યારે પણ નથી એમ પણ નથી, અને ભવિષ્યમાં પણ રહેશે એમ પણ નથી.

अर्हर्षि पहले सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैदिक परंपरा दिखाकर बाद में जैनदर्शन रख रहे हैं। जैनदर्शन के अनुसार यह विश्व सत्य है। और यह लो संपूर्ण रूप से नश्वर भी नहीं है। इस सारी सृष्टि को माया मानने पर भी बहुत बड़ी आपत्ति आती है। यदि यह माया है फिर आत्मा जैसा कोई तत्व भी नहीं है। फिर पुण्य पाप साधना आदि सभी निष्फल हैं। यदि संसार को स्वप्न माना जाय तो स्वप्न भी एकदम मिथ्या है ऐसा नहीं कहा जा सकता। हमारी जागृति का ही प्रतिबिम्ब स्वप्न हैं। जागृति में दृष्ट और अनुभूत वस्तुएं वासना रूप में हमारी स्मृति में रह जाती है और वे ही स्वप्न रूप में दिखाई देती है। यदि जागृति भी कोई वस्तु नहीं है तो फिर स्वप्न भी नहीं आ सकता।

सीप में चांदी की भ्रांति होती है, पर विश्व में सीप और चांदी है भी तो भ्रान्ति होती है; अन्यथा आकाश कुसुम की तो भ्रान्ति नहीं होती। अतः विश्व व्यवस्था सत्य है, किन्तु उसे हम गलत रूप में देखते हैं तो हमारी दृष्टि में भ्रांति है। पर को स्व देखना और उसमें आत्मीयता की बुद्धि रखना यह भ्रान्ति है किन्तु वस्तु या यह विश्व-भ्रान्ति नहीं है।

साथ ही यह वस्तु त्रिकालवर्ती है। यह कभी नहीं था ऐसा भी नहीं है। कभी नहीं है ऐसा भी नहीं है, कभी नहीं रहेगा ऐसा भी नहीं है। हां पर्याय रूप से प्रतिक्षण बदल रहा है किन्तु द्रव्य रूप से यह लोकशाश्वत है। क्योंकि लोक का संपूर्ण नाश मानने पर उसकी उत्पत्ति भी माननी होगी और ऐसा मानने पर अनेक तर्क उपस्थित होता है। साथ ही जैनदर्शन यह मानता है विश्व सत् है और सत् उत्पन्न भी होता है नष्ट भी होता है फिर भी तत्व रूप से ध्रुव रहता है। उसका रूप बदलता है पर स्वरूप नहीं बदलता[1] है। गीता भी कहती है असत् कभी उत्पन्न नहीं होता और सत् का कभी नाश नहीं होता[2], फिर सृष्टि की उत्पत्ति कैसी? अंडे आदि से उत्पत्ति मानना और भी युक्ति विरुद्ध है। सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया है—

सएहिं परियाएहिं लोय बूया कडेत्ति य।
तत्तं तेण विजाणंति ण विणासी क्याइ वि॥ —सूत्रकृतांग अ० १ उ० ३ गा० ६.

अपने विचारों से वे बोलते हैं लोक बनाया गया है। किन्तु वे तत्व को जानते नहीं हैं, क्योंकि लोक विनाशी नहीं है।

टीका :—**वयं तु न विद्मि माया नैवाद्भुतऽविधानं मन्तव्यम्, किन्तु न कदाचिन्नासीन्न कदाचिन्न भविष्यति च लोक इति वदामः। गतार्थः।**

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं—

कि नवि माया आदि के द्वारा जैन सिद्धान्त बताया गया है और वह दुनिया की शाश्वतता और वास्तविकता की मांग करता है।

पडुप्पण्णमिणं सोच्चा सूरसहगतो गच्छे। जत्थ च्चेव सूरिये
अत्थमेज्जा खेत्तंसि वा णिण्णंसि वा तत्थेव णं पादुप्पभायाए रयणीए
जाव तेयसा जलंते। एवं खलु से कप्पति पातीणं वा पडीणं वा दाहिणं
वा उदीणं वा पुरतो जुगमेतं पेहमाणे आहारीयमेव रीतित्तए।

अर्थ :—प्रत्युत्पन्न अर्थात् वर्तमान इस तथ्य को सुनकर साधन सूर्य के साथ जाए। जहां सूर्य हो वहीं रुक जाए, फिर वहां खेत हो या ऊंची नीची भूमि हो। रात्रि के व्यतीत हो जाने पर तेज से जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होनेपर (साधक को) पूर्व पश्चिम उत्तर या दक्षिण किसी भी दिशा में युग मात्र भूमि देखते हुए चलना कल्पता है। उस प्रकार चलनेवाला साधक कर्म क्षय करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

પ્રત્યુત્પન્ન એટલે વર્તમાન સત્યત્વને સાંભળીને સાધકે સૂર્યને સાથે જ ચાલવું જોઈએ. સૂર્યનો અસ્ત થતાં જ તે પોતે પણ થોભી જાય, ભલે ત્યાં ખેતર હોય કે ઉંચી કે નીચી જગ્યા હોય. રાત વીતી ગયા પછી કે તેજસ્વી સૂર્યનો ઉદય થયા પછી સાધકે પૂર્વ, પશ્ચિમ, ઉત્તર કે દક્ષિણ કે કોઈ દિશા તરફ યુગમાત્ર ભૂમિ જોઈને ચાલવું. એ એક કલ્પના છે. તેવી રીતે ચાલનાર સાધક કર્મનો ક્ષય કરે છે.

---

१ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं हि सत् ॥— तत्वार्थ अ० ५ सू० २६. २ न सतो जायते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥ – गीता

साधक सत्य को पहचाने और फिर सूर्यविहारी बने। सूर्य उदय होने पर उसकी गति आरंभ हो और सूर्य अस्त हो वहां रुक जाए, फिर भले वह खेत हो या निम्न भूमि हो। रात्रि व्यतीत हो जाने पर ही वह आगे बढे। क्योंकि वह प्रकाश का पथिक है, वह प्रकाश द्रव्य और भाव दोनों रूप में अपेक्षित है, द्रव्य से सूर्य का प्रकाश अपेक्षित है, तो भाव से ज्ञान प्रकाश ग्राह्य है। भाव शब्द से यहां – सूर्य के कुछ विशेषण ग्राह्य हैं। जोकि औपपातिक सूत्र में मिलते हैं। टीकाकार उन्हें दे रहे हैं, अतः यहां पृथक् नहीं दिये गये। साधक युग मात्र भूमि देखता हुआ चले। ताकि वह जीवादि विराधना से बच सके। उसके मन में करुणा की धारा बह रही है वह सब की रक्षा करने की कामना लेकर चल रहा है। अतः चलते हुए भी उसे सावधानी रखना आवश्यक है। जागृत साधक ही गृहीत को रिक्त कर रहा है। इसके दो रूप हैं द्रव्य में वह लक्ष्य की दूरी की रिक्त कराता काट रहा है। दूसरी ओर गृहीत कर्मों को क्षय कर रहा है।

टीका:— 'पडुप्पण्णं इणं सोच्च' त्ति प्रत्युत्पन्नं वर्तमानमिदश्रुत्वेति त्रीणि पदानि श्लोकपाद इव दृश्यन्ते। नच पूर्वगतेन न चैव पश्चाद्गतेन संबद्धुं शक्यानि। सूर्यसहगतो निर्ग्रन्थो अर्थात् यात्रैव सूर्योऽस्तमियात् क्षेत्रे वा निम्ने वा तत्रैवोषित्वा प्रादुः प्रभातायां रजन्यामतीतायां रात्रावुत्थिते सूर्ये सहस्ररश्मौ दिनकरे कीदृशे-तदौपपातिकपाठेनोच्यते विकसितोत्पले चोन्मीलितकमलकोमले च पांडुरप्रभे रक्ताशोकप्रकाशे च किंशुक-शुकमुख-गुंजार्धरागसदृशे च कमला-करषण्डबोधके तेजसा ज्वलति सति एवं तत्क्षणमेव प्राचीं वा दक्षिणां वा उदीचीनां वा दिशि पुरतो युगमात्रमेव प्रक्ष-माणे यथारीत्येतुं तस्य कल्पते निर्ग्रन्थस्य। श्रीगिरीयमध्ययनम्।

'पडुप्पन्न, इणं, सोच्चं' आदि तीनों पद श्लोक के पाद समान दिखाई देते हैं, किन्तु वे न पूर्व के साथ जोडे जा सकते हैं, न पीछे के साथ। मुनि सूर्य के साथ जाये इसका अर्थ है जहां सूर्य अस्त हो वहां क्षेत्र=खेत या निम्नभूमि हो वहीं उसे ठहर जाना चाहिये। रजनी के बीत जाने पर सहस्ररश्मि सूर्य के उदय होने पर पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण किसी भी दिशा में आगे युग-मात्र भूमि देखते हुअे गति करना मुनि को कल्पता है। वह सूर्य कैसा है उसका वर्णन औपपातिक के आधार पर दिया जा रहा है। उत्पल (कमल को विकसित कर दिया है और कोमल कमल को खिला दिया है जिसने ऐसा पाण्डु प्रभाववाला रक्त (लाल) अशोक के सदृश प्रकाशवाला, किंशुक शुकमुख (पोपट की चंचु) और गुंजार्ध के सदृश लाल कमलाकर (समूह) सरोवर को जगानेवाला तेजस्वी जाज्वल्यमान सूर्य है। उसके उदय होने पर मुनि विहार पथ में आगे बढे।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं –

आगे जो पाठ (प्रस्तुत) दिया गया है उसमें कुछ नया वर्णन है। साधुओं के प्रतिदिन का कार्यक्रम दिया गया है जो कि सूर्य की गति के साथ संगत है। जिसकी तुलना कल्पसूत्र ५-६-८ और निशीथ १०,३१,३४ और दशवें ८-२८ के साथ की जा सकती[१] है।

थोडी शुभेच्छाओं के साथ एक फूल पुनः विश्व की ओर खींच जाता है। "पडुप्पण्णं इणं सोच्चं" श्लोक पद यह बताता है कि उसने जाना है दुनियां वहां हैं और ऐसा लगता है वहां थोडा कुछ छूट गया है। इसीलिये उसकी पुनरुक्ति भी होती है। क्षितिज में सूर्य अस्त होता है यह वाक्य भी कुछ बाहर का लगता है उसे पूर्णता की आवश्यकता है जोकि मुनि बिहार की पूरी मर्यादा बताता हो। औपपातिक में जो सूर्योदय की काव्यात्मक पदावलि मिलती है वहां भी ऐसा लगता है कि वेद की भ्रांति प्राश मिलाने के लिये कुछ शब्दों का योग दिया गया है। वहां जो पाउप्पभायाररमणीए पाठ है वहां निम्नोक्त पाठ होना चाहिए फ़ुल्लुप्पल उम्मिलिय कोमल कमलम्मि अहा पंडुरप्पभायाए सूसे एवं खलु। देखो आचारांग ८३-१। अतः वहां उपोद्घात का वाक्य होना चाहिए उसकी पूरी संभावना।

एवं से सिद्धे बुद्धे०। गतार्थः।

इति श्रीगिरीयं सप्तत्रिंशत्तममध्ययनम्

---
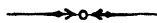
१ कल्लं पाउप्पभाए रयणीए फुल्लुप्पलकमलकोमलउम्मीलियम्मि अहा पंडुरे पहाए रत्तासोगप्पगास किं सुय-सुय-मुह-गुंजद्ध-रागसरिसे कमलायरसंडबोहए उत्थियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयारे तेयसा जलते।

—औपपातिकसूत्रम्

२ अत्थं गयम्मि आइच्चे पुरत्थायअणुग्गए। आहारमाइयं सव्वं मणसा वि ण पत्थए॥

बौद्ध अर्हतर्षि सातिपुत्र भाषित

अडतीसवाँ अध्ययन

वह सुख क्या है जिसके पीछे सारी दुनियां पागल है। खाना पीना और मौज करना जिसे इंग्लिश दुनिया Eat drink and be merried यही सुख है तो फिर जिनके भवन आकाश से बातें कर रहे हैं, जिनके बंगले के सामने चार चार कारें घूम रही हैं वे दुःख के निःश्वास छोड़ते हैं। इसका मतलब हुआ सुख की सच्ची चाभी उनको भी नहीं मिली है।

सुख के दो रूप हैं एक इन्द्रिय-निष्ठ दूसरा आत्म-निष्ठ। इन्द्रियों को जो प्रिय लगता है जिस ओर इन्द्रिया दोड़ती हैं। भोला मन उसे सुख की संज्ञा दे देता है और उसके पीछे बेहताशा भागता है। किन्तु वहां उसे क्षणिक उत्तेजनां और हल्की तृप्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता और उसके बाद फिर वही चिर अतृप्ति, वही दौड, वही संघर्ष और दुःख की अनंत परंपरा। दूसरी और आत्म-निष्ठ सुख में प्रेय का नहीं श्रेय का आग्रह है। वस्तु की क्षणिक मधुरिमा में आत्मा का असीम सुख नहीं बसता वह तो रहता है अपने निज रूप की प्राप्ति में। वहां रागरहित सात्विक आनंद है जिसके पीछे न दुःख की चिनगारी है न सुख के सूर्य के बाद दुःख की रजनी आने की संभावना ही रहती है। एक इंग्लिश विचारक कहता है:-

The happiness of a man in this life not consist in the absence but in the mastery of his passions.

इस जीवन में मनुष्य का सुख (बाहरी रूप से) वासनाओं के अभाव में नहीं; अपितु उनपर शासन करने में है।

प्रस्तुत अध्ययन मानव को सुख की सही राह दिखाता है। इस अध्ययन के प्रवक्ता हैं बौद्ध अर्हतर्षि सातिपुत्र। विगत सैंतीस अध्ययनों में हम विभिन्न अर्हतर्षियों से परिचित हो चुके हैं। उनमें कुछ क्षत्रिय रहे हैं तो कुछ ब्राह्मण भी हैं। उन्होंने उस परंपरा में जन्म लिया था, किन्तु तत्व दृष्टि मिलते ही उन्होंने आर्हती-देशना में प्रवचन दिये थे। अब यहां नई परंपरा आ रही है जो कि करीब ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत में जन्मी थी उस बौद्ध परंपरा से आनेवाले सातिपुत्र अर्हतर्षि के विचार सूत्र यहां दिये गये हैं। प्रस्तुत सूत्र के प्रथम निबन्धक उनके प्रवचन की भूमिका के साथ उनका बुद्धेण विशेषण जोड़ना नहीं भूले हैं।

ऐसे तो बुद्ध शब्द जैन आगमों में भी आया है किन्तु वह तीर्थंकर देवों की प्रबुद्ध आत्मा का विशेषण बनकर आया है और सातिपुत्र शब्द स्वयं बौद्ध-भिक्षु के नाम सा लगता है साथ ही प्रस्तुत अध्ययन की चतुर्थ गाथा के अन्तिम चरण में एक शब्द आता है वह भी इस कथन की पुष्टि करता है वह है यह एयं बुद्धाण सासण।

जं सुहेण सुहं लद्धं अच्चंतसुहमेव तं।
जं दुहेण दुहं लद्धं मामे तेण समागमो ॥ १ ॥

सातिपुत्तेण बुद्धेण अरहता इसिणा बुइतं।

अर्थः—जिस सुख से सुख प्राप्त होता है वही आत्यंतिक सुख है। किन्तु जिस सुख से दुःख की प्राप्ति हो उससे मेरा समागम न हो। सातिपुत्र बौद्ध अर्हतर्षि ऐसा बोले।

गुजराती भाषान्तर :—

જે સુખથી સુખનો લાભ થાય છે તેજ સાચું આત્યંતિક સુખ છે. પરંતુ જે સુખથી દુઃખની પ્રાપ્તિ થાય છે તેવા સુખને સાથે હું સંપર્કમાં ન આવું, એમ સાતિપુત્ર બૌદ્ધ અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

एक सुख वह है जो आदि में मीठा है तो अन्त में भी मीठा है। सुख का एक रूप वह भी है जो पहले मीठा है फिर कड़वा बन जाता है। भौतिक पदार्थों का सुख दूसरे प्रकार का सुख है। वह उस मख्खी का सुख है जो शहद देखती है उसका मिठास देखती है, किन्तु यह नहीं देखती कि इसमें गिरने के बाद मेरी क्या हालत होगी !।

स्थानांग सूत्र की एक चौभंगी है जिसमें बताया गया है जिसकी आदि में सुख है और अन्त में भी सुख है दूसरा जिसकी आदि में सुख है और अन्त में दुःख है। तीसरी जिसके आदि में दुःख है अन्त में सुख है। चौथा रूप वह है जिसके आदि में भी दुःख है और अन्त में भी दुःख है। उसमें प्रथम तृतीय ग्राह्य हैं और शेष दो अग्राह्य हैं।

टीका :— यत् सुखं सुखेन लब्धं तद् अत्यन्तसुखमेव, यत् दुःखं दुःखेन लब्धं मा मम तेन समागमो भूदिति बौद्धर्षिणा भाषितम्।

मणुण्णं भोयणं भोच्चा मणुण्णं सयणासणं।
मणुण्णंसि अगारंसि झाती भिक्खू समाहिए ॥ २ ॥

अर्थ :— मनोज्ञ भोजन करके और मनोज्ञ शयनासन पाकर मनोज्ञ भवनों में भिक्षु समाधिपूर्वक ध्यान करता है।

गुजराती भाषान्तर :—

મનગમતું જમણ, મનગમતું શયનનું સુખ કે આસનનું સુખ મેળવીને મનગમતા ભવનમાં બૌદ્ધ ભિક્ષુ સમાધિપૂર્વક ધ્યાન કરે છે.

टीका :— मनोज्ञं भोजनं भुक्त्वा मनोज्ञे शयनासने मनोज्ञेऽगारे बुद्धभिक्षुः समाहितो ध्यायति। गतार्थः।
विशेष टीकाकार भिक्षु शब्द को बौद्ध परंपरागत भिक्षु के अर्थ में व्यवहृत मानते हैं।

अमणुण्णं भोयणं भोच्चा अमणुण्णं सयणासणं।
अमणुण्णंसि गेहंसि दुक्खं भिक्खू झियायती ॥ ३ ॥
एवं अणेगवण्णागं तं परिच्चज्ज पंडिते।
णण्णत्थ लुब्भई पण्णे एयं बुद्धाण सासणं ॥ ४ ॥

अर्थ :— अमनोज्ञ भोजन करके अमनोज्ञ शयनासन पाकर अमनोज्ञ घरों में भिक्षु दुःख का ध्यान करता है। इस प्रकार अनेक वर्णवालों का विचार है किन्तु उसे छोड़ कर प्रज्ञाशील कहीं पर भी नहीं होता है यही बुद्ध कि (प्रबुद्ध आत्मा की) शिक्षा है।

गुजराती भाषान्तर :—

ન ગમે તેવું ભોજન કે શયન અથવા આસનનો અનુભવ કરીને ન ગમતા ઘેરમાં રહી ભિક્ષુ દુઃખનો વિચાર કરે છે. આપ્રમાણે અનેક વર્ણવાળા માનવોનો વિચાર છે. પરંતુ તેને છોડીને બુદ્ધિમાન્ માણસ ક્યાંય પણ આસક્ત થતો નથી. આ જ બુદ્ધ (પ્રબુદ્ધ) આત્માની શિખામણ છે.

साधक मन के प्रवाह में न बहे। मन अपने पसंद के पदार्थों को पाकर आनंदित होता है और उसके प्रतिकूल पाकर दुःखानुभूति करता है। किन्तु यह स्थिति साधक की सम रसता का भंग कर देती है। अणेगवण्णाणे से ध्वनित होता है यह बात पार्श्वापत्यों के लिये कही गई है अथवा बौद्ध परंपरा के साधुओं के लिये। क्योंकि भगवान महावीर के शासन के मुनि तो केवल ही वर्ण ते वस्त्र पहनते हैं। पार्श्वनाथ प्रभु की परंपरा में पांचों वर्ण के वस्त्रों का विधान है और बौद्ध परंपरा में भी काषाय रंग के वस्त्रों का विधान हैं और वे प्रासादों में ठहरते भी थे। मध्ययुग का इतिहास तो बताता है बौद्ध भिक्षु उत्तरवर्ती युग में राज्याश्रम पाकर किस प्रकार भवनों में प्रवेश कर गये थे।

साधक मन को साधे। भवन हो या वट वृक्ष मिष्टान्न हो या रूखी रोटी दोनों के लिये उसके मन में एक स्थान होना चाहिये। मिष्टान्न उसे लुभा न सके और रूखी रोटा उसके हृदय में तिरस्कार न पा सके।

टीकाः— स एवामनोज्ञं भोजनं भुक्त्वा शयनासने चामनोज्ञे गृहेऽमनोज्ञे दुःखं ध्यायत्यार्त्तमपध्यानं करोतीत्यर्थः। तं तादृशमेवमनैकवर्णकमन्यतीर्थकं भिक्षुं नानागुणपदार्थं वा परित्यज्य पंडितः प्राज्ञो नान्यत्र लुभ्यति एतद् यथार्थ-बुद्धस्य शासनम्। गतार्थः।

णाणावण्णेसु सद्देसु सोयपत्तेसु बुद्धिमं।
गेहिं वायपदोसं वा सम्मं वज्जेज्ज पंडिए ॥ ५ ॥
एवं रूवेसु गंधेसु रसेसु फासेसु अप्पप्पणाभिलावेणं।

अर्थः— श्रोत्र प्राप्त नानाविध शब्दों में गृद्धिभाव और वाक् प्रदोष को बुद्धिमान प्रज्ञाशील साधक सदैव छोडे। रूप गंध रस और स्पर्श आदि में भी साधक आसक्त न बने।

गुजराती भाषांतर :—

કાનથી સાંભળેલા અનેક પ્રકારના શબ્દોનો લોભ અને વાણિદોષને બુદ્ધિમાન્ સાધકે હમેશા છોડી દેવું જોઇએ. રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શ વગેરેમાં પણ સાધકે આસક્ત થવું ન જોઇએ.

प्रस्तुत गाथा में साधक को अनासक्ति भाव की प्रेरणा दी गई है। कान से शब्द टकराते हैं और टकरायेंगे भी उन्हें रोका नहीं जा सकता, किन्तु हां, शब्द टकराने के बाद ये बहुत अच्छे हैं मन में गुद्‌गुदी पैदा करनेवाले इन शब्दों को एक बार और सुनना चाहिये। इस आसक्ति भाव को हम रोक सकते हैं। जल में रहकर भी जल से निर्लिप्त रहने की कला है अनासक्ति। नदी में डूबकी लगाकर भी कोई सूखा निकल आये तब चमत्कार है। किनारे पर बैठकर ही कोई यह दावा करे कि हम सूखे हैं तो वह हास्यास्पद होगा। रूप रस और गंध के शुभ पर्याय हमें प्राप्त हों फिर भी वे हमारे मन के भीतर प्रवेश न पा सकें। उनकी प्राप्ति के लिये तड़प न उठे और उनके विदाई के क्षणों में पलक भीने न हों तो समझना होगा इसने अनासक्ति का पाठ सीखा है।

आसक्ति हमें बांधती है वह कहती है जरा रुक जाओ, फूलों की मधुर मीठी सुवास आ रही है। अनासक्ति मुक्ति का द्वार खोलती हुई कहती है आगे बढ़ते चलो, तुम्हारे पथ में हमेश फूल खिलते रहेंगे।

अनासक्ति योग के साथ प्रस्तुत गाथा में साधक को वाणी के दोषों से बचने की भी प्रेरणा दी गई है। अति बोलना, कठोर बोलना, असमय पर बोलना ये सभी वाणी के प्रदोष हैं, पशु इसलिये दुःखी है कि वह बोल नहीं सकता। मनुष्य इसलिये दुःखी है कि वह बोल सकना और उसकी अति कर सकता है। एक इंग्लिश विचारक ने ठीक कहा है–The your tongue keep it with in the banks, a rapidly flowing river soon collects mud. अपनी जीभ को तुम तुम्हारे होठों के बीच बन्द रखो! क्यों कि जो नदी वेग से बहती है वह जल्दी गन्दी हो जाती है।

मनुष्य ने बोलकर दुःख पाया है, पर मौन से कभी एक दुःख पाया हो सुना नहीं गया है। अति बोलना भी एक छूत की बीमारी है। लोग उससे ही डरते हैं जितने कि एक छूत के रोगी से।

दूसरा एक विचारक भी कहता है –Open your mouth and purse cautiously and your stock of wealth & reputation shall at least in repute be great. तुम अपना मूह और पर्स सावधानी से खोलो ताकि तुम्हारी संपत्ति और कीर्ति बढ़े और तुम यशस्वी और महान् बन सको।

साधक आसक्ति और वाचालता दोनों बचे।

टीका :— नानावर्णेषु, शब्देषु, रूपेषु, गन्धेषु, रसेषु, स्पर्शेषु, श्रोत्रादिप्राप्तेषु गृद्धिं वाक्प्रदोषं वा सम्यक् वर्जयेद् बुद्धिमान् पंडितः। गतार्थः।

पंच जागरओ सुत्ता वप्पदुक्खस्स कारणा।
तस्सेव तु विणासाय पण्णे वट्टिज्ज संतयं॥ ६॥

अर्थ :—जागृत=अप्रमत्त मुनि की पांचों इन्द्रियां अल्प दुःख का हेतु बनती है किन्तु प्रज्ञाशील साधक (उनके विषय के) विनाश के लिये प्रयत्न करे।

गुजराती भाषान्तर :—

જાગૃત, એટલે વિનયશીલ એવા મુનિની પાંચે ઇંદ્રિયો થોડાઘણા દુઃખનો હેતુ બને છે; પરંતુ બુદ્ધિમાન્ સાધકે (તેના) નાશ માટે કોશીશ કરવી ઘટે છે.

जिसकी इन्द्रियां जागृत है उसकी आत्मा सुप्त है और जिसकी आत्मा जागृत हो उसकी इन्द्रियां सुप्त हैं। जब तक वनराज सोया रहता है तबतक शृगाल उछलते हैं, मृग चौकड़ी भरते हैं किन्तु जब वनराज जागृत होता है और उसकी दहाड़ से गिरिकंदराएँ गुंजित हो उठती हैं तो मृग चौकड़ी भूल जाते हैं, शृगाल जान लेकर झाड़ियों में दुबक जाते हैं। ठीक इसी प्रकार जबतक आत्मा भाव-निद्रा में सोया रहता है तबतक इन्द्रियां अपने विषयों की और दौड़ती है किन्तु जिस क्षण आत्मा जागृत होता हैं और ज्ञान के प्रकाश को पाता है तो इन्द्रियों के मृग चौकड़ी भरता भूल जाते हैं।

अर्हतर्षि आत्मजागृति की प्रेरणा देते हुए हैं :—जागृत आत्मा की पांचों इन्द्रियां सुप्त रहती हैं वे अल्प दुःख की कारण होती हैं। प्रज्ञाशील साधक उनकी अल्प विकृति भी दूर करे।

टीकाः— जाग्रतोऽप्रमत्तस्य मुनेरिन्द्रियाणि पंचसुप्तान्यल्पदुःखस्य कारणानि हेतवः कारणाद् वा दुःखस्योत्पाद्यमानत्वात् तस्यैव विनाशाय संततं सदा प्राज्ञो वर्तेत। गतार्थः।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं-३७ वें अध्ययन की भांति इस अध्ययन का मुद्रालेख भी पृथक् है। वह इस दुनिया का वर्णन करता है। भौतिक सुख दुःख आनंद प्रमोद को दूर करने की प्रेरणा देते हैं। प्रस्तुत अध्ययन बौद्ध ऋषि के मुख से कहलाया गया है। दूसरे श्लोक द्वारा हम इस तथ्य को समझ सकते हैं। सूयगडांग सूत्र के १, ३, ६ गाथाओं से साम्य रखता है। जो जेकोबी के द्वारा शीलांक की टीका से हम जान सकते हैं और इसे बुद्धि के सामने रखा गया है। चतुर्थ श्लोक में आया हुआ बुद्ध शब्द जैन अर्थपरक है।

वाहिक्खयाय दुक्खं वा सुहं वा णाणदेसियं।
मोहक्खयाय एमेव सुहं वा जइ वा सुहं ॥ ७ ॥

अर्थ :— व्याधि के क्षय के लिये दुःखरूप या सुखरूप जो औषधियां होती हैं (वैद्य के) ज्ञान से वे उपदिष्ट हैं। इसी प्रकार मोह के क्षय के लिये जो भी सुखरूप साधना है वह गुरु से उपदिष्ट हैं।

गुजराती भाषांतर :—

દરદ મટાડવા માટે દુઃખરૂપ કે સુખરૂપ જે જડીબુટ્ટી છે તે (વૈદ્યરાજે પોતાના) જ્ઞાનથી જ ભલામણ કરેલી છે. આ જ રીતથી મોહનો નાશ કરવા માટે પણ જે કંઈપિણ દુઃખરુપી કે સુખરુપી સાધના છે તે ગુરુના ઉપદેશનું ફળ છે.

शरीर में व्याधि है तो मनुष्य उसे दूर करने के लिए वैद्य की शरण लेता है फिर वह जो भी कडवी या मीठी औषधी देता है उसे पी जाता है। इसी प्रकार मोह के क्षय के लिये हमें सद्गुरु के निकट जाना वे जो भी मृदु या कठोर साधना बताएं उसे अपनाना होगा। मोह स्वयं एक व्याधि है। उसके अपने तक ही सीमित रहती है। "दूसरे एक हजार भर जाएंगे तो भी उसका रोम नहीं हिलेगा, किन्तु उसके अपने एक पर भी जहां प्रहार हुआ तो वह तिलमिला जायेगा। जज अपनी कलम से दूसरे के लिये फांसी का हुकम लिख देता है, किन्तु जब उसी का पुत्र हत्या के अपराध में फसता है और अपराध सिद्ध हो जाता है और उसके लिये फांसी का आदेश लिखते उसकी कलम कांप जाती है। उस सौसो दलीलें याद आती हैं। वह बोल उठता है यह कैसा भी अमाननीय कानून है उसने आवेश में दूसरे के प्राण लिये कानून जान बूझकर उसके प्राण ले रहा है। एक में पागलपन था दूसरे के पास ज्ञान का दावा है। आखिर काम तो दोनों एक ही कर रहे हैं। किन्तु यहां जो भी दलीलें याद आ रही हैं वहां ज्ञान के शिखंडी बनकर पीछे से मोह बाण छोड रहा है।

जब दूसरे मर रहे थे तब एक भी दलील याद नहीं आई। अब जो मानवता के प्रति हमदर्दी दिखाई जा रही हैं वह मानवता से नहीं; मोह से प्रेरित हैं। जहां मोह है वहां दुःख बैठा है।

टीका :— व्याधिक्षयाय दुःखं वा सुखं यद् यदौषधं भवति तद् वैद्यस्य ज्ञानेन देशितं दिष्टं; एवमेव मोहक्षयाय दुःख सुखं वा यो य उपायो दिष्टो गुरुणा। गतार्थः।

ण दुक्खं ण सुखं वा वि जहाहेतु तिगिच्छिति।
तिगिच्छए सु जुत्तस्स दुक्खं वा जइ वा सुहं ॥ ८ ॥
मोहक्खए उ जुत्तस्स दुक्खं वा जइ वा सुहं।
मोहक्खए जहाहेउ न दुक्खं न वि वा सुहं ॥ ९ ॥

अर्थः—जिस हेतु को लेकर चिकित्सा की जाती है वहां सुख भी नहीं है और दुःख भी नहीं है। चिकित्सा में युक्त व्यक्ति (रोगी) को सुख और दुःख हो सकता है।

इस प्रकार मो क्षय में युक्त (प्रवृत्त) व्यक्ति को सुख और दुःख हो सकते है किन्तु मोह क्षयका हेतु सुख और दुःख नहीं है।

दुक्खं हय जस्स न होई मोहो। – उत्तरा० अ० ३२

गुजराती भाषान्तर :—

જે કારણને માટે ચિકિત્સા કરવામાં આવે છે ત્યાં સુખ પણ નથી અને દુઃખ પણ નથી. ચિકિત્સા કરવા માટે યોગ્ય (દર્દી) વ્યક્તિને સુખ કે દુઃખની પ્રાપ્તિ થઈ શકે છે.

આ પ્રમાણે મોહક્ષયમાં યુક્ત (પ્રવૃત્ત) વ્યક્તિને સુખ અને દુઃખ પણ થઈ શકે છે; પરંતુ મોહના નાશનું કારણ સુખ અને દુઃખ નથી.

एक अस्वस्थ व्यक्ति औषधि लेता है उसका लक्ष्य है स्वस्थ होना। स्वास्थ्य और सुख दो भिन्न वस्तुएं हैं। हां, अस्वस्थता एक दुःख अवश्य है और इसीलिये स्वस्थ व्यक्ति बोल भी पडता है 'अब मैं रोग मुक्त हो सुख का अनुभव कर रहा हूं,'[1] फिर भी हमें ध्यान रखना होगा स्वास्थ्य ही सुख नहीं है, बहुत से स्वस्थ व्यक्ति भी आंसू बहाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सुखी नहीं है अस्वस्थ व्यक्ति सबसे पहले स्वास्थ्य चाहता है। अन्यथा अच्छा खाना सोना संपत्ति इच्छापूर्ति सभी जो सुख माने गये हैं रोगी इनमें से एक भी नहीं चाहते। वह मिठाइयों को ठुकरा देगा, सोने के सिंहासन से उतर जायेगा। इसलिए कि उसे स्वास्थ्य चाहिये।

अथवा यहां सुख और दुःख का यह भी अर्थ हो सकता है कि रोगी कडवी या मीठी औषधि में नहीं लुभाता। उसका लक्ष्य है स्वस्थ होना। औषधि कटु है तब भी उसे लेना है और मीठी है तो स्वस्थ होने बाद उसे छोड़ना है। हां, चिकित्सा करनेवाले व्यक्ति को सुख दुःख हो सकता है, किन्तु उसके लक्ष्य में सुख और दुःख नहीं है। ठीक इसी प्रकार मोह क्षय की साधना में प्रवृत्त साधक के सामने दुःख और सुख आ सकते हैं कभी मोह रौद्र रूप लेकर भी आता है। जब उसकी बात ठुकराई जाती है तो वह राक्षसी रूप लेकर भी प्रकट होता है। प्रदेशी के सम्मुख मोह का यही तो आया था और साधना के पथिक के सामने मोह मोहिनी का रूप लेकर भोग की भिक्षा भी मांगता है, किन्तु साधक दोनों से परे रहता है और बोलता है। मैंने तुम्हारा वह रूप भी देखा है अर्थात् मेरी आंखें तुम्हारी सुन्दरता के साथ रौद्रता भी देख चुकी; अतः अब तुम्हारा जादू मेरे ऊपर चला नहीं सकता। साधक का लक्ष्य मोह क्षय कर आत्मा का निज रूप प्राप्त करना है। भौतिक सुख और दुःख उसके लक्ष्य नहीं हो सकते।

बहुधा एक तर्क उपस्थित किया जाता है मोक्ष में सुख है और उसकी प्राप्ति के लिये भाविक आत्मा प्रयत्नशील है किन्तु सुख पाने की लालसा भी एक प्रकार की आसक्ति है और फिर जब तक यह आसक्ति है तब तक मोक्ष कैसा? यहां उसका दिया गया है मोह से मुक्ति ही मोक्ष है। मोह से विमुक्ति अपने आपमें सुख या दुःखरूप नहीं है। सुख में राग है और दुःख में द्वेष है, जबकि मोक्ष दोनों से परे हैं। जैसे रोग मुक्त व्यक्ति को हम सुखी या दुःखी न कहकर स्वस्थ कहते हैं; ठीक इसी प्रकार मोह मुक्त आत्मा स्वस्थ है निज रूप में स्थित है।

एक प्रश्न और है-आगम में सिद्ध प्रभु को अनंत सुख बताया गया है। उसका क्या समाधान होगा?। उसका उत्तर यह होगा कभी कभी हम स्वास्थ्य को सुख कह बैठते हैं जैसे कि रोग से मुक्त हो अब में सुखी हूं। बस; ठीक इसी प्रकार मुक्तात्मा की स्वात्मस्थिति को आगम में सुख कहा गया है। इसी आत्मिक सुख की भौतिक सुख से तुलना करते कहा गया है। समस्त देवों और इन्द्रों से भी सिद्ध प्रभु का सुख अनंतगुना है। इसी आत्मस्थिति को सुख मानकर कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने निरानंदमयी वैशेषिकी मुक्ति का उपहास करते हुए कहा था -

सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्ता चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत्।
न संविदानंदमयी च मुक्तिः, सुसूत्रमासूत्रितमत्वदीयैः॥

–अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लो० ६

वैशेषिक दर्शन के कुछ सिद्धान्तों की चर्चा यहां की गई है। न संविदानंदमयी च मुक्तिः " में एक छुपा व्यंग है। वैशेषिक दर्शन बुद्धि आदि नौ गुणों के सर्वथा क्षय होने को मुक्ति मानती है। तथा मुक्ति को सुख निरपेक्ष मानते हैं। महर्षि गौतम भी वृन्दावन की कुंजगलियों में शृगाल होकर रहने में प्रसन्न हैं, किन्तु वैशेषिकी मुक्ति में जाने को तैयार नहीं है।[2]

---

१. यावदात्मा गुणाः सर्वे नोच्छिन्नवासनादयः। तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्न कल्प्यते॥
२. वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छितम्। न तु वैशेषिकी मुक्तिर्गौतमो गन्तुमिच्छति॥

जैन दर्शन मोक्ष को भौतिक सुख दुःख से परे मानता है, पर आत्मा की स्वरूप स्थिति में एक सात्विक आनंद है उसमें इन्कार नहीं किया जा सकता।

टीकाः— न चिकित्सति कुवैद्यो यदि वा न चिकित्स्यते कुवैद्येन दुःखं सुखं वा यथाहेतु हेतुविशेषं विभज्य, किन्तु सामान्यचिकित्सिते वैद्यशास्त्रे सुयुक्तस्य कोविदस्य दुःखसुखे भवतः सुज्ञाते। एवमेव मोहक्षयेऽर्थेऽप्रज्ञानमार्गे मुक्तस्य मे सुज्ञाते नत्वयुक्तस्य हेतुविशेषणेऽनयोः श्लोकयोरर्थो ग्रहीतुमस्मत्प्रयत्नः।

अर्थात् टीकाकार का मत कुछ भिन्न पड़ता है। कुवैद्य योग्य चिकित्सा नहीं करता। अर्थात् जैसे अनाड़ी वैद्य रोगी के दुःखदर्द को न जानकर रोग की ठीक चिकित्सा नहीं करता है। किन्तु आयुर्वेद का ज्ञाता निपुण वैद्य रोगी के सुख को समझकर योग्य चिकित्सा करता है। इसी प्रकार मोह क्षय में अर्थात् ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त व्यक्ति आत्मा सुख दुःख को जानता है। किन्तु आत्म-स्वभाव को न जाननेवाला व्यक्ति सुख और दुःख के सही रूप को भी जान नहीं सकता।

तुच्छे जणंमि संवेगो निव्वेदो उत्तमे जणे।
अत्थि तादीण भावाणं विसेसो उवदेसणं॥ १०॥

अर्थः—तुच्छ मनुष्यों में संवेग रहता है और उत्तम मनुष्य में निर्वेध रहता है। दीन भावों के अस्तित्व में विशेष रूप किया जाता है।

गुजराती भाषान्तरः—

હીન મનુષ્યોમાં સંવેગ (મોક્ષ પ્રાપ્તિ માટે ઇચ્છા) હોય છે; અને ઉચ્ચ માનવોમાં નિર્વેદ (વિષયોમાં આસક્તિ) હોય છે. દીનભાવોના અસ્તિત્વમાં (વિશેષરૂપથી) ખાસ ઉપદેશ આપવામાં આવે છે.

आत्मा का मोक्षाभिमुख[1] प्रयत्न संवेग है। अनंत अनंत युग से आत्मा गति कर रहा है। भौतिक पदार्थों के पीछे दौड रहा है। किन्तु इसका वेग विषम है। उसके प्रयत्न उसे दुःख की और ही ले जाती है। किन्तु जब वह स्वात्मोपलब्धि के लिये प्रयत्न करता है वही उसका संवेग है। विषयों के प्रति अनासक्ति निर्वेद है। आचार्य सिद्धसेन संवेग और निर्वेद की व्याख्या करते लिखते हैं—नरकादि गतियों को (उनके दुःखों को) देखकर मन में एक भय पैदा होता है। वह संवेग है और विषयों में अनासक्तिभाव निर्वेद[2] हैं।

प्रस्तुत व्याख्या के अनुरूप यहां पर अर्हतर्षि बता रहे हैं कि तुच्छ जनों निर्धन प्राणियों में संवेग प्रमुख रहा है। क्योंकि उन्हें यह भय रहता है कि कहीं दुर्गति में चला नहीं जाऊं पहले के अशुभ कर्मों के उदय से मैं साधन विहीन घर में आया हूं और यदि अब भी अशुभ कर्मों में लिप्त रहा तो दुर्गति का पथिक बनूंगा।

जो साधनसंपन्न है। लक्ष्मी के पायलों की झंकार के साथ जहां सुरा और सुन्दरियों की क्रीडा होती है; किन्तु एक दिन उनके मन में उसके प्रति घृणा हो जाती है और वे कह उठते हैं इन मधुर गीतों में रुदन की ध्वनि आ रही है। सभी नाटकों के पीछे विडम्बना को मेरी आंखें देख रही हैं। सभी अलंकार मेरे लिये भार रूप हैं और सभी सुख के साधन मुझे कांटे से चुभ रहे हैं[1] और वह उनसे अलग हो निर्जन वन की शीतल शान्ति में आश्रम खोजता है।

यद्यपि संवेग और निवेद ऐसे नहीं हैं कि उन्हें गरीब और अमीर में विभक्त किया जा सके फिर भी बाहुल्य और परिस्थिति के प्राधान्य को लक्षित करके ऐसा कहा जाता है। साथ ही गरीबी के अस्तित्व में उपदेश विशेष दिया जाता है और उसका असर भी जल्दी होता है। क्योंकि वैराग्य की प्रसव भूमि दु ख ही है। भीष्म ग्रीष्म में ही आम रसदार बनता है। दुःख के भीष्म ग्रीष्म में ही मानव में माधुर्य आता है। जब तक बांस तीखे चाकू के प्रहर को सह नहीं लेता तब तक उसमें से मधुर स्वर लहरी निकल नहीं सकती। एक इंग्लिश विचारक बोलता है:—

Is not the lute that soothes your spirit the very wood that was hallowed with knives ?=खलील जिब्रान यह बांसुरी जो दिल के दर्द को हर लेती है क्या वही बांस का टुकडा नहीं है जिसमें चाकू से छेद किये गये थे?

---

१. संवेगो मोक्षाभिलाषा. २. संवेगो नाकादिगत्यवलोकनात् संभीतिनिर्वेदो विषयेष्वनभिषंग इति सिद्धसेनः।

दुःखों के प्रहार सहकर ही मानव में मृदुता आती है और वही उपदेश को श्रवण कर सकता है।

टीकाः— **संवेगो नरकादिगत्यवलोकनात् संभीतिर्निर्वेदो विषयेष्वनभिषंग इति सिद्धसेनः। तुच्छे निःसारे जने संवेग इत्युत्तमे तु निर्वेद इत्येतौ दीनानां जनानां भावौ यदि वा दीनौ च भवतो भावा चेति दीनभावो तयोर्विशेषस्तयोर्विशेषमधिकृत्य तावदुपदेशनमुपदेशोऽस्ति, ज्ञानं लोकानामध्यात्मविद्यारूपं विना नास्त्युपदेश इति भावः।**

अर्थः—संवेग निर्वेद की व्याख्या ऊपर आ चुकी है। शेषार्थ इस प्रकार है तुच्छ निःसार मनुष्य में संवेग और उत्तम मनुष्यों में निर्वेद होता है। ये दोनों दीन मनुष्यों के भाव हैं, अथवा ये दोनों दीनभाव हैं उनकी विशेषता को लक्ष्य करके उपदेश दिया गया है। अध्यात्म विद्या-रूप ज्ञान के अभाव में उपदेश नहीं हो सकता।

सामण्णे गीतणीमाणा विसेसे मम्मवेदिणी।
सव्वण्णु-भासिया वाणी णाणावत्थोदयंतरे ॥ ११ ॥

अर्थः—सर्वज्ञ भाषित वाणी नाना अवस्था और उदय (कर्मोदय) के भेद से सामान्य पुरुषों में गीत रूप बनकर रह जाती है; जबकि विशेष पुरुषों के मर्म को वेध देती है। अर्थात् उनके हृदय को स्पर्श कर जाती है। अथवा नाना अवस्था और उदय के अन्तर से वीतराग की वाणी सामान्य होती है और विशेष में मर्म वेधिनी होती है।

गुजराती भाषान्तरः—

સર્વજ્ઞભાષિત વાણી અનેક અવસ્થા અને ઉદય (કર્મોદય) ના ભેદથી સામાન્ય મનુષ્યોમાં ગીતરૂપ બનીને રહે છે; જ્યારે વિશેષ માનવોના મર્મોને વેધે છે. એટલે તેના હૃદયને સ્પર્શ કરી જાય છે. અગર અનેક અવસ્થા અને ઉદયના અંતરથી વીતરાગની વાણી સામાન્યરૂપમાં થાય છે; અને વિશેષમાં મર્મવેધિની હોય છે.

पूर्व गाथा में बताया है दीनावस्था में उपदेश का असर विशेष होता है। ऐसा क्यों होता है? तीर्थंकर देव की वाणी समरूप से बहती है फिर परिणाम में अन्तर क्यों आता है? उसी का उत्तर यहां दिया गया है। सर्वज्ञ देवों कि वाणी सब सुनते हैं, किन्तु जो केवल श्रवण का माधुर्य पाने के लिये पहुंचते हैं उनके लिये वह संगीत बनकर ही रह जाती है; किन्तु जो विशेष भूमिका पर पहुंच चुके हैं उनके लिये वह वेधिनी है। यही तो कारण है गजसुकुमार जैसे ने एक ही देशना सुनी थी, किन्तु आत्मा जागृति की वह लहर आई कि भोग और वासना के बन्धन तोड़कर वे चारित्र्य के पथ पर चल पड़े। वाणी का असर होने के लिये व्यक्ति की भूमिका और कर्मोदय भी कारणी भूत होता है। भूमिका शुद्ध है तो सामान्य से बीज और हलकी सी वर्षा भी काम कर जाएगी। भूमि ऊसर है तो न बीज काम कर सकते हैं, न वर्षा ही कुछ कर सकती है।

उपादान शुद्ध हो, अन्तर की जागृति हो तथा वाणी के बीज प्रतिफलित हो सकते हैं। यही कारण है कि आज के बहुत से श्रोता प्रवचन सुनते हैं। उसमें भीगते भी हैं और प्रवचन हॉल से बाहर निकलते हैं तब बोल उठते हैं महाराज ने बहुत सुंदर कहा; ऐसी बात कही कि श्रोता हिल उठे। किन्तु जीवन में परिवर्तन का प्रश्न आता है वहां श्रोता एक कदम पीछे हट जाते हैं। प्रवचन प्रतिदिन सुनना। मधुर कंठ से दिया गया प्रवचन उन्हें सुनना है। वह इसलिये कि कानों को प्रिय लगता है। इसका मतलब यह हुआ आज प्रवचन केवल कानों के लिये है, जीवन के लिये नहीं। दूसरे शब्दों में वह श्रवणेन्द्रिय का व्यसन मात्र रह चुका है।

प्रस्तुत गाथा की दूसरी व्याख्या के अनुसार जब तीर्थंकर देव देशना देते हैं जब उनकी देशना कभी सामान्य वस्तुतत्त्व का स्पर्श करती है तो कभी विशेष का विश्लेषण करती है। सामान्य और विशेष के दोनों तटों को छूकर ही देशना की धारा बहती है। वस्तु का केवल वस्तु रूप में परिचय सामान्य दर्शन कहलाता है और उसकी भीतरी विशेषताओं का परिचय दर्शन की भाषा में विशेष कहलाता है। भवन को भवन के रूप में देख लेना सामान्य दर्शन है पर उसके खंड उपखंड प्रकोष्ठ उनमें रही हुई वस्तुएं उसका स्वामी आदि का परिचय प्राप्त करना विशेष है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर भी कहते हैं—

तीर्थंकर देव की देशना संग्रह (सामान्य) और विस्तार (विशेष) के मूल को बतानेवाली है। संग्रह नय स्पर्शक देशना द्रव्यास्तिक नयों का उद्‌भव स्थल है तो विशेष वादक अंश पर्यायनयों की प्रसव भूमि है। शेष नय उन्हीं के विकल्प हैं[1]।

---

१ तित्थयरवयणसंग्रहपत्थारमूलवागरणी.। दव्वट्ठिय पज्जवणयाय सेसापियप्पार्सि।
—सन्मतिप्रकरण काण्ड १ श्लोक ३.

तीर्थंकर देवों की देशना सामान्य रूप मेंगीति प्रधान है किन्तु विशेष में मर्मस्पर्शी है। किन्तु उसकी मर्मस्पर्शिता श्रोता की पात्रता और उसकी क्षेत्र विशुद्धि पर आधार रखती हैं।

टीकाः— नानावस्थोदयान्तरे पुरुषाणां भिन्नावस्था अनुसृत्य सर्वज्ञैस्तीर्थंकरैर्भाषिता वाण्युपदेशः सामान्येन गीतनिर्माणोपदिष्टात्मपरिणामा भवति, विशेषे तु मर्म-वेधिनी प्रत्येकपुरुषस्य च्छिद्रभित्। गतार्थः।

सव्व-सत्त-दयो वेसो, णारंभो णपरिग्गही।
सत्तं तवं दयं चेव भासंति जिणसत्तमा ॥ १२॥

अर्थः— जिनेश्वर देव समस्त प्राणियों पर दया, वेश-मुनि का रूप और अनारंभ अपरिग्रह सत्व सद्भाव, तप और दया का उपदेश करते हैं।

गुजराती भाषान्तरः—

જિનેશ્વરદેવ બધા જીવો ઉપર દયા, વેષ (મુનિનું રૂપ) અને અનારંભ, અપરિગ્રહ સત્ત્વ સદ્ભાવ, તપ, અને દયાનો ઉપદેશ કરે છે.

पूर्व गाथा में बताया गया है कि तीर्थंकर देव की देशना सामान्य रूप में गीत रूप है और विशेष में मर्मबोधिनी है। वह मर्मबोधित यहां स्पष्ट की गई है। उस शुद्ध आत्मा से प्रस्फुटित वाणी में सबके प्रति दया की पवित्र भावधारा बह रही है। सबका हित और सबका विकास चाहनेवाली वाणी वीतराग की वाणी है। सर्वोदय की यह पवित्र देशना हजारों युग पहले जिनेश्वर के मुख से प्रवाहित हुई थी। आचार्य संमतभद्र भी कहते हैं-ओ वीतराग! आपका शासन ही सर्वोदय की प्रेरणाभूमि है।[1] राजतंत्र में प्रजा की उपेक्षा है प्रजातंत्र में अल्प मत उपेक्षित है, किन्तु जिनेश्वर के शासन में एकेन्द्रिय तक के आविकसित जीवों के हित सुरक्षित है। उस सुरक्षा का दायित्व दिखाता हुआ मुनिवेष उन्होंने निर्धारित किया है। साथ ही सर्वोदय की प्रतिज्ञा लिये चलनेवाले साधक को आरंभ और परिग्रह से भी दूर रहना होगा। क्यों कि आरंभ अल्प विकसित जीवों को कुचलता है। महारंभ गरीबों की रोटी रोजी छीनता है। परिग्रह शोषण करता है, अतः वीतराग के सर्वोदय शासन में इनको स्थान नहीं है। वीतराग देव तप और दया के द्वारा आत्मिक शक्ति को जागृत करने की प्रेरणा देते हैं। उनकी वाणी में सत्य दया और तप की त्रिपथगा (गंगा) बहती है। स्वतत्व का अवबोध उसका ध्येय है। तप आदि उस स्वरूप स्थिति तक पहुंचने के सोपान हैं।

टीकाः— सर्वसत्वदयो वेषो लिंगलक्षितं मुनित्वं भवत्यनारंभो परिग्रहश्च सत्वं=सद्भावं तपो दानं चैव जिन-सत्तमा भाषन्ते। गतार्थः।

दंतिंदियस्स वीरस्स किं रण्णेणास्समेण वा।
जत्थ जत्थेव मोडेज्जा तं रण्णं सो य अस्समो ॥ १३॥

अर्थः—दमितेन्द्रिय वीर के लिये अरण्य और आश्रम से क्या प्रयोजन है? जहां जहां मोह का अन्त है वहीं अरण्य है और वही आश्रम है।

गुजराती भाषान्तरः—

જેના ઇંદ્રિયો પર સંયમ છે તેવા વીરને માટે અરણ્ય અને આશ્રમનું શું કામ છે? જ્યાં જ્યાં મોહનો અંત છે, ત્યાં જ અરણ્ય છે અને ત્યાં જ આશ્રમ છે.

यह कोई जरुरी नहीं है कि आत्मा साधना के लिये वन में ही जाना चाहिये। यदि वन में पहुंचकर भी वृत्तियों पर विजय करते नहीं आया तो वन में भी वासना उभर सकती है। वासना का पिपासु वन में भी आत्मशान्ति नहीं पा सकता। जबकि इन्द्रियजेता साधक महलों में रहकर भी केवलज्ञान पा सकता है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि केवलज्ञान पाने के लिये महलों में रहना अवश्यक है। जैनदर्शन स्थान को नहीं स्थिति को महत्त्व देता है उसका यह भी आग्रह नहीं है कि आप वन में ही रहें। वहां रहेंगे तभी कैवल्य पा सकेंगे। वह यह भी नहीं कहता कि आप महलों में वासना की लहरों में डूब रहें। वह तो चाहता है आप अपने में रहें। अपने निज घर में पहुंचे। आत्मा पर घर में भटक रहा है, इसी लिये तो विडम्बना है। कवि बनारसी दासजी भी कहते हैंः-

---

१ सर्वोदयमिदं शासनं तवैव।—आचार्य समन्तभद्र.

हम तो कबहुं न निज घर आये।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये।
पर पद निज पद मानी मगन हैं।
पर परिणति लिपटाये।

मोह दशा ही आत्मा को स्वस्थिति में पहुंचने के सब से बडी बाधक शक्ति है। जहां मोह का अन्त है वहीं मोक्ष है, फिर मोक्ष के लिये एक इंच भी इधर उधर हटने की आवश्यकता नहीं है। क्यों कि जितना बडा मानव-क्षेत्र है उतना ही विशाल सिद्धक्षेत्र है। अतः स्थान नहीं, किन्तु वृत्तियों को बदलने की आवश्यकता है।

किमुदंतस्स रण्णेणं दंतस्स वा किमस्समे ?।
णातिक्कंतस्स भेसज्जं ण वा सत्थस्स भेज्जता ॥ १४ ॥

अर्थ:—इन्द्रिय जेता के लिये जंगल क्या और दान्त (दमनशील) व्यक्ति के लिये आश्रम क्या ? अर्थात् उसके लिये वन और आश्रम दोनों सम हैं। रोग से अतिक्रान्त=मुक्त व्यक्ति के लिये औषध की आवश्यकता नहीं है और शस्त्र के लिये अभेद्यता नहीं है, वह सबको भेद सकता है। अथवा मर्यादाहीन के लिये कोई औषध नहीं है। और स्वस्थ व्यक्ति को औषध की आवश्यकता नहीं है।

गुजराती भाषान्तरः—

ઇંદ્રિય ઉપર જય પામેલા વીરને માટે જંગલ શું અને દાન્ત (દમનશીલ) માણસ માટે આશ્રમ શું ? એટલે બંને માટે વન અને આશ્રમ એ બંને સરખાજ છે. માંદગીથી અતિક્રાંત (મુક્ત થયેલા) માણસ માટે દવાની જરૂરી જ નથી અને શસ્ત્રને માટે અભેદ્યતા નથીજ; કેમ કે તે બધાંને ભેદી શકે છે. અથવા મર્યાદારહિત માનવને માટે કંઈજ ઈલાજ નથી, અને તેવા માણુસને માટે દવાની જરૂરી પણ નથી.

वन में जाने मात्र से इन्द्रियों पर काबू हो जायगा यह धारणा गलत है, क्योंकि जंगल का हिमालय में ऐसी जडी-बुट्टी नहीं है जो मन पर विजय दिला सके। उद्विग्न चित्तवाले व्यक्ति के लिये वन का शान्त वातावरण भी शान्ति नहीं दे सका। मन में शान्तिधारा वह रही है, तो मनोहर वनस्थली उसमें पवित्रता का संचार कर सकती है। अन्यथा मन ही दूषित है, वनस्थली उसे रोक नहीं सकती। रावण वन से ही तो सीता को ले गया था। अतः वन में आत्मशान्ति मिल ही जायेगी ऐसा नहीं कहा जा सकता। अन्यथा वनविहारी सभी हिंस्र पशु भी सन्त होते !।

भगवान् महावीर ने अपने अंतिम प्रवचन में कहा था—

न मुंडिएण समणो न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण तावसो।

केवल मुंडित होने मात्र से कोई श्रमण नहीं हो जाता और ॐकार के जाप से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता। जंगल में रहने मात्र से कोई मुनि नहीं कहला सकता। वल्कल वस्त्र धारण करने मात्र से कोई तापस नहीं हो जाता।

अतः कपड़े नहीं; मन बदलने की आवश्यकता है। स्थान नहीं स्थिति बदलिये [1]

टीकाः— किमु दान्तस्यारण्येनाश्रमेण वा ? न किंचिदित्यर्थः। यथातिक्रान्तस्य रोगाद्विमुक्तस्य पुरुषस्य भैषज्यं नास्ति। न च शस्त्रस्याभेद्यता, तद्धि स्वभावादभेद्यमेव। गतार्थः।

सुभाव-भावितप्पाणो सुण्णं रण्णं धणं पि वा।
सव्वं एतं हि झाणाय सल्ल-चित्तेव सल्लिणो ॥ १५ ॥

अर्थः—स्वभाव से भावित आत्मा के लिये शून्य वन और धन सभी एक समान है। वे सभी वस्तुएं उसके लिये उसी प्रकार धर्म ध्यान की निमित्त होती हैं जैसे कि सशल्यचित्त वाले के लिये आर्तध्यान की।

---

१ वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहं तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

गुजराती भाषान्तर :—

સ્વભાવથી ભાષિત આત્મા માટે નિર્જન જંગલ અને સૂનું જંગલ અને ધનથી પૂર્ણ બંગલો એકસરખાંજ છે. તે બધી વસ્તુઓ તેને માટે તે જ રીતે ધર્મધ્યાનના નિમિત્ત થાય છે જેમ કે સશલ્ય અંતઃકરણના માણસ માટે આર્તધ્યાન.

जिसकी आत्मा स्वभाव से भावित है, आगम की भाषा में जिसे निसर्ग रुचिसंपन्न कहा जाता है वह सूने वन के एकान्त कोने में रहे या स्वर्ण प्रासादों में रहे वह सभी स्थलों पर आत्म-साधना में लीन हो सकता है। जिसने मन को साध लिया है भौतिक राग के बन्धन उसे बांध नहीं सकते। उसके लिये वन क्या और प्रासाद क्या? उसके लिये मिट्टी का पात्र भी स्वर्ण-पात्र है और स्वर्ण-पात्र भी मिट्टी से अधिक मूल्यवान् नहीं है। गीता की भाषा में यह स्थित-प्रज्ञता है। वह सब में रहकर सब से परे रहता है। वह समस्त विचारों से दूर रहकर अपने द्वारा अपने आप में संतुष्ट रहता है।[1]

जिसके मन में वासना की दाह अवशेष है वह वन में पहुंचेगा तब भी वासना के प्रसाधन ही जुटाएगा। ये वन और धन उसके लिये आर्तध्यान के हेतु बनेंगे। स्थान का भी महत्व है पर वह साधना की प्राथमिक भूमिका तक सीमित है, अकषाय की भूमिका पर पहुंचने के बाद साधक कहीं भी रहे उसके चित्त में विकृति प्रवेश नहीं पा सकेगी।

टीकाः—सुभावेन भावितात्मानः शून्यमिव दृश्यतेऽरण्यं ग्रामे वा धनं सर्वमेतद्धि जगद् धर्मध्यानाय तस्य भवति यथा शल्यवतश्चित्ते शल्यमार्तध्यानाय।

अर्थात् सुन्दर भावों से भावित आत्माएं आकाश वत् निर्लिप्त रहती हैं। वन ग्राम और धन सारा विश्व उसके लिये धर्म ध्यान हेतु होता है, जैसे कि सशल्यचित्त वाले के लिये आर्तध्यान का।

दुहरूवा दुरंतस्स णाणावत्था वसुंधरा।
कम्मा-दाणाय सव्वं पि कामचित्ते व कामिणो॥ १६॥

अर्थः—नाना रूप में स्थित वसुन्धरा दुरन्त व्यक्ति के लिये दुःख रूप और कर्मादान की हेतु है। जैसे कामी व्यक्ति के लिये सारी सृष्टि कामोत्पादक होती है।

गुजराती भाषान्तर :—

નાના રૂપોમાં રહેલી આ પૃથ્વી દુરન્ત વ્યક્તિને માટે દુઃખરૂપી અને કર્માદાનમાં કારણ બને છે. જેમ કે કામી, વ્યક્તીને માટે તો આખું વિશ્વજ કામોત્પાદક બને છે.

विचित्रताओं से भरी विशाल सृष्टि में माधुर्य है किन्तु जिसका मन वेदना से पीडित है उसके लिये दुःखद ही है। ज्वरग्रस्त व्यक्ति के लिये शीतल सुरभित पवन भी कष्टप्रद ही है। सृष्टि न अपने आपमें सुख रूप है, न दुःख रूप। जिस दृष्टि को लेकर चलेंगे उसी रूप ढलती हुई दिखाई देगी। चकोर के लिये चन्द्र माधुर्य का आगार है तो चकवे के लिये चन्द्र की चञ्चल चन्द्रिका भी दुःख की सृष्टि करती है। दृष्टि का भेद है। दृष्टि बदलिये तो सृष्टि बदल जाएगी। अर्हतर्षि इसी सत्य का उद्घाटन कर रहे हैं। वेदना से छटपटाते व्यक्ति के सारी सृष्टि उसी प्रकार दुःख का संदेश देती है जैसे कि कामी के लिये सारी सृष्टि काम की प्रेरणा देती है।

टीकाः— दुरन्तस्य तु चित्ते नानावस्था वसुन्धरा=पृथिवी दुःखरूपा सर्वश्च कर्मादानाय भवति, यथा कामिनश्चित्ते कामः। गतार्थः।

सम्मत्तं च दयं चेव णिण्णिदाणो य जो दमो।
तवो जोगो य सव्वो वि सव्वकम्मखयंकरो॥ १७॥

अर्थः—सम्यक्त्व, दया, निदान-रहित संयम और उससे होनेवाला समस्त (शुभ) योग सभी कर्मों को क्षय करने वाला है।

गुजराती भाषान्तर :—

સમ્યકત્વ, દયા, નિદાન રહિત સંયમ અને તેનાથી થાય એવા બધા (ગુણ) યોગ બધાં કર્મોનો નાશ કરે છે.

---

१. प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ! मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥—गीता.

पूर्व गाथा में दृष्टि बदलने की प्रेरणा दी गई है यदि दृष्टि बदल चुकी है बाह्य से हटकर अंतर की ओर मुड चुकी है तो साधक सत्य को पा चुका है। अब उसकी दृष्टि सम्यक्‌दृष्टि है। वह वस्तु के प्राणतत्व का पारखी है। उसके हृदय में प्राणिमात्र के प्रति दया का निर्झर बह रहा है। उसकी साधना निदान=फलासक्ति रहित होती है। फिर उसकी समस्त शक्ति कर्मक्षय करने में प्रवृत्त हो जाती है[1]।

सा त्थकं ववि आरंभं जाणेज्जा य णिरत्थकं।
पाडिहत्थिस्स जो एतो तडं घातेति वारणो ॥ १८ ॥

अर्थः—आरंभ सार्थक भी होता है और निरर्थक भी। प्रति हस्ति के लिये हाथी कभी तट को तोड देता है।

गुजराती भाषांतर :—

કાર્યની શરુઆત સાર્થક (ફળદાયક) પણ બને છે અને નિરર્થક (ફાયદાવગરનું) પણ બને છે. કેમકે પોતાના પ્રતિદ્વંદ્વી (હરીફ) હાથીને લીધે હાથી કિનારાને પણ તોડી નાંખે છે.

जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किया जानेवाला आरंभ सार्थक आरंभ है, दूसरे शब्दों में अर्थ दंड है, किन्तु मनोरंजन के लिये दूसरे का उत्पीडन निरर्थ हिंसा है=अनर्थक दंड है। उपेक्षा और प्रमाद के द्वारा होनेवाली हिंसा अनर्थ दण्ड है। साथ ही आवश्यकता से अधिक संग्रह भी अनर्थदंड के अन्तर्गत आता है।

अहिंसा का उपासक श्रावक अर्थदंडकों से नहीं बच सकता तो उसे अनर्थ दंड से अवश्य बचना चाहिये। गृहस्थ जीवन की जबाबदारी निभाते हुए श्रावको कभी कभी अन्याय के प्रतिकार के लिये आततायी को दंड देना पडता है। इस रूप में वह स्थूल हिंसा का समाश्रय लेता है फिर भी वह अपनी व्रत मर्यादा से पीछे नहीं हटता क्योंकि उसके मन में अहिंसा की भावधारा बह रही है।

अर्हतर्षि बता रहे हैं प्रति हस्ति=विरोधी यूथ के आक्रमक हस्ति को हटाने के लिये हाथी कभी कभी अपने तट को तोड देता है। इसी प्रकार श्रावक भी अपने परिवार की रक्षा के लिये प्रतिकारात्मक हिंसा का आश्रय लेता है, श्रावक निरपराधी व्यक्तियों को द्वेष बुद्धि से मारने का प्रत्याख्यानी है। सापराध के लिये वह मुक्त है। यदि कोई उसके परिवार पर आक्रमण कर रहा है और वह कायर की भांति भगोडापन दिखाता है तो अपने कर्तव्य से भ्रष्ट होता है। कायरता स्वयं एक पाप है। क्योंकि उसमें मानसिक हिंसा छिपी हुई है। कायर हिंसा नहीं करता है ऐसी बात नहीं है वह हिंसा कर नहीं सकता। चूहा बिल्ली को मार नहीं सकता तो क्या वह अहिंसक है? कायर को मारना क्या मरना भी नहीं आता। जीवन के मैदान में वीर एक बार मरता है तो कायर अनेक बार मरता है!। एक विचारक भी कहता है-Cowards die many times before their death the valiant taste death but once. जैनदर्शन में कायरता को स्थान नहीं है। फिर भी श्रावक को सहेतुक और निर्हेतुक आरंभ का विवेक तो रखना ही चाहिये और महारंभ से हटकर अल्पारंभ पूर्वक जीवन जीने की कला सीखना चाहिये।

टीकाः—सार्थकमर्थसहितमिवारम्भं करणं निरर्थकं जानीयात्। यथा प्रतिहस्तिनं पश्यंस्तं घातयति वारणः।

जस्स कज्जस्स जो जोगो साहेतुं जेण पच्चलो।
कज्जं वज्जेति तं सव्वं कामी वा णग्गमुंडणं ॥ १९ ॥

अर्थः—जो जिस कार्य के लिये योग्य है वह उसी काम को करे, किन्तु जिस कार्य में जिसका विश्वास नहीं है वह उस कार्य को छोड देता है। जैसे कि कामी पुरुष नग्नत्व और मुण्डनत्व को छोड देता है।

गुजराती भाषान्तर :—

જે માણસ જે કામ માટે લાયક છે તે તે જ કામ કરે, પરંતુ જે કામમાં જેનો વિશ્વાસ નથી તે તે કામને છોડી દે છે; જેમ કામાસક્ત માણસ નગ્નત્વ અને મુંડનત્વને છોડી દે છે.

जो व्यक्ति अपने बल और योग्यता के अनुरूप कार्य का चुनाव करता है वह उसमें सफल हो सकता है। हर व्यक्ति के मन में महत्वाकांक्षा होती है और बडे बडे काम करना चाहता है। महत्वाकांक्षा रखें और महान् काम भी करें, किन्तु प्रत्येक कार्य के प्रारंभ करने के पूर्व अपने आपको तोल लेना चाहिए। पत्थर उठाने की ताकत नहीं है और पहाड उठाने चल पडे तो परिणाम में निराशा ही प्राप्त होगी। हमारी महत्त्वाकांक्षाएं शक्ति से संतुलित हों। पहाड फिर पहले पत्थर उठाने

---

१. असमीक्षिताधिकरणोपभोगाधिकत्वानितत्वार्थ सूत्र अ० ७

की कोशिश करें तभी हमारी महत्वाकांक्षाएं यथार्थ की धरती पर उतर सकेंगी। अन्यथा ऐसी महत्वाकांक्षाएं केवल मनोहर स्वप्न बनकर रह जाती हैं। एक विचारक ने कहा है:-Ambition is so powerful a passion in the human breast that however high we are never satisfied. "महत्वाकांक्षा मानव-हृदय की इतनी शक्तिशाली अभिलाषा है कि हम कितने ही ऊंचे पद पर पहुंचे संतुष्ट नहीं होते।" मेकियविली.

भगवान् महावीर ने साधक को प्रेरणा दी-हर साधना प्रारंभ करने के पूर्व तू अपनी शक्ति को तोलना। अपनी स्थिति का स्पष्ट अवलोकन करने के बाद ही आगे कदम रखना, ताकि तुझे आधे मार्ग से वापिस न लौटना पैडे।

जाणेज्जा सरणं धीरो ण कोर्डि देति दुग्गतो।
ण सीहं दप्पियं छेयं णेभं भोज्जा हि जंबुओ ॥ २० ॥

अर्थः—धीर पुरुष जो शरण दे सकता है वह (अजेय) किले से युक्त कोटि-पर्वत शिखर भी शरण नहीं दे सकता। दृप्त सिंह कुशल हाथी को मार नहीं सकता और जम्बूक शृगाल उसे खा नहीं सकता।

गुजराती भाषांतर :—

ધૈર્યશાલી માણુસ જેટલું રક્ષણ આપી શકે છે, તેટલું રક્ષણ જીતી ન શકાય એવા કિલ્લાથી યુક્ત કરોડો પહાડોના શિખર પણ રક્ષણ આપી શકતા નથી. મદોન્મત્ત સિંહ ચાલાક હાથીને મારી શકતો નથી અને શિયાળ તેને ખાઈ શકતો નથી.

प्रस्तुत गाथा में अर्हतर्षि बता रहे हैं साधक धीर पुरुष का ही शरण ग्रहण करे। धैर्यशील महापुरुष ही दूसरे को शरण दे सकते हैं। यदि सर्प पीछा कर रहा है तो शक्तिशाली गरुड ही बचा सकता है, किन्तु मेंढक की शरण में गये तो वह क्या शरण दे सकेगा? महापुरुष का जीवन विशाल वृक्ष का जीवन है जो दुःख की धूप को अपने ऊपर झेलते हैं, किन्तु अपने शरण में आये हुए को शीतल छाया ही प्रदान करते हैं। भगवान् महावीर को शरण लेकर ही चमरेन्द्र प्रथम स्वर्ग लोक तक पहुंच सका और उसने शक्रेन्द्र को युद्ध के लिये ललकारा और जब शक्रेन्द्र वज्र ज्वालाएं छोडता हुआ उसके प्राण लेने आया तो भगवान् महावीर की शरण ही उसे बचा सकी। यह घटना उस समय हुई जब कि भगवान महावीर सुसुमार नगर में दीक्षा लेने के बाद ग्यारहवें वर्ष में तप कर रहे थे[2]।

महापुरुष की शरण जिस ढंग से रक्षा कर सकती है वैसी रक्षा विशाल पर्वत के उच्च शिखर पर स्थित कोट भी नहीं कर सकता।

प्रस्तुत गाथा की द्वितीय पंक्ति में दर्पित सिंह कुशल हाथी और जम्बूक का वर्णन आता है, किन्तु उसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो सका। दर्पित सिंह कुशल हस्ति को मार नहीं सकता। पर जम्बुक क्या करता है वह हाथी को नहीं खाता तो वह खा भी कैसे सकता है? इसके पीछे कोई कहानी होनी चाहिए जोकि उस युग में प्रसिद्ध होगी।

अर्थात् धीर को शरण भूत समझना चाहिये। अजेय दुर्ग से मुक्त गिरिशिखर शरण भी नहीं दे सकता। दृप्त सिंह अथवा कुशल हस्ति को शृगाल कुपित न करे। यहां "भोज्य" पाठ निरर्थक है, क्योंकि शृगाल सिंह को कभी खा नहीं सकता।

वेसपच्छाणसंबद्धे संबद्धं वारए सदा।
णाणा-अरतिपायोग्गं णालं धारेति बुद्धिमं ॥ २१ ॥

अर्थः—वेश प्रच्छादन=वस्त्रादि से सम्बद्ध युक्त मुनि, मुनि भाव से विरुद्ध क्रियाओं को रोकता हुआ मिथ्यात्वादि क्रियाओं से असम्बद्ध रहे। बुद्धिमान साधक के लिये अरति-प्रायोग्य वस्तुएं धारण करना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उसे मुनि भाव के विरुद्ध क्रियाओं से भी बचना आवश्यक है।

गुजराती भाषान्तर :—

વેષપ્રચ્છાદન એટલે મુનિના વસ્ત્રોથી આચ્છાદિત (યુક્ત) મુનિ, મુનિસહજ આચાર-વિચારોથી વિરુદ્ધ ક્રિયાઓને રોકી મિથ્યાત્વ આદિ ક્રિયાઓથી છેટે (સંસર્ગરહિત) રહે. બુદ્ધિમાન્ સાધકને માટે આસક્તિ ને વિરોધ કરનારો બહિર્વેષ જ રાખી ચાલે એમ નથી, મુનિભાવથી વિરુદ્ધ જે ક્રિયાઓ છે તેનાથી પણ બચવું સદંતર જરૂરી છે.

---

१ बलं थामं च पेहाए सद्धा मारुग्ग-मप्पणो। खेत्तं कालं च विन्नाय तह प्पाणं निजुंजए-दशवै. अ. ह.-गा. ३२ २ देखो भगवतीसूत्र शतक ३.

प्रज्ञाशील साधक संसार की वासना से विरक्त होता है तब उसे अन्तर की उत्क्रान्ति करना आवश्यक है। मुनित्व की साधना के लिये केवल बाह्य वेश आदि का परिवर्तन ही नहीं हृदय का परिवर्तन भी आवश्यक है। आज वेश की पूजा हो रही है। मुनिवेश को मुनित्व समझ लिया गया है। वेश अपने आप में जड हैं चैतन्य का पुजारी वेश को झुकता है तो उसकी चैतन्य पूजा की सबसे बडी पराजय है। वेश में मुनित्व नहीं वसता। वेश मुनि–जीवन का उपजीवन है, वह साधन है, जनता के विश्वास की आधार भूमि है[1]। और यहीं तक वेश उपयोगी है, किन्तु उसे ऊपर उठाकर पूजा की वस्तु समझ लेना बहुत बड़ी भ्रान्ति है। मुनिवेश में रहा हुआ साधक वेश की रक्षा के साथ अपने अन्तर मुनि जीवन की रक्षा के लिये और सदैव जागृत रहे। उसकी वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ मुनि भाव को क्षत विक्षत हो सके इसके लिये वह संयम के विरुद्ध किसी भी विचार और व्यवहार को वह प्रश्रय न दे।

टीकाः— **वेशप्रच्छादनसंबद्धो रजोहरणादिलिंगसहितो नवतत्त्वरतो संबद्धं तत्त्वविरुद्धं पुरुषं सदा वारयेत् नालं भवति धारयितुं बुद्धिमान् नानारतिप्रयोजकम्।**

अर्थात्— वेशप्रच्छादन चद्दर आदि से युक्त रजोहरणादि चिन्हों से युक्त नव तत्व का ज्ञाता तत्व से विरुद्ध गामी पुरुष से सदा दूर रहे। नानाविध अरति प्रयोजक = अर्थात् मानसिक शान्ति को भंग करनेवालों का साथ करना योग्य नहीं होता। अथवा संसार से अरति प्रयोजक वस्त्रादि का धारण करना ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिये संयम साधना भी चाहिये।

बंभचारी जति कुद्धो वज्जेज्ज मोहदीवणं।
ण मूढस्स तु वाहस्स मिगे अप्पेति सायकं॥ २२॥

अर्थः— ब्रह्मचारी यति क्रुद्ध होकर भी मोहोद्दीपक वस्तुओं का परित्याग करे। क्योंकि मूर्ख शिकारी के बाण मृग-को वेध नहीं सकते।

गुजराती भाषांतरः—

બ્રહ્મચારી યતિ ક્રોધાધીન થયા પછી પણ મોહને ઉદ્દીપન કરે એવી વસ્તુઓનો ત્યાગ કરે. કેમ કે મૂર્ખ (મોહમાં પડેલા) શિખારીનો બાણ મૃગને વીંધી નહીં શકે.

ब्रह्मचारी मुनि कभी कुपित न हो। क्योंकि क्रोध आत्मा की विभाव–परिणति है, फिर भी यदि क्रोध आभी जाए तब भी वह मोहोद्दीपक कार्य कभी न करे। क्रोध में यद्यपि साधक अपनी साधना को भूल जाता है फिर ब्रह्मचारी के लिये निर्देश है कि वह मोह से सदा बचता रहे। अथवा इसका एक रूप यह भी हो सकता है कि ब्रह्मचारी क्रोध में मोहोद्दीपक वस्तुओं का परित्याग करे, किन्तु आवेश के क्षणों में किया गया त्याग अप्रशस्त है, क्रोध में आकर मनुष्य भोजन का परित्याग कर देता है, किन्तु वह उपवास ज्ञान–प्रेरित नहीं है, अतः ज्ञानियों को वह स्वीकार नहीं है।

फिर भी साधक इतना सावधान तो रहे कि क्रोध के पागलपन में कहीं मोह प्रहार न करदे, क्योंकि क्रोध क्षणिक होता है, किन्तु मोह का प्रहार स्थायी होता है। फिर मोह के कीचड में फंसा साधक अपनी साधना को उसी प्रकार व्यर्थ नष्ट कर देता है जैसे कि मूर्ख शिकारी अपने बाणों को। वह अपने लक्ष्य को वेध नहीं सकता। इसी प्रकार मोहशील साधक की साधना निर्वाण के लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाती है।

टीकाः— **सर्वदा न क्रुध्येन्मुनिर्यदि तु केनचित्कारणेन ब्रह्मचारी यतिः क्रुद्धः संज्वलेत् तदात्मनो मोहदीपनं वर्जयेत् मूढस्य हि व्याधस्य सायको मृगान् न विध्यति एवं मूढो मुनिर्न भवेज्ज्ञानभाक्। गतार्थः।**

पेच्छाणं चेव रूवं च णिच्छंमि विभावए।
किमत्थं गायते वाहो तुण्हिका वावि पक्खिता॥ २३॥

अर्थः— मुनि देश और रूप का निश्चय से विचार करे। व्याध किस लिये गाता है और पक्षी चुप क्यों है?

---

१ केशी गौतम चर्चा में महामुनि केशीकुमार ने वेश के प्रश्न को उठाया तब महान साधक गौतम उसका इसी रूप में समाधान करते हैं:–

पच्चयत्थं च लोगस्स णाणा विह विगप्पणं, जत्तत्थं गहणत्थं च लोगे लिंगपओयणं। उत्तरा० अ० २३ गा० ३२,

२ पत्थाणं,

गुजराती भाषान्तर :—

મુનિના વેષનો અને રૂપનો ખાસ વિચાર કરવો આવશ્યક છે. પારધી શું કારણ ગાય છે અને પક્ષીઓ શાને માટે છાનામાના છે ?

साधक देखे-मुनि के वेश और उसके रूप अर्थात् मुनि भाव में कहां तक साहचर्य है। वह केवल स्थूल द्रष्टा बनकर ऊपरी गज से ही न मापे। उसे भीतर की गहराइयाँ तक प्रवेश करना चाहिए। वह वेश का पूजक बनकर न रह जाए। वह यह भी देखे मुनि के वेश के साथ मुनित्व भी है या नहीं। कोरी वेश पूजा अनाचार की परंपरा बढ़ाती है। वैयक्तिक राग और सांप्रदायिक अभिनिवेश बुद्धि वेश-पूजा को महत्व देती है। मेरी परंपरा और मेरे संप्रदाय का वेश जिसने पहन लिया है वह मेरे लिये पूज्य है। इसका अर्थ यह हुआ मेरा पीतल भी सोना है, और दूसरे का सोना भी पीतल है। धर्म की ओट में जब यह संप्रदायवाद खेलता है तब धर्म का रस सूख जाता है, उसमें दरारें पड़ती हैं ये दरारें और टुकड़े ही संप्रदाय हैं। यह सांप्रदायिक बुद्धि व्यक्ति और वेष, पूजा को प्रोत्साहन देती है, गुण-पूजा को दरवाजे से बाहर धकेल देती है।

जैनदर्शन का मूल स्वर गुण-पूजा ही रहा है, वेश-पूजा को कभी उसने अपना लक्ष्य नहीं बनाया[१]। न उसने कभी आपको सांप्रदायिक दीवारों में केद ही किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने यहाँ तक घोषणा की थी कि मुझे भगवान महावीर के प्रति आग्रह नहीं है।

और अन्य दार्शनिकों के प्रति मेरे मन में द्वेष भाव नहीं है। जिसके विचार तर्क की तुला पर ठीक उतरते हैं उन्हें ही मेरी बुद्धि ग्रहण करेगी[२]।

अर्हतर्षि वेष-प्रतिष्ठा के स्थान पर गुण-प्रतिष्ठा को विकसित करने की प्रेरणा दे रहे हैं। उसके लिये सुन्दर रूपक दे रहे हैं। वह आकाश में उड़नेवाली चिड़िया भी व्यक्ति के बाह्य को नहीं अन्तर को जानती है शिकारी जब गाता है तब वह चुप हो जाती है। वह शिकारी के संगीत पर मुग्ध नहीं होती, किन्तु उसके हिंसात्मक भावनाओं को परखती है। तो श्रावक मुनि के वेश और बाह्य साधना को न देखे, मैले वस्त्रों की आचार का प्रतीक न समझे, न मधुर संगीत को आत्मा की स्वर लहरी न मान बैठें। कभी कभी मैले कपड़ों में जीवन का मैल छुपता है तो कभी भीषण बाह्याचार के नीचे अत्याचार कसकता है। अंतः वह वेष नहीं साधना को देखे। रूप नहीं, गुण का पारखी बने।

टीका:— प्रच्छादनं वेषं रूपं लिंगं निश्चयमेव विभावयेत्। किमर्थं गायति व्याधस्तूष्णीका तु भवन्ति पक्षिणः? गायतोऽपि व्याधस्य हननाभिप्रायं वेषाच्च लिंगाच्चानुमान्ति विहगा इति भावः। गतार्थः।

"विशेष=वेष और लिंग से पक्षीगण गाते हुए शिकारी के मारने की भावना को समझ लेते हैं।"

कज्जणिव्वत्तिपाओग्गं आदेयं कज्जकारणं।
मोक्खणिव्वतिपाओग्गं, विण्णेयंतु विसेसओ ॥ २४ ॥

अर्थ :—किसी कार्य की रचना के लिये उचित कार्य कारण अपेक्षित है। किन्तु मोक्ष की निर्वृत्ति के रचना के लिये विशिष्ट कार्य कारण अपेक्षित है।

गुजराती भाषान्तर :—

કોઈ પણ કાર્યોની રચના માટે યોગ્ય કાર્યકારણની અપેક્ષા હોય છે; પરન્તુ મોક્ષની રચના માટે ખાસ કારણની આવશ્યકતા રહે છે.

कार्य की सफलता के लिये हमें कार्य कारण भाव को समझना चाहिए। यदि कारण निर्बल है तो कार्य भी निर्बल रहेगा। क्योंकि कार्य की प्रसवभूमि कारण है। यदि तन्तु=धागे खराब हैं तो कपड़ा सुन्दर नहीं बन सकता।

एक तर्क है-साध्य ठीक होना चाहिए, साधन फिर कैसे भी हों तो चलेगा। किन्तु यह तर्क लचीला है। यदि कार्य और कारण दो भिन्न वस्तुएं हैं तब ठीक है; अन्यथा कार्य कारणों का परिपक्व रूप है तब साधनों को तुच्छ गिननेवालों की मिट्टी खिसक जाएगी। यदि इंट के प्रति उपेक्षा की गई तो भादव की जलधारा मकान को ढेर कर देगी। क्योंकि ईंटों व्यवस्थित समूह ही तो मकान है।

---

१ गुणाः पूजास्थानं गुणिषु नच लिंगं नच वयः। -उत्तररामचरित. २ पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥ हरिभद्र सूरि.

बाह्य या आन्तरिक कार्य सबके लिए साधनों का ठीक चुनाव करना होगा। साधन अनुचित है तो साध्य गड़बड़ा जाएगा। सीधी सी बात है। घड़ा मिट्टी से बन सकता है, धागों से नहीं, क्योंकि घट निर्माण के लिए धागे अनुचित कारण हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिये समुचित कारण अपनाने होंगे। मोक्ष प्राप्ति का उद्देश्य बना लेने पर भी यदि उसके प्रसाधन अयोग्य हैं तो भी विडम्बना होगी। मोक्ष के पागलों ने काशी में सिर कटवा लिये पर क्या उन्हें मोक्ष मिल गया? । जब तक पुद्गल संसक्ति और विभाव दशा की आसक्ति समाप्त नहीं होती तब तक मुक्ति केवल कल्पना है। उसके लिये सम्यग्-दर्शन सम्यग्ज्ञान औद सम्यक् चारित्र ही सुयोग्य प्रसाधनें हैं।

अतः साध्य की सिद्धि के लिए योग्य साधनों की ठीक ठीक पहचान आवश्यक है।

टीका:—लौकिककार्यनिर्वृत्तिप्रयोजके कार्यकारणे आदेये ते एव मोक्षनिर्वृत्तिप्रयोजके विशेषतो विज्ञेये। गतार्थः।

परिवारे चेव वेसे य भावितं तु विभावए।
परिवारे वि गंभीरे ण राया णीलजंबुओ ॥ २५ ॥

अर्थः—परिवार में हो या मुनि वेश में भावित आत्मा ही विशिष्ट भाव दशा पा सकती है। विशाल परिवार में होने पर भी नील जम्बूक राजा नहीं हो सकता।

गुजराती भाषान्तर:—

પોતાના પરિવારમાં ગૃહસ્થ હોય કે મુનિવેષમાં હોય તો પણ ભાવિત આત્મા જ વિશિષ્ટ ભાવદશા મેળવી શકે છે. મોટા પરિવારમાં રહેનાર નીલ જંબૂક (વાદળી રંગમાં રંગાયેલો શિયાળ) રાજા બની શકતો નથી.

कोई भी व्यक्ति परिवार में रहता है या मुनिवेश में। यह प्रश्न उतना महत्व नहीं रखता जितना कि उसका आत्म-विकास। यदि वेश बदलकर भी मन नहीं बदला तो उस वेश बदलने का कोई अर्थ नहीं है। परिवार में भी ऐसी बहुत सी आत्माएं मिल आवेगी, जोकि गंभीर साधना कर रही है। जब कि मुनिवेश में भी विपथगामी आत्माएं मिल सकती हैं, अतः वेश को संयम का प्रतीक मान लेना अपने आप में एक गंभीर भूल है। इसीलिये महा श्रमण भ० महावीर पावापुरी की अपनी अन्तिम देशना में इस सत्य का उद्घाटन करते हुए कहा था–कतिपय साधुओं से गृहस्थों का शील और संयम श्रेष्ठ हो सकता है। फिर भी हमें यह भी न भूलना होगा कि समस्त गृहस्थों से साधुओं का संयम श्रेष्ठ होता।

विशाल परिवार के बीच भी ऐसी आत्माएं मिल सकेंगी जिनका जीवन उनसे भी श्रेष्ठ है कि जिन्हें कि हमारी आंखें पवित्र देखती हैं। दूसरी ओर विशाल शिष्य–परिवार के द्वारा किसी की साधना को मापना भी गलत होगा। आज विशाम शिष्य–परिवार को देखकर उन्हें विशिष्ट पद दिये जाते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा तत्वविनिश्चय और अध्यात्म साधना के अभाव में यदि शिष्य–समुदाय बढ़ता है तो वह साधक को सिद्धान्त का अनुगामी नहीं, प्रतिगामी बनाता है[३]। अतः पारिवारिक विशालता किसी को महत्वपूर्ण पद बिठा नहीं सकती। फिर आज के युग में जबकि बढ़ती हुई संख्या एक अभिशाप मानी जा रही है। अर्हतर्षि कहते हैं परिवार से घिरा हुआ और रंगा हुआ शृगाल राजा नहीं माना जा सकता।

यह एक लोकप्रसिद्ध वार्ता है। एक शृगाल एक बार नगर में आया रंग के बर्तन में गिर गया। अपने रंग रूप को देखकर उसने अपने आपको वन का राजा घोषित किया। वनपशुओं की विशाल सभा जुडाकर बैठा भी किन्तु उसकी शाही शान उसी क्षण मिट्टी में गई जबकि वनराज आ पहुंचा।

अतः साधना के पथ में बढ़ने के लिये कपड़े नहीं आत्मा को बदलने की आवश्यकता है। यदि आत्मस्थिति बदल चुकी है और कपड़े न भी बदले तब भी वे कपड़े आपकी मुक्ति में बाधक नहीं हो सकते। गृहस्थलिंग सिद्धा को स्वीकार कर जैनदर्शन ने इस सत्य का उद्घोष किया था। माता मरुदेवी और उनके पति चक्रवर्ती भरत इस कथन के ज्वलंत प्रमाण हैं।

---

१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। –तत्वार्थः अ०१ सू०१.

२ संति एगेहिं भिक्खुहिं गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं सव्वेहिं साहवो संजमुत्तरा॥ –उत्तरा० अ० ५ गा० २०.

३ जह जह बहुस्सुओ सम्मओय सिस्सगण संपरिवुडो य।
अविणिच्छिओ य समये तह तह सिद्धन्त पडिणीओ॥ –सन्मतिप्रकरण ३–६६.

टीका:—परिवारेण च वेषेण च यद्भावितं तद् विभावयेत्न च ताभ्यां वञ्चयेत परिवारेणाऽपि गंभीरेण परिवृतो नीलजम्बूकः कथाप्रसिद्धो न राजाऽभवच्छ्वापदानामवंचनीयत्वात् । गतार्थः ।

अत्थादाइं जणं जाणे णाणा-चित्ताणुभासकं ।
अत्थादाईण वीसंगे पासंतस्स[1] अत्थसंततिं ॥ २६ ॥

अर्थः—अर्थ (धन) का लोभी व्यक्ति नानाविध रूप में चित्तहारी मधुरभाषा-भाषी समझना चाहिये । अथवा ज्यादा मधुरभाषी को अर्थ का इच्छुक समझना चाहिए और उसकी अर्थ-परंपरा को देखकर लोभी व्यक्ति से दूर रहना ही श्रेष्ठ है ।

गुजराती भाषान्तर :—

અર્થનો એટલે દ્રવ્યનો લોભી માણસ અનેક રૂપમેં મીઠા મીઠા શબ્દોથી આપણા તરફ બીજાનું અંતઃકરણ ખેંચી લઈ લેછે. બીજા શબ્દોમાં એમ કહી શકાય કે મીઠા શબ્દો બોલનારો માણસ ધનનો અભિલાષી હોય છે. તેથી આવા માણસથી છેટે રહેવું જ એ પ્રશસ્ત છે.

जिसके मन में संपत्ति की भूख लगी है वह किसी से बात करता है तो उसका बोलने की शैली इतनी मीठी होगी कि वाणी कला के द्वारा वह उसके हृदय में प्रवेश कर जाता है और अपनी इच्छित वस्तु निकलवा लेता है । दूसरी ओर यह भी ध्यान रखना चाहिए जो आपसे बहुत मीठी बातें कर रहा है उसकी मीठी बातें भी कोई अर्थ प्रती हैं । किसी प्रयोजन से ही आपसे इतना मीठा बोल रहा है । अतः लोभी के दिल को समझना चाहिये उसकी अर्थ पिपासा को देखना चाहिये । उसे अर्थ नहीं, अर्थ संतति चाहिये, अर्थात् यदि उसका वश चले तो अपनी पीढ़ियों के लिये भी संपत्ति मांग ले, अतः उसके मन की विशाल तृष्णा की पूर्ति करना कठिन है । एक विचारक ने ठीक कहा है—A poor man wants some thing, a coventous man all things. गरीब थोड़े से संतुष्ट हो सकता है जबकि अमीर की मांग सदैव ज्यादा होगी । अतः अर्हतर्षि कहते हैं तृष्णालू व्यक्तिसे सदैव दूर रहो । "पासंतस्स" का पाठान्तर दासंतस्स । उसका अर्थ यह होगा कि जो लोभी का संग नहीं करता अर्थ संतति उसके लिये दासवत् रहेगी । लक्ष्मी छाया-सी है उसके पीछे दौड़ेंगे वह आगे दौड़ेगी और यदि आपने उससे मुंह मोड़ लिया फिर यह आपके पीछे दौड़ेगी ।

आचार्य मानतुंग आदिनाथ स्तोत्र की परिसमाप्ति पर एक मार्मिक उक्ति कह गये हैं–प्रभो ! जिसने आपके गुण रूप पुष्पों से ग्रथित यह स्तोत्र रूप माला जो पहनेगा लक्ष्मी उसके पास बरबस चली आएँगी[2] ।

टीका:—अर्थादायिनमर्थलोभिनं जनं जानीयात् नानाचित्तानुभाषकमन्यमातानुगामिनम्, तस्माद् अर्थ-संततिं निरन्तरार्थलोभं पश्यतः श्रेयान् भवत्यर्थादायिभिर्विसंगो वियोगः । गतार्थः ।

डंभ-कप्पं कत्तिसम्मं णिच्छयम्मि विभावए ।
णिखिलामोसा कारित्तु उवचारम्मि परिच्छती ॥ २७ ॥

अर्थः—दम्भपूर्ण आचरण निश्चय में सिंह के चर्म से आवृत शृगालवत् समझना चाहिये । संपूर्ण रूप से असत्याचरण करनेवाला उपचार से परखा जाता है ।

गुजराती भाषान्तर :—

દંભથી પૂર્ણ એવું આચરણ સિંહના આમડામાં છુપાએલ શિયાળના જેવું છે, એમ સમજવું. હરએક રીતનું બનાવટી આચરણ કરનારા માણસની ઓળખાણ તેના આચાર-વિચાર તેમજ સંભાષણથી કરી શકાય છે.

जिसके अन्तर और बाह्य दोनों में वैषम्य है ऐसा दम्भी साधक वह उस शृगाल जैसा है जो सिंह की खाल में घूमता है और पशुओं का राजा होने का स्वप्न देखता है । किन्तु जिस क्षण वह कार्य करता है या बोलता है तभी उसकी परीक्षा हो जाती है । मुनि के वेश में घूमनेवाले मिथ्याचारी व्यक्ति जनता के समक्ष अपने आपको महान पहुंचे हुए

---

१ दासंतस्स.

२ स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धाम्
भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम् ।
धत्ते जनो इह कंठगतामजस्रं
तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥ भक्तामरस्तोत्र श्लोक० ४८.

सन्तसिद्ध करना चाहता है। मैले वस्त्र, बाह्य क्रियाकाण्ड और दूसरों को शिथिलाचारी बताना ये हैं। उनके प्रसाधन, जिनके द्वारा वे अपने आपको महान् आचारशील मुनि सिद्ध करते हैं और भोली स्थूलदर्शी जनता उन्हें उस रूप में मान भी लेती है, किन्तु जो उनके भीतर उतरता है उसे वहां कुछ दूसरा रूप दिखाई देता है और दम्भ के आधार पर खड़ा किया गया महल ढेर हो जाता है।

टीकाः—दम्भं कल्पं कृत्तिसमं कृत्वा जम्बूकसमानं निश्चयेन विभावयेत् निखिलं राजप्रतापस्यामोषं कृत्वोपचारे वृतो परीक्ष्यते विज्ञायते। गतार्थः।

सब्वभावे दुब्बलं जाणे णाणा-वण्णाणुभासकं।
पुप्फा-दाणे सुणंदा वा पवकारघरं गता॥ २८॥

अर्थ—मनुष्य का स्वभाव बहुत दुर्बल होता है। वह अनेक वर्ण (रूप) का आभास देता है। पुष्प को लेने के लिये सुनंदा प्लवकार (नाव बनानेवाले) के घर गई।

गुजराती भाषांतरः—

માણસનો સ્વભાવ ખરેખર ઘણોજ નબળો હોય છે. તેથી અનેક વર્ણો (રૂપો)ના આભાસ થાય છે. સુનંદા ફૂલો લેવા માટે હોડી બનાવનારને ઘેરે ગઈ.

मनुष्य का स्वभाव बड़ा विचित्र होता है। अभी वह सुन्दर रूप में है, किन्तु अगले ही क्षण उसका क्या रूप होगा कुछ कहा नहीं जा सकता। कल का चोर आज सन्त बन सकता है!। आजकी वेश्या कल सती भी हो सकती है!। नगरवधू कोशा के रूप पाश में बंधे विलासी कुमार स्थूलभद्र को देखकर कौन कह सकता था कि यह एक दिन काम-विजेता महान् सन्त स्थूलिभद्र बनेगा और यह भोग की प्रतिभा के अपने पूरे सौन्दर्य के साथ भी उसे अपने रूप जाल में फंसा नहीं सकेगी!। विराग का पथिक भोग को त्याग की ओर खींच सकेगा। सती के रूप में पूजे जानेवाली नारियां अपने पूर्व जन्मों में किस रूप में रहीं होगीं कौन कह सकता है!।

इसी लिये जैनदर्शन कहता है किसी के वर्तमान रूप को देखकर उसके जीवन का फैसला न हो। उस पर घृणा न बरसाओ। संभव है एक दिन वे महान संत हो सकते हैं और उनके आलोचक उनसे भी नीची भूमि पर जा सकते हैं जिनकी कि आज वे आलोचना कर रहे हैं।

दुःख-विपाक की दुःखभरी कहानियां अपने पास एक सत्य रखती हैं। तो भगवती सूत्र में वर्णित गौशालक की कहानी भी एक तथ्य रखती है। भगवान महावीर गणधर देव गौतम प्रभु के समक्ष उन आत्माओं के जीवन पर्दे उठाते जाते हैं, उसमें वे दृश्य भी आते हैं जब कि उनके जीवन की काली कहानियों को देखकर उन परिजन और प्रिय भी घृणा से मुंह फेर लेते हैं। मारकाट हत्याभरा जीवन देखकर ऐसा लगता है इनका जीवन सूना रेगिस्तान है। जहां प्रेम कोमलता और करुणा का छोटा वृक्ष भी नहीं है, किन्तु दृश्य बदलते हैं और आखिरी पर्दा हटता है तो वह रूप सामने आता है कि हमारी अपनी आंखों पर हमें विश्वास नहीं होता!। क्या यह वही है जो एक दिन बिना प्रयोजन के प्राणियों को मोत के घाट उतार देता था?। आज उसका प्राण घातक व्यक्ति उसके सामने उपस्थित है। वह जानता भी है यह मेरे प्राणों की हत्या करने आया है। फिर भी मन के एक कोने में वैर और द्वेष की चिनगारी नहीं निकलती। देखते देखते कैवल्य की अनंत ज्योति से वे जगमगा उठते हैं।

जिनके लिये मानव भी घृणा से मुंह फेर लेते थे, आज उन्हीं के लिये देवगण दौड़े आ रहे हैं। आकाश में देव दुंदुभियां गड़गडाती हैं। अतः व्यक्ति कब किस क्षण बदल जाएगा कह नहीं सकते। अथवा स्वभाव से दुर्बल प्राणी अनेक रूप में बोलता है उसकी मनःस्थिता सम नहीं पडती, कभी वह किसी बात को स्वीकार करता है तो दूसरे ही क्षण इन्कार भी कर देता है। इस तथ्य की पुष्टि के लिये अर्हतर्षि ने सुनन्दा की कहानी दी है जो पुष्प लेने के लिये नौका बनानेवाले के घर जाती है, किन्तु वह प्राचीन कथा अज्ञात है।

टीकाः—स्वभावे दुर्बलं जानीयात् नानावर्णानुभाषकं विविधजात्यनुकारिणम्, यथा सुनन्दा पुष्पाऽऽदाने प्लव-कारगृहं गता। अस्य तु श्लोकस्यार्थः कथाया अज्ञातत्वादस्पष्ट एव। गतार्थः।

विशेष प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्ध में कथा का संकेत है, किन्तु वह अज्ञात है। अतः उत्तरार्ध स्पष्ट नहीं हो सका।

दव्वे खेत्ते य काले य सव्वभावे य सव्वधा।
सव्वेसिं लिंगजीवाणं भावणं तु विहावए ॥ २९ ॥

अर्थ :—द्रव्य, क्षेत्र और काल सभी भावों और सभी लिंगों के द्वारा रहे हुए जीवों की भावना को समझना चाहिए।

गुजराती भाषान्तर :—

द्रव्य, क्षेत्र अने काळ बधा भाव अने बधा लिंगो द्वारा रहेनारा જીવોની ભાવનાને સમજવા જોઈએ.

प्रस्तुत अध्याय का उपसंहार करते हुए अर्हतर्षि बता रहे हैं, इस विराट विश्व में अनंत अनंत आत्माएं हैं और सबका द्रव्य, क्षेत्र काल भाव लिंग सभी पृथक् हैं और सबकी भावनाएं पृथक् हैं, अतः साधक विवेकपूर्वक सबको समझने की चेष्टा करे।

हर व्यक्ति की अपनी परिस्थिति भिन्न होती है। हर व्यक्ति की भावनाएं पृथक् होती हैं। सबकी शक्ति समान नहीं होती। अतः सबको एक ही गज से नहीं नापना चाहिए। दो व्यक्ति एक समान अपराध करते हैं; फिर भी दोनों को समान दंड नहीं दिया जा सकता। क्योंकि दोनों की परिस्थिति पृथक् पृथक् होती है। एक भूक से पीड़ित होकर चोरी करता है। दूसरा पड़ोसी की संपत्ति देखकर जलता है; उसे भिखारी बनाने के लिये चोरी करता है। पहला पेट भरने के लिये चोरी करता है; दूसरा पेटी भरने के लिए। एकके पास तन की भूख समस्या है तो दूसरे के पास मन की भूख है।

आगम में भी अपराधों की दो श्रेणियां बताई गईं-एक अपने अहंभाव के पोषण के लिये दोषों का सेवन करता है, दूसरा संयम साधना के कठिन स्थानों को पार करने के लिए दोष सेवन करता है। ये दोनों दोष विधियाँ दर्पिका और कल्पिका कही जाती हैं। दोनों के बीच भावनाओं का बहुत बड़ा विभेद है। अतः दोनों की प्रायश्चित्त विधि में भी विभेद है।

कोई अपराधी पकड़ा जाता है। कानून उसका प्रमाण मांगता है, अपराध की स्वीकृति मिलने पर वह दंड दे देता है। किन्तु वह यह नहीं देखेगा कि इसने वह अपराध क्यों किया है; इसी लिये तो कहा जाता है 'कानून अंधा होता है'। विचारक के पास खुली आंखें हैं वह देखता है। अपराध हुआ है किन्तु साथ ही वह इसकी पार्श्वभूमि भी देखना चाहेगा कि किन परिस्थितियों से विवश होकर इसने अपराध किया है। उसके सामने दूसरा विकल्प था या नहीं ?। यदि नहीं था और इसने दोष का सेवन किया है तो आसक्त भाव से किया है या अनासक्त भाव से?। जितना आवश्यक था उतना ही किया है या उससे ज्यादा या कम?। विचारक व्यक्ति और उसकी परिस्थितियां और उसकी भावनाओं को तोलता है और तभी निर्णय देता है।

अर्हतर्षि कह रहे हैं किसी भी व्यक्ति के लिये अच्छा या बुरा निर्णय न दो। उसकी स्थिति भावनाएँ सबका अवलोकन करो।

टीकाः— द्रव्ये क्षेत्रे च काले च सर्वभावे च सर्वथा सर्वेषां लिंगवतां जीवानां भावनां विभावयेत्। गतार्थः।

एवं से सिद्धे बुद्धे० ॥ गतार्थः ॥
इइ साइपुत्तिज्जं नामज्झयणं।
इति सातिपुत्र अर्हतर्षिभाषितम-
ष्टात्रिंशततिममध्ययनम् ॥
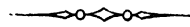
संजय अर्हतर्षि प्रोक्त

उनचालीसवाँ अध्ययन

मनुष्य हजार बार 'हां' कहता है तो उसे एक बार 'ना' कहना भी सीखना चाहिये। वह पाप के लिए इन्कार कर दे। जब कभी मन अशुभ की ओर जाए उसे रोक दे। मानव पाप से अपने को बचाता है तो वह इन्कार उसे हजार आपत्तियों से बचाता है।

पाप की प्रसवभूमि मानव का मन है। पहले वहीं वह जन्म लेता है तब वाणी उसे बाहर व्यक्त करती है और देह उसको क्रियात्मक रूप देता है।

पाप क्या है? कुछ विचारक कहते हैं-'मनुष्य परिस्थितियों का दास है, अतः परिस्थिति से प्रेरित ही जो कार्य करता है।' दुनियां उसे अपने सांचे में ढल कर पाप पुण्य की संज्ञा देती है। पर यह तर्क की कसोटी पर ठीक नहीं उतरता। यदि मनुष्य परिस्थितियों का खिलौना मात्र है तो उसका अपना अस्तित्व ही क्या रहा? मनुष्य परिस्थितियों का दास नहीं, उसका विधाता है जब वह शुभ संकल्प लेकर चलता है तब उसकी प्रेषित भावधारा पुण्य के परमाणुओं को आकर्षित करती है; वही पुण्य है और भावधारा अशुभ की ओर बहती है तब अशुभ अध्यवसाय पाप के परमाणुओं को आकर्षित करते वही पाप है। स्वामी रामतीर्थ ने ठीक कहा है-कोई भी कर्म अपने आपमें पुण्य नहीं है, बिन्दु या शून्य का स्वतः कोई मूल्य नहीं होता। व्यक्ति के मन की छाया उस पर गिरती है उसी रूप में वह ढल जाता है। शुभ धारा उसे शुभ की ओर मोड़ देती है और तभी बढ़ता है जब कि मन में पाप होता है। बालक युवति वृन्द के निकट खेलकर भी निष्पाप रहता है।

प्रस्तुत अध्ययन में बताया गया है पाप क्या है और उससे मुक्त कैसे हो सकते हैं।

जे इमं पावकं कम्मं णेव कुज्जा ण कारवे।
देवा वि तं णमंसंति धितिमं दित्ततेजसं॥ १॥

अर्थः—जो व्यक्ति इस पाप कर्म को नहीं करता है और दूसरों से नहीं करवाता है उस धृतिमान दीप्त तेजस्वी को देवता भी नमस्कार करते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જે માણસ આ પાપ કર્મને કરતો નથી અને બીજાને પાસેથી પણ કરાવતો નથી તેવા ધૈર્યશાલી, દીપ્ત, અને તેજસ્વીને દેવતાઓ પણ નમસ્કાર કરે છે.

साधक पापों से दूर रहे। न स्वयं पाप परिणति में लिप्त हो न अन्य व्यक्ति को उस ओर प्रेरित ही करे। ऐसा निष्पाप साधक दिव्य तेज से आलोकित रहता है। अहिंसा और करुणा की सौम्य भावधारा उसके आनन पर अठखेलियां करती है। इसीलिये देवगण भी उसके चरणों में झुकते हैं।

यद्यपि भौतिक वैभव में देव-सृष्टि मानव की अपेक्षा विशिष्ट है, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में तो मानव से बहुत पीछे हैं। संगमर्मर का फर्श खेत की काली मिट्टी की अपेक्षा अधिक सुरम्य है और वह मन को मोह भी लेता है पर जीवन के लिये तो संगमर्मर के सुरम्य भवनों से खेत की काली मिट्टी ही अधिक उपयोगी है, क्योंकि एक दाने को हजार गुणित कर मानव को धान्य राशि का उपाहार देने का काम काली मिट्टी ही करती है। सर्वार्थ सिद्ध के विमानवासी देव तेंतीस सागर पर्यन्त प्रयत्न करें तब भी केवलज्ञान नहीं पा सकते; जबकि मानव का पुरुषार्थ सही दिशा में गति करे तो अड़तालीस मिनिट में केवलज्ञान पा सकता है। भौतिक वैभव की दृष्टि से महान देवगण भी आध्यात्मिक वैभवशाली मानव के चरणों में झुकता है।

टीकाः— य इदं पापं कर्म न कुर्यात् न कारयेद्, देव अपि तं नमस्यन्ति धृतिमद्दीप्ततेजसम्। गतार्थः।

जे णरे कुव्वती पावं अंधकारं महं करे।
अणवज्जं पंडिते किच्चा आदिच्चे व पभासती॥ २॥

अर्थः--जो मानव पाप कर्म करता है वह अंधकार फैलाता है। जबकि पंडित पुरुष अनवद्य कर्म करते सूर्य की भांति प्रकाशित होता है।

गुजराती भाषान्तरः—

જે માણસ પાપનું કામ કરે છે તે દુનિયામાં અંધારું ફેલાવે છે; જ્યારે બુદ્ધિમાન્ માણસ નિર્દોષ (શુદ્ધ=પુણ્યનું) કામ કરી સૂર્યના જેવો અજવાળો ફેલાવે છે.

अशुभ परिणति स्वयं अंधकार में है। वह जहां जायगा सर्वत्र अंधकार फैलाएगा। जिसने प्रकाश पथ पाया है, वह प्रज्ञाशील पुरुष निष्पाप जीवन बिताकर पुण्य की प्रभा से आलोकित हो सूर्य की भांति विश्व को प्रकाश किरण देता है।

सिया पावं सइं कुज्जा ण तं कुज्जा पुणो पुणो।
णाणि कम्मं च णं कुज्जा साधु कम्मं वियाणिया॥ ३॥

अर्थः— पाप का प्रसंग उपस्थित हो और एक बार पाप हो जाए तब भी साधक उस पाप को पुनः पुनः न करे। किन्तु ज्ञानी श्रेष्ठ कर्मों को पहिचान कर उन्हीं में सदैव प्रवृत्त हो।

गुजराती भाषान्तरः—

કદાચ પાપ થવાનો પ્રસંગ આવે અને અમારા હાથે પાપકૃત્ય પણ થઈ જાય તો તે ફરીવાર કોઈ પણ હાલતમાં ન થાય એવી કાળજી સાધકે રાખવી. જ્ઞાની માણસે આ ઉચ્ચ કાર્યો છે એમ સમજીને જ હમેશા તેમાં પોતાની પ્રવૃત્તિ રાખવી.

कभी कभी मानव को अनिच्छापूर्वक भी किसी अनिष्ट प्रवृत्ति में भाग लेना पड़ता है। किन्तु उस समय भी उसकी ज्ञान चेतना खुली रहे। पाप को पाप माने और उसके जल्दी ही अलग हट जाने का विचार रखे। लज्जाशील व्यक्ति एक बार कभी कहीं फिसल गया तो उसे वह भूल सदैव कचोटती रहेगी और पुनः कभी भी उस ओर कदम नहीं बढ़ाएगा। गिरना स्वभाविक है, पर गिरकर वहीं पड़े रहना दुर्बलता है; गिरकर उठ खड़े होना बहादुरी है। एक इंग्लिश विचारक कहता है Manlike it is to fall into sin, friendlike it is to dwell therein, christlike it is or sin to grieve, goldlike it is all sin to live. पाप में पड़ना मानव स्वभाव है, उसमें डूबे रहना शैतान स्वभाव है, उस पर दुःखित होना सन्त-स्वभाव है और सब पापों से मुक्त होना ईश्वर स्वभाव है।—लांगफेलो.

सिया……कुज्जा तं तु पुणो पुणो णिकायं च णं कुज्जा साहु भोज्जो वि जायति रहस्से खलु भो पावं कम्मं समज्जिणित्ता दव्वाओ खेत्तओ कालओ भावओ कम्मओ अज्झवसायओ सम्मं अपलीयंचमाणे जहत्थं आलोएज्जा।

अर्थः—यदि पाप कर्म कभी हो जाय पुनः पुनः उसका आचरण करके उसका समूह न बनावे जिससे कि साधक को पुनः जन्म लेना पड़े। गुप्त रूप से पाप किया हो तब भी उसको द्रव्य क्षेत्र काल और भाव से कर्म (क्रियात्मक रूप से) और अध्यवसाय से सम्यक् प्रकार से किसी से निष्कपट रूप से यथार्थ आलोचना करे।

गुजराती भाषान्तरः—

જો કદાચ (અજ્ઞાનથી) પાપકૃત્ય પોતાને હાથે થઈ ગયું હોય તો તે ફરી કરી તેની વૃદ્ધી થવા દેવી નહીં, જેને લીધે સાધકને ફરી આ સંસારમાં જન્મ લેવો પડે. કદાચ પાપકૃત્ય એકાંતમાં થઈ ગયું હોય તો તે પાપને દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ અને ભાવથી કર્મ (ક્રિયાત્મક રૂપથી) અને અધ્યવસાયથી સારી રીતે નિષ્કપટ રૂપથી સાચી રીતે આલોચના કરે.

मानव से भूल होना स्वाभाविक है, किन्तु प्रज्ञाशील साधक भूलों की आवृत्ति नहीं होने दे। क्योंकि एक भूल क्षम्य हो सकती है, किन्तु भूलों का समूह भयंकर परिणाम भी ला सकता है। अतः भूलों का परिमार्जन करते रहे। यदि एकान्त में भी पाप किया गया है तब भी हृदय-शुद्धि के साथ उसकी आलोचना होनी चाहिए। फिर भी उसमें द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को विवेक तो रखना ही चाहिए, आलोचना सुनने के लिये पात्र भी खोजना चाहिए। सुयोग्य पात्र मिलने पर शुद्ध अध्यवसायपूर्वक निष्कपट आलोचना करे। कपट सहित आलोचना से आत्मशुद्धि संभव नहीं है। क्योंकि रोगी डाक्टर से छल करके कभी स्वस्थ नहीं हो सकता। आलोचना में निष्कपटता को स्थान है।

टीकाः—चतुर्थस्य पूर्वार्धमपूर्णम्। उत्तरार्धं तु कर्मसंचयविषयम्। यस्य विपाकेन साधुर्भूयोऽपि जायते।

रहस्ये खलु भो पापं कर्म समर्ज्य द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः भावतः कर्मतोऽध्यवसायतः सम्यग् अपरिकुंचमानोऽनिगूहन्नालोचयेत् ।

चतुर्थ श्लोक का पूर्वार्ध अपूर्ण है और उत्तरार्ध कर्म संचय-विषयक है। जिसके परिणाम में साधु पुनः जन्म लेता है। शेष का अर्थ ऊपरवत् है।

संजएणं अरहता इसिणा बुइतं-

ण वि अत्थि रसेहिं भद्दएहिं संवासेण य भद्दएण य।
जत्थ मिए काणणोसिते उवणामेति वहाए संजए ॥ ५ ॥

अर्थः—संजय अर्हतर्षि बोले-मुझे सुन्दर रसों से और सुन्दर निवास स्थानों से कोई प्रयोजन नहीं है। जहां कि संजय वन में रहे हुए मृग को मारता है।

गुजराती भाषान्तर :—

સંજય અર્હતર્ષિ કહે-મને મધુર રસ અને સુંદર મોજીલા મંઝિલોમાં રસ નથી, જ્યાં સંજય વનમાં વસતા મૃગોને મારે છે.

हिंसा के द्वारा भी थोड़ी देर के लिये मनुष्य भौतिक सुख के प्रसाधन प्राप्त कर सकता है। किन्तु उनके द्वारा सच्ची शान्ति नहीं पा सकना। अपने छोटे जीवन के लिये वह प्राणियों का हिंसा करता है। इस जीभ के लिए हजारों प्राणियों का खून बहता है। सुन्दर निवास प्राप्त करने के लिये भी वह हिंसा करता है, किन्तु वे हिंसा जन्य प्रसाधन उसे चैन से रहने नहीं देते। उसकी मानसिक शांति समाप्त हो जाती है। फिर आध्यात्मिक शान्ति तो उसके बहुत दूर है।

संजय अर्हतर्षि कह रहे हैं-मुझे उन सुन्दर सरस पदार्थों और सुन्दर निवास स्थानों से कोई प्रयोजन नहीं है, जहां कि संजय काननवासी मृगों को मारने के लिये लाता है।

यह संजय कौन है?। पहले संजय अर्हतर्षि है, दूसरा मृगों की शिकार करनेवाला संजय है। दोनों एक ही हैं या भिन्न?। ऐसा लगता है दोनों एक ही होने चाहिये। अर्हतर्षि अपने पूर्व जीवन की स्मृति कर रहे हैं। उन मधुर आस्वादनों के लिये और सुन्दर भवनों के लिये मेरे मनमें अब कोई रस नहीं रह गया है, जिनके लिये मैंने मृगों की हिंसा की थी। उन्हें अपने हिंसात्मक कृत्यों के लिये मार्मिक वेदना हो रही है।

यह मृग वध के लिये जानेवाला संजय उत्तराध्ययन सूत्र के कम्पिल नरेश संजय से मिलता है। वह भी मृगया के शौकिन हैं। वन में एक मृग को बाणों से वींध देता है। किन्तु जब आहत मृग मुनि गर्गभालि के निकट जाकर गिरता है। उधर अश्वारूढ राजा भी वहां आता है और सोचता है-मैंने आसक्त होकर ऋषि के मृग का वध कर दिया है। ध्यानस्थ मुनि जब उसे स्वागत नहीं देते हैं तब राजा और भयभीत हो जाता है और उसने क्षमा प्रार्थना करता है, तब मुनि कहते तुम अभय हो और स्वयं अभयदाता बनो। उसके अहिंसा और अनित्यता भरे उपदेश से वह भी राज्य को छोडकर प्रव्रजित हो जाता[1] है।

दोनों संजय ऋषि एक हैं या भिन्न यह तो कहा नहीं जा सकता, किन्तु दोनों में साम्य अवश्य है।

टीकाः—**भद्रकै रसैर्भद्रकेन च संवासेन लौकिकजीवितेन नास्ति मे कार्यं; कीदृशेन संवासेन? यत्र संजयः काननवासिनो मृगान्** वधायोपनामयति=व्यापादयति इति संजयीयमध्ययनम्। गतार्थः।

एवं से सिद्धे बुद्धे०।

इति संजय अर्हतर्षि प्रोक्त
एकोनचत्वारिंशदध्ययनम्।

---

१. देखिये उत्तराध्ययन सूत्र अ० १८ गाथा १-१८.

दीवायण अर्हतर्षि प्रोक्त

चालीसवाँ अध्ययन

मानव का मन एक विराट् सागर है। जहां प्रतिक्षण सैंकडों लहरें उठती और विलीन होती हैं। उनकी रंगिनियों में मानव मन लुभा जाता है। मनुष्य अपने मन में सौ सौ सत् संकल्प करता है किन्तु इच्छाओं की लहरें उन्हें बहा ले जाती हैं। मानव विवश हो उन्हें देखता हो रह जाता है। वह सोचता है इच्छा की पूर्ति के बाद में संतुष्ट हो जाऊंगा किन्तु याद रखना होना हर इच्छा की पूर्ति अतृप्ति का नया द्वार खोलती है। एक इंग्लिश विचारक ने ठीक कहा है-The thirst of desire is never filled nor fully satisfied. इच्छाओं की प्यास कभी नहीं बुझती, न पूर्ण रूप से संतुष्ट ही होती है।-सिसरो.

इच्छाओं के संकेत पर चलनेवाले मानव की स्थिति वैसी है जैसी सागर की लहरों की गति के अनुरूप चलनेवाले नाविक की। पश्चिम के प्रसिद्ध विचारक शेक्सपियर ने कहा है यदि इच्छा ही घोडा बन जाती तो प्रत्येक मनुष्य घुडसवार होता। पर आज तो घोडा आदमी पर सवार है, फिर उसे चैन कैसे मिले ? इच्छाओं पर ब्रेक लगाने की कला सीखाना प्रस्तुत अध्ययन का विषय है।

इच्छमणिच्छं पुरा करेज्जा दीवायणेण अरहता इसिणा बुइतं-
इच्छा बहुविधा लोए जाए बद्धो किलिस्सति।
तम्हा इच्छमणिच्छाए जिणित्ता सुहमेधती ॥ १ ॥

अर्थ—दीवायन अर्हतर्षि बोले—(साधक) पहले इच्छा को अनिच्छा के रूप में बदले। लोक में अनेक प्रकार की इच्छाएं हैं। जिनसे बद्ध होकर आत्मा संक्लेश पाता है। साधक इच्छा को अनिच्छा से जीतकर सुख पाता है।

गुजराती भाषान्तर:—

દીવાયન અર્હતર્ષિ કહે છે કે પ્રથમ ઇચ્છાને અનિચ્છામાં બદલી નાખો, આ દુનિયામાં અનેક તરહની ઇચ્છાઓ છે જેને કારણે જીવ બદ્ધ થઇને દુઃખ પામે છે. જો સાધક અનિચ્છાદ્વારા ઇચ્છાને જીતી જાય તો સુખ પામી શકે.

इच्छाएं मानव के मन पर शासन करती हैं। इच्छाओं से शासित व्यक्ति अपनी सच्ची आजादी को खो बैठता है। यद्यपि बहार से वह स्वतंत्र दिखाई देता है फिर भी गहराई में उतर कर देखें तो ज्ञात होगा, वह आशा और इच्छाओं के धागों से बन्धा है। वे धागे जितने सूक्ष्म हैं उतने मजबूत हैं।

एक संस्कृत के कवि ने सुन्दर चुटकी लेते हुए कहा है—आशा नामक एक विचित्र शृंखला है जिससे बद्ध प्राणी दौडता है और उससे मुक्त पंगुवत् स्थिर रहता है[१]। एक विचारक ने ठीक ही कहा है—Desire is burning fire, he who falls into it never rises again.

इच्छा जलती हुई आग है। उसमें गिरा हुआ कभी उठता नहीं है।—"जेम्स ऑफ इस्लाम"-चम्पतराय

टीका:—पुरा अचिरादेव प्रव्रजितः सन् साधुरिच्छां यदि वा पुरा प्रव्रज्यायाः पुरस्तादिच्छाभिलाषवाननिच्छां कुर्यादात्मसंतोषमंगीकुर्यात्। इच्छा बहुविधा भवति लोके यथा बद्धः विनश्यति, तस्मादिच्छामनिच्छया जित्वा सुखमेधते।

पुरा अर्थात् शीघ्र दीक्षित हुआ मुनि इच्छा को अनिच्छा से जीते अथवा पुरा अर्थात् चरित्र ग्रहण के पूर्व साधक के मन में जो अभिलाषाएं थीं उन्हें समाप्त कर दे और आत्म-संतोष को प्राप्त करे। शेषार्थ ऊपरवत् है।

इच्छाभिभूया न जाणंति मातरं पितरं गुरुं।
अधिक्खिवंति साधू य रायाणो देवयाणि य ॥ २ ॥

अर्थ—इच्छाभिभूत व्यक्ति न माता को जानते हैं न पिता को, और गुरु को ही वे साधु राजा और देवता को तिरस्कृत कर सकते हैं।

---

१ आशा नाम मनुष्याणां काचिदाश्चर्यशृंखला। यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पंगुवत्॥

गुजराती भाषान्तर :—

ઇચ્છાથી પરાજય પામેલી વ્યક્તિ ન માતાને કે પિતાને જાણતા નથી, અને ગુરુને જ સાધુનો, રાજાનો અને દેવતાનો તિરસ્કાર કરે છે.

इच्छा का गुलाम अपनी इच्छा को ही सर्वोपरि मान देता है। उसकी इच्छापूर्ति के मार्ग में कोई अवरोधक बनकर आता है तो उसे अपमानित करने में जरा भी नहीं हिचकिचाता। फिर भले वे माता पिता हो या गुरु के पद पर हो। वह साधु राजा और देवता तक को भी कुछ नहीं समझता।

टिप्पणी—मिलाइये प्रस्तुत सूत्र के ३६ वें अध्याय की १४ वीं गाथा से केवल प्रारंभ के एक ही शब्द का भेद है।

इच्छामूलं नियच्छंति धणहाणिं बंधणाणि य।
पियविप्पओगे य बहू जम्माइं मरणाणि य ॥ ३ ॥

अर्थ—इच्छा के मूल में धनहानि और बन्धन रहे हुए हैं। साथ ही प्रिय विप्रयोग और बहुत से जन्म और मृत्यु भी हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

ઇચ્છાનું જડ દ્રવ્યનાશ અને બંધનમાં જ છે, અને તેને સાથે પ્રિયવ્યક્તિનો વિયોગ અને ઘણા જ જન્મ-મૃત્યુના ફેરા પણ છે.

मनुष्य ने सुख की एक व्याख्या की है। इच्छापूर्तिजन्य सुख। मन में किसी प्रकार की इच्छा पैदा हुई और उसकी पूर्ति के साधन उपलब्ध हो जाते हैं तब मानव बोल उठता है "मैं सुखी हूं"। किन्तु इच्छापूर्ति सुख नहीं, सुखाभास है। सुख नहीं सुख के स्थान पर दुःख बन्धन और क्लेशों की विशाल परम्परा है खड़ी मिलेगी। रावण भी तो सुख प्राप्ति के लिये सीता को ले गया था। कीचक और जरासन्ध भी तो सुख प्राप्ति के लिये गये थे। क्या पाया उन्होंने ? आखिर दुःख क्लेश और घृणा और तिरस्कार ही उन्हें मिला है। क्या अच्छा होता यदि वे अपनी बुरी इच्छाओं को ऊगने के साथ ही कुचल देते ! । पश्चिमी विचारक फ्रेंकलिनेन ठीक ही कहा है बाद में उत्पन्न होनेवाली सारी इच्छाओं की पूर्ति करने की अपेक्षा पहली इच्छा का दमन कर देना कहीं अधिक सरल और श्रेयस्कर है।

टि०—प्रस्तुत गाथा भी क्रोध के शब्द भेद के साथ ३६ वें अध्ययन में यथावत् मिलती है।

इच्छंते इच्छते इच्छा अणिच्छं तं पि इच्छति।
तम्हा इच्छामणिच्छाए जिणित्ता सुहमेहती ॥ ४ ॥

अर्थ—इच्छा अपने चाहनेवाले को नहीं चाहती, किन्तु इच्छा रहित को चाहती है। अतः इच्छा को अनिच्छा से जीतकर सुख प्राप्त होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

ઇચ્છા, પોતાને ચાહનાર માણસને ચાહતી નથી, પરંતુ જે માણસને ઇચ્છા નથી તેને જ ચાહે છે. માટે ઇચ્છાને અનિચ્છાથી જીતીને જ સુખ મેળવી શકાય છે.

इच्छा का एक अनोखा स्वभाव है वह उसे नहीं चाहती जो इच्छा के गुलाम है। गुलामों से भी कभी प्रेम किया जाता है ? और यह भी देखा गया है हर व्यक्ति की इच्छाएं भिन्न होती हैं। कभी यह भी होता है जिसे हम चाहते हैं। वह हमें नहीं चाहता और जो हमें चाहता है हम उससे नफरत करते हैं। यही तो मानव की विवशता है।

दूसरी ओर उसकी इच्छाएं सदैव अतृप्त रहती हैं। स्वामी विवेकानंद ने कहा है "कामना सागर की भांति अतृप्त है। ज्यों ज्यों हम उसकी आवश्यकता पूर्ति करते हैं त्यों त्यों उसका कोलाहल बढ़ता है।" अतः साधक इच्छाओं को अनिच्छा से जीते। तभी वह शान्ति पा सकता है। कर्मयोगी श्रीकृष्ण भी कहते हैं-जो पुरुष संपूर्ण कामनाओं को छोड़कर निःस्पृह हो जाता है तथा ममता और अहंकार को छोड़ देता है वही शान्ति पाता है[1]। एक इंग्लिश विचारक भी कहता है- In moderating, not is satifying desires lies peace. इच्छाओं की शान्त करने से नहीं; अपितु उन्हें परिमित करने से शान्ति प्राप्त होती है।

---

१ विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति। गीता.

टीकाः—इच्छतेच्छा वांछेध्यते अनिच्छन्नपि तामिच्छति तस्मादित्यादि पूर्ववत्। गतार्थः।

दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ जहा-थामं जहा
बलं जधाविरियं अणिगूहंतो आलोएज्जासित्ति ॥ ५ ॥

अर्थ—साधक द्रव्यक्षेत्र काल भाव और अपने धैर्यबल शक्ति को न छिपाकर आलोचना करे।

गुजराती भाषांतर :—

સાધકે ધન, ક્ષેત્ર, કાલ, ભાવ અને પોતાની ધીરજશક્તિને ન સંતાડતાં સમાલોચન કરવું જોઇએ,

साधक द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को देखता हुआ चले। अपने आपको तोलना भी सर्वप्रथम आवश्यक है। पहली धृति साहस और बल को देखकर ही साधना के क्षेत्र में कदम रखना उचित है। अन्यथा पीछेहठ करने का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। साथ ही गाथा के उत्तरार्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है यदि साधक में शक्ति है तो उसका संगोपन न करे। शक्ति होते हुए उसका उपयोग न करना एक प्रकार का परिग्रह है। दूसरे शब्दों में चोरी भी है। जैसे शक्ति होते हुए डुबते हुए को न बचाना पाप है तो शक्ति हुए साधन के क्षेत्र में कदम न बढाना भी पाप है।

टीकाः—हे साधो ! द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतो यथास्थाम यथाबलं यथावीर्यमनिग्रहन्नालोचयेरिति ब्रवीमि।

एवं से सिद्धे बुद्धे० ॥ णो पुण रवि इच्चत्थ हव्वमागच्छति ॥ त्ति बेमि। गतार्थः ॥

इति द्वैपायन अर्हतर्षिप्रोक्तम्

चत्वारिंशदध्ययनम्
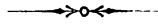
इन्द्रनाग अर्हतर्षि प्रोक्त

एकचालीसवाँ अध्ययन

कुछ आत्माएं बहिर्दृष्टि लेकर चलती हैं। वे केवल वर्तमान सुख को ही देखती हैं, किन्तु उसके पीछे आनेवाली दुःख की परम्परा को नहीं देखती। मछली केवल अपने ग्रास को देखती है, किन्तु उसके पीछे छुपे कांटे को नही। यहीं बहिर्दृष्टि मिथ्या हो जाती है। वह मानव को देहाभ्यास में उलझाये रखती है, किन्तु देह से ऊपर उठकर देहातीत को देखने नहीं देती। जबकि अन्तर्दृष्टि आत्मा को बाहर से हटाकर अन्तर को देखने की प्रेरणा देती है। वह शरीर के नहीं आत्मा के सौन्दर्य को निरखने की प्रेरणा देती है। वह नश्वर से हटकर अनश्वर से प्रेम करने की पवित्र देशना प्रस्तुत अध्ययन का प्रमुख विषय है।

जेसिं आजीवतो अप्पा णराणं बलदंसणं।
तवं ते आमिसं किच्चा जणा संणिचते जणं ॥ १ ॥

अर्थ—जो आत्माएं अपनी आजीविका के लिये प्रदर्शन करती हैं। वे तप दूषित करके मनुष्यों को एकत्रित करते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

જે જીવો પોતાની ગુજરાણ માટે પોતાના સામર્થ્યનું પ્રદર્શન કરાવે છે તે પોતાની તપશ્ચર્યાને નકામી બનાવી આમ જનતાએ ખ્યાલ (પોતાની તરફ) ખેંચી લઈ શકે છે.

तप आत्मशोधन का एक पवित्रतम प्रसाधन है। कोयले की कालिमा को साबुन नहीं धो सकता, उसे तो आग की ज्वाला ही उज्ज्वल बना सकती है। इसी प्रकार सुख सुविधाओं के प्रसाधन आत्मा की कर्मजन्य कालिमा को धो नहीं सकता, किन्तु यह तपस्तेज में ही शक्ति है जो आत्मा को उज्ज्वल बना सकता है।

तप का उद्देश्य आत्म-शोधन ही होना चाहिए। यश और प्रतिष्ठा की कामना या भौतिक की चाह तपःसाधना को दूषित करती है। इस रूप में साधक अपनी शक्ति को मिट्टी के मोल बेच देता है। इसे जैन आगमों में निदान तप कहा गया है। यहां उससे दूर रहने की प्रेरणा दी गई है। जो तप को आजीविका का साधन बनाते हैं वे अपने बल का प्रदर्शन करते हैं; इसके द्वारा वे जन संग्रह कर सकते हैं। बाहिरी जनता के दिल पर वे अपने तप की छाप अंकित कर दें, किन्तु वे अपने तप की सही शक्ति को नहीं पा सकते।

टीकाः—येषामात्मारूपमाजीवाद्धेतोर्नराणां बलदर्शनं तपोबल-दर्शनाय भवति, ये आजीवनार्थमात्मनस्तपोबलं नरान् दर्शयन्ति, ते जनाः स्वतप आमिषं कृत्वा जनं संचीयन्ते मेलयन्ति। गतार्थः।

विक्कीतं तेसि सुकडं तु तं च णिस्साए जीवियं।
कम्मचेट्ठा अजाता वा जाणिज्जा ममका सढा ॥ २ ॥

अर्थ--उनका (कामनासहित तप करनेवालों का) सुकृत मानो खरीदा हुआ होता है। और उस सुकृत पर आधारित उनका जीवन भी मानो बिका हुआ है। उनकी क्रियाएं अनार्यवत् होती हैं; वे ममत्वशील और शठ होते हैं।

गुजराती भाषांतर :—

જે માણસો પોતાની અમુક કામના પૂર્ણ થવા માટે તપ કરે છે, તેઓનું પુણ્ય તો બીજાએ ખરીદી લીધું છે એમ સમજવું. અને તે સુકૃત ઉપર આધાર મુકી રહેલ માણસોની જીંદગી તો ખરેખર વેંચી નાખેલી જ ગણાય. તેઓના કામો અનાર્ય માણસ જેવા જ થાય છે. તે માણસોનો સ્વભાવ સ્વાર્થી અને કપટી હોય છે.

जो साधक किसी फलेच्छा को लेकर काम करता है वह मानो अपनी साधना को बेच डालता है। गृहिणी दिनभर काम करती है, किन्तु कभी वह अपने श्रम का मूल्य नहीं चाहती; जबकि दासी आठ घंटे काम करके मूल्य मांगती है। परिणाम में एक घर की स्वामिनी बनती है; जबकि दूसरी को केवल मजदूरी के बारह आने मात्र मिल पाते हैं। साधक फलासक्ति को अपनी साधना के बीच न आने दे; अन्यथा फल की उधेडबुन में वह लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाएगा। फलासक्ति तो मोक्ष की भी नहीं होनी चाहिए। साधक बनने की कामना की तो अगले जीवन में साधक बन सकेंगे, किन्तु सिद्धत्व नहीं पा सकते।

महात्मा बनने का संकल्प किया तो महात्मा बन सकेंगे, किन्तु परमात्म-तत्व दूर रह जाएगा। इसलिए गीता कहती है:—"कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फल की ओर न जाओ"[1]। एक इंग्लिश विचारक भी बोलता है–Thy business is with the action only never with its fruits, so let not the fruit of action be thy motive nor be thou to in action attached. तुम्हारा प्रयत्न केवल कार्य के लिये होना चाहिये, उसके फल के लिये कभी नहीं, कार्य के फल को तुम अपना लक्ष्य न बनने दो।

यहां फलासक्त व्यक्ति का जीवन बताया गया है उसके जीवन की मस्ती छिन जाती है। उसकी साधना बिकी हुई है। ऐसा व्यक्ति फल पाने की जल्दी में साधन का विवेक भी खो सकता है। अतः अर्हतर्षि साधक को फलासक्ति से दूर रहने की प्रेरणा देते हैं।

टीका:—तेषां सुकृतं तपो विक्रीतं भवति। तच्च सुकृतमाश्रित्य जीवितं। विक्रीतं कर्मचेष्टा व्यापारवन्तो जना अजात्याऽनार्या वा मामकाः शठा भवन्ति, एतादृशांस्ताञ्जानीयात्। गतार्थः।

गलुच्छिन्ना असोते वा मच्छा पावंति वेयणं।
अणागतमपस्संता पच्छा सोयंति दुम्मती ॥ ३ ॥

अर्थ—अस्रोत (निर्जल स्थल) में अथवा कंठ छिदा हुआ मत्स्य वेदना को प्राप्त करता है। इसी प्रकार अनागत (भविष्य) को न देखनेवाला दुर्मति बाद में शोक करता है।

गुजराती भाषांतर:—

જેવી રીતે ખુરાકની આશાથી અસ્રોત (=નિર્જલ એટલે પાણી જ્યાં ન હોય તે જગ્યા) માં ગયેલી માછળીને કે ગળું કપાયેલ માછળીને ઘણું જ દુ:ખ થાય છે, તેવી જ રીતે મોહરૂપી મલ્લે ઉંચે ફેંકેલો પ્રાણી ભાવી કાળનો ખ્યાલ ન કરી ચાલુ સુખમાં મગ્ન બની અંતે દુ:ખી થાય છે.

केवल वर्तमान सुख को देखनेवाला मानव उस मछली जैसा है जो मांस की आशा में जलस्रोत से बाहर आजाती है अथवा मांस के प्रलोभन में फंसकर केवल मांस को देखती है, उसके पीछे छिपे कांटे को नहीं देखती। परिणाम में वह अपना कंठ छिदवा लेती है। सीमित बुद्धिवाले प्राणी परिणाम की ओर दृष्टि नहीं डालते। असंज्ञी भी केवल वर्तमान सुखापेक्षी होता है। इसी प्रकार बहुत-सी आत्माएं तात्कालिक लाभ के पीछे बहुत बड़ी हानि को निमंत्रण दे देती हैं।

टीका:—यथोच्छिन्नगला अस्रोतसि शुष्कस्थले वा मत्स्या वेदनां प्राप्नुवन्ति तथाऽनागतमपश्यन्तो दुर्मतयः पश्चाच्छोचन्ते। गतार्थः।

मच्छा व झीणपाणिया कंकाणं घासमागता।
पच्चुप्पण्णरसे गिद्धो मोहमल्लपणोल्लिया ॥ ४ ॥

अर्थ—जैसे मत्स्य पानी से रहित ही कंकास के घास में फँस जाती है। इसी प्रकार मोह रूप मल्ल से उद्वेलित प्राणी केवल वर्तमान के सुख में गृद्ध होते हैं।

गुजराती भाषांतर:—

જેમ માછળી અમુક લોભને કારણે પાણીરહિત જગ્યામાં આવી ઘાસ કે કાંકરામાં ફસાઈ મુસીબતનો ભોગ બને છે તેવી જ રીતે વિષયના મોહમાં આસક્ત થયેલો પ્રાણી વર્તમાન સુખમાં જ ઘેલો બની બેસે છે (ને તેના માઠા પરિણામને ભુલી જાય છે).

अपने खुराक के पीछे दौडनेवाली मछली पानी से बाहर आकर समुद्र के तटवर्ती कंकास घास में फंस जाती है और तडप तडप कर प्राण छोड देती है। इसी प्रकार मोह से उद्वेलित आत्मा वर्तमान रस में आसक्त होकर दुःखी होता है। पूर्व अध्ययनों में वर्तमान सुख के लिये मछली का उदाहरण अनेक बार आ चुका है।

टीका:—मत्स्या यथा क्षीणपानीयाः कंकानां घासमागता इति श्लोकार्धं पूर्वगतेन वा संबन्धनीयं, लेखकदोषेण वा गलितमुत्तरार्धं। प्रत्युत्पन्नरसे गृद्धा मोहमल्लप्रणुन्ना दृसां बलवतीमुत्कंठां प्राप्नुवन्ती वारिमध्ये वारण इव।

---

१ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन-गीता.

अर्थात् जैसे पानी रहित मत्स्य कंक घास में आजाती है यह श्लोकार्ध पहिले के श्लोक से सम्बन्ध रखता है। लेखक के दोष से उत्तरार्ध नष्ट हो गया है। वर्तमान के रस में गृद्ध बने हुए प्राणी मोह रूप मल्ल से उद्वेलित होते हैं और पानी में रहे हुए हस्ति की भांति दप्त अर्थात् बलवती उत्कंठा को प्राप्त करते हैं।

चतुर्थ गाथा का उत्तरार्ध, पंचम गाथा का पूर्वार्ध है। यह गाथा अविकल रूप में पन्द्रहवें अध्ययन के बारहवें क्रम में स्थित है।

दित्तं पावंति उक्कंठं वारिमज्झे व वारणा।
आहारमेत्तसंबद्धा कज्जाकज्जणिमिल्लिता ॥ ५ ॥

अर्थ—जैसे पानी में रहा हुआ हस्ति उत्कृष्ट दप्ति को अथवा दैन्य को प्राप्त करता है वैसे ही आहार मात्र से सम्बन्ध रखनेवाला कार्याकार्य से आंखें मूंद लेता है।

गुजराती भाषांतर :—

જેમ પાણીમાં રહેલો હાથી મદમસ્ત બને છે અને ત્યાં જ અવિવેકથી આસક્ત બની પોતાની સ્વતંત્રતા ગુમાવી બેસે છે, તેમ ઐહિક વિષયમાં આસક્ત બનેલો માણસ પોતાની વિવેકશક્તિને ગુમાવી પરતંત્ર બની જાય છે.

वर्तमान भोगों की आसक्ति में फंसा हुआ व्यक्ति सचमुच दयनीय है। वह अपनी स्वतंत्रता को खो बैठता है। हाथी पानी में रहता है तो बडा भारी मद को प्राप्त करता है। इसी प्रकार भोगों के बीच फंसा हुआ अधिकाधिक दर्प का अनुभव करता है। केवल आहार पर ही उसकी दृष्टि होती है, किन्तु भोजन के साथ विवेक भी आवश्यक हैं, इस तथ्य से वह आंख मूंद लेता हैं। देह के साथ भोजन का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, किन्तु वह भी कार्याकार्य का विवेक चाहता हैं। हमारा भोजन शुभ के द्वार से आना चाहिए।

दूसरी ओर भोजन हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। मानव रोटी दाल का यंत्र मात्र नहीं है, वह उससे ऊपर उठकर भी सोचता हैं। कुछ व्यक्ति भले भोजन के लिये जीते हों किन्तु विचारशीलों के लिये यह बात नहीं है। इंग्लिश विचारक कहता है:-Eat to live and don't live to eat. जीने के लिये खाओ खाने के लिये न जीओ। भोजन को तुम खाओ, किन्तु कहीं ऐसा न हो भोजन तुम्हें खाजाए। इसके मोह में पड़कर डबल खा गये और अगले दिन बिस्तर पकड़ने का समय आ गया, तो समझना होगा भोजन हमने नहीं खाया, भोजन हमें खा गया है। भोजन ही नहीं; कोई भी कार्य हो कार्याकार्य का विवेक हम न खोएं।

प्रस्तुत गाथा की दूसरी यह भी व्याख्या हो सकती है कि हाथी एक बलवान् प्राणी है, किन्तु जलधारा में फंसकर वह दीन दुर्बल बन जाता है। क्योंकि वह तट को देखकर भी वहां तक पहुंच नहीं सकता। ऐसे ही भोगासक्त प्राणी आत्म-शान्ति के पथ को देखकर भी वहां तक पहुंचने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं।

चक्रवर्ती सम्राट ब्रह्मदत्त महामुनि चित्त के अध्यात्म संदेश के उत्तर में यही तो कहता है कीचड में फंसा गजराज तट को देखकर भी वहां तक जाने में असमर्थ रहता है; ऐसे ही मैं भी अध्यात्म पथ को देखकर वहां तक पहुंचने में असमर्थ हूं[1]।

ऐसा लगता है यह चक्रवर्ती की नहीं कोई क्षयग्रस्त दुर्बल व्यक्ति की भाषा हो। यही मानव के पौरुष की पराजय है।

पक्खिणो घतकुंभे वा अवसा पावंति संखयं।
मधु पावेति दुर्बुद्धी पवातं से ण पस्सति ॥ ६ ॥

अर्थ—घी के घड़े में पड़ी हुई मक्षिका विवश हो मृत्यु को प्राप्त करती है। इसी प्रकार शहद के लिये वृक्षाग्रपर स्थित दुर्बुद्धि प्राणी सोचता है, मैं मधु प्राप्त करूंगा किन्तु वह यह नहीं देखता कि मैं गिर जाऊंगा।

गुजराती भाषांतर :—

જેમ ઘીના ઘડામાં પડેલી માખી પરાધીન થઈ મરણ પામે છે તેવી જ રીતે મધ મેળવા માટે ઝાડના ટોચપર ચઢી બેઠેલ મૂરખ પ્રાણી વિચાર કરે છે કે મને મધ મળશે, પણ એ વિચાર નથી કરતો કે હું નીચે પડી મરી જઈશ.

---

१ नागो जहा पंकजलावसन्नो दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ॥
— उत्तरा० अ० १३ गा० ३०

केवल वर्तमान सुख को देखनेवाले की विडम्बना के दो चित्र यहां दिये गये हैं। घी पाने की आशा से घी के घड़े में कूदनेवाली मक्षिका के भाग्य में केवल मौत का वारंट है। यही कहानी उस मानव की है जो मधु बिन्दु की आशा सें वृक्ष की अधकटी शाखा पर बैठा है; वह मधु बिन्दू देखता है, किन्तु नीचे अंध कूप में पतन को नहीं देखता। यदि कहा जाए कि मक्खी में बुद्धि कहां है तो बुद्धि का निधि कहे जानेवाला मानव भी यदि मधुबिन्दु को ही देखता है तो कहना होगा स्थूल रूप में भले उसने विकास किया है, किन्तु अन्तर दुनियां में वह मक्षिका से एक इंच भी आगे नहीं बढ़ा है।

टीकाः—आहारमात्रसंबद्धाः कार्याकार्येभ्यो निमीलितचक्षुषः पक्षिणां विहगाः घटकुंभ इवावशाः पाशेन संक्षयं प्राप्नुवन्ति। मधु प्राप्नोति दुर्बुद्धिः कथाप्रसिद्धः, प्रपातं तु स न पश्यतीति। श्लोकार्धं पूर्ववत्।

टीकाकार कुछ भिन्न मत रखते हैं:— दुर्बुद्धि व्यक्ति मधु को प्राप्त करता है। किन्तु प्रपात को नहीं देखता। यह कथा प्रसिद्ध है। श्लोकार्ध पूर्ववत् है।

आमीसत्थी झसो चेव मग्गते अप्पणा गलं।
आमीसत्थी चरित्तं तु जीवे हिंसति दुम्मती ॥ ७॥

अर्थ—मांसार्थी मत्स्य अपना आहार खोजता है। आमिषार्थी के चरित्रवत् दुर्मति व्यक्ति प्राणियों की हिंसा करता है।

गुजराती भाषांतर :—

માંસ ખાવા લોલુપ થએલ માછળી પોતાના ખુરાકને (સાથે ગળને) શોધે છે. માંસ ખાનારા માણસના ચરિત્રમુજબ મૂર્ખ પ્રાણી બીજા પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે.

मांसार्थी मत्स्य केवल मांस के टुकडे को देखता है, किन्तु उसके पीछे लगे कांटे को नहीं देखता। इसी प्रकार हिंसा-प्रिय मानव मत्स्य की कहानी को चरितार्थ करता हुआ प्राणिवध की ओर प्रेरित होता है, वह आरंभ के मिठास को देखता है पर उसके विपाक को नहीं देखता।

टीकाः—मांसार्थी झष आत्मना स्वैरं गलं बडिशं मार्गति, दुर्मतिस्त्वामिषार्थी जीवः पुरुषो वा जीविते सम्यक् चरित्रं हिनस्ति।

टीकार्थ :—मांसार्थी मत्स्य स्वयं ही अपना शिकार खोजता है। ऐसे दुर्बुद्धि मांसार्थी प्राणी जीवन के लिये सम्यक् चरित्र की हिंसा करते हैं।

अणग्घेयं मणिं मोत्तुं सुत्तमत्ताभिनंदती।
सव्वण्णुसासणं मोत्तुं मोहादीएहिं हिंसती ॥ ८॥

अर्थ—अल्पबुद्धि व्यक्ति अमूल्य मणि को फेंककर केवल सूत से क्रीडा करता है। वैसे ही अज्ञानी आत्मा सर्वज्ञ के शासन छोडकर मोहशील पुरुषों के साथ हिंसा करता है।

गुजराती भाषांतर :—

જેમ અલ્પબુદ્ધિવાળો માણસ કીમતી રત્નને ફેંકી દઈ સૂતરના ધાગા સાથે રમે છે, તેમજ અજ્ઞાની જીવ સર્વજ્ઞનું શાસન છોડી દઈ વિષયના મોહમાં ડુબી ગએલ માણસો સાથે હિંસા (પાપનું આચરણ) કરે છે.

यदि वानर को हार दिया जाए जिसमें कि अमूल्य मणियां गूंथी हुई हैं, पर वह मूर्ख बन्दर मणि को फेंक देता है और सूत से खेलता है। यही कहानी मोहशील व्यक्तियों की है जो मणिवत् अमूल्य सर्वज्ञ के शासन को छोडकर मोह मोहित व्यक्तियों के साथ क्रीडा करते हैं। वह आत्म-साधना को भूलकर संसार साधना में लग जाता है। उसकी क्रिया उस बालक जैसी है-जो मिठाई के प्रलोभन में अपना बहुमूल्य आभूषण दे देता है। भोगों की तुच्छ लिप्सा में आत्मा के निज स्वभाव का त्याग करनेवाला उससे अधिक बुद्धिमान नहीं है।

टीकाः—अनर्घ्यं मणिं मुक्त्वा सूत्रेण गुणेन केवलेनाभिनन्दति दुर्मतिः, स सर्वज्ञशासनं मुक्त्वा मोहादिकैः कषायैः स्वचरित्रं हिनस्ति। गतार्थः।

सोअमत्तेण विसं गेज्झं जाणं तत्थेव जुंजती।
आजीवत्थं तवो मोत्तुं तप्पते विविहं बहुं ॥ ९॥

अर्थ—श्रोत्र मात्र से ही विष ग्राह्य है। यह जानकर भी अज्ञानी वहीं अपने आपको जोड़ता है। आजीवन के लिये तप को छोड़कर विविध तप करता है।

गुजराती भाषांतर :—

જહર (જે માણસનો જીવ લે છે તે)નો પરિચય અમે કાનથી સાંભળીએ છીએ; પણ જે અજ્ઞાની માણસ એમ સમજીને પણ તેને (પ્રાશન કરી) લઈ લે છે, તે માણસ જ્ઞાની નહી કહેવાય. મૌજેલી જીંદગી માટે તપનો ત્યાગ કરી અને બીજા અનેક પ્રકારનું તપ કરવા શરુ કરે છે.

विष का नाम ठीक है, किन्तु उसका पान बुरा है। यह सुनकर भी जो विष का सेवन करता है तो समझना है उसने जानकारी प्राप्त की है किन्तु वह ज्ञानी है ऐसा नहीं कहा जा सकता। ज्ञान और जानकारी में बहुत बड़ा अन्तर होता है। ज्ञान भीतरी होता है, जानकारी ऊपरी मात्र। ज्ञान होने के बाद आत्मा बुरी वृत्तियों से अलग हट जाता है। जबकि जानकारी के लिये ऐसा नियम नहीं है। आगमवाणी है ज्ञान का फल विरक्ति है[1]। जिसने केवल कानों से ही नहीं हृदय से भी सुना है वह अपने आपको साधना में जोड़ देता है, फिर उसका तप आजीविका के लिये नहीं आत्मशुद्धि के लिये होता है। यह विविध प्रकार की तपःसाधना के द्वारा आत्मा को शुद्ध करता है। अग्नि सोने को शुद्ध करती है, ऐसे ही तप आत्मा को शुद्ध करता है।

टीका :—श्रोत्रमात्रेण न तु मुखेन ग्राह्यं विषं जातन्न एव तत्रैव श्रोत्रेणैव युनक्ति गृह्णाति, आजीवार्थः तपो मुक्त्वा संत्यज्य विविधं बहुप्रकारेण तप्यति। तप आश्रित्य जीवंस्तप आजीवेन जीवति। गतार्थः।

तवणिस्साए जीवंतो तवाजीवं तु जीवती।
णाणमेवोवजीवंतो चरित्तं करणं तहा ॥ १० ॥

अर्थ—तप का आश्रय करके जीनेवाला तपोजीवन को जीता है। कोई ज्ञान से जीवन पाते हैं। कुछ चरण करण रूप चारित्र क्रिया को उपजीवन बनाते हैं।

गुजराती भाषांतर :—

તપનો આશ્રય કરી જીવનાર માણસ તપોજીવનને જીતે છે. કેટલાક લોકો જ્ઞાનથી જ જીવન પામે છે. કેટલાક તો ચરણકરણરૂપી ચારિત્રક્રિયા ઉપરજ ગુજરણ ચલાવે છે.

साधना की दो श्रेणियां हैं। एक ज्ञान और दूसरी तप। कुछ साधक साधना में केवल तप को सर्वोपरि स्थान देते हैं। इसीलिये वे अहर्निश तपःसाधना में रत रहते हैं। वे देखते हैं तप के द्वारा ही हमारी आत्मशुद्धि है, परन्तु आत्मा क्या है, उसकी अशुद्ध दशा क्यों है? शुद्ध स्थिति कैसे संभव है? इसका ज्ञान उन्हें नहीं है। वे साधना के क्षेत्र में दौडना जानते हैं, दौड भी रहे हैं, न उन्हें लक्ष्य का पता है न राह की पहचान है। दूसरे साधक ज्ञान की मशाल लिये हुए आगे बढते हैं। उनकी साधना में ज्ञान का प्रकाश है वे सही लक्ष्य को जानते हैं।

यहां जिस ज्ञान साधना का उल्लेख है वह केवल ज्ञानवादियों की क्रिया शून्य ज्ञान साधना है, जिन्हें क्रिया से इन्कार है। उसका मस्तिष्क चलता है पर पैर नहीं चलते। वे केवल वाणी विलास मात्र से अपने मन को संतोष देते हैं[2]।

पर सम्यक् ज्ञान संपन्न साधक ज्ञान के साथ चारित्र को भी उपजीवन के तौर पर स्वीकार करता है। उसका स्वर है-

पढमं नाणं तपो दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किंवा काही किंवा नहिह संजमं ॥ —दशवै. अ० ४

ज्ञान की मशाल हाथ में है तो उसके प्रकाश में अहिंसा का अनुपालन भी संभव है, जिसे ज्ञान नहीं है तो वह क्या करेगा?। जिसने साधना पथ को पहचाना नहीं है वह उसपर कदम कैसे बढाएगा।

टि. मूलगुण चरण हैं और सामति आदि उत्तर करण हैं।

टीकाः—यो ज्ञानमेवोपजीवति चरित्रं करणं लिंगं च जीवनार्थमुपजीवन्तं विशुद्धं जीवति। गतार्थः।

लिंगं च जीवणट्ठाए अविसुद्धं ति जीवति।
विज्जामंतोपदेसेहिं दूतिसंपेसणेहिं वा ॥ ११ ॥
भावी तवोवदेसेहिं अविसुद्धं ति जीवति।

अर्थ—जिन्होंने वेश को जीवन का साधना बनाया है वे अशुद्ध जीवन जीते हैं। विद्या और मंत्र के उपदेश एवं संदेश वाहिका को भेजना है। भावी तप या भवितव्य के उपदेश से जीना भी अशुद्ध जीवन है।

---

१ णाणस्स फलं विरतिः। २ वायावीरियमंत्तेण समासासेति अप्पयं-उत्तरा. अ. ६

गुजराती भाषान्तर :—

જેઓએ સાધુવેષનો ઉપયોગ સમાજમાં પ્રભુત્વ અને પોતાની જીવિકા મેળવવા અર્થે કરે છે તેઓ પોતાનું જીવન બગાડી નાખે છે એમ સમજવું. ભૌતિક જ્ઞાન અને મંત્રોપદેશ એ તો દૂતિકાર્ય (સંદેશ પોહોંચાડવાના કામ) જેવું છે. ભાવી તપ કે ભવિતવ્યનો ઉપદેશ કરી જીવવું નિંદ્ય (મુનિમર્યાદાને ન શોભે એવું) છે.

जनता के विश्वास के लिये लोक में मुनिवेश का विधान है, किन्तु जिन्होंने मुनिवेश को आजीविका का साधन बनाया है वे उस देश के प्रति वफादार नहीं है। जिसका लक्ष्य भटक चुका है, साधना का सही उद्देश्य जिसे पाना नहीं है वह अपनी साधना को बाजी पर लगा देता है। उसके द्वारा चंद चांदी के टुकडे एकत्रित करने में अपनी सफलता मान बेठता है। फिर वह कर्तव्या-कर्तव्य का विवेक भी खो देता है। वह मुनि कल्प के बाहर के तमाम कार्यों में रस लेता हैं।

भौतिक विद्या और मंत्र का उपदेश दूतिकार्य करना। भवितव्यता का उपदेश ये सभी मुनि-मर्यादा के बाहर हैं। इसलिए कि इनके द्वारा साधक आत्म-विद्या को भूलकर देहाध्यास में पड़ता हैं। जिसके पास साधना का सच्चा रस नहीं है फिर वह भौतिक विद्याओं के बल पर जन समाज में प्रभुत्व जमाना चाहता हैं। कुछ भावुक भक्त अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये उनके बहकावे में आ जाते हैं और जब के उनके द्वारा संपत्ति अर्जन में सफल होते हैं तो उसकी कुछ भेंट गुरु के चरणों पर भी चढ़ा देते हैं। इस प्रकार दोनों लोभ की दुनियां में भटक जाते हैं और संयम के सम्यक् पथ से बहुत दूर जा गिरते हैं।

ऐसा साधक कुछ देर के लिये भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल हो सकता है, किन्तु आत्मिक आनंद उसके पास नहीं है।

टीका :—विद्यामंत्रोपदेशैः दूतिसंप्रेषणैर्वा भाविभवोपदेशे चाविशुद्धिमति जीवति। गतार्थः।

मूलकोवुयकम्मेहिं भासापणाइएहिं या ॥ १२ ॥
अक्खाइओवदेसेहिं अविसुद्धं तु जीवति।
.... ॥ १३ ॥

अर्थ—कुछ भूल कौतुहल पूर्ण कर्मों के द्वारा, भाषा चातुर्य से आख्यायिका=अथवा अक्ष=पासे आदिक के उपदेश से जीनेवाला अशुद्ध जीवन जीता है।

गुजराती भाषान्तर :—

કેટલાક સાધુઓ સમાજમાં અજાયબી લાગે એવા કામોથી કે પોતાના વાક્ચાતુર્યથી અને એવા જ બીજા દુનિયાદારીના ઉપદેશ કરી નિષિદ્ધ જીવન જીવે છે.

प्रस्तुत अध्ययन आजीविका अध्ययन है। विभिन्न मानव जीवन-यापन के लिये विविध प्रसाधनों का उपयोग करते हैं। कोई शरीरबल को जीविका के साधन बनाते हैं। कुछ लोग तपजीवी होते हैं, वे तप के प्रदर्शन के द्वारा या कठोर तप के द्वारा जनता आतङ्कित करके अर्थप्राप्ति करते हैं। कुछ लोग साधुवेश का जीविका के साधन के रूप उपयोग करते हैं। विद्यामंत्रों उपदेश के द्वारा आवश्यकता पूर्ति करना भी आजीविका का साधन है। कोई ज्ञानजीवि है तो कोई क्रिया-जीवि तो कोई नियतिवाद के उपदेशक हैं।

भगवान् महावीर के युग में नियतिवाद का समर्थक एक दर्शक था; उसका नेतृत्व गौशाला के हाथों में था। भगवान महावीर ने उसे आजीवक पन्थ के नाम से घोषित किया था। क्योंकि वे नियतिवाद का आश्रय लेकर जीवनयापन करते थे।[1] किन्तु आजीविका के ये सभी प्रसाधन अशुद्ध हैं।

टीका :—मूलकर्मभिः कौतुककर्मभिः भाषया प्रणयिभिश्चाख्यायिकोपदेशैरविशुद्धमिति जीवति।

इंदनागेण अरहता इसिणा बुइतं—

मासे मासे य जो बालो कुसग्गेण आहारए।
ण से सुयक्खाय धम्मस्स अग्घगति सतिमं कलं ॥ १४ ॥

---

१ तेणं कालेणं तेणं समएणं गोसालए मंखलीपुत्ते चउवीसवासपरियाए कुंभकारिए कुंभकारावणंसि आजीवियसंघसंपरिवुडे आजीवियसमयेणं अप्पाणं भावे माणेविहरइ। -भगवतीसूत्र शतक १५.

अर्थः—इन्द्रनाग अर्हतर्षि ऐसा बोले—

जो अज्ञानी आत्मा महिने महिने में कुशाग्र मात्र भोजन करता है, किन्तु वह श्रुताख्यात शास्त्र निरूपित धर्म की सौवीं कला भी प्राप्त नहीं करता।

गुजराती भाषान्तर :—

ઈન્દ્રનાગ અર્હતર્ષિ એમ બોલ્યા :—

જે અજ્ઞાની માણસ હર મહિનામાં કુશાગ્રમાત્ર ભોજન કરે છે પણ તેને શ્રુતાખ્યાત શાસ્ત્રનિરૂપિત ધર્મની શતાંશ કલા પણ મળી શકતી નથી.

साधना का मूल प्राण है दृष्टि की विशुद्धि। साधना करते गये। कठोर साधना के द्वारा शरीर को सुख भी दिया परन्तु जब तक वृत्तियों पर विजय नहीं पाई तब तक वह साधना फल शून्य होगी। घाणी में जुता हुआ बेल भी दिन भर चलता है, सोचता है मैं आज लम्बी मंजिल तय कर चुका हूं नस नस ढीली हो गई है। सुबह से चल रहा हूं, पैरों ने जवाब दे दिया है, अवश्य आज पच्चीस कोस चल लिया होऊंगा, किन्तु जब पट्टी खुली देखा जहां से चले थे वहीं हैं एक इंच भी आगे नहीं बढे।

यही कहानी उन साधकों की है जो चलना जानते हैं, कठोर तप करते हैं शरीर सुखकर कांटा हो जाता है, किन्तु वे सोचते हैं हमारी साधना बहुत लम्बी चौड़ी है, हमने इतना त्याग किया है, इतने व्रत उपवास किये हैं, किन्तु जब विवेक दृष्टि का प्रकाश में देखा जाय तो ज्ञात होता है दुनियां की आंखों भले ऊंचे उठ चुके हैं किन्तु अध्यात्म के सही पथ पर अभी एक कदम भी आगे नहीं बढ़े।

विवेत्र दृष्टि के अभाव में कठोर तप केवल काया-कष्ट मात्र रह जाता है। महीने महीने के उपवास के पारणे के दिन कुशाग्र जितना भोजन करनेवाला साधक भी सम्यग्दर्शन के अभाव में श्रुताख्यात धर्म की साची कला भी प्राप्त नहीं कर सकता।

राजर्षि नमि ने देवेन्द्र को उत्तर देते हुए अज्ञान साधना की व्यर्थता दिखाते हुए जो विचार रखे थे वे यहां शब्दशः मिल जाते हैं; केवल इतना भेद है। वहां अज्ञान साधना को धर्म को सोलहवीं कला के तुल्य भी नहीं माना गया है, यहां सौवी कला से भी अल्प माना है।[१]

टीकाः—**यो बाल आजीवको मासे मासे कुशाग्रेणैवाहारमाहरति स स्वख्यातधर्मस्य न शततमां कलामर्हति। गतार्थः।**

माममं जाणउ कोयी माहं जाणामि कंचि वि।
ऊण्णातेणत्थ अण्णातं चरेज्जा समुदाणियं ॥ १५ ॥

अर्थः—कोई मुझे नहीं जाने और में किसी को नहीं जानूं। साधक अज्ञात के साथ अज्ञात होकर समाज में (भिक्षा के लिये) विचरे।

गुजराती भाषान्तर :—

કોઈ માણસ મને ઓળખે નહીં અને હું પણ કોઇને પિછાણું નહીં; સાધક (એજ પોતાનો પરિચય કર્યા વગર રીતે) અજ્ઞાત માણસ સાથે અજ્ઞાત બનીને (ભિક્ષા માટે) સમાજમાં ફરે.

साधक साधना के पर बल जिये। कुल गोत्र या अपने पिता के इतिहास पर जीवन न बिताए। साधक जन-संपर्क में आता है तब जब कभी कोई परिचय मांगता है तब वह अपने गोत्रादि से अपना परिचय देता है, तो गलती करता है। गोत्रादि बताकर भिक्षा भी न ले, अन्यथा साधक की यह भी आजीविका हो जाएगी। गोत्रादि के परिचय से संभवतः कोई उसका सगोत्री निकल आए और गोत्र-प्रेम को लेकर मुनि के लिये आहारादि बनाकर दे।

मुनि अपना परिचय क्या दे?। उसका परिचय वह स्वयं होता है। गृहस्थ दशा के परिचय पत्रों के आधार पर वह साधना के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकता। उनका उपयोग करने पर कदम कदम पर मोह उसे घेर लेगा। साधक की साधना बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी हो। उसकी पाचन क्रिया इतनी तेज हो कि वह साधना के रस को भी पचा जाए।

---

१ मासे मासे उजोबाले कुसग्गेणं तु भुंजए। न से सुयक्खायधम्मस्स कलं अग्घेइ सोलसिं॥ उत्तरा० अ० ६ गा० ४४

२ रागो य दोसो वि य कम्मबीयं कमं मोहप्पभवं वयन्ति।
कम्मं च जाई मरणस्स मूलं दुक्खं च जाई मरणं वयन्ति॥ उत्तरा० अ० ३२

साधना का रस पचाने की कला जानी थी भगवान महावीर ने । जब वे मुनि बनकर वन में घूम रहे थे उनसे पूछा जाता आप कोन हैं। तब उनका छोटा सा उत्तर होता"–मैं भिक्षु हूँ " । उनके पास अपने परिचय के इतिहास की कमी नहीं थी । वे बता सकते थे " में क्षत्रिय कुंड के राजा सिद्धार्थ का पुत्र हूँ ।" क्षत्रिय कुण्ड के वर्तमान राजा नन्दिवर्धन का मैं अनुज हूं। वे यह मी कह सकते थे फि वैशाली के राजा चेटक का मैं दोहित्र हूँ । आज वे गणनायक हैं, उनकी किस्मत सूर्य की भांति चमक रहा है । परिचय इतनी विस्तृत सामग्री होने पर भी उनका वही छोटा सा उत्तर होता था–'मैं भिक्षु हूँ' । यहां तक की गुप्तचर के अभियोग में वे एकबार बांध दिये गये । कुए में भी उत्तर दिये गये। फिर भी पूछा गया तुम कौन होता तब भी वही उत्तर था " मैं भिक्षु हूँ " । यदि वे कह देते कि मैं महाराजा सिद्धार्थ का राजकुमार हूँ, तो एक क्षण में बन्धन मुक्त हो सकते थे, पर उन्हें आत्मविज्ञापन नहीं करना था । साधना के रस को बाहर नहीं बिखेरना था ।

साधक जब भिक्षाचरी के लिये जाए तब स्वयं भी अज्ञात रहे । और न उन कुलों के विशेष परिचय में उतरे । उसे उनके इतिहास से मतलब नहीं है; वह देखे कि भोजन शुद्ध है या नहीं । शुद्ध विधिपूर्वक दिया गया शुद्ध आहार उसे ग्रहण करना है और इसी रूप में वह समुदाय में विचरे ।

टीकाः–परं तु मा मां कश्चित् जानातु मा चाहं कंचिज्जानामीत्यज्ञातेनाज्ञातमर्थसमुदानिकं भिक्षालब्धं चरेत्। गतार्थः ।

पंचवणीमगसुद्धं जो भिक्खं एसणाए एसेज्जा ।
तस्स सुलद्ध लाभा हणणादी विप्पमुक्कदोसस्स ॥ १६ ॥

अर्थः—जो साधक भिक्षु श्वान आदि पांच वनीपक से शुद्ध भिक्षा को एषणा विधि के साथ ग्रहण करता है । कर्म हनन के लिये भोजन करनेवाले अथवा निर्जीव भोजन करनेवाले दो रहित साधक के लिये लाभ सुलभ है ।

गुजराती भाषान्तर :—

જે સાધક કુત્રો વિગેરે પાંચ વનીપકોથી શુદ્ધ ભિક્ષાને એષણાવિધી સાથે સ્વીકાર કરે છે. કર્મનાશ માટે ભોજન કરનારા અગર નિર્જીવ ભોજન કરનારા એવા બે રહિત સાધકોને માટે લાભ અત્યંત સહેલો છે.

साधक पहले बताई हुई अशुद्ध आजीविकाओं को छोड़कर जीवन निर्वाह के लिये शुद्ध भोजन ग्रहण करे उसके लिये आत्मिक लाभ सुलभ है । प्रस्तुत गाथा में भोजन विधि की शुद्धि के लिये निर्देश दिया गया है । प्रस्तुत गाथा और आगे आनेवाली १७ वीं गाथा बारहवें अध्ययन की प्रथम द्वितीय गाथा के रूप में विस्तृत अर्थ के साथ आचुकी है ।

जहा कवोता य कविंजला य गावो चरंती इह पातडाओ ।
एवं मुणी गोयरियं चरेज्जा णो वील्वे णो विय संजलेज्जा ॥ १७ ॥

अर्थः—जैसे कपोत कपिंजल (जंगली कबूतर) और गायें अपने प्रातः भोजन के लिये जाती हैं, गोचरी के लिये गया हुआ मुनि उसी प्रकार जाए । न अधिक बोले और इच्छित आहार की प्राप्ति न होने पर मन में जले नहीं ।

गुजराती भाषान्तर :—

જેમ કપિંજલ (કબૂતર) અને ગાયો પોતાના સવારનો ખોરાક શોધવા કે મેળવા માટે સવારે નિકળે છે તેવી જ રીતે ગોચરી માટે ગયેલ સાધુએ પણ તેનું જ અનુકરણ કરવું જોઈએ. વધારે બોલવું નહી, અને મનગમતો આહાર ન મળવાને લીધે મનમાં જ સાધકે બળવું ન જોઇએ.

साधक भिक्षाचरी में शान्त मन से रहे । सरस पदार्थों का आकर्षण से उसे लुभाए नहीं और निरस पदार्थ उसके मन को उद्विग्न न करे । आगम में पाठ आता है असंभंतो अमुच्छिओ । असंभ्रान्त और अमूर्छित हो गोचरी करे ।

एवं से सिद्धे बुद्धे० । गतार्थः ।

इति इन्द्रनाग अर्हतर्षि प्रोक्त
एकचत्वारिंशत् अध्ययन

---

१ लाभालामे सुहे दुक्खे जीविअमरणे तहा ।
समो निन्दापसंसासु तहा माणावमाणवे । उत्तरा० अ० १९

सोम अर्हतर्षि प्रोक्त

बयालीसवाँ अध्ययन

बयालीस, तेंतालिस और चंवालीस ये तीनों अध्ययन केवल एक एक गाथा के हैं। संभव है काल के महाप्रवाह में अन्य गाथाएं लुप्त हो चुकीं हो और आज ये नामशेष रह गये हों। पर अभी हम यह नहीं कह सकते कि तीनों अध्ययन किस रूप में थे और प्रत्येक में कितनी गाथाएं थीं। आज तो हमें ऋजुसूत्र नय दृष्टि को मानते हुए इतने मात्र संतोष करना होगा। तीनों अध्ययन में क्रमशः सावद्यवृत्ति का त्याग, समत्व की उपासना और रागद्वेषविजय पर विचार मिलते हैं।

अप्पेण बहुमसेज्जा जेट्ठमज्झिमकण्णसं।
णिरवज्जे ठितस्स तु णो कप्पति पुणरवि सावज्जं सेवित्तए।
सोमेण अरहता इसिणा बुइतं।

अर्थः—साधक ज्येष्ठ मध्यम और कनिष्ठ किसी भी पद पर हो वह अल्प से अधिक प्राप्त करने की चेष्टा करे। निरवद्य में स्थित साधक को पुनः सावद्य सेवन कल्पना नहीं है। सोम अर्हतर्षि इस प्रकार बोले।

गुजराती भाषान्तर :—

સાધક ઉચ્ચ, મધ્યમ અગર કનિષ્ઠ એમાંથી કોઈ પણ પદ પર હોય તે વિચાર અને જ્ઞાન ક્ષેત્રમાં વધારે આગળ વધી વધુ સફળતા મેળવવાની કોશીશ કરતા રહે; નિરવદ્યમાં રહેલ સાધક સાવદ્યસેવનનો વિચાર પણ કરતા નથી, એમ સોમ અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

साधक किसी भी रूप में हो। वह चाहे आचार्य के रूप में हो, श्रुतधर के रूप में हो या लघु मुनि के रूप में क्यों न हो सदैव उसका एक मात्र प्रयत्न रहे कि वह अल्प से बहुत्व की ओर जाए। ज्ञान की अल्प किरण को विराट् रूप दे। विचार के क्षेत्र में वह आगे बढे। मैं और मेरे के क्षुद्र घेरे को तोडकर विराट बने। अपने निकटवर्ती साधको ही नहीं दूरवर्ती साधकों को भी अपना माने। संप्रदायोंकी दीवारों को समाप्त कर दूसरी संप्रदाय के मुनियों को स्नेह का माधुर्य प्रदान करे। संघ में सभी मुनियों का मनोबल समान नहीं हो सकता। कोई महीने तक तप करते हैं तो कोई प्रतिदिन भोजन करते हैं, कोई स्थूल आचार में दृढ होते हैं तो कोई बाह्य आचार का इतनी कट्टरता के साथ इतना विशाल हो कि वह सबको किन्तु संघ का नायक या श्रुतधर का विचार क्षेत्र इतना विशाल हो कि वह सबको लेकर चले। विचार की इसी विशालता को प्राप्त करने का साधक के मन में संकल्प हो।

भारतीय आचार्य जब अपने शिष्यों को विदा करते थे। तब विदाई संदेश में उनका यही आशीर्वचन होता था 'धर्मे ते धीयतां बुद्धिः मनस्ते महदस्तु च। 'शिष्य! किसी भी क्षेत्र में तुम जाओ, तुम्हारी बुद्धि धर्म के शासन में रहे। तुम अपने आपको न भूल जाओ और तुम्हारा मन विशाल हो। इतना विशाल हो कि उसमें तुम्हारे शत्रु का शत्रुत्व भी समा जाए।' इसी विशालता साधक को प्राप्त करना है।

साधना के क्षेत्र में साधक चारित्र की नन्ही चिनगारी विशाल कर्म समूह को क्षय करे और लघु जीवन से सिद्ध स्थिति के विराट संकल्प को पूर्ण करे। साधक जितने अंश में निरवद्य स्थिति को प्राप्त करता है उतने अंश में सम्यक् चरित्र की समाराधना करता है। अतः साधक सावद्य से निरवद्य की ओर जाए। निरवद्य से सावद्य की ओर आना पतन की दिशा है।

एवं से सिद्धे बुद्धे०। गतार्थः।

इति सोम अर्हतर्षि प्रोक्त

बयालीसवाँ अध्ययन

यम अर्हतर्षि प्रोक्त

तेंतालीसवाँ अध्ययन

लाभंमि जे ण सुमणो अलाभे णेव दुम्मणो ।
से हु सेट्ठे मणुस्साणं देवाणं सयक्कऊ ॥ १ ॥
जमेण अरहता इसिणा बुइतं ।

अर्थ—लाभ में जो सुमन (प्रसन्न) नहीं है और अलाभ में दुर्मन (अप्रसन्न) नहीं है। वही मनुष्यों में वैसा ही श्रेष्ठ है जैसा कि देवों में शतक्रतु (देवेंद्र) यम अर्हतर्षि ऐसा बोले।

गुजराती भाषान्तरः—

જે માણસ લાભ થયા પછી સંતુષ્ટ થતા નથી અને હાનિ થયા પછી નારાજ પણ ન થાય તે સાધક દેવોમાં શતક્રતુ (દેવેન્દ્ર) જેમ શ્રેષ્ઠ છે તેમજ તે સાધક માણસોમાં પણ શ્રેષ્ઠ છે એમ યમ અર્હતર્ષિએ કીધું.

जन सामान्य की मनः स्थिति कुछ इस ढंग की होती है कि इच्छित वस्तु की प्राप्ति होने पर आनंद की अनुभूति करता है और इच्छित वस्तु का अभाव उसके मन की प्रसन्नता छीन लेता है। किन्तु साधक की मनःस्थिति इससे सर्वथा भिन्न हो। अपने मन पर उसका इतना शासन हो कि प्रिय वस्तु उसके मन को हर्षित न कर सके, उसका वियोग उसकी मुस्कान छीन न सके। लाभ और अलाभ में जिसकी सम स्थिति रहती है वह मानव समाज में महा मानवता प्राप्त करता है। वह समाज में ऐसा शोभता है जैसा कि देवसभा में देवेन्द्र।

एवं से सिद्धे बुद्धे०। गतार्थः।

इति यम अर्हतर्षिप्रोक्त

त्रिचत्वारिंशदध्ययन।

वरुण अर्हतर्षि प्रोक्त

चँवालीसवाँ अध्ययन

दोहिं अगेहिं उप्पीलतेहिं आताजस्सण उप्पीलती
रागंगेय दोसेय सेहु सम्मं णियच्छति ॥ १ ॥
वरुणेण अरहता इसिणा वुइतं ।

अर्थः—राग और द्वेष की उत्पीड़ना से जिसकी आत्मा उत्पीड़ित नहीं होती, वही सम्यक् निश्चय करता है । ऐसा वरुण अर्हतर्षि ऐसा बोले ।

गुजराती भाषान्तर :—

રાગ અને દ્વેષની સંવેદનાથી જેનો આત્મા દુઃખી થતો નથી તે સાધક સારી રીતે નિશ્ચય કરે છે એમ વરુણ અર્હતર્ષિ બોલ્યા.

राग और द्वेष उत्पीड़नाओं की विषवेल के कटु फल हैं । दूसरा तो कटु हो ही पर पहले की कडवास भी कम नहीं है । वह मधुलिप्त विष है । रागी दोष नहीं देखता है और दोषी गुण नहीं देखता । जिसके प्रति रागदृष्टि है उसके सौ सौ दोष भी हमारी आँखें देखती नहीं है और जिसके प्रति द्वेष है उसके सौ गुण में से एक भी नहीं दिखाई देता । बीड़ी पीनेवाले को उसका एक भी दोष नहीं दिखाई, देता । सास को बहू का एक गुण नहीं दिखाई । देता । बेटी के हाथ का बुरा काम मां की दृष्टि में अच्छा है; जबकि बहू के अच्छे काम में भी वह कोई एब जरूर निकालेगी ।

राग और द्वेष से प्रेरित दृष्टि वस्तु के स्वरूप का सही मूल्यांकन नहीं कर सकती । इसीलिये कहा गया है जो राग और द्वेष से परे हैं वेही वस्तु का स्वरूप समझ सकते है । राग द्वेष से रहित बुद्धि ही ठीक निर्णय ले सकती है और वही निर्णय ठीक होता है जब कि हमारा मन स्वस्थ और शान्त होता है । इसीलिये एक इंग्लिश विचारक ने कहा है Never make a decision when you are down-hearted.

जब तुम खिन्न मन हो तब किसी प्रकार का निर्णय न लो । क्योंकि आवेश के क्षणों में लिया हुआ निर्णय ठीक नहीं होता । वस्तु के स्वरूप को समझने के लिये या सही निर्णय लेने के लिये हमें राग द्वेष रहित होना चाहिए ।

प्रभु महावीर ने कहा है—

'राग और द्वेष कर्म के बीज हैं । कर्म का जन्म मोह से होता है, क्योंकि मोह स्वयं भावकर्म है और भावकर्म द्रव्य-कर्मों का प्रवेश द्वार है । द्रव्यकर्म जन्म और मृत्यु की परम्परा के मूल हैं और दुःख क्या है ? जन्म और मृत्यु के ही तो दूसरा नाम हैं ।'

वीतराग आत्मा राग और द्वेष के पाश से मुक्त हैं । रागानुभूति की मोहक लहरें जिसकी आत्मदशा को स्वभाव स्थिति से विचलित नहीं कर सकती ।

एवं से सिद्धे बुद्धे० । गतार्थः ।

प्रोफेसर शुब्रिंग् लिखते हैं ४२ व ४९ अध्ययन में स्पष्टीकरण विना के प्रकरण हैं । बयालीसवाँ अध्ययन का प्रथम पद बताता है जो अल्प से बहुत्व की ओर जाता है वह ईश्वरीय रूप का आभास पाता है । वह व्यक्ति ग्रेवेयक की तीनों पदवियों भी प्राप्त कर सकता है ।

इति वरुण अर्हतर्षिप्रोक्त

चँवासलीसवाँ अध्ययन

वैश्रमण अर्हतर्षि प्रोक्त

पैंतालीसवाँ अध्ययन

दृष्टियां दो होती हैं। एक अन्तर्दृष्टि और दूसरी बहिर्दृष्टि। अन्तर्दृष्टि साधक आत्मिक सुख की परिधि को मानकर चलता है। बहिर्दृष्टि मानव बाहर के सुख को प्रमुख मानकर चलता है। अन्तर्द्रष्टा साधक के हृदय में बाहरी पदार्थों के मोह में आसक्ति नहीं होती। वह व्यक्ति के बाहरी रूप को ही नहीं, अन्तर को भी देखता है। मानव का बाहरी रूप असुन्दर हो सकता है, किन्तु वह हमेशा के लिये वैसा ही रहेगा। यह स्वीकार नहीं करता। इसी लिये पापी से पापी मानव में भी वह दिव्य मानवता का दर्शन करता है। उसके अन्तर की सोई हुई मानवता को जगाता है। करुणा के कोमल हाथों से कठोरता को धोने की चेष्टा करता है। अन्तर्द्रष्टा साधक के हृदय में करुणा का स्रोत वहता है। सब पर अपनी करुणा की धारा बहाता है। प्रस्तुत अन्तिम और सबसे बड़े अध्ययन से अन्तर्दर्शन की प्रेरणा प्राप्त होती है। उसका प्रथम श्लोक है:—

अप्पं च आउं इह माणवाणं सुचिरं च कालं णरयेसु वासो।
सव्वे य कामा णिरयाण मूलं को णाम कामेसु बुहो रमेज्जा॥ १॥

अर्थः—यहां मनुष्यों की आयु अल्प है और नरक में सुदीर्घ काल तक वास होता है और सभी काम नरक के मूल हैं। फिर कौन बुद्धिमान् काम वासनाओं में आनंद मानेगा!।

गुजराती भाषांतर :—

આ દુનિયામાં મનુષ્યના આયુષ્યની મર્યાદા ઘણીજ ઓછી (ટૂંકી) છે અને નરકમાં રહેવાની કાલમર્યાદા ઘણી લાંબી છે; અને બધી વાસનાઓ નરકને લીધે છે. એમ જાણીને કયો ડાહ્યો માણસ કામવાસનામાં આસક્ત રહેશે?

मानव मन की भोगासक्ति दूर करने के लिये वासना विरक्ति के संदेश के साथ प्रस्तुत अध्ययन का आरंभ होता है। मानव के अल्प सुख को नरक के अनंत दुःखों के साथ उपमित किया गया है। मानव की क्षणिक सुखानुभूति अपने पीछे नरकों की सागरोपमों की दुःखपरम्परा लिये चलती है। नहर को देख नदी की याद आ जाती है, फल को देख कर फूल की स्मृति हो आती है, ऐसे ही वासना भरे चित्त देखकर नरक की स्मृति हो उठती है। काम की ज्वाला से कम भयानक नहीं है। अन्तर इतना ही है एक स्थूल आग है, दूसरी सूक्ष्म है। भगवान महावीर ने काम को मार और नरक बताया है। अर्हतर्षि कह रहे हैं सभी कामों का पर्यवसान नरक में होता है।

टीकाः—अल्पं च आयुरिह मानवानां सुचिरं च कालं यावन्नरकेषु वासः। सर्वे च कामा नारकानां मूलं को नाम बुधः कामेषु रमेत्? गतार्थः।

पावं ण कुज्जा ण हणेज्ज पाणे, अतीरसे णेव रमे कदायी।
उच्चावएहिं सयणासणेहिं वायु व्व जालं समतिक्कमेज्जा॥ २॥

अर्थः—साधक न पाप करे न प्राणियों की हिंसा ही करे। विषयों से उपरत साधक उच्च नीच शयनासनों में आनंदित न हो, किन्तु हवा की भांति जालका अतिक्रमण करदे।

गुजराती भाषान्तर :—

સાધકે કોઈ તરહનું પાપ ન કરવું જોઈએ, ન કે જીવોની હિંસા પણ કરવી જોઈએ. વિષયોથી વૈરાગ્ય પામેલા સાધકને ઉંચા કે નીચા શયન અગર આસનમાં આનંદ કે દુઃખ ન થવું જોઈએ. જેમ જાળમાંથી હવા આરપાર નીકળી જાય છે તેમ આસક્તિથી પાર થઈ જવું જોઈએ.

प्रस्तुत गाथा में पाप और उसके कारणों से दूर रहने की प्रेरणा दी गयी है। मनुष्य पाप करता है और हिंसा भी करता है। उस हिंसा के प्रेरक तत्व हैं मनुष्य के मन के लोभ और मोह। आखिर वह हिंसा क्यों करता है?। किसी पदार्थ या व्यक्ति प्रति उसके मन में लोभ रहता है, उसे पाने की चेष्टा रहती है। अतः उसके विघ्नभूत जो भी व्यक्ति होते हैं उन पथ के अवरोधकों को वह दूर करना चाहता है। उसके लिये वह हथियार का भी आश्रय लेता है। अतः मानव के मनके भीतर घुसकर देखा जाय तो ये लोभ और मोह के कीटाणु ही हिंसा को जन्म देते हैं। अतः विचारकों ने मोह को हिंसा का सूक्ष्म रूप बताया है।

साधक को स्थूल हिंसा से बचना है तो सर्वप्रथम उसे मन में पैदा होने वाली सूक्ष्म हिंसा को रोक देना होगा। उसके लिये आसक्ति के पाश को छेदना होगा। वह समत्व का उपासक बने उसके सामने मनोज्ञ या अमनोज्ञ कैसा भी भोजन आए उसे वह समभाव के साथ ग्रहण करे। सोने के लिये सुन्दर भवन मिले या वृक्ष की सूनी छांव, दोनो के प्रति उसके मन में एकधारा रहे। समभाव की साधना के द्वारा साधक वायुसा अप्रतिबद्ध होगा और मोह की जाल को पारकर जाएगा फिर जाल पानी को भी नहीं रोक सकती, तो साधक तो हवा है दुनियां के जाल उसकी प्रगति में बाधक नहीं हो सकते। 'अतीरसे णेव' का पाठान्तर 'अतीरमाणेव' भी मिलता है, उसका अर्थ होगा तीर तट को प्राप्त किये बिना आनंद न पाए। क्योंकि साधक के जीवन का लक्ष्य है भवसागर के तट पर पहुंचना। बिना तट पर पहुंचे बीच में आनंद कैसा? सागर की असीम जलराशि में पडे हुए मानव का एकमात्र लक्ष्य होता है तट पर पहुंचना।

टीकाः—पापं न कुर्यान्न प्राणिनो हन्यादतिगतरसः न कदाचिदुच्चावचेषु शयनासनेषु रमेत्, किन्तु तान् समतिक्रमेद्, वायुरिव जालम्। गतार्थः।

वेसमणेणं अरहता इसिणा बुइतं—

जे पुमं कुरुते पावं ण तस्सऽप्पा धुवं पिओ।
अप्पणा हि कडं कम्मं अप्पणा चेव भुञ्जती ॥ ३ ॥

अर्थः—वैश्रमण अर्हतर्षि बोले–जो पुरुष पाप करता है उसे निश्चयतः अपनी आत्मा प्रिय नहीं है, क्योंकि स्वकृत कर्म को आत्मा स्वतः भोगता है।

गुजराती भाषान्तर :—

वैश्रमणु अर्हतर्षि બોલ્યાઃ—જે માણસ પાપ કરે છે તેને પોતાનો આત્મા પ્રિય નથી; કેમ કે તે આત્મા પોતે કરેલ કૃત્યોનો ભોગ પોતે જ બને છે.

पूर्व गाथा में पाप प्रवृत्ति के लिये निषेध किया था। यहां अर्हतर्षि उसका हेतु बता रहे हैं। जो पुरुष पाप प्रवृत्ति कर रहा है, गहराई से देखा जाए तो उसे अपनी आत्मा से प्रेम नहीं है, क्योंकि यह निश्चित है स्वकृत कर्म अवश्य उदय में आयेंगे और उस दिन उसे उनका प्रतिफल भोगना होगा, इस रूप में देखा जाए तो वह स्वयं अपने लिये कांटे बिछा रहा है। अथवा पापशील आत्मा के लिए पाप निश्चित रूप से प्रिय नहीं हो सकते। पाप परिणति कटु परिणाम लेकर आएगी। तब के पदार्थ जिसके अभाव में वह जीना दूभर समझ रहा है उनके सद्भाव में जीना कठिन हो जाएगा।

साथ ही अशुभ प्रवृत्ति आत्मा लिये भी प्रिय न हीं हो सकती, क्योंकि वह विभाव दशा है और हर बुरे काम के लिये अन्तर्मन इन्कार करता है।

पावं परस्स कुव्वंतो हसते मोहमोहितो।
मच्छो गलं गसंतो वा विणिघायं ण पस्सति ॥ ४ ॥

पच्चुप्पण्णरसे गिद्धो मोहमल्लपणोल्लितो।
दित्तं पावति उक्कंठं वारिमज्झे व वारणो ॥ ५ ॥

परोवघाततल्लिच्छो दप्पमोहबलुद्धुरो।
सीहो जरो दुपाणे वा गुणदोसं न विंदति ॥ ६ ॥

सवसो पावं पुरा किच्चा दुक्खं वेदेति दुम्मती।
आसत्तकंठपासो वा मुक्कधारो दुहट्टिओ ॥ ७ ॥

पावं जे उपकुव्वंति जीवा सोताणुगामिणो।
वड्ढते पावकं तेसिं अणगाहिस्स वा अणं ॥ ८ ॥

अणुबद्धमप्पसंता पच्चुप्पण्णगवेसका।
ते पच्छा दुक्खमच्छंति गलुच्छित्ता जहा झसा ॥ ९ ॥

आताकडाण कम्माणं आता भुंजति जं फलं।
तम्हा आतस्य अट्ठा पपावमादायं वज्जए ॥ १० ॥

---

१. मोर्वं.

ये सातों गाथाएं पन्द्रहवें अध्ययन में क्रमशः ग्यारह से सत्रह के क्रम पर स्थित हैं। वहीं पर विस्तृतार्थ के साथ इनका विचार भी किया गया है।

जं हंता जं विवज्जेति जं विसं वा ण भुंजति।
जं णं गेण्हति वा वालं णूणमत्थि ततो भयं ॥ ११ ॥

अर्थः—जिसे हिंसक छोड़ देता है, जिसको जो नहीं खाता है और जिस सर्प को जी पकड़ता नहीं है, उसे उसको भय अवश्य है।

गुजराती भाषान्तरः—

જેને હત્યા કરનાર (પણ) છોડી દે છે, જે જહરને (જે માણસ) ભક્ષણ કરતો નથી અને જે સાપને (જે માણસ) પકડતો નથી (તે માણસને) તે વસ્તુની બીક (ભય) રહ્યા વગર ન રહે.

अशुभ प्रवृत्ति की कभी उपेक्षा नहीं करना चाहिये। रोग की उपेक्षा की जाए तो वह एक दिन उग्ररूप ले लेता है और फिर उसका प्रतिकार दुःशक्य हो जाता है। विष वेल को समाप्त करना है तो उसकी जड़ को समाप्त करना होगा। हिंसक व्यक्ति जिसको मारता नहीं है, किन्तु यदि हिंसक की हिंसा वृत्ति नहीं मिटाई गई तो संभव है किसी अवसर को पाकर उसकी सोई हुई हिंसावृत्ति में उभार आ सकता है और वह फिर से हिंसा करने के लिये आतुर हो जाए। घर में विष रखा हुआ है, यद्यपि खाया नहीं है पर उसे अलग नहीं किया; तो संभव है भूल से उसका उपयोग हो सकता है और वह अपनी मारकशक्ति का उपयोग कर देगा। दवा के बदले भूल में टिंक्चर पीने वाले अनेक पाये गये हैं दुसरी ओर घर के एक कोने में सांप बैठा है तो रात्रि को सारा घर सांपों का घर लगेगा। अथवा छुपा हुआ सर्प एक दिन प्रहार कर सकता है। अतः सर्प को जब तक दूर न किया जाय तब तक उसका भय बना रहेगा। इन तीनों वस्तुओं का सर्वथा परिहार आवश्यक है, इसी प्रकार पाप की प्रवृत्ति का समूल परिहार करना चाहिये।

टीकाः—यं हन्ता अभियोक्ता विवर्जयति, यद्विषं नरो न भुनक्ति, यं वा व्यालं गृह्णति नास्ति ततो भयम्।

टीकाकार भिन्न मत रखते हैं उनके अभिप्राय से जिसे मारनेवाला=अभियोक्ता छोड़ देता है। जिस विष को मनुष्य खाता नहीं है और जिस सर्प को पकड़ लेता है उससे उस व्यक्ति को भय नहीं रहता।

टीकाकार का आशय भी ठीक है किन्तु 'णूणमत्थि' में एक न और कहां से लाएंगे ?।

धावंतं सरसं नीरं सच्छं दाढिं सिंगिणं।
दोसभीरू विवज्जेति पावमेवं विवज्जए ॥ १२ ॥

अर्थः—स्वच्छ मधुर जल की ओर दोड़नेवाले डाढ़ और सींगवाले पशुओं का दोष भीरु व्यक्ति वर्जन कर देते हैं। ऐसे ही पाप को रोकना चाहिए।

गुजराती भाषान्तरः—

સ્વચ્છ મીઠા પાણી તરફ દોડી જનાર દાઢ અને સીંગવાળા પશુઓને ડરપોક માણસ બીએ છે અને તેથી જ છેટેથી જાય છે. તેવી જ રીતે પાપને પણ દૂરથી જ (અટકાવવા માટે) વર્જ્ય કરવા જોઈએ.

पिपासाकुल सर्प या सींगवाले पशु जब पानी की ओर दौड़ते हैं तब उनके बीच नहीं पड़ना चाहिये। क्योंकि वे अपने बाधक के ऊपर प्रहार कर सकते हैं, इसलिये दोष भीरु व्यक्ति उनको दूर से ही छोड़ देता है। इसी प्रकार विचारवाले साधक पापों को छोड़ दें। पाप से दूर होने के लिये पहली शर्त है पाप को पाप माना जाए। दोष को दोष न मानना सबसे बड़ा दोष है। रोग को रोग न मानना सबसे बड़ा रोग है। क्षय केन्सर आदि बड़े रोग हैं, परन्तु उन पर काबू पाया जा सकता है, किन्तु जो रोग को जानता नहीं है या उसे स्वीकार नहीं करता उस रोगी का कोई इलाज नहीं है। इसी प्रकार पाप के प्रति उपेक्षा करनेवाला या उसे स्वीकार न करनेवाला एक नया पाप और करता है।

पश्चिमी विचारक ल्यूथर ने कहा है—

The recognition of sin is the beginning of salvation. ल्यूथर. पाप की स्वीकृति मुक्ति का श्रीगणेश है। पाप पाप है, चाहे वह किसी भी रूप में आये और वह हमारे मन की पवित्रता को उसी प्रकार हर लेता है जैसे नदिओं की उछलती हुई लहरें तट की हरियाली को।

यदि हाथों से पाप हो गया है तो उसके प्रति पश्चात्ताप होना चाहिये और पाप की प्रवृत्ति से दूर ऊपर उठने की प्रवृत्ति होनी चाहिये। पशु भी पानी में गिर जाता है तो वह भी उससे निकलने के लिये छटपटाता है, किन्तु जो मानव होकर भी अशुभ प्रवृत्ति के बीच से निकलने की चेष्टा न करे वह पशु जगत से ऊपर नहीं ऊठा है फिर आकृति भले मानव की क्यों न हो।

एक और इंग्लिश विचारक बोलता है—

Manlike it is to fall into sin, findlike it is to dwell the rein, Christlike it is, for sin to grieve, Godlike it is all sin to leave-लॉंगफेलो.

पाप में पड़ना मानव स्वभाव है, उसमें डूबे रहना शैतान स्वभाव है, उस पर दुःखित होना संत स्वभाव है और पापों से मुक्त होना ईश्वर स्वभाव है।

अर्हतर्षि उसी ईश्वर स्वभाव हैं कि प्राप्ति के लिये पाप के त्याग की प्रेरणा देते हैं।

टीकाः-सरसं नीरं स्वच्छं प्रति धावन्तं दंष्ट्रिणं शृंगिणं श्वापदं दोषभीरुणो विवर्जयन्ति एवं पापं विवर्जयेत्। गतार्थः।

पावकम्मोदयं पप्प दुक्खतो दुक्खभायणं।
दोसादोसोदथी चेव पापकज्जा पसूयति ॥ १३ ॥

अर्थः—पाप कर्मोदयको प्राप्त करके आत्मा दुःख से और दुःख प्राप्त करता है। दोषी व्यक्ति और दोषों को ग्रहण करनेवाला पाप कार्यों को जन्म देता है।

गुजराती भाषान्तर :—

પાપકર્મોના ઉદયને પ્રાપ્ત કરી જીવ દુઃખથી બીજા દુઃખોને પામે છે. દોષી માણસ બીજા દોષોનો સ્વીકાર કરનાર પાપકર્મોને જન્મ આપે છે.

अशुभ विपाकोदय के समय आत्मा दुःख का अनुभव करता है, पर एक दुःख नये दुःखों की परम्परा लेकर आता है। दुःख आने पर यदि मन शान्त है तो कर्मों का और तज्जन्य दुःख का क्षय करता है, किन्तु विपाकोदय के समय मन अशान्त हो गया और वह निमित्तों पर आक्रोश करने लगा तो दुःख भोग के समय नये कर्मों का उपार्जन कर लेता है साथ ही भविष्य के दुःखों की नींव डाल देता है। इसीलिये कहा गया है कि दोषी व्यक्ति नये दोषों को ग्रहण करता है और इस रूप में वह पाप-कार्यों को जन्म देता है।

टीकाः—पापकर्मोदयं प्राप्य दुःखेन दुःखभाजनं दोषेण च दोषोदयी पापकर्माणि प्रसूयते। गतार्थः।

उव्विवारा जलोहंता तेतणीए मतोट्टितं।
जीवितं वा वि जीवाणं जीवंति फलमंदिरं ॥ १४ ॥

अर्थ—भूकंप से, जल समूह से, आग से अथवा तृण समूह से मरकर भी पुनः जीवों का जीवन आरंभ हो जाता है। फल का आश्रयस्थान कर्म यदि विद्यमान हैं तो जीवन भी चालू रहेगा।

गुजराती भाषांतर :—

ભૂકંપથી, પાણીના પૂરથી, આગથી, ઘાંસના રાશિથી (બળીને પણ) જીવોનું જીવન ફરીથી શરૂ થાય છે. ફલનું આશ્રયસ્થાનરૂપી કર્મ જો અસ્તિત્વમાં હોય તો જીવન પણ ચાલૂ રહેશે.

सौ पचास वर्ष का जीवन बिताकर प्राणी जब चिरनिद्रा में सो जाता है, तो स्थूल दृष्टि में ऐसा लगता है, कि जीवन समाप्त हो गया और ऐसा भी अनुभव होता है। भलाई की जिन्दगी बितानेवाले के भाग्य में दुःख ही दुःख है और दूसरों को सतानेवाला उनके आसुओं से क्रीड़ा करनेवाला मौज की जिन्दगी बिताता है। तब प्रश्न होता है, फिर पाप और पुण्य जैसी वस्तु कहां रही ?। और शुभ का प्रतिफल शुभ रहेगा और अशुभ का अशुभ इस सिद्धान्त की सत्यता पर भी प्रश्न चिह्न लग जाता है।

इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत गाथा में दिया गया है। भूकम्प, जल या अग्नि के द्वारा जीवनलीला समाप्त हो जाती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता है कि जीवन तत्व समाप्त हो गया। जीवन के नाटक का एक दृश्य समाप्त हुआ है पर पूरा नाटक नहीं। एक दृश्य को देखकर किसी निर्णय पर पहुंचना गलत है। सीता हरण के दृश्य को देखकर अच्छे कार्यों के

प्रति विश्वास खो देना एक गलती है। दृश्य बदलते हैं पर द्रष्टा नहीं बदलता। इसीलिये एक जन्म के कृत पुण्य और पाप अन्य जन्मों में भोगने पड़ते हैं और इसीलिये अच्छी जिन्दगी बितानेवाले को कदम कदम पर दुःख सहना पड़ता है। यह दुःख वर्तमान जीवन का नहीं, विगत जन्म का है।

अतः अर्हतर्षि कह रहे हैं दुर्घटनाओं से जीवन समाप्त हो जाए पर आत्मा समाप्त नहीं होता और जन्म मृत्यु की परम्परा तब तक चलती रहेगी जब तक कि फलमन्दिर कर्म मौजूद रहेंगे।

टीकाः—ऊर्वीपाराज्जलौघान्तात् तेजन्या वा दग्धात् तृणगुच्छान्मृतोऽस्थितं उक्तस्थानेभ्यो मृत्वा प्रत्यागतमनश्वरं जीवानां जीवितं जीवादेव भवति फलमन्दिरं धान्यागारं कर्मफलभाजनमिति श्लेषः।

अर्थात्—पृथ्वी के पार से जलराशि में अग्नि से जल कर तृण गुच्छ आदि से मृत्यु पाकर पुनः आये हुए अनश्वर जीवों का जीवन चालू रहता है। वह जीवन फल का स्थान धान्यागार कर्म फल का पात्र होता है जब तक फल का स्थान धान्यागार मौजूद है तब तक उससे धान्य की समाप्ति नहीं होती। उसमें धान्य डाला जाता है और निकाला जाता है अथवा उस धान्य को बोने पर वह सहस्रगुणित प्रतिफलित होता है और इस रूप में वह धान्यागार कभी क्षीण नहीं हो सकता। इसी प्रकार आत्मा कर्म बांधता है उन्हें क्षय भी करता है, किन्तु अपनी रागात्मक परिणतियों के द्वारा पुनः कर्म का बन्धन करता है इस रूप में कर्म का धान्यागार अक्षय रहता है यह एक श्लेष है।

देज्जा हि जो मरंतस्स सागरंतं वसुंधरं।
जीवियं वा वि जो देज्जा जीवितं तु स इच्छती॥ १५॥

अर्थः—मरनेवाले को सागर पर्यन्त पृथ्वी या जीवन दिया जाए तो वह (मरनेवाला) जीवन ही चाहेगा।

गुजराती भाषान्तरः—

મરનારને (છેલ્લી હાલતમાં) એમ પૂછીયે કે દર્યા ના છેડા સુધી પૃથ્વી તને જોઈએ કે જીવવું પસંદ છે તો તે (મરનાર માણુસ પણ) બન્નેમાંથી જીવન (મારે જીવવું જ) પસંદ છે એમ કહેશે.

हर प्राणी में एक महत्वपूर्ण इच्छा है, वह है जीने की। यह एक ऐसी कामना है जो मृत्यु के प्रथम क्षण तक प्राणी को छोडती नहीं है। मौत की सजा प्राप्त व्यक्ति को ससागरा पृथ्वी और जीवन दो में से एक का चुनाव करने के लिए कहा जाए तो वह जीवन ही चाहेगा।

आगमवाणी बोलती है-प्राणिमात्र जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता, अतः निर्ग्रन्थ घोर प्राणि का परित्याग करते हैं। प्रस्तुत गाथा महाभारत के निम्नलिखित श्लोक से कितना साम्य रखती है।

मर्यमाणस्य हेमाद्रिं राज्यं चापि प्रयच्छतु।
तदनिष्टं परित्यज्य जीवो जीवितुमिच्छति॥-महाभारत।

टीकाः—यदि यो म्रियमाणस्य वसुन्धरां पृथ्वीं सागरान्तां दद्याज्जीवितं वाऽनयोरेकतरं वियस्वेति ततः स मरण-भीरुर्जीवितमिच्छति॥ गतार्थः।

पुत्त-दारं धणं रज्जं विज्जा सिप्पं कला गुणा।
जीविते सति जीवाणं जीविताय रती अयं॥ १६॥

अर्थः—पुत्र, पत्नी, धन, राज्य, विद्या, कला और गुण ये सभी प्राणियों के जीवित होने पर उनके जीवन को आनंद दे सकते हैं।

गुजराती भाषान्तरः—

છોકરો, બૈરી, ધન, રાજ્ય, વિદ્યા, કલા અને ગુણ એ બધાં પ્રાણિઓ જીવતા હોય ત્યાં સુધી તેના જીવનને આનંદ પહુંચાડે છે.

पूर्व गाथा में बताया गया था कि प्राणी ससागरा पृथ्वी को छोडकर भी जीना पसन्त करता है। उसका हेतु यहां दिया है। पुत्र धन विशाल साम्राज्य का सभी जीवन के लिये है। जीवन है तभी तक इनका सद्भाव है। दो आखें मूंद जाने पर चक्रवर्ती के साम्राज्य का भी क्या मूल्य है? इसीलिये मानव संपत्ति और जीवन के तोल में जीवन को महत्व देता है।

१. सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं। तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयन्ति णं॥ उत्तरा. अ. ३५.

आहारादि तु जीवाणं लोए जीवाण दिज्जती।
पाणसंधारणट्ठाय दुक्खणिग्गहणा तहा॥ १७॥

अर्थः—लोक में प्राणियों के द्वारा दूसरे जीवों को आहारादि इसलिए दिये जाते हैं ताकि वे प्राण रक्षा कर सकें और दुःख का निग्रह कर सकें।

गुजराती भाषांतर :—

આ દુનિયામાં જીવો વડે બીજા જીવોને આહાર વિગેરે એ જ ઇરાદાથી અપાય છે કે તેઓના પ્રાણોનું સંરક્ષણ થઈ શકે અને દુઃખનો પ્રતીકાર કરી શકે.

• मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जीता है। समाज से कुछ लेता है तो यह आवश्यक हो वह कुछ दे भी। जो केवल लेना ही जानता है वह राक्षस है, भले ही वह किसी भी कुल में पैदा हुआ हो और जो देना ही जानता है वह देव है। किन्तु मानव दे और ले के बीच पलता है। वह कुछ देता है तो कुछ लेता भी है। यह दे और ले की क्रिया श्वासप्रक्रिया है। हम श्वास के रूप में अच्छी हवा लेते हैं तो बदले में हवा छोड़ना न चाहे तो कब तक जीएगा[1] हम दूसरे का सहयोग लेते हैं तो सहयोग देना भी आवश्यक है।

मानव का पहला कर्तव्य है वह पीड़ित का सेवा के लिये हाथ आगे बढ़ाये। दूसरे को गिरते हुए देखकर जो हंसता है तो वह रोम के पास बादशाह का वंशज है जो रोम को जलता देख रहा था और बांसरी बजाए जारहा था। यदि खडे रहे ही तो मिट्टी के ढेले हैं और घेरकर खडे हो जाते हैं। पशु हैं, क्योंकि गाय भी घेरकर खडी हो जाती है, किन्तु जब हम गिरते हुए को थामने के लिये हाथ आगे बढाते हैं तभी मानव हैं। वाचकमुख्य उमास्वाति भी लिखते हैं। एक दूसरे के लिए सहायक होना जीवों का लक्षण है।[2]

सत्थेण वण्हिणा वा वि खते दड्ढे व वेदणा।
सए देहे जहा होति एवं सव्वेसि देहिणं॥ १८॥

अर्थः—शस्त्र और अग्नि से जैसे अपने देह में आघात, दाह, वेदना होती है, वैसे ही सभी देहधारियों को भी होती है।

गुजराती भाषांतर :—

જેમ શસ્ત્રોથી, આગ અને આઘાતથી બળતરો કે દુખાવા જેવા દરદો શરીરમાં થાય છે તેવી જ રીતે હરએક શરીરધારી (જીવ) ને થાય છે.

विश्व की समस्त आत्माएं एक हैं, क्योंकि सबकी सुख और दुःख की अनुभूति एक जैसी है। मेरी अंगुलि में कोई सुई चुभता है तो पीडा होती है तो दूसरे की देह में सुई चुभेगी तो पीडा हुए बिना न रहेगी। इसीलिये आगमवाणी बोलती है-सभी आत्माएं एक हैं। सभी आत्माएं सुख चाहती हैं और दुःख से दूर रहना चाहती हैं वैसे ही विश्व की अनंत अनंत आत्माएं शान्ति चाहती हैं। इंग्लिश विचारक भी बोलता है-All blood is of one colour-सभी प्राणी एक हैं।

पाणी य पाणिघातं च पाणिणं च पिया दया।
सव्वमेतं विजाणित्ता पाणिघातं विवज्जए॥ १९॥

अर्थः--प्राणियों को प्राणिघात अप्रिय है और समस्त प्राणियों को दया प्रिय है। इस सबको समझकर साधक प्राणिघात का परित्याग करे।

गुजराती भाषान्तर :--

જીવોને જીવોની હિંસા ગમતી નથી અને બધાં જીવોને (ભૂત) દયા કુદરતી રીતે ગમે છે. આ વસ્તુ ધ્યાનમાં રાખી સાધકે જીવની હિંસાનો ત્યાગ કરવો જોઈએ.

समस्त प्राणि अहिंसा आत्मा का अपना स्वभाव है। अतः वह सभी को प्रिय है। पशु के सामने एक व्यक्ति घास ले जाता है और दुसरा छुरा लेकर खडा है। उसे पूछा जाय कि तुझे कौन प्रिय है? यदि कुदरत ने उसकी बोलने की शक्ति दी होती तो वह कह उठता मुझे घास लिये खडा व्यक्ति प्रिय है। फिर भी उसकी जीभ न बोले, किन्तु उसकी आँखें तो बोल

१. परस्परो ग्रहो जीवानाम्-तत्वार्थसूत्र अ. पू सू. २१ २. 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं न सा तत्रारंभोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ'।

ही देती है। हिंसा आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसीलिये तो दूसरे को पेट में छुरा भोंकनेवाला भाग खडा होता है जब कि करुणा प्रेरित मानव उसके पेट पर पट्टी बांधता है वह हजारों के सामने खडा रह सकता है।

हिंसा मन का विष है, तो अहिंसा आत्मा का अमृत है। साधक इस तत्व को समझे और हिंसा का परित्याग करे। तत्व समझकर अहिंसा का अनुपालन ही श्रेष्ठ है, अन्यथा एकेन्द्रिय भी स्थूलरूप से हिंसा नहीं करता फिर भी अहिंसक नहीं कहला सकता। अहिंसा तत्त्व को समझने वाला प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों हिंसाओं से बचेगा। आज हम प्रत्यक्ष हिंसा से बचते हैं, किन्तु परोक्ष हिंसा के द्वार कितने खुले हैं। चमकीले बुट पहननेवाला उसके लिये मारे जानेवाले पशुओं की हिंसा से बच नहीं सकता। इसी प्रकार महारंभ जन्य वस्तुओं का उपभोक्ता उस परोक्ष हिंसा का भागी होता है। भले ही हम मन को संतोष दे दें यह हिंसा हमारे लिये नहीं हुई है। एक कम्पनी हिंसात्मक वस्तुओं का निर्माण करती है वह निर्माण उपभोक्ताओं के लिये ही होता है, न कि अपने लिये। इस प्रकार अहिंसा की गहराइयों में जितना उतरते जाएंगे उतने ही हिंसा से दूर हटते जाएंगे।

टीकाः— ये प्राणिनस्तांश्च घातं च, प्राणिनां च प्रिया दया, सर्वमेतद् विज्ञाय प्राणिघातं विवर्जयेत्। गतार्थः।

अहिंसा सव्वसत्ताणं सदा णिव्वेयकारिका।
अहिंसा सव्वसत्तेसु परं बंभमणिंदियं ॥ २० ॥

अर्थः—अहिंसा समस्त प्राणियों के लिये शान्तिदायिका है। अहिंसा समस्त प्राणियों में अतीन्द्रिय परब्रह्म है।

गुजराती भाषान्तर :—

અહિંસા (એટલે કોઈ પણ જીવનો ઘાત ન કરવો) બધાં પ્રાણિઓને (મરણનું ભય ન હોવાથી) શાન્તિ આપનારી છે. તેથી જ બધાં પ્રાણિઓમાં એક (અતીન્દ્રિય) ઇંદ્રિયોથી ન અનુભવાય એવું બ્રહ્મ છે.

अहिंसा आध्यात्मिक जगत का अमृत है; उसकी आनंदानुभूति अन्तरिक्ष यात्रा के आनंद से कम नहीं है। मक्खन दही का सार है, इसी प्रकार अहिंसा तत्व विचारक महान सन्तों के विचार मन्थन का मक्खन है। अहिंसा का अतीन्द्रिय ब्रह्म प्राणिमात्र में व्याप्त हैं। आचार्य समन्तभद्र बोलते हैं ऋषियों की कल्पना भूमि में रमनेवाला परब्रह्म अतीन्द्रिय है, उसका केवल मानस प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु यह अहिंसा का ब्रह्म हम सबकी आत्माओं में बोलनेवाला ब्रह्म है और यह सरस है, सुन्दर और साकार भी है।

देविंदा दाणविंदा य णरिंदा जे वि विस्सुता।
सव्वसत्तदयोवेतं मुणीसं पणमंति ते ॥ २१ ॥

अर्थः—समस्त प्राणियों के प्रति दयायुक्त मुनीश्वर को देवेन्द्र दानवेन्द्र और ख्याति प्राप्त नरेन्द्र भी नमस्कार करते हैं।

गुजराती भाषान्तर :—

બધાં પ્રાણિયો માટે જેના અંતઃકરણમાં દયા વસે છે તે માણસને દેવેન્દ્ર, દાનવેન્દ્ર અને પ્રસિદ્ધિ પામેલા મહાન્ નરશ્રેષ્ઠ પણ પ્રણામ કરે છે.

जिस साधक के हृदय में दया का झरना बह रहा है, देश और काल की दीवारों से ऊपर उठकर जिन्होंने आत्मा को देखा है उसके चरणों में देवेन्द्र और मानवेन्द्र श्रद्धा से झुक जाएं तो आश्चर्य न होगा। हमारी दया का स्रोत प्राणिमात्र के लिये उन्मुक्त रूप से बहना चाहिये। मैं और मेरेपन को उस दया के स्रोत के बीच चट्टान नहीं बनने देना चाहिए। यह मेरा है, मेरी समाज का है, मेरे प्रान्त और मेरे देश का है, इसलिये वह मेरी करुणा के कण पा सकता है, अन्य नहीं। मन की ये दीवारें करुणा की पवित्र धारा को अशिव बना देती हैं; जिस साधक का चिन्तन इन दीवारों से ऊपर उठता है जिसके हृदय में करुणा का सागर लहलहा रहा है वही विश्ववन्द्य हो सकता है।

तम्हा पाणदयट्ठाए तेल्लपत्तधरो जधा।
एगग्गमणीभूतो दयत्थी विहरे मुणी ॥ २२ ॥

अर्थः—दयार्थी (दयाशील) मुनि प्राणियों पर दया के लिये तेलपात्र धारक की भांति एकाग्र मन होकर विचरे।

गुजराती भाषान्तर :—

દયાશીલ (દયાળુ) મુનિ જીવોવિષે દયાને માટે તેવી જ રીતે સમતોલ ચિત્તથી વર્તે જેમ કે છલોછલ તેલથી ભરેલો ઘડો માથા ઉપર મુકી ચાલનાર માણસ રસ્તામાં (ન ઢોળાય એ હિસાબે) એકાગ્રચિત્ત થઈ ચાલે છે.

---

१. एगे आया-स्थानांग सूत्र अ०१ सू० १.

२. सव्वे सुह साया दुक्खपडिकूला।

करुणा से अभिभूत साधक प्राणी दया के लिये सदैव सावधान रहे, क्योंकि कदम पर हिंसा का साम्राज्य है। हिंसा प्रसाधन जितने भयानक बनते जाएंगे अहिंसा को उसका मुकाबला करने के लिये उतना ही सजग रहना होगा। उपग्रह के इस युग में अणुबमों का प्रतिकार अणुबम नहीं, अहिंसा ही कर सकती है। अहिंसक को पूरी सावधानी के साथ चलना होगा और पूरे जोश के साथ विश्व को संदेश देना है। Live and let live जीओ और जीने दो। केवल ही नहीं देता है अहिंसा का अनुपालन करके प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करता है। अहिंसा के सिद्धान्त पुस्तकों में नहीं व्यक्तियों में जीते हैं। सिद्धान्त चाहे जितने ऊंचे हों किन्तु उनकी श्रेष्ठता उसके पालनकर्त्ताओं से व्यक्त होती है। क्योंकि जनता सिद्धान्त नहीं जीवन देखती है और जीभ की अपेक्षा जीवन का स्वर ऊंचा होता है। अहिंसा के लिये साधक उतना ही सावधान रहे जितना कि तेल पूर्ण पात्र को ले जानेवाले।

जैन कथा साहित्य में चक्रवर्ती भरत की कहानी आती है। जब अयोध्या के उपवन में भगवान आदिनाथ ने विशाल परिषद के समक्ष देशना दी कि महारंभी और महापरिग्रही मरकर नरक में जाता है। तब एक व्यक्ति ने प्रश्न किया "प्रभो! ये चक्रवर्ती मरकर कहां जाएँगे?।" प्रभु ने उत्तर दिया "यह अल्पारंभी चक्रवर्ती इसी भव में संपूर्ण कर्म क्षय कर निर्वाण प्राप्त करेंगे।" प्रभु का उत्तर पाकर बैठते हुए व्यक्ति के मुंह से निकल गया "हां; पुत्र को मोक्ष न मिलेगा?"

अस्फुट शब्द चक्रवर्ती के कानों से टकराये। उन्होंने सोचा इसे अभी भी प्रभु की बात पर विश्वास नहीं है। अगले दिन अनुचर को भेजकर प्रश्नकर्ता को बुलाया। अनुचर को देखते ही उसके सामने मौत का चित्र घूम गया। सोचा चक्रवर्ती के सम्बन्ध में प्रश्न करके कितनी मूर्खता की। रोती हुई पत्नी भी बोल उठी "तुम्हें ही क्या पड़ी थी प्रश्न करने की?।" का अनुचर ने उसे चक्रवर्ती के समक्ष उपस्थित किया। तो चक्रवर्ती ने तेल का पूरा भरा कटोरा हाथ में देकर कहा—"जाओ तुम अयोध्या में घूमो।" और रक्षकों को आदेश दिया कि "सावधान रहना, तेल एक बून्द गिरते ही तो तुम्हारी तलवार इसका सिर धड से अलग कर देगी।"

प्रश्नकर्ता ने सोचा मारना ही तो था और अभियोग भी ढूंढ लिया गया है। आज मौत सिर पर है। तेल कटोरा लेकर चला—तो कदम कदम पर मौत नाच रही थी। पर पूरी सावधानी के साथ तेल कटोरा लिये अयोध्या के बाजारों में घूमा। संध्या को जब सकुशल महलों में लोटा तो सोचा अब खतरा टला। तेल कटोरा नीचे रखकर संतोष की सांस ली। तो चक्रवर्ती ने पूछा "अब बताओ, अयोध्या के बाजारों में तुमने क्या देखा?"

. वह बोला "क्षमा करें, अयोध्या के सारे बाजार इस तेल कठोरे में थे। जब सिर पर मोत मंडरा रही हो तब बाजारों के रंग में क्या रस होगा?।" चक्रवर्ती ने कहा "अब तुम्हें अपने प्रश्न का समाधान मिल गया होगा।" उसने पूछा "यह कैसा समाधान? मेरा तो प्राण सूख गये थे।" हंसते हुए चक्रवर्ती ने कहा "मैंने तुम्हें समाधान देने के लिये बुलाया था, मारने को नहीं। प्रभु वीतराग के जिन शब्दों के प्रति तुम्हें अविश्वास था उन्हें ही मुझे सिद्ध करना था। अयोध्या के राग रंग तुम्हें लुभा न शके, क्योंकि मौत सिर पर झूम रही थी!। ठीक इसी प्रकार छः खंड का विशाल साम्राज्य भी मुझे लुभा नहीं सकता। भले ही मेरे चारों ओर भोग और विलास नृत्य कर रहा हो।"

तेलपात्र धारक की यह कहानी एक ओर अनासक्ति का संदेश देती है दूसरी ओर सावधानी और एकाग्रता का देती है। अर्हतर्षि हिंसा की साधना में उसी एकाग्रता की आवश्यकता पर बल दे रहे हैं।

टीकाः—तस्मात् प्राणिदयार्थमेकाग्रमना भूत्वा दयार्थी मुनिरप्रमत्तो विहरेद् यथा कश्चित्तैलपात्रधरः। गतार्थः।

आणं जिणिंदभणितं सव्वसत्तानुगामिणिं।
समचित्ताभिणंदित्ता मुच्चंती सव्वबंधणा ॥ २३ ॥

अर्थ—साधक प्राणिमात्र का अनुगमन करनेवाली जिनेन्द्र कथित आज्ञा को समचित्त से स्वीकार कर सभी बन्धनों से मुक्त होता है।

गुजराती भाषान्तरः—

સાધક પ્રત્યેક પ્રાણિ ઉપર દયા કરનારી જીનેન્દ્રનિરૂપિત આજ્ઞાને એકચિત્ત બની અંગીકાર કરીને બંધનોથી મુક્ત બને છે.

वीतराग देव की वह आज्ञा जिसमें कि साधक को प्राणिमात्र पर अनुकम्पा रखने का आदेश दिया गया है। साधक उसका सम्यक् रूप से अभिनंदन करे और उसका अनुगमन कर सभी दुःखों से मुक्त हो सकता है। जिनेश्वर देव की आज्ञा

किसी प्राणिविशेष पर अनुकम्पा रखने की प्रेरणा नहीं देती। कोई व्यक्ति हमारी जाति समाज या प्रान्त का है, इसलिये हम उसपर अनुकम्पा करें और दूसरा इसलिये हमारी करुणा का कण न पा सके कि वह हमारी जाति से बाहर का है। क्षुद्रता की ये दीवारें वीतराग-शासन में प्रवेश के लिये अवरोधक दीवारें बनकर खड़ी होती हैं। क्योंकि वहां तो अनंत अनंत प्राणियों के प्रति एक रूप में एक भाव से करुणा धारा बहाने का समादेश है।

वीतमोहस्स दंतस्स धीमंतस्स भासितं जए।
जे णरा णाभिणंदंति ते धुवं दुक्खभायिणो॥ २४॥

अर्थः—वीत मोह (वीतराग) दान्त प्रज्ञाशील की बात को जो मनुष्य स्वीकार नहीं करते, वे निश्चयतः दुख के भागी होते हैं।

गुजराती भाषांतरः—

વીતરાગ એટલે સુખ, દુઃખ, મમત્વની આસક્તિથી રહિત, દમનશીલ અને બુદ્ધિમાન્ માણુસની વાતોનો જે માણુસ સ્વીકાર કરતો નથી તે માણુસ ખરેખર દુઃખી બને છે.

वीतराग देव की समस्त विधिनिषेधात्मक आज्ञाएँ साधक के लिये हितप्रद है। उन आज्ञाओं के पीछे वीतराग की कोई वैयक्तिक स्वार्थ आकांक्षाएँ नहीं हैं, क्योंकि वे स्वयं मोहातीत है, जहां मोह की प्रेरणा है वहीं पर स्वार्थ की सृष्टि है। साथ ही वे दान्त इन्द्रियजेता हैं, उन्होंने स्वयं पहले उन आज्ञाओं का अनुपालन किया है। उसके बाद ही साधक के लिये विधान किया हैं। वे अनंत प्रज्ञाशील हैं। केवलज्ञान के प्रकाश पुंज से उन्होंने साधक के लिये ज्ञान किरण दी हैं। उनके आदेश को ठुकराकर हम उन्हें तो कष्ट नहीं दे सकते, क्योंकि वे तो वीतराग हैं; पर हां, उनके आदेशों की अवहेलना करके हम अपने आपको दुःख और बन्धनों की शृंखला में बांध देते हैं।

जेभिणंदंति भावेण जिणाणं तेसि सव्वधा।
कल्लाणाइं सुहाइं च रिद्धीओ य ण दुल्लहा॥ २५॥

अर्थः—जो जिनेश्वरों की आज्ञा का भाव पूर्वक सर्वथा प्रकार से अभिनंदन करता है, उसके लिये कल्याण और सुख स्वयं प्राप्त हैं। ऋद्धियों भी उसके लिये दुर्लभ नहीं हैं।

गुजराती भाषान्तरः—

જે માણુસ જિનેન્દ્રની આજ્ઞાને શ્રદ્ધાથી માનપૂર્વક અભિનંદન (સ્તુતિ) કરે છે, તેને સુખ અને કલ્યાણ કોશીશ (કશું પણ) કર્યા વગર મળે છે. ઋદ્ધિ અને સિદ્ધિઓ પણ તેને દુર્લભ નથી.

जो साधक वीतराग देव के आदेशों का यथोचित पालन करते हैं। उसके लिये वीतराग की वे कल्याणप्रद आज्ञाएं सुख की शाश्वत राह दिखाती हैं। आत्म शान्ति के साथ उसे अनेक लब्धियां भी प्राप्त हो जाय तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि आत्म-तुष्ट के लिये लब्धियाँ चेरी बनकर हाथ जोड़े दोड़ी आती हैं।

टीकाः—ये भावेनाभिनंदन्ति जिनाज्ञां तेषां कल्याणानि सुखान्यर्द्धयश्च सर्वथा दुर्लभा भवन्ति।

मणं[1] तधा रम्ममाणं णाणाभावगुणोदयं।
फुल्लं व पउमिणीसंडं सुतित्थं गाहवज्जितं॥ २६॥
रम्मं मंतं जिणिंदाणं णाणाभावगुणोदयं।
कस्सेयं ण प्पियं होज्जा इच्छियं व रसायणं?॥ २७॥

अर्थ—जैसे नानाविध भाव और गुणों के उदय से मन आनंद पाता है और जैसे ग्राह (मगर) वार्जित सुतीर्थ विकसित पद्मिनियों के समूह से शोभित होता है, इसी प्रकार नानाविध भाव और गुण से उदित जिनेश्वरों का सिद्धान्त सुरम्य है। इच्छित रसायन की भांति जिनेश्वरों का यह दर्शन किसे प्रिय न होगा?

गुजराती भाषांतरः—

જેમ અનેક તરહના ભાવ અને ગુણોના ઉદયથી ચિત્તમાં આનંદ થાય છે જેમકે ગ્રાહ (મગર) રહિત શ્રેષ્ઠ તીર્થ વિકાસ પામેલા કમલોથી સુશોભિત બને છે; તેમ જ નાના તરહના ભાવ અને ગુણોથી વિકાસ પામેલો જીનેશ્વરોનો સિદ્ધાન્ત અત્યંત રમ્ય છે. ઇચ્છેલા રસાયણની માફક જીનેશ્વરોનું આ દર્શન કોને પ્રિય ન થશે?

---

१. माणं.

मधुर सौरभ सबका मन हर लेती है। इसीलिये खाद्य पदार्थों में और स्वागत समारंभों में सुरभित द्रव्यों का उपगयो होता है। पर यह बाहर की सुवास है, किन्तु मन की पवित्रता सत्य और शील के गुण अन्तर की सौरभ है। अन्तर सौरभ से सुरभित व्यक्ति सर्वत्र प्रिय होता है और जिस सुन्दर तीर्थ में मगर आदि नहीं है और पद्मिनी समूह से जो खिल रहा है यह सबके लिये प्रिय पात्र होता है। इसी प्रकार जिनेश्वर देव के शासन के जिस उद्यान में नानाविध भाव सद्गुणों के फूल महक रहे हैं वह किसे प्रिय नहीं होगा? हर को हृदय के व्यक्ति और श्रद्धा सुरभित हृदय को वह आकर्षित करता है। जैसे व्याधि पीड़ित को इच्छित रसायण प्राप्त होती है तो वह कितना आनंदित होता है। वैसे ही जो विभाग दशाओं की व्याधि से पीड़ित हैं उसे आत्म-शान्ति की रसायन क्यों न प्रिय होगी?

> **अण्हातो[१] व सरं रम्मं वाहितो वा रुयाहरं।**
> **च्छुहितो व जहाऽऽहारं रणे मूढो व बंदिय ॥ २८ ॥**
> **वण्हिं सीताहतो वा वि णिवायं वाऽणिलाहतो।**
> **तातारं वा भउव्विग्गो अणत्तो वा धणागमं ॥ २९ ॥**

अर्थः—अस्नात (स्नान नहीं किये हुए व्यक्ति) के लिये जैसे सरोवर रम्य है, रोगपीडित के लिए रोगहारक (वैद्य) का घर (औषधालय) प्रिय है। क्षुधित व्यक्ति के लिये आहार प्रिय है। युद्ध में मूढ आकुल व्यक्ति सुरक्षित स्थान पसन्द करता है। शीत से पीडित व्यक्ति के लिए अग्नि प्रिय है। वायु से पीडित निर्वात स्थान चाहता है। भयोद्विग्न रक्षण को चाहता है और ऋण से पीडित व्यक्ति धनप्राप्ति चाहता है।

गुजराती भाषांतर :—

અસ્નાત (એટલે સ્નાન ન કરેલા માણસ) ને માટે સરોવર રમણીય હોય છે. દરદથી હેરાણ થયેલા (માંદા) માણસ માટે દરદને મટાડનાર (વૈદ્ય) ના ઘેર (દવાખાનું) પ્રિય છે, ભૂખ લાગેલા માણસને આહાર ગમે છે, જંગ (લડાઈ) માં બીએલો માણસ સુરક્ષિત (જ્યાં મરણનું ભય નહીં એવા) સ્થાનને પસંદ કરે છે. ટાઢથી કંટાળેલા માણસને અગ્નિ (ગરમી) બહુ ગમે છે. પવનથી પીડિત માણસ પવન વગરનું સ્થળ પસંદ કરે છે. ભયથી ઉદ્વિગ્ન (ભયભીત) માણસ કોઈ રક્ષણ કરનારને ચાહે છે અને દેવાદાર માણસ ક્યાંથી (કોઈ પણ સાધનથી) દ્રવ્યપ્રાપ્તિ થાય તે માટે કોશીશ કરે છે.

• पूर्व गाथा के अनुसन्धान में प्रस्तुत दो गाथाएं आई हैं। जिनेश्वर देव का शासन सम्यक्त्वशील आत्मा को उतना ही प्रिय है जितना कि अस्नात व्यक्ति को सरोवर, रोगी को औषधालय, क्षुधित को भोजन, युद्ध में कायर व्यक्ति को सुरक्षित स्थान। दूसरी गाथा में भी ऐसे ही मन के प्रिय पदार्थों का निरूपण है। ठंड से ठिठुरते व्यक्ति को अग्नि प्रिय लगती[२] है। वायु से पीडित व्यक्ति को निर्वात वायु रहित स्थान प्रिय होता है। भय से उद्विग्न बालक के सम्मुख उसके त्रायक अभिभावक आजाते हैं तो उसे कितने प्रिय होते हैं? और ऋण से दबा व्यक्ति जब चारों और से असहाय हो तब अचानक कहीं से उसे संपत्ति की प्राप्ति हो जाय तो वह धन उसे कितना प्रिय होगा, इसी प्रकार जन्म और मृत्यु की परम्परा से पीडित व्यक्ति को वीतराग का शासन प्रिय होता है। अण्हातो का पाठान्तर तण्हातो मिलता है, उसका अर्थ है तृष्णार्त प्यास से आकुल व्यक्ति के लिये सरोवर कितना सुरम्य होता है!।

टीकाः—अस्नातो वा रम्यं सरो व्याधितो वा रोगहरं वैद्यं, क्षुधितो वाऽऽहारं, रणे मूढो व्याकुलो वा बन्दिं लुण्ठितं वह्निं शीताहतो वापि निवातं वाऽनिलाहतस्त्रातारं वा भयोद्विग्न ऋणार्तो वा धनागमम्।

> **गंभीरं सव्वतोभद्दं हेतुभंगणयुज्जलं।**
> **सरणं पयतो मण्णे जिणिंदवयणं तहा ॥ ३० ॥**

अर्थः—गंभीर सर्वतोभद्र हेतु भंग नय से उज्ज्वल जिनेन्द्र देव के वचनों के शरण जानेवाला भी ऐसा ही आनंद पाता है जैसे कि तृषार्त व्यक्ति पानी मिलने से आनंदित होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

ગંભીર, સર્વકલ્યાણપ્રદ એવા નયથી ઉજ્જ્વલ જિનેન્દ્રદેવના વચનોને માન આપનાર માણસ તરસ લાગેલા માણસને પાણી મળ્યા પછી જેમ અચાનક સંતોષ થાય છે તેવી તે જ રીતે સંતુષ્ટ બને છે.

---

१. तण्हातो। णण्हातो। २. अमृतं शिशिरे वह्निः अमृतं क्षीरभोजनम्॥

वीतराग देव का शासन आसन्नभवी को वैसा ही प्रिय होता है जैसा कि सात दिन के भूखे को मिष्टान्न भोजन। पूर्व गाथा के अनुसंधान में आई हुई यह गाथा जिनेन्द्रदेव की सौरभ को प्रकट कर रही है। पहले बताया गया है कि तृषार्त को सरोवर, व्याधि पीडित को वैद्य का घर और क्षुधित को आहार प्रिय हैं। इसी प्रकार मुमुक्षु को जिनेन्द्र देव की वाणी प्रिय है।

प्रस्तुत गाथा में जिनेन्द्र देव की वाणी की विशेषताएँ बताई गई हैं। वाणी गंभीर है सर्वतो भद्र है। सबके लिये सब ओर से कल्याण प्रद है और वह वाणी हेतु भंग और नय से उज्ज्वल है। उसमें आत्मा के बन्ध और मोक्ष के यथार्थ हेतु बताये गये हैं। वीतराग की देशना हेतुपुरःसर होती है।

देशना की धारा विविध भाव भंगिमा की तरंगों से लहराती है। वस्तु तत्व के विविध रूपों का विविध अपेक्षाओं से निरूपण करते हैं। अपेक्षा भेद से की गई व्याख्या भंग कहलाती है।

स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्याद् वक्तव्यम्, स्यादस्ति अवक्तव्यम्, स्यान्नास्त्यवक्तव्यम्, स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यम् – ये सप्तभंग हैं। वस्तु स्वरूप की व्याख्या कभी विधेयात्मक होती है कभी निषेधात्मक। इन्हीं के अपेक्षा भेद से सप्तभंग निर्मित होते हैं। आत्मा स्वरूप की अपेक्षा से अस्तित्व शील है तो जडादि पररूप की अपेक्षा से नास्तित्वशील है। दोनों की साथ विवक्षा करनेपर अस्तिनास्ति का तीसरा भंग तैयार होता है किन्तु चतुर्मुखी ब्रह्मा भी अस्तित्व नास्तित्व की एक शब्द में विवक्षा नहीं कर सकना, अतः अवक्तव्य हो जाता है। अवक्तव्य के साथ अस्ति, नास्ति और अस्ति, नास्ति के विकल्प जोडने से सप्तभंग तैयार होते[1] हैं। नय–वस्तु के एक स्वरूप का विचार नय है और वस्तुके संपूर्ण स्वरूप का निरूपण प्रमाण है[2]। जब हम विचार करते हैं तो कभी हमारी दृष्टि वस्तु के मूल स्वरूप पर जाती है, तो कभी हम उसकी बाह्य पर्यायोंपर विचार करते हैं। वस्तु के मूल स्वरूप का विचार द्रव्यास्तिक नय कहलाता है और उसके अवस्था भेद का विचार पर्यायास्तिक न्य कहलाता[3] है। अभेददृष्टि द्रव्यार्थि नय है और भेदगामी दृष्टि पर्याय नय है वस्तु का सामान्यविशेषोभयात्मक निरूपण नैगम नय है, वस्तु के सामान्य अंश को स्वीकार करनेवाला संग्रह नय है। व्यवहार नय वस्तु के विशेष स्वरूपांश को ही ग्रहण करता है। उसकी सृष्टि में सामान्य जैसा कोई तत्त्व नहीं है।

वर्तमान और स्व को ग्रहण करनेवाली दृष्टि का नाम ऋजु सूत्र नय है। यह दृष्टि पर द्रव्य और उसकी अतीत अनागत पर्याय को असत् मानती है। एक ही वस्तु को लिंग भेद क्रिया कारक भेद से भिन्न माननेवाली दृष्टि शब्द नय है। समभिरूढ और एवंभूत उसकी सूक्ष्मताओं को बताते हैं। पर्याय भेद से वस्तु में भेद माननेवाला समभिरूढ नय है जो मुनि की साधु यति सभी पर्यायों को वह भिन्न मानता है। "एवं भूत" नय कार्य में प्रवृत्त पर्याय को ही वस्तु मानता है। मुनि वृत्ति में प्रवृत्त को ही वह मुनि मानता है। मुनि प्रवृत्ति से निरपेक्ष को वह मुनि स्वीकार नहीं करता।

नैगम संग्रह और व्यवहार नय द्रव्यास्तिक नय के अन्तर्गत हैं। ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय भेदगामी पर्यायनय की दृष्टि को लेकर चलते हैं। इस प्रकार हेतु भंग और नय से उज्ज्वल जिनेन्द्र देव की वाणी की शरण जानेवाला असीम आत्मिक आनंद की अनुभूति करता है।

---

१. अत्थंतरभूएहिं य णियएहिं दोहि समयमाईहिं.
वयणविसेसाइयंदव्वमव्वतव्वयं पडइ ॥
अहदेसो सब्भावे देसोऽसब्भावपज्जवे णियओ।
तं दविय मत्थि णत्थिय आएस विसेसियं जम्हा ॥
सब्भावे आइट्ठो देसो य उभयह जस्स।
ते अत्थि अव्वतयं च होइ दवियं वियप्पवसा।

—आ० सिद्धसेन दिवाकर, सन्मतिप्रकरणकाण्ड, कारिका ३६–३८.

२. सर्वांशग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्, अल्पांशग्राहि ज्ञानं नयः। ३. तित्थयरवयणसंगहपत्थारमूलवागरणी. दव्वदिट्ठओ य पज्जवणयो य सेसा वियप्पासी। सन्मतिप्रकरणकाण्डकारिका ३

४. नैगमो मन्यते वस्तु तदेतदुभयात्मकम्। निर्विशेषं न सामान्यं विशेशोपि न तद्विना संग्रहो मन्यते वस्तु सामान्यात्मकमेव हि। सामान्यव्यतिरिक्तोऽस्ति न विशेषो खपुष्पवत् ॥ विशेषात्मकमेवार्थं व्यवहारस्य मन्यते। विशेषभिन्नं सामान्यमसत् खरविषाणवत् ॥ ऋजुसूत्रनयो वस्तु नातीतं नाप्यनागतम्। मन्यते केवलं किन्तु वर्तमानं तथा निजम् ॥ अर्थं शब्दनयानेकैः पर्यायैरेकमेव च। एकार्थाः कुम्भकलशघटाः घटपटादिवत्। ब्रूते समभिरूढोर्थं भिन्नं पर्यायभेदतः। भिन्नार्थाः कुम्भकलशघटाः घटपटादिवत्। एकपर्यायाभिधेयमपि वस्तु च मन्यते कार्यं स्वकीयं कुर्वाणो एवंभूतनयो ध्रुवम्। —श्रीविनय विजयजी नयकर्णिका.

सारदं वा जलं सुद्धं पुण्णं वा ससिमंडलं।
जच्च-मणिं अग्घ्वं वा थिरं वा मेतिणी तलं ॥ ३१ ॥
साभावियगुणोवेतं भासते जिणसासणं।
ससीतारापच्छिण्णं सारदं वा णभंगणं ॥ ३२ ॥

अर्थ—शरद ऋतुका जल शुद्ध होता है पूर्णचन्द्र मंगल रम्य है। प्रकाश करती हुई मणि और विस्तृत मेदिनी तल स्थिर है। इसी प्रकार स्वाभाविक गुणों से युक्त जिनशासन शोभित होता है। जैसे चन्द्र और तारागण से व्याप्त शारदीय नभोङ्गन शोभित होता है।

गुजराती भाषान्तरः—

શરદ્ઋતુનું પાણી ઘણું શુદ્ધ હોય છે. પૂર્ણચંદ્રમંડલ પણ ઘણું જ રમ્ય દેખાય છે. પ્રકાશથી ચળકતા રત્નો અને વિશાલ પૃથ્વીતલ પણ સ્થિર છે. જેમ ચંદ્રમા અને નક્ષત્રગણથી વ્યાપ્ત શરદ્ઋતુમાં આકાશ શોભે છે તે જ પ્રમાણે કુદરતી ગુણોથી યુક્ત જીનશાસન સુશોભિત છે.

अर्हतर्षि जिनेन्द्रदेव के शासन को विविध उपमाओं से उपमित करते हैं। जैसे शारदीय जल शुद्ध होता है और मणि चमकती स्थिर पृथ्वी विविध वन उपवन साग और उपखंडों से शोभित होती हैं। इसी प्रकार वीतरागदेव का शासन नय और प्रमाग से शोभित है।

दूसरी गाथा में वीतराग देव के शासन को चन्द्र और तारिकाओं से व्याप्त शरद के स्वच्छ गगन से उपमित किया गया है। प्रस्तुत गाथाएं अर्हतर्षि की काव्यात्मक प्रतिभा को अभिव्यक्त करती है। उसमें प्रकृति के मनोहर रूप के साथ वीतराग देव के शासन को रखा गया है।

शरद का शान्त नभांगन सरससुधा वर्षाचन्द्र और मनोहारि नक्षत्रों से शोभित होता है। इसी प्रकार दर्शनादि आत्मा के स्वाभविक गुणों से जिनेन्द्र प्रभु का शासन शोभित होता है।

सव्वण्णुसासणं पप्प विण्णाणं पवियंभते।
हिमवंतं गिरिं पप्पा तरुणं चारु वागमो ॥ ३३ ॥
सत्तं बुद्धी मती मेधा गंभीरत्तं च वड्ढती।
ओसधं वा सुइं कन्तं जुज्जए बलवीरियं ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिसने सर्वज्ञ का शासन प्राप्त किया है, उस आत्मा का विज्ञान वैसा ही विकसित होता है जैसा कि हिमालय में वृक्ष का सौन्दर्य बढ़ जाता है और जैसे पवित्र और तेजपूर्ण औषधि से बल और वीर्य की वृद्धि होती है इसी प्रकार जिनेन्द्र देव के शासन से) सत्व बुद्धि मति मेधा और गांभीर्य की वृद्धि होती है।

गुजराती भाषान्तरः—

જે માણસે સર્વજ્ઞનું શાસન મેળવ્યું છે, તે આત્માનું વિજ્ઞાન પણ તેજ રીતે વિકાસ પામે છે, જેમ કે હિમાલયમાં વૃક્ષોની નિસર્ગસુંદર રમણીયતા વધે છે અને જેમ પવિત્ર અને તેજપૂર્ણ ઔષધિ (જડીબુટી) થી બલ અને વીર્યની વૃદ્ધિ થાય છે તેવી જ રીતે (જીનેંદ્રદેવના શાસનથી) સત્વ, બુદ્ધિ, મતિ, મેધા અને ગાંભીર્યની વૃદ્ધિ થાય છે.

सर्वज्ञ के शासन की एक महती विशेषता यह है कि उसमें ज्ञान के विकास का अवसर प्राप्त होता है वह इसलिये कि इसमें अंधविश्वास को अवकाश नहीं है और धर्म अंध विश्वासों में नहीं पलता। अंधविश्वास को धर्म कहना सुरा को अमृत बताना है। धर्म और अंधविश्वास दो अलग राह पर जानेवाली दो चीजें हैं। मैं तो कहूंगा धर्म का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी कोई है तो अंधविश्वास ही। धर्म की पवित्र देह को दूषित किसी ने किया हो तो वह अंध विश्वास ही है। अंधविश्वास ने धर्म की रक्षा करने का ठेका अवश्य लिया था, पर वह रक्षक मूर्ख बन्दर जैसा था जिसने राजा के शरीर पर बैठी मक्खी को उड़ाने के लिये राजा को ही मार डाला। अंधविश्वास ने भी वही किया अश्रद्धा की मक्खी को उड़ाने के लिये तलवार से धर्म के टुकडे कर दिये उसकी आत्मा को विदाकर के उसके शरीर से चिपका हुआ है। आगमवाणी भी बोलती है–

पण्णासम्मिक्खिए धम्मं तत्तं तत्त-विणिच्छियं ॥ —उत्तरा० अ० २३.

---

१. जच्चमाणि. २. आज साइंस पृथ्वी को स्वधुरी पर घुमती हुई मानता है।–जैनदर्शन के अनुसार हर वस्तु स्वपर्याय मे परिणमनशील है फिर भी जैन भूगोल पृथ्वी को स्थिर मानता है।

जैन दर्शन अंधविश्वासियों के नहीं अपितु अनंत ज्ञानियों के धर्म को स्वीकार करता है। इसीलिये मंगलपाठ में बोला जाता है केवलप्रज्ञप्तिधर्म को स्वीकार करता हूँ।

जो धर्म बुद्धि की तराजु पर तुला हुआ होता है वही तत्व और अतत्व का निश्चय कर सकता है जैसे हिमालय पर हुआ वृक्ष चारों ओर बहते हुए झरनों की तरी पाकर विकसित होता है। अथवा बर्फ समूह के ढेरों के बीच खड़ा वृक्षर हरितिम सौन्दर्य में मुस्कुरा ऊठता है हिमालय की तेजोमयी औषधियें मानव को नवीन स्फूर्ति और तेज प्रदान करती है इसी प्रकार वीतराग देव के शासन के निकट रहा हुआ आत्मा सात्विक बुद्धि और निर्मल प्रज्ञा के द्वारा आत्मा स्वरूप को पहचानता हैं।

जैसे शुद्ध और तेजपूर्ण औषध शरीर को स्वस्थ और पुष्ट बनाती है इसी प्रकार हृदय की विशुद्धि प्रज्ञा में विशुद्धि लाती है और स्वस्थ बुद्धि में गंभीरता प्रवेश करती है।

टीकाः—सर्वज्ञशासनं पुरुषेण प्राप्तं यदि तदा प्रतिजृम्भते-प्रकटीभवति यथा तरूणां चारुागमो मनोज्ञः प्रादुर्भावो दृश्यते पुरुषैः हिमवन्तं प्राप्तवद्भिः। सत्वादीनि वर्धनो यथा सुष्ठ्वाक्रान्तं सुप्रयुक्तमोषधं बलवीर्यं योजयति शरीरेणेति शेषः। गतार्थः।

पयंडस्स णरिंदस्स कंतारे देसियस्स य।
आरोग्गकारणो चैव आणा-कोहो दुहावहो ॥ ३५ ॥
सासणं जं णरिंदाओ कंतारे जे य देसगा।
रोगुग्घातो य वेज्जातो सव्वमेतं हिए हियं ॥ ३६ ॥

अर्थ—प्रचण्ड राजा का तथा कान्तार अर्थात् संसार में गुरु का और आरोग्यकारक वैद्य की आज्ञा का पालन न करना दुःख का कारण है।

राजाओं का शासन, वन के मार्गदर्शक अथवा संसार वन के मार्गदर्शक गुरु उपदेश और वैद्य से रोग का उपचार यह सब हितप्रद है।

गुजराती भाषान्तर :—

બલવાન્ રાજાનો હુકમ, કાન્તાર એટલે આ ભવરૂપ જંગલમાં ગુરુની અને આરોગ્ય-દાયક વૈદ્યરાજની આજ્ઞાનું પાલન ન કરવું એ દુઃખનું કારણ થાય છે.

રાજાઓનું શાસન, જંગલમાં માર્ગદર્શન કરનાર, સંસારરૂપી જંગલમાં ગુરુનો ઉપદેશ અને વૈદ્યની (દરદની) સારવાર તેમજ પરહેજીની સૂચના આ બધી વસ્તુઓ હિતપ્રદ છે.

तेजस्वी राजा का आदेश न पालना दुःख को निमंत्रण देना है। शान्त प्रकृति के राजा का आज्ञा भंग इतना कष्ट प्रद हुरा नहीं होता जब कि उग्र स्वभावी राजा अपनी आज्ञा को विफल जाते देख उग्रतर बन सकता है और कठोर दंड दे सकता है। बीहड़ वन में मार्गदर्शक का आदेश न मानना अपने आपको विडम्बना में डालना है। इसी प्रकार वैद्य के पथ्यापथ्य का आदेश न मानकर हम रोग को दूना कर लेते हैं। इसी प्रकार स्वार्थ रहित जीवन बितानेवाले सन्तों के उपदेश की अवहेलना करके हम उनका कुछ न बिगाड़ेंगे, किन्तु अपने जीवन की सीधी राह में कांटे बिखेर लेंगे।

दुनियां ने महापुरुषों को पूजा है, उन्हें सुस्वादु भोजन दिया है, सुन्दर वस्त्र दिये हैं, रहने के लिये विशाल भवन दिये हैं। मरने के बाद उनकी मूर्ति बनाकर पूजा है, उनकी चरण धूल को मस्तक पर चढ़ाया है। उनके पैर धोकर चरणामृत पिया है। उनके उपदेशों को शास्त्र वाक्य मानकर कंठस्थ किये हैं। उनकी स्मृति में बड़े ग्रन्थ तैयार किये हैं। उनके लिये मानव लड़ा भिड़ा भी है। उसने सब कुछ किया किन्तु एक नहीं किया वह पथा कि उसकी बात नहिं मानी। और इसी लिये तो विश्व की अशान्ति समाप्त नहीं हो सकी।

टीकाः—प्रचण्डस्य क्रूरस्य नरेन्द्रस्य कान्तारे संसारे च देशिकस्य गुरोस्तथा वैद्यस्यारोग्यकारणं आज्ञा क्रोधा-रोग्यार्थं प्रशस्तोप्याज्ञा दुःखावहा अमनोज्ञा दृश्यते परन्तु यन् नरेन्द्राद् यच्च ये संसारे देशिकास्तेभ्यः शासनं वधाद्वा रोगोद्घातो रोगोन्मूलनं सर्वमेतद्धिते हितमतिहितं भवति। गतार्थः।

---

१. केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि। — मंगलपाठ, आवश्यक सूत्र।

आणाकोवो जिणिंदस्स सरण्णस्स जुतीमतो ॥
संसारे दुक्खसंवाहे दुत्तारो सव्वदेहिणं ॥ ३७ ॥
तेलोक्कसारगरुअं धीमतो भासितं इमं ॥
सम्मं काएण फासेत्ता पुणो ण विरमे ततो ॥ ३८ ॥

अर्थ—पुण्यशील द्युतिमान जिनेन्द्र देव की आज्ञा की अवहेलना इस दुःख पूर्ण संसार में सबके लिये दुःखप्रद होगी। त्रैलोक्य के सारभूत महान प्रज्ञाशील महापुरुषों ने जो कहा है और जीवन के लिये सम्यक् है उसका जीवन से स्पर्श करके फिर उससे पीछे न हटे।

गुजराती भाषान्तर :—

પુણ્યવાન દેદીપ્યમાન જિનેંદ્રદેવની આજ્ઞાની અવહેલના (અપમાન) આ દુઃખમય સંસારમાં બધાંને માટે દુઃખદાયક થશે. ત્રૈલોક્યના સારભૂત શ્રેષ્ઠ બુદ્ધિમાન્ મહાપુરુષોએ કહ્યું છે અને જે જીવનયાત્રા માટે અત્યંત ઉત્કૃષ્ટ છે એનો જીવનને સ્પર્શ કર્યા પછી તેનાથી પાછા ખસી જવાય નહી.

वीतराग देव द्वारा निर्दिष्ट पथ जीवन शान्ति का शाश्वत पथ है। मोहातीत महापुरुष, जीवन पथ के यथार्थ द्रष्टा हैं। हम क्या हैं हमारा स्वरूप क्या है? यह आत्मा चतुर्दिक् संसार में परिभ्रमण क्यों कर रहा है? आत्मा का शुद्ध स्वरूप क्या है वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है। इन सब प्रश्नों का समाधान वीतराग देव ने मोह और कषाय विजय के पवित्र संदेश में दिया है उसका अनुपालन न करके हम मोह की जाल में फंसते हैं और दुःख की परम्परा को निमंत्रण देते हैं।

अर्हतर्षि बता रहे हैं विश्व के सारभूत अनंतज्ञानी महापुरुषों का संदेश है जो जीवन के लिये श्रेय स्वरूप है उसे ग्रहण करें! इन्द्रियों के लिये जो प्रिय है वह प्रेय कहलाता है। इन्द्रियां उसी ओर दौड़ती हैं, किन्तु आत्मा को विकासोन्मुख बनानेवाली प्रवृत्ति श्रेय है। साधक श्रेय को पहचाने और दृढ़ मनोयोग के साथ उसका पालन करे। फिर कितने भी प्रलोभन सामने आवें, कितनी भी कठिनाइयां आएँ उससे पीछे न हटे। मुसीबतों और प्रलोभनों को देखकर साधना से भटक जानेवाला साधक आत्मविकास नहीं कर सकता।

टीका:—जिनेन्द्रस्य शरण्यस्य द्युतिमतः संसारे दुःखसंबाहे सर्वदेहिनां दुस्तारो भवत्याज्ञाकोप उग्राज्ञा, तथाऽपि त्रैलोक्यसारगुरुधीमतो भाषितमिदं कायेन श्रोत्रेण सम्यक् स्पृष्ट्वा गृहीत्वा यदि वा भाषितमाज्ञावत् मस्तके गृहीत्वा न पुनस्तस्माद् विरमेत्।

टीकाकार कहते हैं — शरण्यभूत वीतराग देव की आज्ञा कठोर होने पर भी उसका अनुपालन आवश्यक है। आज्ञा उग्र होने पर भी उसे सम्यक् रूप से काया के द्वार अनुपालित करे। उससे विरत न हो।

बद्धचिंधो जधा जोधो वम्मारूढो थिरायुधो।
सीहणायं विमुंचित्ता पलायंतो ण सोभती ॥ ३९ ॥
अगंधणे कुले जातो जधा णागो महाविसो।
मुंचित्ता सविसं भूतो पियंतो जाति लाघवं ॥ ४० ॥

अर्थ:—राज चिह्न बांधकर रथ में आरूढ़ स्थिरायुध योद्धा सिंहनाद करके यदि रणभूमि से पलायन करता है, तो वह शोभास्पद नहीं हो सकता! अगंधन कुल में पैदा हुआ विषधर यदि महा विष को छोड़कर पुनः उसे ग्रहण करता है तो हीनता को प्राप्त होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

રાજચિન્હયુક્ત થઈ રથ ઉપર ચઢીને સ્થિરાયુધ થએલો લઢવૈય્યો સિંહનાદ કર્યા પછી (રણભૂમી છોડી) જો ભાગી જાય તે તેની કીર્તિને છાજે નહીં. અગંધન કુલમાં જન્મેલ ભયંકર ઝેરી નાગ ઝેરને બહાર ફેંકી દઈ જો પાછું તેને લઈ લે તો તે (સાપના વંશ) ને હીનત્વ પ્રાપ્ત થાય છે.

जधा सप्पकुलोब्भूतो रमणिज्जं पि भोयणं।
वंतं पुणो सा भुंजंतो धिद्धिक्कारस्स भायणं ॥ ४१ ॥
एवं जिणिंदआणाए सल्लुद्धरणमेव य।
णिग्गमो य पलित्ताओ सुहिओ सुहमेव तं ॥ ४२ ॥

अर्थ:—जैसे रुक्मि कुल में उत्पन्न सर्प सुन्दर भोजन कर उसे वमन कर पुनः उसको खाता है तो धिक्कार का पात्र होता है, इसी प्रकार जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का यथावत् पालन करने से आत्मशल्यों का उद्धार होता है। संसार की आग से निकलकर वह सुखी होता है और यथार्थ में वही सुख है।

गुजराती भाषान्तर :—

સાપ જેમ રુકિમવંશમાં જન્મેલ મનગમતો ખોરાક લઈ તેની ઉલટી કરે છે અને તે (વમન કરેલું) જ ફરી ખાઈ નાખી પોતે ધિક્કારનો ભોગ થઈ પડે છે, તેજ પ્રમાણે જીનેન્દ્રદેવની આજ્ઞાનું પાલન કરવાથી આત્મશલ્યોનો ઉદ્ધાર થઈ જાય છે. સંસારના તાપથી છુટી જઈને સુખી બની જાય છે તે જ સાચું સુખ કહેવાય છે.

साधक श्रमग जीवन को अपनाकर आगे बढ़े, पर श्रमण जीव की कठिनाइयों को देखकर अथवा भौतिक पदार्थों के आकर्षण को लेकर पुनः संसार की संसक्ति में न फंसे। क्योंकि साधना से वासना की ओर लौटना साधक जीवन की बहुत बड़ी पराजय है। एक योद्धा युद्ध के लिये तैयार होता है। कटिबद्ध होकर कवच धारण कर सिंहनाद करता है। इतनी वीरता से आगे बढने बाद यदि वह युद्ध-भूमि से पलायन करता है तो उसके लिये बहुत बुरी पराजय होगी।

साधक गंधनकुल का सर्प न बने, जो उगले हुए विष को पुनः निगल जाए। वह अगंधन कुल का नाग है जो वासना के विष को उगल देने के बाद हजार यंत्रणा देने पर भी उसका विष को ग्रहण करने को तैयार नहीं होता। अगंधन कुल के सर्प का रूपक उत्तराध्ययन सूत्र में भी आता है। सती साध्वी राजमती साधना पथ से चलित रथनेमि को फटकार के स्वर में कहती है-

ओ साधक! अगंधन नाग को जाज्वल्यमान धूमकेतु के सदृश दुःसह आग में गिरकर भस्म होना स्वीकार है। किन्तु वह वमन किये हुए विष को वह पुनः स्वीकार नहीं करता। अतः तुम गन्धन कुल के सर्प बनकर वामित वासना को पुनः स्वीकार न कर[1]।

यदि अगंधन कुल का सर्प भी अपने वमित विष को पुनः ग्रहण करले है तो वह अपने कुल गौरव को समाप्त करता है। इसी प्रकार रुक्मिकुलोत्पन्न सर्प भी यदि सुन्दर भोजन करके उसका वमन करके पुनः खाता है वह धिक्कार का पात्र होता है।

साधक अगंधनकुल का सर्प है। वह आग की ज्वाला में झुलसना मंजूर करेगा पर साधना के पथ से विचलित न होगा; क्योंकि उसने भोग उन पदार्थों को अशिव समझकर परित्याग किया है। यदि वह उन्हें पुनः स्वीकार करता है तो वह वमित पदार्थों का ग्रहण है।

जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से शल्योद्धरण संभव है। साधक इसका सम्यक् परिपालन करके इस दावानल अथवा प्रलिप्तता (संसक्ति) से निकल शाश्वत शान्ति पा सकता है।

टीका:—यथा योधो बद्ध-चिह्नो वर्मारूढः स्थिरायुधः सिंहनादं विमुच्य पलायमानो न शोभते किन्त्ववमन्यतां गच्छति, यथा नागो भुजंगो महाविषोऽगन्धनकुले जातः स्वविषं मुक्त्वा भूयस् तत् पिबन् लाघवं याति, यथा च सर्प-कुलोद्भूतो रमणीयमपि भोजनं वान्तं पुनर्भुंजन् धिक् धिक्कारस्य भाजनं भवति। अगन्धानास्तु नागा मरणं व्यवस्यन्ति न च वान्तमापिबन्तीति विपरीतमादिशति जिनदासो दशवैकालिक-चूर्णौ; एवं जिनेन्द्राज्ञया "सव्वत्थमात्मतस् तपसा शल्यो-द्धारणमेव तथा प्रदीप्ताद् गृहान्निर्गतं सुखी सुहितं वा भवति। सुखं एव तत्। गतार्थः।

इंदासणी ण तं कुज्जा दित्तो वण्ही अणं अरी।
आसादिज्जंतसंबंधो जं कुज्जा रिद्धिगारवो ॥ ४३ ॥

अर्थः—इन्द्र का वज्र, प्रज्वलित अग्नि ऋण और शत्रु इतनी हानि नहीं पहुँचा सकते जितना कि मन से आस्वादन लिया जाता हुआ ऋद्धि का गर्व।

गुजराती भाषान्तरः—

ઇન્દ્રનું વજ્ર, પ્રજ્વલિત અગ્નિ, ઋણ અને દુશ્મન આટલું નુકસાન કરી નહીં શકે, જેટલો કે મનથી સ્વાદ લઈ લીધેલો લક્ષ્મી નો અહંકાર!

कहा जाता है इन्द्र का वज्र मर्त्यों की मृत्यु की शरण पहुंचाता है और अमर्त्य को दारुण दाह पहुँचाता है। प्रदीप्त आग ऋण और शत्रु ये सभी व्यक्ति को संकट के सागर में डाल सकते हैं, पर अर्हतर्षि कह रहे हैं कि ये सभी आत्मा को उतनी पीड़ा नहीं पहुंचा सकते जितना कि मन में घुसा हुआ ऋद्धि का गौरव। गौरव का रौरव जिसके मन में धधक रहा है उसके सद्गुणों की राख बना देती है। संभूम चक्रवर्ती और रावण जैसे इस गौरव की आग में ही तो राख होगये। हिटलर और मुसोलिनी के गर्व ने जर्मन और इटली का पतन करवाया था।

एक विचारक ने ठीक कहा है: ऐ नदी! तेरा पूर तीन दिन में उतर जाएगा, किन्तु अपनी संपत्ति के मद में तूने जो विनाश लीला खड़ी की है वर्षों तक दुनिया उसे भूल न पाएगी। फुटबोल इसी लिये ठोकरें खाता है कि उसके पेट में मगरूर की हवा भरी रहती है। बाहुबली के छोटे से गर्व ने उनके लिये कैवल्य के दरवाजे बन्द कर दिये थे। उनके अहंकार की तुलना में हमारा अहंकार हजार गुना अधिक होगा और फिर हम ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं।

प्रभु महावीर से एक बार गौतम स्वामी ने पूछा था: 'प्रभो! आपके अनुग्रह से मुझे चौदह पूर्व और चार ज्ञान प्राप्त हैं, केवलज्ञान में अब कितना शेष है?' तब प्रभु ने कहा था 'गौतम! असंख्य योजन विस्तृत स्वयंभूरमण सागर में से एक

---

१ पक्खंदे जलियं जोइं धूमकेउं दुरासयं। नेच्छन्ति वन्तयं भोत्तुं कुले जाया अगंधणे।

चिडिया अपने चंचु में पानी लेती है बाद में वह सोचे अब सागर में कितना जल शेष रहा है ? बस, चिडियाँ के चोंच में जितना जल आता है उतने ये तेरे चार ज्ञान और चौदह पूर्व हैं। केवलज्ञान शेष असीम जलराशि है। जब ज्ञान की संपत्ति का गर्व मन में आने लगे तब इस लघुकथा को स्मृतिपथ में ले जाना चाहिए।' गौतम स्वामी को यह उत्तर मिला है तब उनके सामने हमारा ज्ञान कितना है !

फिर हमारे ज्ञान की यह हालत है वैयाकरणों की सभा में तार्किक बन जाते हैं, तार्किकों की सभा में वैयाकरण बनते हैं। जहां दोनों नहीं है वह वैयाकरण और तार्किक दोनों बन जाते हैं और जहां दोनों सामने हों तो न वैयाकरण रहते हैं, न तार्किक ही।

एक इंग्लिश विचारक कहता है—

Men are of four kinds.

1 He who knows not and knows not he knows not,
  he is a fool, shun him.
2 He who knows not and knows he knows not. He is simple teach him ;
3 He who knows and knows not he knows, He is asleep,-wake him ;
4 He who knows and knows he knows, he is wise follow him !

१. जो जानता नहीं है और जो यह भी नहीं जानता कि वह जानता नहीं है वह मूर्ख है, उसे छोड दो।
२. जो जानता नहीं है पर वह अपने अज्ञान को समझता है वह साधारण पुरुष है उसे सीखाओ।
३. जो जानता है पर उसे भान नहीं है कि वह जानता है, वह सो रहा है उसे जाग्रत करो।
४. जो जानता है और उसे ज्ञान है कि वह जानता है वह बुद्धिमान् है उसका अनुसरण करो।

विकास के इच्छुक को सत्ता संपत्ति और ज्ञान सब प्रकार के अहंकार से दूर रहना चाहिए।

टीकाः—इन्द्राशनिर्दीप्तो वह्निर् ऋणमरिर्न तत् कुर्युर्यत् कुर्यादास्वाद्यमान-सम्बन्धनमृद्धिगौरवं ऋद्धीनां बहुमानः। गतार्थः।

विसगाह सरछूढं विसं वामाणुजोजितं।
सामिसं वा णदीसोय यं सातकम्मं दुहंकरं ॥४४॥

अर्थः—विष और ग्राह-मगर आदि से व्याप्त सरोवर, विष मिश्रित नारी (विष कन्या) और मांस युक्त नदी स्रोत की भांति सुख के कर्म भी अन्त में दुःखकारक होते हैं।

गुजराती भाषांतरः—

ઝેર અને મગર વિગેરે હિંસ્ર પ્રાણિઓથી વ્યાપ્ત સરોવર અને ઝેરી નારી (વિષકન્યા), માંસયુક્ત નદીસ્રોતની જેમ સુખના કર્મો પણ છેવટે દુઃખપર્યવસાયી (દુઃખમાં જ પરિણામ થાય એવા) થાય છે.

कर्म के दो प्रकार होते हैं। एक सातवेदनीय, दूसरा असातवेदनीय। एक का विपाक शुभ रूप में होता है दूसरे का अशुभ। प्राणी सुख रूप कर्म चाहता है; दुःखरूप नहीं। किन्तु कर्म चाहे सुखरूप हो या दुःखरूप उसका अन्तिम परिणाम दुःखरूप होता है। दुःख तो कटु है ही, किन्तु सुखरूप कर्म भी दुःख से मुक्त नहीं है। माता मरुदेवी को पूर्ण सातवेदनीय का उदय था और वे अपनी सुदीर्घ आयु में एक दिन भी अस्वस्थ नहीं हुई; फिर भी जन्म और मृत्यु का दुःख तो था ही वियोग का मनस्ताप भी कहीं नहीं गया था, अतः सम्यग्दर्शनसंपन्न साधक न अशुभ कर्म चाहे न शुभ कर्म। वह तो सभी का अन्त चाहे।

अर्हतर्षि इसी कथा की सोदाहरण व्याख्या करते हैं—सुरम्य सरोवर को देख ग्रीष्म के ताप से क्लान्त मानव उसमें डुबकी लगाना चाहता है, किन्तु यदि उसका पानी विष मिश्रित है अथवा उसमें भयंकर ग्राह=मगर हैं तो उसमें प्रवेश करने का कोई साहस नहीं करता और उसकी सारी बाह्य सुषमा असुंदर हो जाती है।

अथवा विषकन्या बाहर से अनिंद्य सुन्दरी होती है, किन्तु उसका स्पर्श प्राणापहारक होता है और जिस नदी के प्रवाह में मांस के टुकड़े डाले गये हैं वहां भी मत्स्यादि का आगमन अधिक होता है, किन्तु मांस-लोभ से आई मछलियां जाल में फंस जाती हैं। ये सभी वस्तुएं बाहर से सुन्दरता लिये हुए रहते हैं, किन्तु अंत में इनका परिणाम प्राणघातक हो सकता है। इसी प्रकार शुभ कर्म भी अशुभ विपाक लेकर आता है। सुख की घड़ियाँ मानव को कर्तव्यभ्रष्ट बना देती हैं। कहा जाता है कि मनुष्य दुःख में पागल हो जाता है, किन्तु मनुष्य दुःख में नहीं सुख में पागल हो जाता है। सुख की अत्यधिकता उसकी विवेक ज्योति लुप्त कर देती है। दुर्योधन रावण और कोणि सुख के ही पागल थे।

दुःख मानव की विवेक ज्योति को कायम रखता है। जैसे टेढीमेढी सड़क पर ड्रायवर सावधान हो जाता है। इसी प्रकार दुःख के क्षणों में आत्मा सावधान हो जाता है। दुःख में मेरे तेरे के क्षुद्र घेरे समाप्त होकर आत्मीयता का प्रसार होता है। जैसे रात्री के सघन अंधकार में सभी वस्तुएं एक हो जाती हैं। सुख व्यक्ति के मन में अहंकार पैदा करता है।

जबकि दुःख अहंकारी को भी नम्र बनाता है। वैराग्य जन्मभूमि भी वैराग्य ही है। दो सम सुखियों में ईर्ष्या जन्म लेगी, जबकि दो सम दुःखियों में सहानुभूति पैदा होती है। इस लिये अर्हर्षि कह रहे हैं साधक सुख के मोहक रूप में न उलझे।

टीकाः—सातकर्मेष्टं करणं दुःखकरं-दुरन्तं भवति यथा सग्राहं = शिंशुमारादिगर्भं सरो बुद्धं विकसितोत्पलं, वामया स्त्रिया वा कामिनोनुयोजितं विषं सामिषं वा नदीस्रोतो मत्स्यप्लवनयोग्यम्।

साताकर्म=अर्थात इच्छित=सुख रूप कर्म दुरन्त होता है जैसे जिस सरोवर में कमल खिल रहें किन्तु उसके भीतर बडे मगर हैं। स्त्री की सुन्दरता में भी कभी विष छिपा रहता है। रूपलिप्सा में आकुल कामान्ध व्यक्ति को वह कभी कभी अपने हाथों से विष दे देती है और रूप-मधुरिमा मृत्यु का निमंत्रण बन जाती है। जिस नदी के स्रोत में मांस के टुकडे बिखेरे गये हैं वह मछलियों की क्रीड़ा के योग्य है और मछलियाँ मांस टुकड़ों से आकृष्ट हो वहां आती हैं; किन्तु दूसरे ही क्षण वे जाल में फंस जाती हैं।

कोसीकिते व्वाऽसी तिक्खो भासच्छण्णो व पावओ।
लिंगवेसपलिच्छण्णो अजियप्पा तहा पुमं ॥ ४५ ॥

अर्थः—जैसे तीक्ष्ण तलवार कोष=म्यान में रहती है और अग्नि भस्माच्छादित रहती है इसी प्रकार अजितात्मा पुरुष भी नानाविध लिंग और वेश में छिपे रहते हैं।

गुजराती भाषान्तरः—

જેમ તીક્ષ્ણ ધારવાળી તલવાર હમેશા કોશ (મ્યાન) માં રહે છે, અને અગ્નિ પણ ભસ્મ (રાખ) થી ઢંકાયેલ રહે છે તેજ પ્રમાણે અજિતાત્મા (જેની ઇન્દ્રિયો પોતાના કાબુ બહાર છે તેવો) માણસ અનેક તરહના બહારના વેશ અને લિંગોથી સંતાડેલો હોય છે.

म्यान तलवार नहीं है। उस सुन्दर-से म्यान के नीचे तीक्ष्ण तलवार छुपी रहती है और राख आग नहीं है, वह तो उसके नीचे दबी हुई है, इसी प्रकार शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा शरीर में है पर शरीर से भिन्न है।

उपनिषदों में शरीर को रथ बनाया गया है और आत्मा को सारथि। यजुर्वेदीय कठोपनिषद् में रथ और सारथी का सुन्दर रूपक दिया गया है वह यों है—

शरीर रूप रथ में आत्मा रथी है, बुद्धी सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियां घोडे और विषय उनके विचरने के मार्ग हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता से आत्मा भोग करता है। जो प्रज्ञा संपन्न होकर संकल्पवान मन से स्थिर इन्द्रियों को सुमार्ग में प्रेरित करता है वही मार्ग के अन्त तक पहुंचता है जहां से पुनः लोटता नहीं है[1]।

साधक आत्मा के स्वरूप को समझे। लिंग और वेश के बंधनों से ऊपर उठकर शुद्ध आत्मा के दर्शन करे। सत्य का शोधक लिंग और देश के आवरण को हटाकर पवित्र आत्मा को खोज लेता है।

टीकाः—कोशीकृतः कोशे निहित इवासिस्तीक्ष्णो भस्माच्छन्न इव पावकस्तथा लिंगवेशपरिच्छन्नः कुसाधुरजितात्मा।

टीकाकार कहते हैं-कोश=म्यान में तलवार रहती है और भस्म के नीचे जाज्वल्यमान आग रहती है इसी प्रकार संयम के वेष के नीचे असंयमी आत्माएँ रहती हैं। लिंग और वेश तो संयमी साधक का है, जिनके मनमें वासना की ज्वाला शान्त नहीं हुई है ऐसे व्यक्ति दुनिया के साथ छल करते हैं और अपने आपको भी धोखा देने की चेष्टा करते हैं। दुनिया को धोखा दिया जा सकता है, किन्तु अपने आपको नहीं।

जो वेश के प्रति वफादार नहीं है वे दुनियां के सबसे बडे मक्कार हैं। चोर चोर वेश में रहता है तो इतना बुरा नहीं है जितना कि वह एक सभ्य व्यक्ति के वेश में आता है। ऐसे गोमुखी व्याघ्रों से सावधान रहने के लिये अर्हतर्षि प्रेरणा दे रहे हैं।

कामा मुसामुही तिक्खा, साताकम्माणुसारिणी।
तण्हा सातं च सिग्घं च, तण्हा छिंदति देहिणं ॥ ४६ ॥

अर्थः—काम तीक्ष्ण मृषामुखी कैंची (असत्यवादी) है सातकर्मानुसारिणी है। किन्तु यह तृष्णा देहधारियों से शांति और तृष्णा शीघ्र काट देती है।

गुजराती भाषांतरः—

કામ એટલે તીક્ષ્ણ વાસન, મૃષામુખી એટલે કાતર (ખોટું બોલનાર) આ સાતકર્માનુસારી છે પણ આ તૃષ્ણા (તરસ) શરીરધારીઓની શાંતિ અને તૃષ્ણાને તરત જ નષ્ટ કરી દે છે.

मन की वासना तीक्ष्ण मृषामुखी है अथवा काम मृषामुखी है। अर्थात जहां काम है वहां असत्य अवश्य रहता है। कामी व्यक्ति अपने पाप को छिपाने के लिये सो सो झूठ का आश्रय लेता है। तृष्णा सुख चाहती है। तृष्णालू अपनी सुख और शांति के लिये संपत्ति एकत्रित करता है। अनंत अनंत काल तक के लिये संपत्ति एकत्रित करना चाहता है। किन्तु यह तृष्णा देहधारियों की शांति को अविलम्ब भंग कर देती है। क्योंकि जिस मोटर में ब्रेक नहीं है वह ऐक्सीडेन्ट के खतरे से खाली नहीं है तो

१ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। — कठोप० ३.३.

जिसकी तृष्णा पर ब्रेक नहीं है वह भी अपने जीवन में ऐक्सीडेन्ट (दुर्घटना) करता है। हिरोशिमा कोरिया, लाओस की युद्ध की ज्वाला उसी ऐक्सीडेन्ट से आयी है। दुनियां के आधे से अधिक संघर्ष तृष्णा ब्रेक के अभाव की कहानी कह रहे हैं।

एक इंग्लिश विचारक कहता है—

Desire is burniug fire, he who falls into never rises again. इच्छा जलती हुई आग है। उसमें जो गिरा है वह फिर कभी उठा नहीं है।-'जेम्स आफ इस्लाम' चम्पतराय.

स्वर्णमृग के मोह ने सीता को हजार हजार विपत्तियों बीच पटका था! सोने ने भाई के भाई चारे को भुलाया था। एक विचारक और बोलता है।-I despise gold, it has persuaded many men in many an evil.-प्लाटस.

मैं सोने को धिक्कार करता हूँ, क्योंकि उसने अनेक मनुष्यों को पाप करने के लिये फुसलाया है।

• इसीलिये अर्हतर्षि तृष्णा से शांति के लिये खतरनाक बनाया है। भगवान महावीर ने अन्तिम देशना में फरमाया था-सम्पत्ति के द्वारा मानव शांति नहीं पा सकता।

टीकाः—कामा मृषा सुखिनो व्याजशीलाः तीक्ष्णाः सातकर्मानुसारिणी तृष्णा चासातं च शीघ्रं च तृष्णा कामश्छिनत्ति देहिनाम्। गतार्थः।

सदेवोरगगंधव्वं सतिरिक्खं समाणुसं।
वंत्तं तेहिं जगं किच्छं तण्हापासणिबंधणं॥ ४७॥

अर्थ—देव नाग, गंधर्व तिर्यंच, मानव के साथ संपूर्ण लोक का उसने परित्याग कर दिया है जिसने तृष्णा का बंधन तोड़ दिया है।

गुजराती भाषान्तरः—

જે માણસે તૃષ્ણા (વિષયાસક્તિ) નું બંધન તોડી નાખ્યું છે તે માણસે દેવ, નાગ, ગંધર્વ, તિર્યંચ માનવોને સાથે આ સંપૂર્ણ લોકનો ત્યાગ કરી દીધો છે.

तृष्णा का गुलाम सारी दुनियां का गुलाम है, क्योंकि मन की तृष्णा उसे दुनियां की गुलामी करने के लिये प्रेरित करती है। अध्यात्म योगी कवि आनंदघनजी अपने आध्यात्म पदमें कहते हैं-

आशा दासी के जे जाया, ते तिहुं जग के दासा।

जिसने तृष्णापर विजय पाई है उसने देव गंधर्व तिर्यंच और मानव संपूर्ण लोक पर विजय पाई है 'निःस्पृहस्य तृणं जगत्।' निस्पृह के लिये सारी दुनिया तृण तुल्य है।

अक्खोवंगो वणे लेवो, तावणं जं जउस्स य।
णामणं उसुणो जं च, जुत्तं तो कज्ज-कारणं॥ ४८॥

अर्थः—आंख में अंजन लगाना, व्रण (घाव) पर लेप करना जतु=लाख का तपाना और बाण का झुकाना इन सब के पीछे ठीक ठीक कार्यकारण परंपरा काम कर रही है।

गुजराती भाषान्तरः—

આંખમાં અંજન આંજવું, વ્રણ (ઘા) ઉપર લેપ લગાડવો, જતુ એટલે લાખ તપાવી ગરમ કરવી અને બાણ વાંકો વાળવો એના પાછળ એક મોટી કાર્ય-કારણ પરંપરા કામ કરી રહી છે.

तृष्णाशील व्यक्ति का जीवन सदैव भौतिक प्रवृत्तियों में बीतता है, प्रातःसूर्य की प्रथम किरण के साथ उसकी निद्रा खुलती है और वह अपने बनाव सजाव में जुट जाता है। स्वाध्याय और ध्यान के महत्त्वपूर्ण समय का उपयोग वह श्रृंगार प्रसाधनों में समाप्त करता है। कोई अपने समय का उपयोग दैनिक पत्र पढ़ने में लगाता है, तो कोई बूट पालिस में तो कोई नेत्रांजन में सुंदर समय को बरबाद करता है। बालों की सजावट और स्नो पाउडर में घंटों लगा देनेवालों के पास प्रार्थना के लिये पांच मिनिट का समय नहीं मिलता।

आंख का अंजन सौन्दर्य वृद्धि के लिये है। तो व्रण लेप भी शारीरिक सुषमावृद्धि के लिये है, व्रण लेप का एक अर्थ घाव पर लेप करना है, वह स्वास्थ्य के लिये अभिप्रेत है, किन्तु यहां उसकी एक दूसरी ध्वनि भी निकलती है, चेचक आदि के द्वारा मुंह पर व्रणचिह्न=मुंहासे हो जाते हैं, उन्हें हटाने के लिये जो लेप किया जाता है वह रूपतृष्णा से प्रेरित है।

जतुलाख का तपाना आजीविका निमित्तक है। किन्तु वह भी कभी कभी लोभ प्रेरित होता है। बाण को झुकाने की क्रिया भी किसी कारण से प्रेरित होकर की जाती है।

उद्देश्य बिना की क्रिया पागलों की होती है। बुद्धिमान एक कदम भी बिना उद्देश्य के इधर से उधर नहीं रखता। किन्तु हर व्यक्ति के उद्देश्य विभिन्न होते है। एक ज्ञानी की समस्त क्रियाएं आत्म-साधना को लेकर होती हैं, जबकि रागी व्यक्ति की क्रियाएं अपनी रागपरिणति की पोषक होती हैं।

---

१ वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते।

टीकाः—सदेवोरगगन्धर्वं सतिर्यक् समानुषं जगत् ताभ्यां शाततृष्णाभ्यां कृच्छ्रं व्रतं संभूतं तृष्णापाशनिबन्धनं, के ते? उच्यते-अक्षोपांजनं व्रणे लेपो यच्च जतुनस्तापनं यत्र चेषोर्नामनं यच्च ततो युक्तं कार्यकारणमिति। युग्मम्। गतार्थः।

आहारादीपडीकारो सव्वण्णुवयणाहितो।
अप्पा हु तिव्ववण्हिस्स संजमट्ठाए संजमो॥ ४९॥

अर्थः—तीव्र आग को अल्प बनाने के लिये (क्षुधा का) प्रतिकार के लिये किया गया आहार सर्वज्ञ वचनों में से है और वह संयम के लिए है और हितप्रद है।

गुजराती भाषान्तर :—

ભયંકર અગ્નિને શમાવવા માટે (એટલે પેટની ભૂખ શાંત કરવા માટે) ખાધેલો ખુરાક સર્વજ્ઞે અનુમોદન આપેલો છે. તેથી દુર્દમ્ય એના ઈંદ્રિયોપર કાબુ મેળવવા માટે તે યોગ્ય છે તેજ ખરેખર હિતકારક થાય છે.

पूर्व गाथा में बताया गया है। सराग आत्मा की हर क्रिया बन्धन रूप होती है। प्रश्न होता है यदि क्रिया में पाप होता है तब संयमी जीवन जीनेवाला साधक आखिर करे क्या? क्या उसे संयम लेते ही संथारा पचख लेना चाहिए? पर ऐसा हो नहीं सकता। त्याग जीवन की कला सीखाता है, वह मृत्यु का वारंट लेकर नहीं आता। साधक खाता पीता भी है, किन्तु उसका भोजन शरीर के पोषण के लिये नहीं होता अपितु आत्म-विकास के लिये हैं। उसका सिद्धान्त है--

जीने के लिये खाता है खाने के लिये नहीं जीता। फिर उसका भोजन क्षुधा के प्रतिकार के लिये और पेट की तीव्र आग को मन्द करने के लिये होता है। संयम की रक्षा के लिये होनेवाला भोजन सर्वज्ञ द्वारा अनुमत है।

टीकाः—आत्मनो जीवस्य खलु तीव्रवह्नेः संयमार्थं संयम आहारादि प्रतीकाररूपसर्वज्ञवचनेनाऽऽख्यातः॥ गतार्थः।

हेमं वा आयसं वा वि बंधणं दुक्खकारणं।
महग्घस्सावि दंडस्स णिवाए दुक्खसंपदा॥ ५०॥

अर्थः—बन्धन लोहे का हो या सोनेका वह दुःख का ही कारण होता है। दंड कितना मूल्य युक्त क्यों न हो उसके पड़ने पर दुःख अवश्य होता है।

गुजराती भाषान्तर :—

બન્ધન (સાંખળ) લોઢાનું હોય કે સોનાનું છેવટમાં તે તો દુઃખનું જ કારણ બને છે. લાકડી કેટલી પણ કીમતની હોય તેનો માર પડે તો દુખ્યા વગર રહે જ નહીં,

शृंखला की कड़ियां लोहे की हो या सोने की दोनों बांधने का काम करती हैं। बन्धन आखिर बन्धन ही है। धातु का परिवर्तन उसकी बंधनशक्ति में परिवर्तन नहीं कर सकता। ऐसे ही एक सोने का डंडा है किन्तु वह सोने का है, अतः मारने पर उस से दुःख नहीं होगा ऐसा नहीं हो सकता।

इसीलिये आगम में पुण्य पाप दोनों बन्धहेतुक माने गये हैं। पुण्य सोने की शृंखला है और पाप लौहे की शृंखला; पर दोनों का कार्य है बांधना। पाप कारागृह की काली कोठरी है तो पुण्य नजरकैद है। नजरकैद में व्यक्ति महलों में रहता है और महलों के पूरे आराम उसे मिलते हैं, किन्तु उसे मुक्ति नहीं मिल सकती। पुण्य दुनियां के पूरे सुख दे सकता है, किन्तु संसार की नजर कैद से मुक्ति नहीं दे सकता।

मुक्ति का स्वप्न द्रष्टा शृंखला को तोड़ना चाहेगा, साधक शृंखला से इसलिये प्यार नहीं कर सकता कि वह सोने की है।

टीकाः—हेमं वा बन्धनमायसं वापि दुःखकारणमेव महार्घ्यस्यापि दण्डस्य निपाते दुःखसंपद् भवेत्॥

असज्जमाणे दिव्वम्मि धीमता कज्जकारणं।
कत्तारे अभिवारित्ता विणीयं देहधारणं॥ ५१॥

अर्थः—दिव्यभूमि में अनासक्त होकर बुद्धिमान कार्य और कारण को पहचाने। कर्ता अर्थात् आत्मा का अनुसरण करके साधक देह धारण को दूर करे।

गुजराती भाषान्तर :—

દિવ્યભૂમિ (એટલે સ્વર્ગ) ના સુખ અને ચૈનમાં ડાહ્યા માણસે આસક્ત ન જ રહેવું જોઈએ, અને તેના કાર્ય તેમજ કારણની સમજણ કરી લેવી જોઈએ.

पहले बताया गया है कि साधक बन्धन से मुक्त हो। बन्धन लोहे का हो या सोने का आखिर वह बन्धन ही है। अर्हतर्षि सोने के बन्धन बता रहे हैं। पुण्य का मीठा फल स्वर्ग है और भौतिक सुख से आकृष्ट मन स्वर्ग पाने के लिये आकुल रहता है।

अर्हतर्षि प्रेरणा के स्वर में कह रहे हैं-साधक! तूं भूल रहा है गुलाब के नीचे कांटे है तो स्वर्ग की रंगीन सुषमा के पीछे दुःख की काली छाया है। तूं दीर्घद्रष्टा बन। कार्य कारण की परम्परा को पहचान। आखिर देव भी लोभ और कषाय की गठरी उठाये घूम रहे हैं। वे भी मृत्यु की छाया से बच नहीं सके हैं। अतः जैनदर्शन ने स्वर्ग को कभी महत्व नहीं दिया है। स्वर्ग के

१ प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।

लिये की जानेवाली साधना का उसने स्पष्ट शब्दों में विरोध किया है। अतः पुण्य के मीठे सुफल के लिये आकुल न हो। क्योंकि शूल तो बांधता है और गति को रोकता है किन्तु फूल की पकड़ उससे ज्यादा होती है। शूल तन को बिंधता है जबकि फूल मन को बिंध देता है। लक्ष्य का राही साधक शूल से बचता है तो वह फूल से भी बचता है। दोनों में नहीं उलझता।

इसी प्रकार साधक पुण्य और पाप दोनों से बचे। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि पुण्य और पाप दोनों समान हैं। दोनों में इतना ही अन्तर है जितना लोहे और काष्ठ कि नौका में। पहली तो डूबो देनेवाली है, जबकि दूसरी नौका धर्म के तट पर लाकर छोडती है। तट पर पहुंचाना उसका काम है किन्तु तट पर पहुंचने के बाद उसे नौका छोड़ देना होगा।

तीन परिणतियां हैं, एक अशुद्ध परिणति-दूसरी शुभ परिणति, तीसरी शुद्ध परिणति है। पहली गटर का पानी है। दूसरा रंग मिश्रित पानी है, तीसरा शुद्ध पानी है। पहलातो गन्दा है, तो दूसरा रंग मिश्रित है, अतः सदा पेय नहीं होता पर पेय तो शुद्ध पानी ही होता है। पाप अशुद्ध परिणति रूप गन्दा पानी है। पुण्य शुभ है पर रंग मिश्रित है जबकि आत्मा की शुद्ध स्वरूप में रमणता शुद्ध परिणति है।

साधक कर्ता अर्थात आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पहचाने। अशुभ से शुभ में आये और शुभ से भी ऊपर उठकर देह धारण की परम्परा के मूल का उच्छेद करे। देहाध्यास समाप्त होगा तभी देह धारण समाप्त होगा।

टीकाः—दिव्ये कर्त्तर्यसाध्यमाने ब्रह्मणः प्रतिरुपे क्रियमाणे धीमता मुनिना कार्यकारणमनिवार्य निराकृत्य देहधारणं विनीतं प्रायोपगमादिनाऽपनीतम्।

अर्थात् साधक कार्य कारण की परम्परा को रोककर प्रायोपगमनादिके द्वारा देहधारण को समाप्त करे।

सागरेणावणिज्जोको आतुरो वा तुरंगमे॥
भोयणं भिज्जएहिं वा जाणेज्जा देहरक्खणं॥ ५१॥

अर्थः—सागर में नाविक नाव का रक्षण करता है। (लक्ष्य प्राप्ति के लिये) आतुर व्यक्ति घोडे की रक्षा करता है भिग्यक (भूखा) व्यक्ति भोजन की रक्षा करता है, वेसे ही साधक देह की रक्षा करता है।

गुजराती भाषान्तरः—

દર્યાંમાં નાવિક (ખલાસી) નાવનું રક્ષણ કરે છે (પોતાનું ધ્યેય પૂર્ણ કરવા) વ્યાકુલ માણસ ઘોડાનું રક્ષણ કરે છે; ભિક્ષુક (ભૂખા માણસ) ભોજનનું રક્ષણ કરે છે, તે જ પ્રમાણે સાધક શરીરનું રક્ષણ કરે છે.

साधक देह की आसक्ति नहीं रखता किन्तु देह तो रखता ही है। देह को वह साधन के रूप में स्वीकार करता है। नाविक सागर की लहरों में नौका से प्यार करता है, क्योंकि वह जानता है कि नौका के द्वारा ही उसकी जीवन नैया तैर रही है। पर तट पर पहुंचने के बाद वह स्वयं नौका को छोड देता है। इसी प्रकार अपने लक्ष्य परपहुंचने केलिये आतुर व्यक्ति घोडे पर आरूढ़ होता है पर लक्ष्य पर पहुंचने के बाद वह स्वयं घोडे से उतर जाता हैं। बुभुक्षित व्यक्ति आवश्यकता होने पर भोजन करता है और क्षुधापूर्ति होने बाद स्वयं उससे मुंह मोड लेता हैं। इसी प्रकार साधक देह की रक्षा करता है पर उसका उद्देश्य देह रक्षण नहीं अपितु आत्म-रक्षा है, जब तक देह के द्वारा देही को पोषण मिलता है तब तक वह शरीर की रक्षा करता है जब वह लक्ष्य पर पहुंच जाता हैं तो देह, छोड़ देता हैं। भगवान महावीर भी उत्तराध्ययन सूत्र में फरमाते हैंः—

साधक छः कारणों से भोजन लेता है। क्षुधा की शान्ति, रत्नाधिकों की सेवा, ईर्या समिति, संयम मात्रा का निर्वाह प्राणरक्षा और धर्म चिन्तन के साधक भोजन ग्रहण करता है।[1]

टीकाः—यथा सागरेणावनेर्योगः आतुरो रोगी पुरुषस् तुरंगं आरूढः तृसकैर्भोजनं, एवं निरर्थकमश्रद्धेयं वा देहरक्षणं जानीयात्। गतार्थः।

जातं जातं तु वीरियं सम्मं जुञ्जेज्ज संजमे।
पुप्फादीहि पुप्फाणं रक्खंतो आदिकारणं॥ ५४॥

अर्थः—साधक अपने भीतर प्रकट होने वाली शक्ति का संयम में सम्यक प्रकार से उपयोग करे। पुष्पों का उपयोग करनेवाला पुष्प के आदिकारण बीज की रक्षा करता है।

गुजराती भाषांतरः—

સાધકે પોતાની અંદર પ્રકટ થનારી શક્તિનો સંયમમાં સારી રીતે ઉપયોગ કરવો જોઈએ. ફુલ વાપરનારા માણસે ફુલનું જે જન્મનું કારણ બીજ તેનું રક્ષણ કરવું ઘટે છે.

शक्ति प्राप्त करने के लिए सब मचल रहे हैं और शक्ति ही जीवन है, स्वामी विवेकानन्द ने अपने शिकागो के भाषण में कहा था-

Strength is life and weakness is death. शक्ति ही जीवन है और कमजोरी ही मौत है। इसीलिये शक्ति प्राप्ति की होड़ लग रही है। विश्व की बड़ी शक्तियां राष्ट्र की शक्ति वृद्धि के करोड़ों अरबों रुपये खर्च कर रहे हैं। राकेट और उपग्रहों का निर्माण शक्ति प्रदर्शन के लिये ही तो है।

---

१ वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए। तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचित्ताए॥ उत्तराध्ययन अ. २६ गा. ३३

कोई हर्ज नहीं है हम सात्विक उपायों से शक्ति प्राप्त करें। किन्तु प्रश्न यह है कि हम शक्ति का उपयोग किस ढंग से करते हैं। शक्ति की प्राप्ति उतना महत्व नहीं रखती जितना कि उसका विवेकपूर्ण उपयोग। शक्ति का सही उपयोग मानव को देवत्व की ओर ले जाता है तो शक्ति का अनुचित उपयोग राक्षसत्व की ओर। शक्ति का गलत उपयोग करके ही तो रावण राक्षस कहलाया और उसका सही उपयोग कर राम ने देवत्व पाया था।

अर्हतर्षि साधक को प्रेरणा दे रहे हैं। तुम्हें शक्ति प्राप्त हुई है उसका उपयोग संयम में करें। श्रीमद् रामचन्द्रजी के शब्दों में कहूं तो "देह होय तो संयम ने माटे।" संयम के लिये किया गया पुरुषार्थ आत्म-विकास में सहायक होता है पुष्पों का आनंद लेनेवाला माली भी इतनी बुद्धि रखता है बीज-कली की रक्षा करता है। हमें भी अध्यात्मरस का अनुभव करना है शक्ति को संयम लगाना होगा। बीज जब तक अपने आपको मिट्टी में गला नहीं देता तब तक पौधे और पुष्प के रूप में बदल नहीं सकता। इसी प्रकार जब तक हम अपनी शक्तियों को संयम में परिणत नहीं होने नहीं देते तब तक आत्मा आत्मिक शान्ति को नही पा सकता।

टीकाः—जातं जातं वीर्यं संयमेन सम्यक् योजयेत् तु पुष्पादिभिर् मुकुलपुष्पफलै रक्षन्निव पुष्पाणामादिकारणं बीजम्। गतार्थः।

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए.
अलं ताती णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।
वेसमणिज्जं नाम अज्झयनं।
इसिभासियाइं समत्ताइं॥

इति समाप्तानि ऋषिभाषितानि।

डॉक्टर शुब्रिंग् लिखते हैं :—

इस अन्तिम और विस्तृत अध्ययन में बहुत सी समस्याएं बिन-सुलझी रह जाती हैं। चौदहवीं गाथा में बताया गया है कि पृथ्वी के आखिरी छोर से सागर की झालर-सी लहरों से अथवा अग्नि में से प्राणियों का जीवन निर्माण होता है। ऐसा लगता है कि मृत्यु के बाद परिणाम के दिन वे फिर से जीवित होंगे। यह बात अस्पष्ट है और कृत कर्मों के पश्चात्ताप को रोकती है। आत्मा (कर्म) फलों का जीवित भंडार है। इस बात का दूसरी रीति से वर्णन भी संभवित नहीं है। गाथा २२ में तेल पात्र घर की कथा आई है वह जातक १, ५०३ में आयी है। गाथा ३७ में बहुवचन के स्थान पर एक वचन चाहिये। प्रथम शब्द नरेन्द्र और जिनेन्द्र का उल्लेख करता है। गाथा ३८ का पाठ सम्मं काएण फासित्ता पुणो न विरमे नतौ।" का साम्य दशवैकालिक के निम्न पाठ से मिलता है-

एवं खलु भिक्खु अहासुयं सम्मं कायेणं फासित्ता पालित्ता भवई। वहां "वहिया" अर्थ में शारीरिक शक्ति का उल्लेख किया गया है। यहां कार्य-स्पर्श काया के द्वारा स्पर्शना बताई गई है।

गाथा ३९-४० में साधना की सिद्धि के लिये दृष्टान्त दिये गये हैं। दशवै० अ० २ गा० में उसका साम्य है। किन्तु दशवैकालिक सूत्र में जहां अगंधनकुल के सर्प को अच्छे रूप में बताया गया है। वे गन्धन सर्प की भांति अपने विष को पुनः चूसते नहीं है। जबकि यहाँ उनके लिये धिक्कार जनक कार्य बताया है, रूपिकुल के सर्प के रूप में भी यहां कुछ परिवर्तन हैं। ४३ वें श्लोक में ऋद्धियों को हीन बताया गया है। गर्व और उसके उपयोग को खराब बताया गया है।

४४ वी गाथा में बताया गया है कि प्रेमिका के हाथ से दिया गया विष भी मारक होता है। अथवा प्रेमी स्त्री प्रेम में विफल होने पर विष पिला सकती है और प्राण ले सकती है, इसी प्रकार नदी में तैरने के लिये मछली के कुछ गुण नहीं लिए तो डूब जावेगे और विष ग्राह की पकड़ में आ सकते हैं।

पचासवें श्लोक में बताया गया है बुद्धिशाली और स्वर्ग में जानेवाले प्राणी अपने विचार के अनुसार जीवन का निर्माण करते हैं और कार्य करने की शक्ति को रोकते है। हर रूप में वह ठीक नहीं है। एकावन वें श्लोक में भिज्जएहि पाठ आया है वह अनुचित है उसके स्थान पर तित्तेहिं चाहिये।

त्रेपनवें श्लोक में सम्बोधन का समावेश किया गया है। विचारक अपनी शक्ति का संयम में प्रयोग करें, वैसे शनैः शनैः वह विकास करता है और उसके पत्र पुष्प और फलों का आस्वादन करता है।

अन्त में डॉक्टर शुब्रिंग् लिखते हैं-"इसिभासियाइं" समझने का हमारा प्रथम प्रयास है। इसके प्रकाशन और अनुवाद के लिये थोडी आवश्यक सूचनाएं यहां दी गई हैं।

इति वैश्रमण-अर्हतर्षिप्रोक्तं पंचचत्वारिंशदध्ययनम्।
समाप्तं ऋषिभाषितसूत्रम्॥

परिशिष्ट नं. १

इसिभासिय पढमा संगहिणी

ऋषिभाषित सूत्र में जिन पैंतालीस अर्हतर्षियों के जीवन-स्पर्शी संदेश को संग्रहीत किया गया है। प्रस्तुत संग्रहिणी गाथाओं में उनका नाम निर्देश किया गया है उसके पूर्व एक गाथा के द्वारा यह बताया गया है ये सभी अर्हतर्षि किनके शासन में हुए हैं।

पत्तेय बुद्धमिसिणो वीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स।
पासस्स य पण्णरस वीरस्स विलीणमोहस्स॥

अर्थः—बीस प्रत्येक बुद्ध ऋषि प्रभु अरिष्ट नेमि के तीर्थ में हुए हैं। प्रभु पार्श्वनाथ के शासन में पन्द्रह और शेष विगत-मोह वीरप्रभु के शासन में हुए हैं।

अब पांच गाथाओं से अर्हतर्षियों के नाम दिये जा रहे हैं।

णारद-वज्जिय-पुत्ते असिते अंगरिसि-पुप्फसाले य।
वक्कलकुम्मा केवलि कासव तह तेतलिसुते य॥ २॥

अर्थः—अर्हतर्षियों के नाम इस प्रकार हैं—१. नारद २. वजिय पुत्र, ३. असित, ४. अंगरिसि, ५. पुष्प साल, ६. वल्कल चीरी, ७. कुर्म, ८. केतलि (पुत्र) ९. काश्यप, १०. तेतलि पुत्र।

अर्हतर्षियोना नामो नीचे मुजब छेः-

१ नारद, २ वज्जियपुत्र, ३ असित, ४ अंगिरस्, ५ पुष्पसाल, ६ वल्कलचीरी, ७ कुर्म, ८ केतलि (पुत्र) ९ काश्यप, १० तेतलिपुत्र,

मंखली जण्णभयालि बाहुय महु सोरियाण विदूविंपू।
वरिसकण्हे आरिय उक्कलवादी य तरुणे य॥ ३॥

अर्थः—११. मंखली, १२. यज्ञ, १३. भयालि, १४. बाहुक महु, १५. सोरियाण, १६. विदू, १७. विंपू, १८. वरिस कृष्ण. १९. आर्य. २०. उत्कटवादी, २१. तरुण ऋषि।

११ मंखली, १२ यज्ञ, १३ भयाली, १४ बाहुक महु, १५ सोरियाण, १६ विद्रू, १७ विंपू, १८ वरिस कृष्ण १९ आर्य, २० उत्कटवादी, २१ तरुण ऋषि.

गद्दभ रामे य तहा हरिगिरि अम्बड मयंग वारत्ता।
तंसो य अद्द य वद्धमाणे वा तीस तीमे॥ ४॥

अर्थः—२२ गर्दभ. २३ राम अर्हतर्षि. २४ हरिगिरि. २५ अम्बड मातंग. २६ वारत्ता. २७ शंस. २८ आर्द्रक. २९ वर्द्धमान. ३० वायु। ये तीसवें अर्हतर्षि हैं।

२२ गर्दभ. २३ राम अर्हतर्षि. २४ हरिगिरि, २५ अंबड मातंग. २६ वारत्ता. २७ शंस. २८ आर्द्रक, २९ वर्द्धमान. ३० वायु. आ तीसमा अर्हतर्षि छे.

पासे पिंगे अरुणे इसिगिरि अद्दालए य वित्ते य।
सिरिगिरि सातियपुत्ते संजय दीवायणे चेव॥ ५॥

अर्थः—३१ पार्श्व. ३२ पिंग. ३३ अरुण. ३४ ऋषिगिरि. ३५ अद्दालक. ३६ वित्त. ३७ सिरिगिरि ३८ सातिपुत्र. ३९ संजय. ४० द्वीपायन।

૩૧ પાર્શ્વ. ૩૨ પિંગ. ૩૩ અરુણ. ૩૪ ઋષિગિરિ. ૩૫ અદ્દાલક. ૩૬ વિત્ત. ૩૭ સિરિગિરિ. ૩૮ સાતિપુત્ર. ૩૯ સંજય. ૪૦ દ્વીપાયન.

तत्तो य इंदणागे सोम यमे चेव होइ वरुणे य।
वेसमणे य महप्पा चत्ता पंचेव अक्खाए ॥ ६ ॥

अर्थः–उसके बाद ४१ इन्द्रनाग. ४२ सोम. ४३ यम. ४४ वरुण और पेंतालीसवे महात्मा वैश्रवण अर्हतर्षि हैं। इस प्रकार पेंतालीस अर्हतर्षि हैं।

તે પછી ૪૧ ઇન્દ્રનાગ. ૪૨ સોમ. ૪૩ યમ. ૪૪ વરુણ અને પિસ્તાલીસમા મહાત્મા વૈશ્રવણ અર્હતર્ષિ છે. એવી રીતે પિસ્તાલીસ અર્હતર્ષિઓ છે.

ऋषिभाषित सूत्र में पेंतालीस अर्हतर्षि प्रत्येक बुद्धों के प्रवचन हैं। समवायांग सूत्र में चौवालीस देवलोक च्यवित प्रत्येक बुद्धों के नाम हैं।

ઋષિભાષિત સૂત્રમાં પિસ્તાળીસ અર્હતર્ષિ હરએક બુદ્ધના પ્રવચનો છે. સમવાયાંગ સૂત્રમાં ચુંમાળીસ દેવલોકમાંથી ચ્યુત થયેલા હરએક બુદ્ધના નામ છે.

परिशिष्ट नं० २

इसिभासियाइं–अत्थाहिगारसंगहिणी

प्रस्तुत सूत्र की द्वितीय संग्रहिणी में अध्ययनों के नाम दिये गये हैं।

अध्ययनों के नाम करण की विविध शैलियाँ होती हैं। कभी अध्ययन में वर्णित विषय के अनुरूप अध्ययन का नाम करण होता है तो कभी वक्ता के नाम पर भी अध्ययन का नाम होता है। तो कभी अध्ययन की प्रथम गाथा के प्रथम शब्द पर ही अध्ययन का नाम करण कर दिया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में तीसरी शैली का आश्रय लिया गया है। अध्ययन के प्रथम शब्द के अनुरूप अध्ययनों का नामकरण किया गया है।

द्वितीय संग्रहिणी पंच गाथाओं में अध्ययनों के नाम दिये गये हैं।

[1]सोयव्वं [2]जस्स [3]अविलेत्ते, [4]आदाणरक्खि [5]माणे य।
[6]तम [7]सव्वे [8]आराए [9]जाव य [10]सद्धेय [11]णिव्वेय ॥ १ ॥

[12]लोगेसणा [13]किमत्थं [14]जुत्तं [15]संतो तत्थेव [16]विसये।
[17]विज्जा [18]वज्जे [19]आरिय [20]उक्कल [21]णाहंति जाणामि ॥ २ ॥

[22]पडिसाडी [23]ठवणा दुवेमरणे [24]सव्वं तहेवं वंसे य[25]।
धम्मे य[26] [27]साहू सोते[28] [29]सवंति [30]अहसव्वतो [31]समेलोए ॥ ३ ॥

[32]किसी [33]बाले य पंडित [34]सहणा तह [35]कुप्पणा य बोद्धव्वा।
[36]तप्पत [37]उदय य [38]सुव्वा [39]पावे तह [40]इच्छणिच्छा य ॥ ४ ॥

[41]अजीवओ य [42]अप्पजिण य एसितव्व बहुयंतु।
[43]लाभे दो [44]ठाणेहिं य [45]अप्प पापाण हिंसायु ॥ ५ ॥

– इसिभासित अत्थाहिगार संगहिणी समत्ता।

अर्थः–ऋषिभाषित सूत्र की अर्थाधिकार संग्रहिणी के अनुसार पैंतालीस अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं। १. सोयव्वं, २. जस्स, ३. अमिलेव, ४. आदाण रक्खि, ५. माण, ६. तम, ७. सव्वं, ८. आराए, ९. जाव, १०. सद्धेय, ११. णिव्वेय, १२. लोकेसणा, १३. किमत्थं, १४. जुत्तं, १५. साता, १६. विसय. १७. विज्जा, १८. वज्ज, १९. आरिय, २०. उक्कल, २१. णाहंति जाणामि, २२. पडिसाडी २३. ठवण दुवेमरणे, २४. सव्वं, २५. वंस, २६. धम्मं, २७. साहु, २८. सोत, २९. सवंति, ३०. अहसव्वतो, ३१. समेलोए, ३२. किसी, ३३. बाले, ३४. पंडित सहणा, ३५. कुप्पणा, ३६. तप्पत, ३७. उदय, ३८. सुव्वा, ३९. पाव, ४०. इच्छा-णिच्छा, ४१. आजीवओ, ४२. अप्पजिणय, ४३. लाभे, ४४. दोठाणेहिं, ४५. अप्पं पापाण हिंसायु।

---

१. शस्त्र परिक्षा अध्ययन–आचारांग प्र० अ०
विनय श्रुत अध्ययन उत्तराध्ययन प्रथम अ०

२. काविलीयमध्ययनम्. उत्तरा० अ० ८.
शक्रस्तव.

३. लोगस्स, नमोत्थुणं, भक्तामर.

ऋषिભાષિત સૂત્રની અર્થાધિકાર સંગ્રહિણી મુજબ પિસ્તાલિસ અધ્યયનોના નામો નીચે મુજબ છે:-

૧. સોયવ્વં, ૨. જસ્સ, ૩. અભિલેવ, ૪. આદાણ રક્ખિ, ૫. માણ, ૬. તમ, ૭. સવ્વં, ૮. આરાએ, ૯. જાવ, ૧૦. સદ્ધેય, ૧૧. ણિવ્વેય. ૧૨. લોકેષણા. ૧૩. કિમત્થં, ૧૪. જુત્તં, ૧૫. સાતા, ૧૬. વિસય, ૧૭. વિજ્જા, ૧૮. વજ્જ, ૧૯. આરિય, ૨૦. ઉક્કલ. ૨૧. ણાહંતિ જાણામિ. ૨૨. પડિસાડી, ૨૩. ઠવણ દુવેમરણે, ૨૪. સવ્વં, ૨૫. વ્રંસ, ૨૬. ધમ્મં, ૨૭. સાહુ, ૨૮. સોત, ૨૯. સવંતિ, ૩૦. અહસવ્વતો, ૩૧. સમેલોએ, ૩૨ કિસી, ૩૩. બાલે, ૩૪. પંડિત સહણા, ૩૫. કુપ્પણા, ૩૬. ઉપ્પત, ૩૭. ઉદય, ૩૮. સુવ્વા, ૩૯. પાવ, ૪૦. ઇચ્છાણિચ્છા, ૪૧. આજીવઓ, ૪૨. અપ્પજીણય, ૪૩. લાભે, ૪૪. દોઠાણેહિં, ૪૫. અપ્પં પાપાણ હિંસાયુ ।

इस प्रकार सभी अध्ययनों का नाम प्रथम शब्द पर है कहीं कहीं इसका अपवाद भी है जैसे अध्ययन ४२ में गाथा का प्रथम पद है अप्पेण बहुमेसेज्जा, जबकि अध्ययन के नाम में कुछ अन्तर है। संभव है वह गाथा पूर्ति के लिये ऐसा करना पड़ा हो। ऐसे ही पैंतालीसवें अध्ययन में गाथा के प्रथम चरण और अध्ययन के नाम में भेद हैं।

-इति ऋषिभाषितस्य अर्थाधिकार-संग्रहिणी समाप्ता ॥